दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

मतिराम : कवि और आचार्य

लेखक

डॉ० महेन्द्रकुमार

एम. ए., पी-एच. डी.

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग,

श्रीगुरु तेग बहादुर खालसा कॉलेज, दिल्ली

१९६०

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा — दिल्ली

भारती साहित्य मन्दिर
एस० चन्द एण्ड कम्पनी से सम्बद्ध

आसफअली रोड	नई दिल्ली
फव्वारा	दिल्ली
माईहीरां गेट	जालन्धर
लाल बाग़	लखनऊ

मूल्य १०)

श्यामलाल गुप्ता, भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित एवं
रसिक प्रिंटर्स, ५ सन्तनगर, करौल बाग, नई दिल्ली-५ में मुद्रित

प्रवर्तन

वैसे तो लगभग २० वर्ष से हिन्दी में निरन्तर शोध-कार्य हो रहा है, किन्तु पिछले दशक के अन्तर्गत इस क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति हुई है। अनुसन्धान के प्रति हमारे विद्यार्थी का यह उत्कट आग्रह और स्वीकृत शोध-प्रबन्धों की वर्द्धमान संख्या शुभ लक्षण है या अशुभ इस प्रकार का प्रश्न आज हिन्दी में उठ रहा है और विभिन्न क्षेत्रों में इस पर अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जा रही हैं। अशैक्षिक क्षेत्रों का स्वर तो स्पष्टतः विरोधी है ही ; उनकी धारणा है कि हिन्दी में शोध-उपाधि बड़ी सस्ती बन गई है और अनधिकारी व्यक्ति इस क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं। यह स्वर इतना उग्र है कि शिक्षा-जगत् में भी इसका प्रभाव पड़ने लगा है और एक प्रकार की हीन भावना को प्रश्रय मिल रहा है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि तटस्थ भाव से हिन्दी-अनुसन्धान की प्रगति का मूल्यांकन किया जाय। मूल्यांकन के दो ही आधार हो सकते हैं—एक गुण और दूसरा परिमाण। इसमें सन्देह नहीं कि परिमाण की अपेक्षा गुण का महत्त्व अधिक है किन्तु गुण भी परिमाण से असम्बद्ध नहीं रह सकता। गुण का मूल्यांकन भी आगे चलकर परिमाण-सापेक्ष्य हो जाता है। परिमाण की दृष्टि से, जैसा मैंने अभी संकेत किया, हिन्दी के शोध-कार्य में अभूतपूर्व प्रगति हुई है ; कोई २०० शोध-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, लगभग ३५० स्वीकृत हो चुके हैं और अनुमानतः ५००-६०० विद्यार्थी अनुसन्धान कर रहे हैं। किन्तु आलोचकों का सबसे बड़ा तर्क भी यह परिमाण ही है। उनका मत है कि इस प्रकार का विपुल उत्पादन निश्चय ही घातक है। यह ठीक है कि परिमाण और गुण का सन्तुलन प्रायः सम्भव नहीं हो पाता और इस दृष्टि से परिमाण की वृद्धि से गुण की हानि बहुधा हो जाती है। हिन्दी-शोध-कार्य भी इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता। परन्तु इसके आगे यह स्थापना भी संगत नहीं है कि परिमाण में और गुण में सहज विरोध है और परिमाण के आधिक्य के कारण हिन्दी-अनुसन्धान का स्तर गिरता जा रहा है और गिरता जायगा। अब तक जो हुआ है वह सभी व्यष्टि रूप में आदर्श नहीं है—हो भी नहीं सकता किन्तु उसका सामूहिक परिणाम निश्चय ही स्तुत्य है। इस शोध-कार्य के फलस्वरूप ही आज हिन्दी-साहित्य से सम्बद्ध अपार सामग्री उपलब्ध हो सकी है—उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों का अन्वीक्षण किया गया है और ज्ञान का अपूर्व भाण्डार हिन्दी के विद्यार्थी के उपयोग के लिए उद्घाटित हो गया है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशेष स्थान है। एक समय था जबकि काव्य का अर्थ था 'रसिकप्रिया', 'बिहारी-सतसई' और 'रसराज'

और कवि-गौरव के अधिकारी थे केशव, बिहारी तथा मतिराम आदि। यह दृष्टि निश्चय ही एकांगी थी। इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई; एक अतिवाद का खण्डन करने के लिए दूसरे अतिवाद का प्रचार हुआ और रीतिकाव्य एक प्रकार से अपाठ्य घोषित कर दिया गया। काव्य के मूल्यों में विदेशी प्रभाव के कारण कुछ ऐसा विप्लव हुआ कि भारतीय साहित्य के परम्परासिद्ध मूल्यों का लोप-सा होने लगा। किन्तु विप्लव विकृति का ही द्योतक होता है प्रकृति का नहीं। स्वस्थ परम्पराएँ फिर से स्थापित हुईं, हिन्दी-साहित्य के अध्येता को अनाविल दृष्टि प्राप्त हुई और रीतिकाव्य की सरसता का उचित मूल्यांकन किया गया। वास्तव में काव्य के प्रति आरम्भ से ही दो मौलिक दृष्टिकोण रहे हैं—एक दृष्टिकोण का प्रतीक है मैथ्यू आर्नल्ड का यह प्रसिद्ध लक्षण कि काव्य जीवन की आलोचना है और दूसरे का प्रतीक है पण्डितराज जगन्नाथ का प्रसिद्ध काव्य-लक्षण 'रमणीयार्थकप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'। काव्य पर जितना सोचा-विचारा गया है उसका आधार प्रकारान्तर से ये ही दो दृष्टिकोण रहे हैं—इन्हीं के आधार पर काव्यशास्त्र में कल्याणपरक और रंजनात्मक मूल्यों का विकास हुआ है। इन दोनों मूल्यों का विपर्यय हो जाने से साहित्यिक मूल्यांकन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। आधुनिक युग के विगत दो चरणों में रीतिकाव्य की दुर्दशा का भी यही कारण था कि आलोचकों ने उसके लिए रंजनात्मक मूल्यों के स्थान पर कल्याणपरक मूल्यों का प्रयोग किया। यह काव्य इस रमणीय अर्थ का प्रतिपादक है और उसी रूप में उसका आस्वादन करना चाहिए। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के प्रमाता को इन रससिद्ध कवियों की वाणी में अद्भुत 'अन्तश्चमत्कार' मिलेगा और आचार्य कुन्तक के समान चाहे इसे चतुर्वर्गरसास्वाद से अधिक न भी माना जाय किन्तु 'अन्तश्चमत्कार' का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

मतिराम इन रससिद्ध कवियों के अग्रणी हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी सरस कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व का प्रामाणिक एवं साहित्यिक विवेचन किया गया है। अनुसन्धाता ने बड़े परिश्रम से प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर मतिराम के जीवन-तथ्यों का संकलन, परीक्षण तथा अन्वेषण कर कवि के व्यक्तित्व-विषयक अनेक रिक्तियों की पूर्ति की है और यथाशक्ति उसका संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है। आरम्भ में विज्ञान का विद्यार्थी होने के कारण उसकी दृष्टि को एक प्रकार की तटस्थता सहज ही प्राप्त हो गई है और उसने साहसपूर्वक अनेक प्रचलित धारणाओं का खण्डन कर अपने निष्कर्ष उपस्थित किये हैं। मुझे विश्वास है कि ज्ञान को गतिशील मानने वाले विद्वान् उनका स्वागत करेंगे। आलोचना के क्षेत्र में भी लेखक ने शास्त्र और कला दोनों के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए मतिराम की मधुर कविता के मर्म का उद्घाटन किया है। मतिराम की कला के सूक्ष्म रहस्यों में प्रवेश करने पर भी उसकी दृष्टि उलझी नहीं है और प्रबन्ध की योजना तथा तथ्य एवं तत्त्व-विवेचन में वैशद्य की हानि नहीं होने पाई है।

प्राक्कथन

हिन्दी के रीतिकालीन शृंगार-साहित्य पर विद्वान् अनैतिकता का आरोप भले ही लगाते रहें, पर कवित्व का विकास उसमें जितना देखने को मिलता है उतना भक्ति-काव्य तथा छायावादी कविता को छोड़ अन्यत्र दुर्लभ है। फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध आरम्भ करने से पूर्व मेरे मन में इस प्रकार की कोई धारणा विद्यमान नहीं थी। उस समय तो मैं सौरस्य से प्रभावित होने के कारण ही उसका विशेष अध्ययन करना चाहता था। अतः श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्रजी ने जब मुझे मतिराम जैसे सरस कवि का अध्ययन करने का परामर्श दिया तो मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। उनकी आज्ञानुसार नियमित प्रवेश प्राप्त करने के लिए मैं शोध-पूर्ण कार्य में जुट गया। यद्यपि उसमें अनेक विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, परन्तु विषय में सहज-रुचि होने के कारण मुझे कोई क्लेश नहीं हुआ। लगभग डेढ़ वर्ष के पश्चात् ७ मार्च सन् १९५६ ई० को उन्हीं के निर्देशन में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अन्तर्गत मुझे नियमित शोधार्थी के रूप में प्रवेश मिल गया। उस समय से लेकर प्रस्तुत प्रबन्ध की परिसमाप्ति तक श्रद्धेय डॉक्टर साहब का निरन्तर पथ-प्रदर्शन मुझे प्राप्त होता रहा, एवं लगभग ढाई वर्ष के पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय ने मुझे इस पर पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की।

मतिराम के सम्बन्ध में पं० कृष्णबिहारी मिश्र की भूमिका के अतिरिक्त अभी तक ऐसा शोध-कार्य नहीं हो सका है जिसे विशेष महत्त्व दिया जा सके। अब तक इस कवि के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है, वह अपने आपमें इतना कम है कि इससे इस सरस कवि का परिचय तक नहीं मिल पाता। मतिराम के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भी पं० कृष्णबिहारी मिश्र के सिवाय किसी ने भी कुछ नहीं कहा। जो कुछ भी लिखा गया है वह 'भूषण' को दृष्टि में रखकर ही। चूँकि इनका 'भूषण' के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता रहा है, इसीलिए विद्वान् थोड़ा-बहुत इनके सम्बन्ध में कह गये हैं और यह भी अध्ययन की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। इसी प्रकार इस व्यक्ति के काव्य के सम्बन्ध में भी कोई विशेष वैज्ञानिक शोध नहीं हुई। मिश्रबन्धुओं ने यद्यपि मतिराम को हिन्दी-काव्य के नवरत्नों में स्थान देकर इनके काव्य की विशेषताएँ बताने का प्रयास किया था, किन्तु उनकी विवेचना मूलतः कवि के जीवन-वृत्त की ओर ही उन्मुख रही। उनका उद्देश्य भी इस कवि के सम्पूर्ण काव्य का अध्ययन प्रस्तुत करना नहीं था। बाद में विद्वान् केवल सूत्र-वाक्यों में ही इस कवि की विशेषताओं का निर्देश करते रहे। जहाँ तक आचार्यत्व का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में तो संक्षिप्त परिचय से अधिक और कुछ भी नहीं मिलता।

प्रस्तुत प्रबन्ध के अन्तर्गत मतिराम के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अब तक की प्रकाशित सामग्री तथा कतिपय नवीन तथ्यों के प्रकाश में उनके जीवन-वृत्त को क्रम-बद्ध रूप में प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास है। उनके निवास-स्थान तथा गोत्र एवं वंश-परम्परा के सम्बन्ध में हमने मौलिक स्थापनाएँ की हैं। कविता के आधार पर उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण भी स्वतन्त्र एवं मौलिक है। इसके साथ ही साथ उनके ग्रन्थों का काल-क्रम प्रमाणों के आधार पर निश्चित करने के अतिरिक्त 'फूलमंजरी', 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' (वृत्त कौमुदी) को उनकी ही रचनाएँ सिद्ध किया गया है—'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' की प्रतियों का पूरा परिचय सर्वप्रथम हमारे प्रबन्ध में ही उपलब्ध हो सकेगा। अन्य ग्रन्थों पर भी विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है।

जहाँ तक मतिराम के कवित्व के अध्ययन का प्रश्न है वहाँ तो प्रायः सम्पूर्ण कार्य ऐसा है जिस पर पहले किसी भी प्रकार का वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं हुआ। उनकी शृंगारिक और वीर कविता का अध्ययन शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया गया है; जबकि उनकी विचारधारा के प्रसंग में उनके धार्मिक सिद्धान्तों और नैतिक दृष्टि का विश्लेषण किया गया है। 'प्रकृति और राजवैभव-वर्णन' के प्रसंग में कवि की प्रकृति-वर्णन-क्षमता और राजवैभव-वर्णन का विवेचन प्रथम बार यहाँ हुआ है।

मतिराम की कला पर भी पहली बार विस्तार के साथ विचार किया गया है। कलागत विषय-वस्तु पर विचार करते हुए इस प्रसंग में रंग-वैभव तथा प्रसाधन (अलंकार-सामग्री) के वर्णन द्वारा उनकी अनुभूति के धरातल तक पहुँचने का प्रयत्न किया गया है। इसके आगे भाषा का अध्ययन है जिसमें व्याकरण और सौष्ठव दोनों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अन्त में उनकी छन्द-योजना का विवेचन है। इस प्रकार इस परिच्छेद में उनकी काव्य-कला का सांगोपांग विवेचन किया गया है।

आचार्यत्व के प्रसंग में मतिराम के छन्द-विवेचन का अध्ययन तो सर्वथा नवीन है ही, उनके शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद-विवेचन पर भी इतने विस्तार के साथ अभी तक किसी ने अनुसंधान नही किया—संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रकाश में उनके शास्त्रीय विवेचन का अध्ययन अन्यत्र प्रायः अप्राप्य ही है। अलंकार-विवेचन के क्षेत्र में हमने मतिराम के विवेच्य अलंकारों की पूरी सूची दी है। जिन अलंकारों को उन्होंने त्याग दिया है अथवा ग्रहण किया है या फिर जिनके अन्तर्गत कोई नवीन उद्भावना करने का प्रयत्न किया है उन सबका सकारण उल्लेख किया गया है और अन्त में, निष्कर्ष रूप से मतिराम के मत की उपस्थापना की गई है।

अन्तिम परिच्छेद में यह स्पष्ट करते हुए कि मतिराम पर पूर्ववर्त्ती किन कवियों का प्रभाव रहा है और परवर्त्ती कवियों में से किस-किस को उन्होंने प्रभावित किया है, हिन्दी-काव्य की परम्परा में उनका स्थान निर्धारित किया गया है। संक्षेप में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत मतिराम सम्बन्धी प्रायः समस्त सामग्री साधारणतः

मौलिक ही है ; जो तथ्य परम्परा-प्राप्त हैं उनका भी नवीन ढंग से आख्यान करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध को लिखने में मुझे जिन लेखकों और महानुभावों की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायता और प्रेरणा प्राप्त होती रही है, उन सबके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ—विशेषतः डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक (लखनऊ), कैप्टेन शूरवीर सिंह पी. सी. एस. (भूतपूर्व अतिरिक्त जिलाधिकारी, बुलन्दशहर) और भूतपूर्व 'पैप्सू राज्य के पुरातत्व विभाग पुस्तकालय' के निदेशक महोदय का जिन्होंने मुझे क्रमशः 'फूलमंजरी', 'छन्दसार संग्रह' और 'अलंकार पंचाशिका' की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का अवसर प्रदान किया। इनके अतिरिक्त मैं नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, के साहित्यान्वेषक पं० दौलतरामजी जुयाल के अनुग्रह को भी नहीं भूल सकता, जिन्होंने अत्यन्त परिश्रम से सर्वप्रथम मतिराम के ग्रन्थों के प्राप्ति-स्थानों की सूची बनाकर भेजने का कष्ट किया और बाद में भी समय-समय पर आवश्यक सूचनाएँ भेजते रहे। पं० कृष्णविहारी मिश्र की 'मतिराम-ग्रन्थावली' का भी मैंने सभी प्रकार से लाभ उठाया है, अतएव उनके प्रति भी अपना आभार पृथक् रूप से प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। वस्तुतः यदि मिश्रजी ने मतिराम के 'रसराज', 'ललितललाम' और 'सतसई'—इन तीन ग्रन्थों का ग्रन्थावली-रूप में सम्पादन न किया होता तो इस कार्य में निश्चय ही कम से कम एक वर्ष का समय और लग जाता।

परमश्रद्धेय गुरुवर डॉ० नगेन्द्रजी का वात्सल्य और आशीर्वाद तो मेरी अमूल्य निधि है, जिसे मैं किसी भी प्रकार के आभार-प्रदर्शन द्वारा कम करना नहीं चाहता।

अन्त में भारती साहित्य मन्दिर (एस० चन्द एण्ड कम्पनी) दिल्ली के व्यवस्थापकों के प्रति भी आभार प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने ऐसे कठिन समय में काग़ज़ का प्रबन्ध कर इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की व्यवस्था की है।

सत्यवती पार्क
(दिल्ली क्लॉथ मिल्स न्यू क्वार्टर्स), दिल्ली। **महेन्द्रकुमार**
१ जनवरी, सन् १९६० ई०

:नके पिता दुर्गा-पाठ करने नित्य देवी
ीं कहाती हैं टिकमापुर से एक मील
नगवती प्रसन्न ह्वै चारिमुंड दिखाय
ेहुआ कि चिन्तामणि १ भूषण २
न्न हुये इनमें केवल नीलकंठ
ेनों भाई संस्कृत काव्य को

प्रथम अध्याय

मतिराम विषयक सामग्री और उ

रीतिकाल के अन्तर्गत आचार्यत्व और कवित्व की दृष्टि से क्रमशः केशव ... बिहारी की जितनी प्रतिष्ठा रही, सम्भवतः उतनी किसी अन्य कवि अथवा आचार्य को प्राप्त न हो सकी। मतिराम ने भी यद्यपि अपने आचार्य-कर्म की स्वच्छता और वाणी की रसार्द्रता के कारण समादृत होने का सौभाग्य प्राप्त किया; यहाँ तक कि परवर्ती कवि इनके रचना-माधुर्य का अनुकरण करके ही लाभ उठाते रहे, परन्तु वे इस युग को न तो केशव के समान अपने पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व से आतंकित कर सके और न बिहारी के समान नागरता के प्रवाह में ही बहा सके, इसीलिए उन्हें इतनी प्रसिद्धि भी न मिली। फिर भी इनका स्थान हीन नहीं रहा, यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है। संवत् १८०३ वि० में आचार्य भिखारीदास ने इसी कारण अपने 'काव्य-निर्णय' के अन्तर्गत आदर्श ब्रजभाषा के कवियों की सूची में इनका नाम सम्मिलित कर[1] जहाँ इन्हे गौरव प्रदान किया, वहाँ बलदेव ने भी अन्य १६ कवियों की वाणी के संकलन के अतिरिक्त इनकी रचनाओं को अपने 'सत्कविगिरा विलास'[2] नामक संग्रह में स्थान देकर अप्रत्यक्ष रूप से इनके सत्कवि होने की घोषणा की। सूदन ने 'सुजान चरित' (रचना-काल संवत् १८१० वि०) के आरम्भ में अनेक 'कविंदों' के साथ इनको प्रणाम कर[3] यह संकेत कर दिया है कि परवर्ती कवियों में इनके प्रति कितनी श्रद्धा रही। इनके पश्चात् भी कृष्णानंद व्यास देव ने 'रागसागरोद्भव रागकल्पद्रुम' (रचना-काल संवत् १९०० वि०) में, सरदार कवि ने 'शृंगार संग्रह' (रचना-काल संवत् १९०३ वि०) में, तथा भारतेन्दु ने 'सुन्दरी तिलक' (रचना-काल संवत् १९२६ वि०) के अन्तर्गत कतिपय सरस पदों का संग्रह कर इनके परम्परागत सम्मान को अविकल रूप से बनाये रखा[4]।

आधुनिक आलोचना और हिन्दी-साहित्य के इतिहास का आरम्भ गार्सां द

---

१. दे० आचार्य भिखारीदास-कृत 'काव्य-निर्णय' (सम्पादक—जवाहरलाल चतुर्वेदी—प्रथम संस्करण)—प्रथमोल्लास।

२. दे० डॉ० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (सन् १९४८ ई० का संस्करण), पृ० २५, तथा सर ग्रियर्सन-कृत 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आव हिन्दुस्तान' (सन् १८८९ ई० का संस्करण), पृ० ९५।

३. दे० सूदन कवि विरचित 'सुजान चरित' (सम्पादक, श्री राधाकृष्ण दास—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण) की प्रथम जंग का प्रथम अंक।

४. दे० डॉ० रामकुमार वर्मा का वही इतिहास, पृ० २५ तथा ग्रियर्सन महोदय की उसी कृति के पृ० १३६-३८, १२०-२१ और १२४-२५।

र ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी'[1] नामक कवि-वृत्त-संग्रह से
ी भी यही से मिलने लगती है। परन्तु विषय-
आपमें इतना ऊलजलूल है कि इमके किसी भी
ो किया जा सकता। मतिराम के विषय में जो
ता हैं वे हमारे कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं—
ति=बुद्धि+राम=ईश्वर) का अर्थ है बुद्धि के राम
+राज=राजा) का अर्थ है रस का राजा[2]।

मतिराम के 'रसराज' से "उद्धरण चुनने में संकोच होता है। वह वास्तव में एक प्रकार का कोकशास्त्र है जिसका जितना सम्बन्ध स्त्रियों के मानसिक गुणों से है उतना ही शारीरिक गुणों से।"[3]

अतएव भ्रामक होने के कारण सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ एक प्रकार से त्याज्य ही है।

वास्तव में मतिराम-विषयक सामग्री तासी महोदय के उक्त ग्रन्थ के लगभग ३० वर्ष पश्चात् रचे हुए शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज'[4] से ही क्रमबद्ध रूप में उपलब्ध होती है। यदि अब तक की सम्पूर्ण सामग्री का विश्लेषण किया जाय तो मुख्यतः तीन भाग होंगे—१. मतिराम के जीवन-वृत्त, २. उनके कवित्व, तथा ३. आचार्यत्व से सम्बद्ध सामग्री। सुविधा के लिए हम तीनों विभाजनों के अन्तर्गत आने वाली सामग्री की कालक्रमानुसार परीक्षा करेंगे।

(एक)

सर्वप्रथम मतिराम के जीवन-वृत्त सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री को ही लेते हैं। यह सामग्री मूलतः मतिराम को लेकर लिपिबद्ध नहीं की गई, प्रत्युत भूषण के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालते हुए इनके साथ उनका सम्बन्ध अथवा असम्बन्ध दिखाने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत की गई है। परन्तु इस ऊहापोह के लिए यदि शिवसिंह सेंगर को श्रेय दिया जाय तो अनुचित न होगा, जिन्होंने "कवि लोगों के काल अवसर देश जन्म सन् संवत् बताने"[5] का दावा करते हुए 'सरोज' में मतिराम सम्बन्धी निम्न तथ्य दिए हैं—

(१) इनका जन्म संवत् १७३८ वि० में टिकमापुर जिला कानपुर में हुआ[6]।

(२) चिन्तामणि, भूषण और नीलकंठ नामक प्रसिद्ध कवि भी इनके भाई

---

१. रचना-काल—प्रथम संस्करण (दो भागों में) संवत् १८९६-१९०३ वि० में, द्वितीय संस्करण संवत् १९७८ वि० में।

२. दे० डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा तासी की 'इस्त्वार द ला लितेरेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी' का 'हिंदूई साहित्य का इतिहास' शीर्षक से हिन्दी भाषा में अनुवाद, पृ० २०१ (सन् १९५३ ई० का संस्करण)।

३. वही, पृ० २०१।

४. रचना-काल संवत् १९३४ वि०।

५. दे० 'शिवसिंह सरोज (प्रथम संस्करण)' भूमिका, पृ० २।

६. वही, पृ० ४३२।

थे। इस विषय में अन्तर्वेद में किंवदन्ती है कि "इनके पिता दुर्गा-पाठ करने नित्य देवी जी के स्थान में जाते थे वे देवी जी वन की भुइयाँ कहाती हैं टिकमापुर से एक मील के अन्तर पर हैं एक दिन महाराज राजेश्वरी भगवती प्रसन्न ह्वै चारिमुंड दिखाय बोली यही चारों तेरे पुत्र होंगे निदान ऐसा ही हुआ कि चिन्तामणि १ भूषण २ मतिराम ३ जटाशंकर या नीलकंठ ४ चारि पुत्र उत्पन्न हुये इनमें केवल नीलकंठ महाराज तौ एक सिद्ध के आशीर्वाद से कवि हुये शेष तीनों भाई संस्कृत काव्य को पढ़ि ऐसे पण्डित हुये कि उनका नाम प्रलय तक बाकी रहेगा।"[१]

(३) इनके भाई भूषण का जन्म संवत् भी संवत् १७३८ वि० है।

(४) ये कुमाऊँ नरेश उद्योतचन्द्र, कोटा के महाराज भाऊसिंह, राजकोट बूँदी के हाड़ा छत्रशाल, शंभुनाथ सुलंकी इत्यादि के आश्रय में रहे। इन्होंने 'ललितललाम' भाऊसिंह के और 'छन्दसार पिंगल' श्रीनगर (बुन्देलखंड) के फतेसाहि के आश्रय में रचा[२]।

इन तथ्यों में कहाँ तक सचाई है इसका आभास तो यह कहने मात्र से ही हो सकता है कि ये अधिकांशतः ऐसी किंवदन्तियों पर आश्रित हैं जो कालान्तर में इतनी विकृत हो गई हैं कि आस्तिकता जैसे तत्त्व के आ जाने के कारण उनमें से सत्यांश निकालना अत्यन्त कठिन हो गया है। जहाँ तक मतिराम के जन्म संवत् का प्रश्न है उसकी सत्यता में तो पूर्णतः सन्देह किया जा सकता है, क्योंकि यह भी अनुमान और किंवदन्तियों पर ही आश्रित है। ठाकुर साहब के कथनानुसार मतिराम और भूषण एक ही संवत् में उत्पन्न मान भी लिये जायँ, तो भी अनेक स्थलों पर ऐसी त्रुटियाँ हैं कि स्वीकृत बातों पर भी सन्देह होने लगता है। उदाहरण के लिए मतिराम के वंशज बिहारीलाल त्रिपाठी का जन्म संवत् १८८५ वि०[३] और उनके पिता शीतल त्रिपाठी का जन्म संवत् १९९१ वि०[४] बताया गया है, जो अशुद्ध ही नहीं असंभव भी है। किन्तु फिर भी जो कुछ इन्होंने कहा है, वह कुछ न होने से अच्छा है। कदाचित् कहा भी जा सकता है कि परवर्ती विद्वानों ने इन तथ्यों के प्रकाश में अथवा उनकी सत्यता को आँकने के लिए ही अन्वेषण किया अन्यथा जो कुछ भी सामग्री हमारे पास है वह भी संभवतः न होती। सर ग्रियर्सन ने तो इसे अपने 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' में मतिराम के जीवन-वृत्त का आधार ही नहीं बनाया प्रत्युत अपने शब्दों में ज्यों का त्यों प्रस्तुत भी कर दिया है[५]।

इसके ठीक २३ वर्ष उपरान्त मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ, जिसके अन्तर्गत हिन्दी-साहित्य के जिन श्रेष्ठ नौ कवियों की जीवन-वृत्त-सहित समालोचना प्रस्तुत की गई उनमें मतिराम भी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि विद्वान्

---

१. दे० 'शिवसिंह सरोज' (प्रथम संस्करण), पृ० ३७६।

२. वही, पृ० ४३२-३३।

३. वही, पृ० ४४४।

४. वही, पृ० ४५४।

५. दे० वही 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान', पृ० ६२।

ग्रन्थकारों ने हमारे कवि का ठीक-ठीक जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न किया है, परन्तु सामग्री के अभाव में उन्हें अपनी मान्यताएँ 'शिवसिंह सरोज' की उपर्युक्त कहानी के आधार पर ही बनानी पड़ी हैं। उदाहरणार्थ, सरोजकार द्वारा दिए गए मतिराम के जन्म संवत् को इन लोगों ने स्वीकार नहीं किया, किन्तु उसके आधार पर मतिराम को भूषण से छोटा मानकर उनका जन्म संवत् १६६६ वि० ठहरा दिया है, क्योंकि उनके विचार में भूषण का जन्म संवत् १६९२ वि० के लगभग हुआ होगा[1]। इतना ही नहीं आगे चलकर संवत् १९७० वि० में इस सम्बन्ध में जब उन्होंने 'मिश्रबन्धु विनोद' के अन्तर्गत अपनी मान्यता में परिवर्तन किया तब भी 'सरोज' की उक्त कहानी इसकी पृष्ठभूमि में विद्यमान थी। इस ग्रन्थ में मतिराम का जन्म संवत् १६७४ वि० माना गया है[2], जिसके मूल में यह तर्क है कि मतिराम के छोटे भाई नीलकंठ-कृत 'अमरेश विलास' संवत् १६९८ वि० का है, जो कम से कम २० वर्ष की अवस्था में लिखा हुआ माना जाय तो इनका (नीलकंठ का) जन्म संवत् १६७८ वि० के लगभग बैठेगा, और क्योंकि मतिराम उनसे ४ वर्ष बड़े रहे होंगे, अतः इनका जन्म संवत् १६७४ वि० के आस-पास मानने में संकोच करने की आवश्यकता नहीं[3]। इसी प्रकार लेखकों का यह कथन कि ये महाराज कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण, तिकवाँपुर के निवासी थे तथा रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे[4], भूषण-कृत 'शिवराज-भूषण' के उस दोहे के आधार पर है जिसमें कवि ने अपना परिचय दिया है[5]। इसके अतिरिक्त मिश्रबन्धुओं ने मतिराम का मृत्यु संवत् भी लिखा है, जिसके समर्थन में उनकी युक्ति है कि भूषण का स्वर्गवास संवत् १७७२ वि० के लगभग हुआ[6]; यदि मतिराम उनसे पूर्व मरे होते तो अवश्य ही उनके विषय में भूषण कुछ लिखते—सम्भवतः इनकी मृत्यु संवत् १७७३ वि० में हुई[7]। कहना न होगा कि ये जन्म-मरण सम्बन्धी मान्यताएँ यद्यपि अनुमान पर ही आधृत हैं, फिर भी कीए[8], ला० सीताराम[9], आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[10], पण्डित रामशंकर शुक्ल 'रसाल'[11], बा० गुलाबराय[12] आदि विद्वानों द्वारा आदर प्राप्त कर चुकी हैं।

---

१. दे० 'मिश्रबन्धु विनोद' (प्रथम संस्करण) की भूमिका।

२. दे० 'मिश्रबन्धु विनोद' (प्रथम संस्करण), पृ० ४८९।

३. दे० 'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ४) में मिश्रबन्धुओं का 'महाकवि भूषण और मतिराम' शीर्षक का लेख, पृ० ४३८।

४. दे० 'हिन्दी नवरत्न' (द्वितीय संस्करण), पृ० ४२९ और 'मिश्रबन्धु विनोद' (प्रथम संस्करण), पृ० ४८९।

५. दे० 'शिवराज भूषण' (भूषण ग्रन्थावली—सम्पादक, पण्डित राजनारायण शर्मा—सन् १९५० ई० का संस्करण), छन्द संख्या २६।

६. दे० 'हिन्दी नवरत्न' (द्वितीय संस्करण), पृ० ३८८।

७. वही, पृ० ४३२।

८. दे० 'ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर' (सन् १९२० ई० का संस्करण), पृ० ४०-४१।

९. दे० 'हिन्दी सेलेक्शन्स' (सन् १९२४ ई० का संस्करण), पृ० ७९ और ८२।

१०. दे० 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (संवत् २००९ वि० का संस्करण), पृ० २५२।

११. दे० 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (प्रथम संस्करण), पृ० ४२६।

१२. दे० 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' (बीसवाँ संस्करण), पृ० १५०।

'नवरत्न' और 'विनोद' के प्रकाशन के पश्चात् मतिराम के जीवन-वृत्त सम्बन्धी मान्यताओं में नवीन क्रान्ति का आरम्भ हुआ, जिसके श्रीगणेश का श्रेय काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्कालीन 'खोज-एजेंट' पण्डित भागीरथप्रसाद दीक्षित को दिया जा सकता है। उन्होंने सभा की पत्रिका में अपने तर्कपूर्ण लेख[1] के द्वारा असनी निवासी पण्डित कन्हैयालाल भट्ट महापात्र के यहाँ से उपलब्ध 'वृत्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ को रसराजकार मतिराम का रचा हुआ मानकर इसके तथा 'शिवराज भूषण' के आधार पर मतिराम और भूषण के सहोदर होने की बात को अस्वीकार किया। उनकी युक्तियों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) 'ललितललाम' महाराज भाऊसिंह (राज्यकाल संवत् १७१६ से १७४५ वि० तक) के आश्रय में रचा गया और 'रसराज' का रचना-काल मिश्रबन्धुओं के अनुसार संवत् १७६७ वि० के आस-पास है; 'वृत्तकौमुदी' संवत् १७५८ वि० में लिखी गई, जो इस बात को सिद्ध करती है कि प्रसिद्ध मतिराम ने ही इसे लिखा[2]। दूसरे 'ललितललाम' और 'वृत्तकौमुदी'—ये दोनों ग्रन्थ—भाषा इत्यादि की दृष्टि से एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं, इससे भी यही प्रमाणित होता है[3]। तीसरे 'शिवसिंह सरोज' में जो छन्द (दाता एक जैसो इत्यादि) 'पिंगलछन्दसार' से उद्धृत किया गया है, उससे भी स्पष्ट है कि मतिराम स्वरूपसिंह बुन्देले के यहाँ आते-जाते थे—इन्हीं महाराज को यह ग्रन्थ (जिसका वास्तविक नाम दीक्षितजी 'वृत्तकौमुदी' मानते हैं[4]) समर्पित है, 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं का यह कथन कि 'पिंगलछन्दसार' शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है, अशुद्ध है[5]।

(२) यह सिद्ध होने पर कि 'वृत्तकौमुदी' मतिराम की रची हुई है, उसकी यदि 'शिवराज भूषण' के साथ परीक्षा की जाय तो विदित होगा कि "भूषण कश्यप-गोत्रीय और मतिराम वत्सगोत्रीय थे। भूषण के पिता का नाम रत्नाकर था और मतिराम पं० विश्वनाथ के पुत्र थे······भूषण अपने को त्रिविक्रमपुर-निवासी और मतिराम वनपुर-वासी लिखते हैं।"[6] एवं "मतिराम ने अपने वंश का परिचय कुछ विस्तार से दिया है। यहाँ तक कि अपने पितृव्य (चचा) पं० श्रुतिधर तक का उल्लेख किया है, फिर अपने सहोदर अग्रजबन्धु भूषण जैसे प्रसिद्ध कवि का ज़िक्र न करते, यह कभी सम्भव न था।"[7] ऐसी दशा में यह कहना ही पड़ता है कि दोनों सहोदर न

---

१. दे० 'नागरी प्रचारिणी सभा की पत्रिका' (भाग ४, अंक ४)।

२. दे० 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (भाग १), संवत् १९८० वि० में प्रकाशित; इसकी भूमिका में बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने उक्त लेख उद्धृत किया है। पृ० १६।

३. वही, पृ० १६-१७।

४. दे० 'माधुरी' (वर्ष ३, खण्ड १) में दीक्षितजी का 'भूषण और मतिराम' शीर्षक का लेख, पृ० ७६३।

५. दे० वही 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण', पृ० २०।

६. वही, पृ० १७।

७. वही, पृ० २०।

थे ; यह बात दूसरी है कि ये "सम्बन्धी या घनिष्ठ मित्र अथवा गुरु-भाई हों तो हो सकता है ; क्योंकि दोनों की कविता बहुत कुछ मिलती-जुलती है...... ।"[१]

दीक्षितजी ने इन दोनों के सगे भाई होने की 'भ्रान्ति' का कारण केवल 'शिवसिंह सरोज' में दी गई कहानी को ही माना है, क्योंकि इससे पूर्व इन कवियों के सम्बन्ध का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ[२] । उनके विचार में ये दोनों कवि समकालीन तो अवश्य थे, पर भूषण मतिराम के जीवन-काल के अन्तिम चरण में ही हुए हैं ; क्योंकि भूषण का जन्म संवत् १७३८ वि० और उनके 'शिवराज भूषण' का रचना-काल संवत् १७८० वि० के आस-पास ही है—संवत् १७३० वि० में इसका रचना-काल मानना अशुद्ध है[३] । दीक्षितजी ने इस ग्रन्थ को शिवाजी के पौत्र साहूजी के समय की रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है ; भूषण का मृत्यु-संवत् भी उन्होंने कुछ प्रमाणों के आधार पर संवत् १८०० वि० के लगभग स्वीकार किया है[४] ।

इसमें सन्देह नहीं कि पं० भागीरथप्रसादजी दीक्षित की मान्यताएँ अपने आप में युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं और बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने भी इन्हें महत्त्व प्रदान कर[५] अप्रत्यक्षतः उनसे अपनी सहमति प्रकट की है ; परन्तु बाद के किसी भी विद्वान् ने दीर्घकाल से प्रचलित किवदन्ती के विरुद्ध उक्त प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया । मिश्रबन्धुओं ने इनको 'अनर्गल' ठहराने के लिए छन्दोभंग, ओजगुण की प्रधानता और प्रसाद गुण के शैथिल्य तथा 'ललितललाम' की अपेक्षा इसमें कवि की कवित्व-शक्ति के ह्रास और फिर 'रसराज' में चरम विकास की स्थिति असम्भव मानकर 'वृत्तकौमुदी' को मतिराम की कृति नहीं माना[६], किन्तु इन आनुमानिक तर्कों के आधार पर दीक्षितजी की मान्यताओं का विरोध करना उचित नहीं लगता । हाँ, याज्ञिक-त्रय का लेख[७] अवश्य ही ऐसा है जो दीक्षितजी की उपर्युक्त धारणाओं का सही उत्तर प्रतीत होता है । इसके अन्तर्गत उन्होंने दीक्षितजी की धारणाओं का सप्रमाण प्रतिवाद करते हुए अपनी मान्यताएं इस प्रकार प्रस्तुत की हैं—

(१) 'शिवसिंह सरोज' से लगभग ४३ वर्ष पूर्व रचे गए सूर्यमल्ल के 'वंश-भास्कर' में तो चिन्तामणि, मतिराम और भूषण के भाई होने का उल्लेख है ही[८], इससे पूर्व सन् ११६६ हि० (संवत् १८०८ वि०) में 'तज़्किराए सर्व आज़ाद' में मीर गुलाम अली ने भी इन तीनों के भ्रातृत्व को स्वीकार किया है, नीलकंठ का अवश्य ही कहीं उल्लेख नहीं है, अतः इन्हें मतिराम आदि का भाई मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता[९] ।

---

१. दे० वही 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' पृ० २० ।
२. वही, पृ० २१ ।
३. वही, पृ० २६ और २४ ।
४. वही, पृ० २३ ।
५. वही, पृ० २८ ।
६. दे० 'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड १, संख्या ४), पृ० ४३१ ।
७. दे० 'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ६) में 'मतिराम और भूषण' शीर्षक का लेख ।
८. वही, पृ० ७३६ ।
९. वही, पृ० ७३६ ।

(२) 'वृत्तकौमुदी' यदि मतिराम की कृति हो भी, तो भी यह संभावना की जा सकती है कि उन्होंने अपने पिता का नाम रत्नाकर इसलिए नहीं लिखा क्योंकि विश्वनाथ ने उन्हें गोद ले लिया होगा या फिर ये ममेरे या फुफेरे भाई रहे होंगे[१]।

(३) मतिराम की एक पुस्तक 'फूलमंजरी' नाम की भी मिली है, जिसमें उन्होंने जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में विभिन्न प्रकार के पुष्पों का वर्णन किया है। जहाँगीर का स्वर्गवास संवत् १६८३-८४ वि० में हुआ था ; अतएव यदि इस कृति को मतिराम ने २० वर्ष की अवस्था में लिखा हो तो इनका जन्म संवत् १६६४ वि० के आस-पास और कविता-काल लगभग संवत् १६८३ वि० या उससे कुछ पूर्व ठहरता है[२]।

(४) मतिराम का बूँदी राज्य से संवत् १६४५ वि० में ही सम्बन्ध छूटा इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता— उससे पूर्व भी छूट सकता है। 'रसराज' उन्होंने किसी भी दरबार को समर्पित नहीं किया—सम्भवतः इसकी रचना बूँदी से सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व अर्थात् 'ललितललाम' के रचे जाने से पहले हुई होगी[३]।

(५) संवत् १७६० वि० के पश्चात् मतिराम के जीवित रहने का कहीं भी संकेत नहीं मिलता। हो सकता है, इसी समय लगभग ९६ वर्ष की अवस्था में ये परलोक सिधारे[४]।

याज्ञिक बन्धुओं के उक्त लेख से कुछ ही पूर्व श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी ने भी दीक्षितजी के लेख की आलोचना 'प्रभा' (वर्ष ५, खण्ड १, संख्या ६) में करते हुए 'वृत्तकौमुदी' को अप्रामाणिक ठहराने के लिए एक वक्तव्य प्रकाशित किया किन्तु वह अपने आपमें इतना अशक्त था कि उनके आशय को पूरा न कर सका। परन्तु 'रसराज' के सम्बन्ध में उन्होंने जो किंवदन्ती उद्धृत की वह अवश्य ही विचारणीय है। इसके अनुसार मतिराम ने 'रसराज' की रचना औरंगज़ेब के लिए की थी, पर भूषण के भाई होने के कारण उसने इन्हें अपने आश्रय से निकाल दिया ; इससे मतिराम ने औरंगज़ेब के नाम वाले छन्द इसमें से हटा दिये; यही कारण है कि इस ग्रन्थ को पढ़ने से उसके आदि और अन्त में कतिपय छन्दों का अभाव खटकता है[५]। कहने की आवश्यकता नहीं कि त्रिपाठीजी लिखित किंवदन्ती यदि सत्य हो तो यह याज्ञिक महोदयों की 'रसराज' विषयक उपर्युक्त धारणा का सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण सिद्ध होगी। इससे मतिराम के कविता-काल और जन्म संवत् का भी सही अनुमान लगाया जा सकेगा।

इसके पश्चात् संवत् १९८१ वि० की 'माधुरी' (वर्ष ३, खण्ड १) में उपर्युक्त महानुभावों—मिश्रबन्धुओं, याज्ञिक-त्रय और पं० रामनरेश त्रिपाठी की इस सम्बन्ध में युक्तियों का उत्तर देने के लिए दीक्षितजी ने एक लेख और लिखा। इसमें उन्होंने मतिराम की 'अलंकार पचाशिका' नामक एक और पुस्तक का उल्लेख किया तथा उसी

---

१. दे० वही 'माधुरी' (वर्ष २, खंड २, संख्या ६), पृ० ७३६।
२. वही, पृ० ७३७।
३. वही, पृ० ७३८।
४. वही, पृ० ७३८।
५. दे० 'प्रभा' (वर्ष ५, खण्ड १, संख्या ६) पृ० ४७०।

के आधार पर उसका रचना-काल संवत् १७४७ वि० बताते हुए मतिराम का कुमायूँ नरेश महाराज ज्ञानचन्द्र के आश्रय में संवत् १७५० वि० तक रहना नही माना— इससे पूर्व ही मतिराम वहाँ से चले आये होंगे, क्योंकि औरगज़ेब ने अपनी दबाई गई भूमि के कारण कुमायूँ-पति का राज्य संवत् १७५० वि० के आस-पास छीन लिया था— औरंगज़ेब की इस भूमि के विषय में मतिराम ने भी 'अलंकार पंचाशिका' में एक छन्द लिखा है[१]। इसके बाद वे काश्मीर-नरेश (बुन्देलखड) और स्वरूपसाहि बुन्देले के आश्रय में गये ; कुमायूँ के पहाड़ी क्षेत्र में उनका पुनः लौटना संगत प्रतीत नहीं होता । हाँ, इतना अवश्य है कि उनके हृदय में कुमायूँ-पति के प्रति मान रहा होगा, इसी कारण 'छन्दसार पिगल' में उनका उल्लेख किया—भूषण का सम्मान न होने के कारण ये वहाँ से रुष्ट होकर चले आये थे, यह किंवदन्ती किसी अन्य कवि के विषय में रही होगी[२]। दूसरे, याज्ञिक महोदयो ने संवत् १७०७ वि० में शंभुनाथ सोलकी के आश्रय में 'छन्दसार पिंगल' की रचना मानी है, वह दीक्षितजी के विचार में नितान्त अशुद्ध है[३]।

इसी लेख में, दीक्षितजी ने याज्ञिक महोदयों द्वारा उल्लिखित मीर गुलाम अली और सूर्यमल्ल के ग्रन्थों में भूषण और मतिराम के सहोदर होने के प्रमाण को भी किंवदन्तियो पर ही आश्रित माना[४]। हाँ, 'रसराज' की रचना के विषय में यह अवश्य स्वीकार किया कि यदि यह पहले लिखा गया सिद्ध हो जाय तो मतिराम के सभी ग्रन्थों में उनकी प्रवृत्ति के विकास का क्रम बाँधा जा सकता है[५]—'रसराज' से लेकर 'वृत्तकौमुदी' तक क्रमशः शृंगार, शृंगार और वीर तथा केवल वीर रस का परिपाक उनके मानसिक विकास का द्योतक होगा। परन्तु इसी क्रम में उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कह दिया है कि इस काल के अन्तर्गत दो मतिराम हुए हैं,[६] जिनमें से प्रथम प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न 'फूलमंजरी' के रचयिता हैं, कारण 'ललितललाम' और 'फूलमंजरी' के रचना-काल में ५० वर्ष से भी अधिक का अन्तर है[७]।

दीक्षितजी की उपर्युक्त मान्यताओं का 'खण्डन' करने तथा उनके आक्षेपों का उत्तर देने के लिए याज्ञिक-बन्धुओं ने एक वर्ष बाद 'माधुरी' के अन्तर्गत 'भूषण और मतिराम' शीर्षक लेख लिखा। इसमें उन्होने दीक्षितजी के कथनानुसार ही तर्क दिया कि भूषण जब संवत् १८०० वि० तक विद्यमान थे और मीर गुलाम अली ने यह ग्रन्थ संवत् १८०८ वि० में लिखा तो गुलाम अली के कथन में फिर भी सन्देह किया जाय, इसका कोई कारण नही दीखता[८]।

---

१. दे० वही 'प्रभा', पृ० ७७३ ।
२. वही, पृ० ७७३ ।
३. वही, पृ० ७७३ ।
४. वही, पृ० ७७३ ।
५. वही, पृ० ७६६ ।
६. वही, पृ० ७७६ ।
७. वही, पृ० ७७६ ।
८. दे० 'माधुरी' (वर्ष ४, खण्ड २, संख्या ३), पृ० ३६१ ।

संवत् १९९० वि० में पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने मतिराम के तीन ग्रन्थों—'रसराज', 'ललितललाम' और 'सतसई' का विस्तृत भूमिका के साथ प्रकाशन कराया। भूमिका के अन्तर्गत मिश्रजी ने अपने से पूर्व के सभी मतों को किंवदन्तियों पर आधृत मानते हुए भी उन्ही की पुष्टि में कतिपय प्रमाण और दिये। इनमें से प्रथम चरखारी-नरेश महाराज विक्रमादित्य के राज-कवि मतिराम के प्रपौत्र बिहारीलाल की संवत् १८७२ वि० में लिखी हुई 'रसचन्द्रिका' है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि चिन्तामणि, भूषण और मतिराम नामक कवियो को मध्य देश के राजा हम्मीर ने तिकवाँपुर में बसाया था—और यह भी कहा है कि मतिराम कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे[1] ; इधर चिन्तामणि-कृत 'रामाश्वमेध' के प्राप्त कतिपय पृष्ठो के आधार पर वे भी कश्यपगोत्रीय मनोह के तिवारी ठहरते है[2] ; तथा भूषण भी 'शिवराज भूषण' के अनुसार इसी स्थान और गोत्र के थे। अतएव यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि ये तीनो कवि कश्यपगोत्रीय थे तथा तिकवाँपुर ज़िला कानपुर में रहते थे। रही बात उनके भाई होने की, तो उसको प्रमाणित करने के लिए मीर गुलाम अली के 'तज़कराए सर्व आजाद' से और अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ नही हो सकता[3]। भूषण और मतिराम के भावो और भाषा के साम्य से भी यही बात प्रमाणित होती है[4]। नीलकंठ के उक्त कवियो के भाई होने के विषय में प्रमाण कम है, अतएव उनको इनका भाई न माना जाय तो कोई बात नही[5]।

कवित्व के स्तर की दृष्टि से कृष्णबिहारीजी ने 'फूलमंजरी' को मतिराम की प्रथम कृति मानते हुए अनुमान से कहा है कि संवत् १६७८ वि० में मतिराम ने जहाँगीर की आज्ञा से 'नौरोज़' के उत्सव पर इसे रचा होगा ; जिन पुष्पों का इसमें वर्णन है, वे सम्भवतः सम्राट् के 'नूर अफ़शाँ' नामक उद्यान के मनमोहक पुष्प रहे होंगे[6]। इस प्रकार से मतिराम उस समय १८ वर्ष के मान लिये जायँ तो उनका जन्म सवत् १६६० वि० के लगभग बैठेगा[7]। ग्रन्थों में से 'छन्दसार पिंगल' संवत् १७००-१७१० वि० के बीच, 'सतसई' सवत् १७२५-३५ वि० के मध्य में, 'साहित्यसार' संवत् १७४० वि० के आस-पास तथा 'लक्षण शृंगार' और 'अलंकार पंचाशिका' क्रमशः संवत् १७४५ वि० और संवत् १७४७ वि० के लगभग रचे गए होंगे[8], ऐसी उनकी धारणा है; पर इसकी पुष्टि में उन्होंने विशेष प्रमाण नही दिए। 'रसराज' और 'ललितललाम' में से 'ललितललाम' को संवत् १७१८-१९ वि० के बीच की[9] और

---

१. दे० 'मतिराम ग्रन्थावली' (तृतीय संस्करण) की भमिका, पृ० २२१।
२. वही, भूमिका, पृ० २२२।
३. वही, भूमिका, पृ० २२२-२३।
४. वही, भूमिका, पृ० २२३।
५. वही, भूमिका, पृ० २२३।
६. वही, भूमिका, पृ० २२८-२९।
७. वही, भूमिका, पृ० २२९।
८. वही, भूमिका, पृ० २३१-३२।
९. वही, भूमिका, पृ० २३०-३१।

'रसराज' को उससे भी पूर्व संवत् १६९०-१७०० वि० के मध्य कवि की यौवनकाल की कृति[1] सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) कवि की प्रथम रचना जितनी उत्कृष्ट होती है, उतनी अंतिम नहीं। इससे भी हटकर 'रसराज' शृंगारिक रचना है, जो कवि ने अवश्य ही युवावस्था में लिखी होगी—५० वर्ष की अवस्था में प्रायः सभी शृंगार से विरक्त होने लग जाते हैं। केशव इत्यादि ने शृंगारिक ग्रन्थ पहले लिखे हैं और अलंकार-निरूपण सम्बन्धी बाद में[2]।

(२) 'ललितललाम' और 'रसराज' के समान रूप वाले छन्द 'रसराज' से ही अलंकारों के उदाहरण स्वरूप ग्रहण किये गए हैं, क्योंकि इनसे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का अभीष्ट नायिका-भेद विवेचन ही रहा है—अलंकार अपने आप आ जाने से समय पर उनने उन्हें अलंकार-ग्रन्थ 'ललितललाम' में प्रस्तुत कर दिया होगा[3]।

(३) बूँदी नरेश से सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व ही 'रसराज' की रचना हुई होगी, क्योंकि इससे मतिराम की ख्याति फैली होगी और महाराज भाऊसिंह ने इनका नाम सुनकर इन्हें अपने यहाँ बुलाया होगा[4]।

(४) कवि लोग प्रथम ग्रन्थ में ही गुरु चरणों की वन्दना करते हैं, बाद के ग्रन्थों में इसका इतना विचार नहीं रहता। मतिराम ने भी 'रसराज' 'श्रीगुरु चरण मनायकै' आरम्भ किया है[5]।

(५) 'मनोहर प्रकाश' नामक 'रसराज' की टीका में हरिदास ने 'रसराज' को औरंगज़ेब के आश्रय में लिखित कहा है, वह स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि मतिराम ने इसकी समाप्ति "रसिकन के रस को कियो नयो ग्रन्थ रसराज" से की है, जिससे स्पष्ट है कि यह स्वतन्त्र रूप से उन्होंने युवावस्था में लिखा[6]।

(६) 'वृत्तकौमुदी' मतिराम की रचना-शैली से भिन्न होने के कारण प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। वैसे भी कवि लोग प्रायः आरम्भ में ही पिंगल-ग्रन्थ रचते हैं, जीवन के अन्तिम काल में नहीं[7]।

इसमें सन्देह नहीं कि मिश्रजी के तर्क अपने आपमें अत्यन्त सबल हैं, परन्तु उनमें ऐतिहासिकता की अपेक्षा भावनात्मक कल्पना का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण ये हृदय को जितना छूते हैं, उतना मस्तिष्क को नहीं। वैसे इनकी संगति और पूर्वापर का क्रम अतर्क्य है, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है। मिश्रजी के इन प्रमाणों के उपरान्त इस विषय में खोज की कितनी आवश्यकता रह जाती है, यह कहना तो कठिन है, क्योंकि इतिहास के साथ संगति बैठाये बिना इनको मान्य

१. दे० 'मतिराम ग्रन्थावली' (तृतीय संस्करण) की भूमिका, पृ० २३०।
२. वही, भूमिका, पृ० २४५।
३. वही, भूमिका, पृ० २४१-४४।
४. वही, भूमिका, पृ० २४४-४५।
५. वही, भूमिका, पृ० २४६।
६. वही, भूमिका, पृ० २४६-४७।
७. वही, भूमिका, पृ० २३७।

नहीं ठहराया जा सकता, परन्तु इतना अवश्य है कि इनसे आगे प्रगति की इतिश्री नही हुई। इसीलिए पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इनमें कुछ परिवर्तन और पुष्टि के लिए अपेक्षित प्रमाण और दिये हैं। इन्होंने अपनी 'भूषण' नामक पुस्तक के अन्तर्गत 'शिवराज भूषण' की संवत् १८०८ वि० वाली प्रति के आधार पर भूषण और मतिराम के पिता का नाम रत्नाकर के स्थान पर रतिनाथ माना है[1] तथा इसकी पुष्टि में मतिराम के वंशज शिवसहाय तिवारी आदि द्वारा संवत् १८६६ वि० में लिखित मथुरा के चौबों की वंशावली दी है। यह वंशावली बिहारीलाल की 'रसचन्द्रिका' से मिलान करने पर उसके विरुद्ध नही पड़ती[2]। परन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि विश्वनाथ प्रसादजी ने उपर्युक्त दोनों प्रमाणों में इन दोनों कवियों के भ्रातृत्व का उल्लेख न होने पर भी उसकी कल्पना का आधार क्या बनाया है, यह समझ में नही आता। जहाँ तक रत्नाकर अथवा रतिनाथ नाम होने का प्रश्न है, उसमें विवाद के लिए कोई स्थान नही, क्योंकि दोनों नामों की एक ही राशि है, अतः हो सकता है कि वे दोनों नामों से ही अभिहित किये जाते हों। मिश्रजी का भी सम्भवतः यही विचार है। कान्यकुब्जों की वंशावली के आधार पर इन्होंने मतिराम को वत्सगोत्रीय न मानकर गूदरपुर के तिवारी और बछई वंश का सिद्ध किया है[3]।

पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र से लगभग एक वर्ष पूर्व पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने 'भूषण विमर्श' नामक पुस्तक लिखी जिसमें मतिराम सम्बन्धी अपनी मान्यताओ पर पुनः प्रकाश डालते हुए इस काल के अन्तर्गत मतिराम नामधारी दो कवियों के वर्तमान होने की स्थापना की है[4]। इसका मूल आधार मुख्यतः ये दो बातें ही रही हैं—(१) रहीम के यौवन-काल से लेकर असोथर नरेश भगवन्तराय खीची की मृत्यु के बाद तक के संकेत मतिराम के नाम से प्राप्त पुस्तकों और स्फुट छन्दों में मिलते हैं, अतः यह १३० वर्ष का समय एक ही कवि का रचना-काल नहीं माना जा सकता[5] और (२) मतिराम के नाम से उपलब्ध पुस्तकों में से कुछ की भाषा-शैली, यहाँ तक कि अनेक छन्द भी एक दूसरे से ज्यों के त्यों मिलते-जुलते हैं, जबकि शेष की भाषा-शैली उनसे सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है[6]। कहना न होगा कि इन्हीं दो तर्कों की छाया में दीक्षितजी ने प्रथम मतिराम को रहीम, जहाँगीर, शाहजहाँ, गोपीनाथ, भाऊसिंह और भोगनाथ के तथा द्वितीय को उद्योतचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, फ़तहशाह, स्वरूपशाह बुन्देला और भगवन्तराय खीची के आश्रित माना है[7]। रहीम-कृत 'बरवै नायिका भेद' की कतिपय हस्तलिखित पुस्तकों में नायिका भेद सम्बन्धी लक्षण रसराजकार मतिराम के (ब्रजभाषा में) और उदाहरण रहीम के (अवधी में) रचे हुए

---

१. 'भूषण' (प्रथम संस्करण), पृ० ६६।
२. वही, पृ० ६७।
३. वही, पृ० १०२।
४. दे० 'भूषण विमर्श' (द्वितीयावृत्ति), पृ० २०।
५. वही, पृ० २०।
६. वही, पृ० २०।
७. वही, पृ० २१।

देखकर दीक्षितजी ने मतिराम को रहीम का आश्रित कवि मानते हुए उनका जन्म संवत् भी संवत् १६३० वि० के आस-पास निर्धारित कर दिया है। उनके विचार में रहीम ने नायिकाओं सम्बन्धी छन्द अपनी युवावस्था में ही अर्थात् संवत् १६५५ वि० के लगभग रचे होंगे और मतिराम ने कोई ३० वर्ष की अवस्था में उनके ऊपर दोहों में लक्षण कस दिये होंगे[१]। मतिराम की 'फूलमंजरी' के विषय में दीक्षितजी की धारणा है कि इसका रचना-काल संवत् १६६५ वि० रहा होगा—पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने जो इसका रचना-काल संवत् १६७८ वि० के आस-पास माना है, वह अशुद्ध है; क्योंकि उस समय जहाँगीर की दृष्टि रहीम पर वक्र थी, अतएव रहीम के आश्रित कवि का जहाँगीर के दरबार में आश्रय पाना सम्भव दिखाई नही देता[२]। इसी प्रकार दीक्षितजी ने 'ललितललाम' के ३०, १६५ और २६० संख्याओं वाले छन्दों में 'नाथ' शब्द का प्रयोग भाऊसिंह के पितामह महाराज गोपीनाथ के लिए मानकर मतिराम को उनका आश्रित कवि ठहरा दिया है[३]। फ़तहशाह और भगवन्तराय खीची के आश्रय में मतिराम का होना क्रमशः 'वृत्तकौमुदी' और एक स्फुट छन्द के आधार पर मान लिया गया है[४]—शेष पुस्तकों में से 'ललितललाम', 'सतसई' और 'अलंकार पंचाशिका' क्रमशः भाऊसिंह, भोगनाथ और ज्ञानचन्द्र को समर्पित है, अतः इनको मतिराम का आश्रयदाता मान लेना अस्वाभाविक नहीं[५]। शेष ग्रन्थों—'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार' के विषय में दीक्षितजी मौन हैं।

संक्षेप में 'भूषण-विमर्श' के लेखक की स्थापना के अनुसार प्रथम मतिराम का समय संवत् १६३५ से १७२५ वि० तक और द्वितीय का काल संवत् १७२० से १७६५ वि० तक बैठता है[६]। जहाँ तक मतिराम और भूषण के बन्धुत्व का प्रश्न है, दीक्षितजी उसे पूर्ववत् अस्वीकार करते हैं, कारण प्रथम मतिराम के अन्तिम काल में भूषण का जन्म हुआ था और द्वितीय का निवास-स्थान तथा पिता का नाम भूषण से भिन्न मिलता है, वैसे चिन्तामणि को उन्होंने भूषण का ही भाई माना है[७]। इसके अतिरिक्त बिहारीलाल त्रिपाठी को द्वितीय मतिराम का पन्ती स्वीकार करते हुए वृत्तकौमुदीकार का अपने गोत्र के विषय में भ्रम होना कहा है—और बिहारीलाल द्वारा दिया गया हवाला ही शुद्ध माना है[८]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सभी तर्कों की पृष्ठ-भूमि में दीक्षितजी की एक ही धारणा विद्यमान दिखाई देती है और वह यह कि मतिराम रहीम के आश्रय में रहे थे।

किन्तु इसी क्रम में यह कह देना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि १३० वर्ष के रचना—काल से मतिराम नाम के दो कवियों का एक ही समय में मानना तो भ्रामक

---

१. दे० 'भूषण-विमर्श' (द्वितीयावृत्ति), पृ० १५।
२. वही, पृ० १५।
३. वही, पृ० १८।
४. वही, पृ० १८-१९।
५. वही, पृ० १९।
६. वही, पृ० २०।
७. वही, पृ० ३५।
८. वही, पृ० २९।

नहीं, पर रहीम-कृत 'बरबै नायिका भेद' का सम्पादन मतिराम ने ही किया, इसकी परीक्षा किये बिना मतिराम को रहीम के यौवन-काल तक घसीट ले जाना संगत नहीं है। यह बात भी विचित्र-सी प्रतीत होती है कि संस्कृत भाषा का पण्डित मतिराम अपने गोत्र को अशुद्ध लिखे और संस्कृत का अल्प ज्ञान रखने वाला उसका प्रपौत्र अपने पितामह की भूल का प्रक्षालन करे; और यदि यह मान भी लें तो फिर दीक्षित-जी के कथनानुसार ही कश्यपगोत्रीय मतिराम इसी वंश के भूषण से गोत्र की दृष्टि से दूर नहीं बैठते। परन्तु दीक्षितजी इसे अस्वीकार करते हैं, ज्ञात नहीं, क्यों? सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि आरम्भ में जिस 'वृत्तकौमुदी' को दीक्षितजी ने 'फूलमजरी' के रचयिता से भिन्न रसराजकार मतिराम की रचना माना था, उसे 'भूषण विमर्श' के अन्तर्गत बिना किसी संकोच के किन्हीं अन्य मतिराम-कृत तथा 'फूलमंजरी' को रसराजकार रचित स्वीकार कर लिया है। कहने का अभिप्राय यह है कि दीक्षितजी के इन तर्कों से तो किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना कठिन है, पर उन्होंने जो दो समस्याएँ उठाई हैं कि (१) रीतिकाल में मतिराम नामधारी दो कवि हुए; तथा (२) भूषण और मतिराम का बन्धुत्व भ्रामक है, उनको सम्यक् विचार के बिना टाला नहीं जा सकता।

इधर कैप्टेन शूरवीरसिंह पी० सी० एस० ने एक लेख[1] के अन्तर्गत अपनी खोज में प्राप्त भूषण के 'अलंकार प्रकाश'[2] तथा मतिराम की 'वृत्तकौमुदी' की एक और प्रति के आधार पर भूषण और मतिराम के सहोदरत्व को अस्वीकार किया है, पर साथ ही यह कह दिया है कि इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य रहा है, जिसका कारण है 'अलंकार प्रकाश' और मतिराम-कृत 'ललितललाम' के छन्दों (विशेषतः लक्षण-परक दोहों) में समानता। परन्तु इस विषय में यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं कि दोनों कवियों ने 'कुवलयानन्द' का अनुवाद किया है, अतएव छन्द-साम्य देखकर ही उनकी घनिष्ठता सिद्ध नहीं की जा सकती। आगे कैप्टेन साहब लिखते हैं कि मतिराम और भूषण दोनों ने साथ-साथ भारत की यात्रा की थी, 'यह इतिहास-प्रसिद्ध है'; ज्ञात नहीं यह सूचना उन्होंने किस ऐतिहासिक ग्रन्थ से प्राप्त की है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रीयुत शूरवीरसिंहजी ने भूषण और मतिराम के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये हैं, वे पं० भागीरथप्रसाद दीक्षितजी की आरम्भिक मान्यताओं की पुनरावृत्ति मात्र हैं, किन्तु भूषण के 'अलंकार-प्रकाश' का उल्लेख करके इन दोनों कवियों की समसामयिकता तथा सम्बन्ध पर उन्होंने नवीन तथ्यों का योगदान किया है।

सारांश यह है कि मतिराम के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में समय-समय पर विद्वानों ने अपने विचार प्रकट करते हुए यद्यपि उनके निवास-स्थान, पिता और भूषण के साथ बन्धुत्व पर अपनी सहमति दी है, परन्तु इनके जन्म-मरण और कविता-काल पर वे एकमत नहीं हो पाये—ग्रन्थों के निर्माण-काल का अनुमान करते समय

१. दे० २७ नवम्बर सन् १९५५ ई० की 'अमृत पत्रिका'।
२. रचना-काल संवत् १७०५ वि० (इसी लेख के आधार पर ही)।

किसी ने भी तर्क से काम नहीं लिया। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने यद्यपि इन सभी मान्यताओं का घोर विरोध किया है, किन्तु अपने अन्तर्विरोधी तर्कों में उलझ जाने के कारण वे भी अपनी बात को सिद्ध नहीं कर पाये। फिर भी इस सम्बन्ध में उनके लेखों का इतना महत्त्व अवश्य रहा है कि किसी भी लेखक को उनकी चर्चा किये बिना आगे बढ़ने का साहस नहीं हो पाया।

(दो)

अस्तु, अब हम उस सामग्री पर आते हैं, जिसमें विद्वानों ने मतिराम के कवित्व पर अपने विचार प्रकट किये हैं। यों तो इस सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है कि मतिराम अपने युग से लेकर शिवसिंह सेंगर के 'शिवसिंह सरोज' तक ब्रजभाषा के सत्कवियों में प्रमुख गिने जाते रहे, परन्तु आधुनिक युग में सर ग्रियर्सन के 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान' से आरम्भ करना उपयुक्त होगा। इन्होंने तासी महोदय की पुस्तक 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' तथा 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर केवल इतना ही कहा है कि मतिराम के श्रेष्ठ ग्रन्थ 'ललितललाम', 'छन्दसार' और 'रसराज' हैं, जिनमें से 'ललितललाम' बूँदी के राव भावसिंह के नाम से अलंकार ग्रन्थ हैं, 'छन्दसार पिंगल' श्रीनगर के फ़तहशाह बुन्देला के नाम से छन्दों पर लिखा हुआ है और 'रसराज' प्रेमियों के विषय में लिखित है[1]।

सर ग्रियर्सन के उक्त ग्रन्थ के पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' में मतिराम के काव्य की अपेक्षाकृत विशद आलोचना प्रस्तुत की और उनकी भाषा को मधुर, संयुक्त वर्णों और अनुप्रास के 'इष्ट' से रहित तथा सभी गुणों—विशेषतः माधुर्य और प्रसाद से सम्पन्न एवं भावों के अनुसार गम्भीर ही नहीं बताया[2], प्रत्युत रीतिकाल के प्रमुख कवियों के साथ तुलना करते हुए अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि भाषा और मानुषी प्रकृति के सुन्दर चित्रण में यदि कोई मतिराम के समकक्ष है तो वे क्रमशः प्रतापसाहि और देव हैं—दोहों की तुलना में बिहारीलाल की सतसई के दोहे रखे जा सकते हैं[3]। परन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि अत्यधिक श्रद्धा होने के कारण लेखक महोदय भूषण को मतिराम से श्रेष्ठ[4] और देव को कम से कम उनके पार्श्ववर्ती[5] कह बैठे हैं—सेनापति की कविता उनके विचार में "विशद एवं अनूठी होने पर भी मतिराम की रचना की समता नहीं कर सकती[6]।' कहना न होगा कि विवादास्पद होने पर भी मिश्रबन्धुओं की इन मान्यताओं का मतिराम की कवित्व-विषयक सामग्री के योगदान के अन्तर्गत अपना विशेष महत्त्व है।

---

१. दे० 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान', पृ० ६२।
२. दे० 'नवरत्न' (तृतीय संस्करण), पृ० ४३३, और वही 'मिश्रबन्धु विनोद, पृ० ४४७।
३. दे० वही 'नवरत्न', पृ० ४३३।
४. दे० 'नवरत्न' (प्रथम संस्करण की भूमिका), पृ० ३१-३२।
५. दे० वही 'नवरत्न', पृ० ४३४।
६. दे० 'नवरत्न' (प्रथम संस्करण की भूमिका), पृ० ३३।

इसके पश्चात् १२ मार्च सन् १६२४ ई० की 'माधुरी' में 'मतिराम सतसई' शीर्षक से पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र का लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने मतिराम की सतसई का परिचय 'विरह-वर्णन', 'खंडिता नायिका' और 'स्फुट सूक्तियाँ' नामक उपशीर्षकों में दिया है। इनमें से 'विरह-वर्णन' के अन्तर्गत जहाँ नायिका के विरहाधिक्य और उसके शमन के उपचार तथा नायिका के रोने इत्यादि के अतिरिक्त वर्षा ऋतु में काम के प्रकोप आदि का परिचय दिया है[१], वहाँ खंडिता नायिका के प्रसंग में नायिका द्वारा नायक के शरीर पर रति-चिह्नों के ज्ञान और उपालम्भ पर कतिपय दोहों की सहायता से प्रकाश डाला है[२]। स्फुट सूक्तियों में मिश्रजी ने विभाव, अनुभाव, संचारी तथा अन्य सुन्दर भावों वाले दोहे उद्धृत कर उनकी सुन्दर व्याख्या की है[३]। इसके अतिरिक्त सतसई के कुछ दोहों में मतिराम के सवैयों और कवित्तों के भाव दिखाये गये हैं[४]। कहने का अभिप्राय यह है कि मिश्रजी का यह लेख केवल परिचयात्मक होते हुए भी हिन्दी साहित्य में इस कवि के अकेले ग्रन्थ पर इस प्रकार का प्रथम लेख होने के कारण उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

कृष्णबिहारीजी के इस लेख के पश्चात् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पण्डित रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के इतिहास-ग्रन्थ प्रकाश में आये। आचार्य शुक्ल ने जहाँ मतिराम की कविता में भारतीय जीवन के स्वाभाविक और सरस भावों तथा भाषा की सरल अभिव्यंजना[५] पर मुग्ध होकर इनके 'सच्चे कवि हृदय' की प्रशंसा करते हुए जोरदार शब्दों में कहा है कि "यदि ये समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भावभूति दिखाते"[६]; वहाँ 'रसाल' जी ने इनकी भाषा को पद्माकर और घनानन्द के समान लचीली और रस-स्निग्ध कहकर इन्हें कवित्व में देव के समकक्ष ठहराया है[७]। आगे चलकर 'हरिऔध' जी ने भी अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ में इनकी भाषा और सरस भावाभिव्यक्ति की भावपूर्ण शब्दावली में साहित्यिक महत्ता स्वीकार की है[८]।

'हरिऔध' जी के ग्रन्थ का प्रकाशन होने से पूर्व ही मतिराम के तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों—'रसराज', 'ललितललाम', और 'सतसई' का सम्पादन पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र 'मतिराम ग्रन्थावली' के रूप में कर चुके थे। उनके बाद श्री हरदयालुसिंह ने 'मतिराम मकरंद'[९] नाम से मतिराम के काव्य की एक चयनिका भूमिका सहित प्रस्तुत की। इनमें से ग्रन्थावली की विशालकाय भूमिका के अन्तर्गत मिश्रजी ने परिचयात्मक

---

१. दे० वही 'नवरत्न' पृ० २०८-१० ।
२. वही, पृ० २०६-११ ।
३. वही, पृ० २१२-१३ ।
४. वही, पृ० २११-१२ ।
५. दे० वही 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० २५२-५३ ।
६. वही, पृ० २५३ ।
७. दे० 'रसाल' जी लिखित वही 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४२७ ।
८. दे० द्वितीय संस्करण; पृ० ३५८-६० ।
९. प्रथमावृत्ति ।

दृष्टिकोण से नायिकाओं के विभिन्न भेदों, शृंगार रस के कतिपय अंगों और प्रसिद्ध अलंकारों को मतिराम के छन्दों में घटाकर, उनकी भाषा में भी कवि की स्वच्छ अभिव्यक्ति, सरलता, व्यंजना-शक्ति, लचक इत्यादि गुणों को कवित्त और सवैयों में दिखाने का भावपूर्ण प्रयास किया है। कवि द्वारा वर्णित महाराज भावसिंह के हाथियों और नायिकाओं के नेत्र, आँसू और मधुर भावों की भी अच्छी विवेचना प्रस्तुत की गई है। परन्तु साथ ही उन्होंने कतिपय छन्दों में छन्दोभंग, कला और तन्मयता का अभाव तथा दूसरी भाषाओं के शब्दों का ठीक प्रयोग न होने का भी उल्लेख कर अपनी आलोचना को पूर्ण रूप देने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त सूर, तुलसी, केशव, रहीम, बिहारी जैसे पूर्ववर्ती तथा आलम, देव, दास, रघुनाथ, पद्माकर और बेनीप्रवीन जैसे परवर्ती कवियों के अनेक छन्दों के साथ मतिराम के छन्दों की तुलना की गई है; उधर संस्कृत के कालिदास और गोवर्द्धनाचार्य तथा अंग्रेज़ी के शेक्सपियर और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ साम्य बैठाने की भी चेष्टा है। इसी प्रकार हरदयालुसिंह ने भी कवि की विशुद्ध ब्रजभाषा को श्रुतिमाधुर्य गुण और भावों में मानुषी प्रकृति के सुन्दर अंकन की चलती-फिरती प्रशंसा के साथ देव, दास, पद्माकर, शकर आदि कवियों के साथ भावों की समानता दिखाई है। लेखक ने बिहारीलाल के दोहों की सरसता पर रीझकर मतिराम को उनके बाद ही स्थान दिया है।

उपर्युक्त दोनों महानुभावों के पश्चात् सम्भवतः इस प्रकार का कार्य किसी भी विद्वान् द्वारा सम्पन्न न हो सका; यहाँ तक कि आज के युग में जहाँ सामान्य कवियों तक पर लेख प्रकाशित हो जाते हैं, वहाँ यह सरस कवि उपेक्षा का ही पात्र रहा है। डॉ० किरणकुमारी ने 'हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण'[१] नामक अपने शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत इस व्यक्ति के प्रकृति-चित्रण पर कतिपय पृष्ठ लिखे हैं, किन्तु इनमें विषय-वस्तु के विश्लेषण की अपेक्षा उसका परिचयात्मक वर्णन ही अधिक है—उद्दीपक और अलंकार सामग्री के उपशीर्षकों में कवि के सरस छन्दों का एक प्रकार से संग्रह मात्र कर दिया गया है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने अवश्य ही उसको रीतिकाल का श्रेष्ठ कवि घोषित करने के लिए जिन युक्तियुक्त तर्कों को प्रस्तुत किया है उनसे इसका गौरव बढ़ा है। द्विवेदीजी ने उसकी भाषा के 'सहज प्रसन्न प्रवाह'[२] में 'भावों के अनाडम्बर प्रकाशन'[३] की क्षमता देखकर जोरदार शब्दों में लिखा है कि "मतिराम की चित्रण-क्षमता और भाषा के प्रवाह के साथ उनकी रचनाओं की तुलना नहीं हो सकती।"[४] उनके विचार में "मध्यकाल की अनुरागवती गृह-वधू का जैसा मार्मिक और वास्तविक चित्रण मतिराम ने किया है वैसा अन्य कवियों ने नहीं किया[५]। द्विवेदीजी ने अन्य कवियों की तुलना में विषय-वस्तु की सफाई की दृष्टि

---

१. सं० २००६ वि० में प्रथम बार प्रकाशित।
२. हिन्दी-साहित्य (प्रथम संस्करण), पृ० ३३५।
३. वही, पृ० ३१३।
४. वही, पृ० ३३६।
५. वही, पृ० ३३६।

से प्रतापसाहि[1] और सहृदयता में पद्माकर[2] को ही इनके समकक्ष माना है; देव को वे भाषा और भावों में से—किसी में भी—इनके समान नहीं मानते[3]। कहने का अभिप्राय यह है कि द्विवेदीजी के ये सूक्ति-वाक्य वास्तव में बिना किसी कारण मतिराम की उपेक्षा करने वालों के लिए चुनौती हैं।

(तीन)

अन्त में हम मतिराम के आचार्यत्व पर प्रकाशित सामग्री पर विचार करेंगे। परन्तु इससे पूर्व यह कह देने में संकोच नहीं होता कि यह व्यक्ति अपने युग के अन्तर्गत कवि रूप में ही अधिक प्रसिद्ध रहा होगा। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने यद्यपि इनको परम्परा मे भाषा काव्य का आचार्य कहा है[4]; किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि आदर्श ब्रजभाषा का प्रयोग करने के कारण इन्हें अनुकरणीय माना जाता था अथवा ब्रजभाषा में रीतिग्रन्थों का निरूपण करने वाले आचार्यों में इनकी गणना की जाती थी। जो हो, इससे यह पता लगाना कठिन है कि परम्परानुसार इनको उस अर्थ में आचार्य स्वीकार किया गया था जिस अर्थ में कि केशव, चिन्तामणि आदि को किया जाता है। इसकी पुष्टि सर ग्रियर्सन, मिश्रबन्धु आदि विद्वानों के मतिराम विषयक उन विवेचनों से भी हो जाती है, जिनके अन्तर्गत इन महानुभावों में से किसी ने भी इनको आचार्य कहने का साहस नहीं किया; यद्यपि उन्होंने 'रसराज' और 'ललितललाम' में वर्णित क्रमशः नायिका-भेद और अलंकार-निरूपण का संक्षिप्त परिचय और उसकी स्वच्छता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। आगे चलकर पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र ने भी 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका में 'रसराज' और 'ललितललाम' का प्रशंसापूर्ण परिचय दिया है—उनके कतिपय छन्दों में रस, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि दिखायी हैं, नायिका-भेद तथा अलंकारों के स्वच्छ उदाहरणों को उद्धृत कर यथास्थान घटाने का प्रयास भी किया है, एवं 'रसराज' में रस के सभी अंगों और 'ललितललाम' में शब्दालंकारों के अभाव को मतिराम का दोष बताते हुए[5] भूषण के 'शिवराज भूषण' से अलंकारों के कतिपय लक्षणों का 'ललितललाम' में दिये गये उन्हीं अलंकारों के लक्षणों से मिलान कर दिखाया है[6], पर कहीं भी उनको आचार्य नहीं कहा—साम्य का कारण भी प्रकट नहीं किया। इनसे पूर्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाद में ठाकुर हरदयालुसिंह भी इस दिशा में मौन रहे हैं।

डॉ० भागीरथ मिश्र और डॉ० नगेन्द्र ने अवश्य ही मौन रहने की अपेक्षा अपना नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करना उचित समझा है। डॉ० भागीरथ ने मतिराम-कृत 'अलंकार पंचाशिका', 'रसराज' और 'ललितललाम' के विवेचन में यह कहकर

---

१. वही 'हिन्दी साहित्य', पृ० ३१६।
२. वही, पृ० ३३७।
३. वही, पृ० ३३६-३७।
४. दे० वही 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४३२।
५. दे० वही 'मतिराम ग्रंथावली', भूमिका, पृ० १२८।
६. दे० वही, पृ० २२४-२८।

कि 'अलंकार पंचाशिका' 'चन्द्रालोक' के आधार पर रची हुई है'[१], 'रसराज' का विवेचन आचार्यत्व कोटि का नहीं है[२], तथा 'ललितललाम' के लक्षण चलताऊ ढंग से दिये गये हैं[३]—यद्यपि इसका विवेचन 'रसराज' की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय है[४]' अपना निर्भ्रान्ति निर्णय दिया है कि आचार्यत्व की दृष्टि से इनका कोई महत्त्व नहीं।[५] वर्तमान पीढ़ी के विद्वानों में डॉ० मिश्र रीतिकाव्य के विशेषज्ञ हैं। उनका ग्रन्थ 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' अपने विषय का पहला महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। मतिराम का सर्वांग अध्ययन उनका विषय नहीं रहा, इसलिए इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन उन्होंने नहीं किया। परन्तु मतिराम के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर उन्होंने निश्चय ही बड़ा काम किया है। हिन्दी के मध्यकालीन रीति-ग्रंथों का अन्वेषण और उसके आधार पर प्रामाणिक विवेचन करके मिश्रजी ने परवर्ती अनुसन्धाताओं के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

डॉ० नगेन्द्र ने अपनी 'रीतिकाव्य की भूमिका' के अन्तर्गत रीतिकाल में प्रचलित तीन प्रकार की निरूपण-शैलियों का उल्लेख करते हुए मतिराम के 'रसराज' को 'शृंगार तिलक' और 'रसमंजरी' की नायिका-भेद वाली शैली के अन्तर्गत रखा है[६]। 'ललितललाम' को वे एक विशिष्ट वर्ग में रखते हैं, जिसका मूल उद्देश्य आचार्यत्व नहीं रहा, केवल उदाहरणों पर ही अधिक जोर दिया गया है[७]। उनका विचार है कि 'आचार्य' शब्द का यदि वास्तविक अर्थ लिया जाय तो (मतिराम तो क्या) मौलिकता के अभाव में रीतिकाल का कोई भी कवि इस पद का अधिकारी न होगा[८], पर सामान्यतः गम्भीर अध्ययन और गम्भीर विवेचन-परम्परा को अवतरित करने के कारण इनको 'आचार्य' कहा जा सकता है[९]। इसी बात को ध्यान रखते हुए अन्य कवियों के समान मतिराम भी शृंगार और अलंकार के क्षेत्र में इस पद के अधिकारी हो सकते हैं।[१०]

इनके पश्चात् श्री प्रभुदयाल मीतल, डॉ० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी तथा डॉ० ओमप्रकाश ने अपने ग्रन्थों के अन्तर्गत क्रमशः नायिका-भेद, शृंगार रस तथा अलंकार-विवेचन का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए मतिराम पर भी प्रसंगानुसार विचार किया है। प्रभुदयालजी ने सिवाय इसके कि मतिराम प्रौढ़ाखण्डिता और प्रौढ़ा-धीरा में अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाये[११] और कोई नवीन बात प्रस्तुत नहीं की; केवल 'रसराज'-गत नायिका-भेद का वर्णन करने के उपरान्त उसके रचयिता को रीतिकाल का

---

१. दे० 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' (प्रथमावृत्ति), पृ० ८५।
२. वही, पृ० ८७।
३-४-५. वही, पृ० ८८।
६. दे० 'रीतिकाव्य की भूमिका' (द्वितीय संस्करण), पृ० १३४ और १३७-३८।
७. वही, पृ० १४२।
८. वही, पृ० १३०-३१।
९. वही, पृ० १५३।
१०. वही, पृ० १५३-५४।
११. दे० 'ब्रज साहित्य का नायिका-भेद' (प्रथम संस्करण), पृ० १४३।

सर्वमान्य कवि घोषित कर दिया है।[1] दूसरी ओर डॉ० चतुर्वेदी ने भी इसी प्रकार मतिराम के शृंगार रस और नायिका-भेद-विवेचन का वर्णन मात्र प्रस्तुत किया है जो मूलतः पं० कृष्णबिहारी मिश्र की 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका पर ही आधृत रहा है। इस विवेचन के अन्तर्गत उन्होंने लिखा है कि मतिराम दाम्पत्य-विषयक रति को ही शृंगार मानते हैं[2]। यह धारणा अपने आप में संकुचित है, कारण रसराजकार स्त्री-पुरुष की रति को ही शृंगार मानता है, जिसमें परकीया-प्रेम भी समाविष्ट किया जा सकता है—'रसराज' में मतिराम ने ऐसा कर भी दिखाया है। ऐसी दशा में यह कहने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है कि डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी का मतिराम की आचार्यत्व-विषयक सामग्री के अध्ययन में कोई योगदान नहीं रहा।

डॉ० ओमप्रकाश ने अवश्य ही इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने अपने 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य'[3] नामक शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत मतिराम के अलंकार निरूपण के आधार-ग्रन्थों तथा 'ललितललाम'-गत निरूपित लक्षण-उदाहरणों के गुण-दोषों का उल्लेख करते हुए इन्हें विषय-विवेचन की दृष्टि से शिथिल कहा है[4]। डॉ० महोदय ने यद्यपि मतिराम के उदाहरणों में से कतिपय में सन्निविष्ट सौन्दर्य की व्याख्या करते हुए उनकी सरसता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, तथापि उनके विवेचन से सहज ही यह आभास मिल जाता है कि कवि के दोष-दर्शन की ओर उनकी दृष्टि अधिक केन्द्रित रही है। इसीलिए उन्होंने इस बात का विचार किये बिना ही कि अनन्वय, भेदकातिशयोक्ति, समासोक्ति और एकावली—अलंकारों के लक्षण 'कुवलयानन्द' की तत्सम्बन्धी कारिकाओं के अनुवाद मात्र हैं, इन्हें नितान्त अस्पष्ट कह दिया है[5]। यह सत्य है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा' जैसे एक-दो अलंकारों में यह व्यक्ति भ्रम कर गया है, पर सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ। इसी प्रकार उदाहरण-गत विवेच्य अलंकारों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों का चमत्कार देखकर उन्होंने इनके निरूपण में शिथिलता सिद्ध कर दी है।[6] हमारा विनम्र मत उनसे भिन्न है क्योंकि प्रायः एक अलंकार के साथ दूसरा श्लिष्ट रहता ही है—इस पर सत्काव्य में तो ऐसा होना बड़ी बात नहीं। ऐसे ही यह स्वतःसिद्ध होने पर भी कि एक ही वर्ग के अलंकारों को एक दूसरे से पृथक् कर देखना साधारणतः कठिन हुआ करता है, विद्वान् लेखक ने यह आक्षेप लगाया है कि मतिराम के उदाहरणों में अलंकारों का सही निरूपण नहीं हो पाया[7]। संक्षेप में मतिराम के अलंकार-निरूपण के अध्ययन में अपेक्षा इस बात की थी कि उनकी परिस्थितियों के कारण सहानुभूतिपूर्ण विचार किया जाय, पर डॉ० साहब ऐसा नहीं

१. दे० वही ब्रज-साहित्य का नायिका-भेद, पृ० ११४।
२. दे० 'रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस विवेचन' (प्रथम संस्करण), पृ० ४४७।
३. सन् १९५६ ई० में प्रथम बार प्रकाशित।
४. दे० वही, पृ० ९९।
५. दे० वही, पृ० ९२-९३।
६. दे० वही, पृ० ९३।
७. दे० वही, पृ० ९४-९५।

कर सके। फिर भी उनके प्रयास को मतिराम-विषयक सामग्री में महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना ही चाहिए, क्योंकि यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास है।

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस भोले कवि के प्रति हिन्दी साहित्य के विद्वान् न्याय नही कर पाये। सिवाय दो एक विद्वानों के किसी ने भी उसके ऊपर प्रकाश नहीं डाला; उसकी काव्य-निधि को नहीं परखा—जिन्होंने यत्न किया उनका प्रयास वर्णनात्मक ही रह गया है। हाँ, जीवन-वृत्त पर अवश्य ही कुछ तथ्य प्रकाशित हुए हैं पर उनमें विरोध होने के कारण यह निर्णय करना शेष रह जाता है कि कौनसा अधिक समीचीन है। सब मिलकर कवित्व और आचार्यत्व पर जो कुछ प्रकाश डाला गया है, वह अपने आप में हमारे कवि को सम्मान और गौरव दिलाने में असमर्थ है। वास्तव में इस बात की आवश्यकता अभी बनी हुई है कि मतिराम की समस्त कृतियों का गहन अध्ययन और मनन करने के पश्चात् प्रामाणिक तथ्य प्रकाश में लाये जायें और उसके साहित्य के सभी अगों का मूल्यांकन हो।

द्वितीय अध्याय

मतिराम का जीवन-वृत्त तथा व्यक्तित्व

(अ) जीवन-वृत्त

मतिराम नामधारी दो कवियों की कल्पना—'शिवसिंह सरोज' के अन्तर्गत तिकवाँपुर निवासी मतिराम का ही उल्लेख हुआ है। परन्तु जब से इस नाम से उपलब्ध अन्य अप्रसिद्ध रचनाओं की प्रामाणिकता पर विचार हुआ है, तब से इस कल्पना को श्रेय मिलने लगा है कि रीतिकाल के अन्तर्गत मतिराम नामधारी कम से कम दो कवि अवश्य हुए। मिश्रबन्धुओं ने तो 'फूलमंजरी' को रसराजकार मतिराम से पूर्व के किन्हीं भिन्न मतिराम की[1] तथा 'वृत्तकौमुदी' को उनके नामराशि किसी अन्य कवि की रचना कहकर[2] अप्रत्यक्ष रूप से मतिराम नाम के तीन कवियों के होने की घोषणा कर दी है। इधर प० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने यद्यपि आरम्भ में 'फूलमंजरी' को रसराजकार की रचना नहीं माना था—वे 'वृत्तकौमुदी' को ही उसकी प्रामाणिक कृति मानते थे,[3] परन्तु अब इसके विपरीत वे इस धारणा पर दृढ़ हो गये हैं कि 'फूलमंजरी' तो प्रसिद्ध मतिराम की ही रचना है, पर 'अलंकार पंचाशिका', 'वृत्त-कौमुदी' तथा भगवन्त नृप की प्रशंसा में उपलब्ध एक छन्द दूसरे मतिराम की रचनाएँ ही हो सकती हैं[4]। पं० कृष्णबिहारी मिश्र केवल 'वृत्तकौमुदी' को ही किसी अन्य मतिराम की रचना मानते हैं[5]। कहने की आवश्यकता नहीं कि मिश्रबन्धुओं ने यद्यपि अपने तर्कों को इन ग्रन्थों की भाषा-शैली के आधार पर प्रस्तुत किया है, परन्तु उनकी उक्त मान्यताओं के मूल में 'शिवसिंह सरोज' की वही कहानी विद्यमान रही है जिसके अनुसार क्रमशः चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ सहोदर थे। यही कारण है कि 'फूलमंजरी' का रचयिता अवस्था में भूषण से बड़ा होने के कारण उन्हें रसराजकार से भिन्न प्रतीत हुआ तथा 'वृत्तकौमुदी' का प्रणेता भूषण से—वंश और पिता दोनों की दृष्टि से—पृथक् होने के कारण मतिराम की-सी कविता करने में समर्थ न हो सका। दूसरी ओर दीक्षितजी की धारणा यह रही है कि मतिराम रहीम के आश्रित रहे, क्योंकि 'बरवै नायिका भेद' में 'रसराज' के दोहे समाविष्ट करने वाले वे ही हो सकते हैं तथा उन्होंने यह सम्पादन-कार्य रहीम के यौवनकाल अर्थात् संवत् १६५० वि० के आस-पास किया होगा। अतः तब से लेकर 'वृत्तकौमुदी'

---

१. दे० वही 'मिश्रबन्धु-विनोद', पृ० ४४७।
२. दे० वही 'विनोद', पृ० ४४७ तथा 'माधुरी' (वर्ष २, खंड २, सं० ४), पृ० ४३७-४४।
३. दे० 'माधुरी' (वर्ष ३, खंड १), पृ० ७७६।
४. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० १५, २० और २१।
५. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० २३८।

के रचना-काल (संवत् १७५८ वि० के लगभग) और उससे भी आगे असोथर नरेश भगवंत राय खीची द्वारा औरंगजेब के विरुद्ध किये गए विद्रोह (संवत् १७७० से १७९३ वि० के बीच) 'तक रचना करने वाला एक कवि नहीं हो सकता—अवश्य ही दो मतिराम हुए होंगे, जिनमें से द्वितीय ने 'अलंकार पंचाशिका', 'वृत्तकौमुदी' तथा उक्त भगवंत नृप की प्रशंसा में छन्द (दिल्ली के अमीर दिल्लीपति सौं कहत वीर···इत्यादि) आदि की रचना की होगी[1]। कृष्णबिहारीजी के निर्णय की पृष्ठ-भूमि में यही भावना काम करती दिखाई देती है, जो मिश्रबन्धुओं की मान्यताओं को प्रेरित करती रही थी, इसी कारण इन्होंने केवल यह कहकर कि प्रसिद्ध मतिराम की प्रसाद-गुण-सम्पन्न रचना-शैली के विपरीत 'वृत्तकौमुदी' के छन्दों में क्लिष्टता और पिष्टपेषण मिलता है तथा परम्परा मे मतिराम का पिंगल-ग्रन्थ 'छन्दसार' के नाम से नही[2] ; वृत्तकौमुदीकार को रसराजकार से इतर मान लिया है।

पर वास्तव में इस कवि के नाम से अब तक के उपलब्ध ग्रन्थों की भाषा, भाव तथा विशिष्ट दृष्टिकोण की दृष्टि से तुलना कर परीक्षा की जाय तो उनमें पार्थक्य के स्थान पर विकास दृष्टिगोचर होगा ; इसी विकास को भिन्नता कहकर उक्त विद्वानों ने मतिराम नामक दो कवियों की कल्पना करली है। 'बरवै नायिका भेद' स्पष्टतः मतिराम द्वारा सम्पादित नही, इस पर आगे प्रकाश भी डाला गया है[3] तथा भगवंत-विषयक छन्द उस समय के भगवत नामक नृपतियों में से किसी के लिए हो सकता है। हमारी धारणा है कि भूषण ने जिन मध्य-देश के शासक भगवत की मृत्यु पर एक छन्द लिखा है,[4] उन्हीं के ऊपर किसी मतिराम नामधारी परवर्ती कवि ने इस छन्द की रचना की होगी—रसराजकार मतिराम की रचना मे यह प्रतीत नही होता। इसमें व्यवहृत ठेठ फारसी शब्दावली प्रसिद्ध मतिराम की स्वच्छ संस्कृत भाषा के विपरीत पड़ती है। दूसरे 'फूलमजरी' जहाँ मतिराम के आरम्भिक भावों का प्रतिनिधित्व करती है, वहाँ 'छन्दसार संग्रह' (वृत्तकौमुदी) उनकी भाषा के चरम विकास का परिचायक है—छन्दों में शिथिलता का कारण लिपिकारों की अशुद्धियाँ हैं, जो प्रायः सभी हस्तलिखित प्रतियों में हमें देखने को मिली हैं। शिवसिंह सेंगर ने फ़तहशाह और कुमायूँ-नरेश को भी मतिराम का आश्रयदाता[5] कहा है ; उक्त पिंगल-ग्रन्थ में भी इन नरेशों का श्रद्धापूर्वक नामोल्लेख मिलता है। जहाँ तक बूँदी-नरेश के नाम न होने का प्रश्न है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि ये महाराज औरंगजेब के सहायकों में से थे और फ़तहशाह आदि दिल्लीपति के विद्रोही थे, ऐसी दशा में उनके सम्मुख ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करना इन्होंने उचित न समझा होगा। शिवाजी को 'ललितललाम' के अन्तर्गत कुछ हेठा दिखाया गया है, परन्तु बाद में 'सतसई' के एक दोहे तथा अन्य दो स्फुट कवित्तों में उनकी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा की

---

१. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० १५-१७।
२. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० २३६।
३. दे० तृतीय अध्याय का शीर्षक—'बरवै नायिका भेद और मतिराम'।
४. दे० 'माधुरी' (वर्ष ३, खंड १), पृ० ७७०।
५. दे० वही 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४३२-३३।

गई है, जो इसी बात की ओर संकेत है कि बूँदी से सम्बन्ध टूट जाने के पश्चात् हमारे कवि की भावना भाऊसिंह के प्रति अच्छी नहीं रही । अस्तु, यह किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रीतिकाल में मतिराम नामधारी दो कवियों ने समान प्रौढ़ी की रचनाएँ की होंगी—मतिराम नाम का प्रौढ़ कवि निश्चय ही एक था जिसने अपने दीर्घ रचना-काल से इस युग के साहित्य को समृद्ध किया । भगवंतराय सम्बन्धी छन्द के आधार पर मतिराम नामधारी एक अन्य सर्वथा सामान्य कवि की भी कल्पना की जा सकती है पर 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' अथवा 'वृत्तकौमुदी' के लेखक को इसका रचयिता कहना संगत प्रतीत नहीं होता ।

जन्म—मतिराम का जन्म किस संवत् में हुआ इसका अन्तः और बहिस्साक्ष्य—दोनों में से किसी के आधार पर ठीक-ठीक पता नहीं चलता, परन्तु इनकी रचनाओं में सबसे अधिक अप्रौढ़ 'फूलमंजरी' है, जिसके भाव स्पष्टतः हमारे कवि की किशोरावस्था की ओर संकेत करते हैं । इस कृशकाय पुस्तिका की रचना सम्राट् जहाँगीर की आज्ञा से हुई, ऐसा इसके अन्तिम दोहे में लिखा है[1]। इधर जहाँगीर की अपनी पुस्तक 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' फारसी में मिलती है । इसके अन्तर्गत यद्यपि मतिराम के विषय में कोई चर्चा नहीं, पर सम्राट् 'गुल-ए-आफ़शाँ'[2] नामक शाही उद्यान की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि उसने इसकी यात्रा संवत् १६७६ वि० में की थी[3]—जिन पुष्पों की प्रशंसा मुग़ल सम्राट् ने की है, 'फूलमंजरी' में भी वे दृष्टिगोचर होते हैं, अतः सम्भव है कि मतिराम को उक्त यात्रा के अवसर पर ही आदर्श मिला हो । इस समय इस किशोर कवि की अवस्था १५-१६ वर्ष की रही हो, तो उसका जन्म संवत् १६६१ वि० के लगभग बैठेगा 'रसराज' की प्रौढता से भी यही विदित होता है कि इसकी रचना के समय हमारा कवि प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुका होगा ।

वर्ण, गोत्र आदि—मतिराम वर्ण से ब्राह्मण थे, यह सभी को मान्य है, कौन से ब्राह्मण थे तथा उनका गोत्र क्या था, इस विषय में वे स्वयं प्रमाण हैं । 'वृत्त-कौमुदी' के अन्त में अपना परिचय देते हुए उन्होंने सर्वप्रथम वर्ण और गोत्र का ही उल्लेख किया है—

तिरपाठी बनपुर बसैं वत्स गोत्र मुनि गेह ।

---

१. दे० **हुकम पाय जहाँगीर को नगर आगरे धाम ।**
फूलन की माला करी मति सों कवि 'मतिराम' ।। ६ ।।
(फूलमंजरी)

२. पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली' के पृ० २२६-३० पर मुंशी देवीप्रसाद द्वारा अनूदित 'जहाँगीरनामा' के आधार पर शाही उद्यान का नाम 'नूरअफ़शा' लिखा है, जब कि जहाँगीर लिखित 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' के अनुवादक—एलैक्जैंडर रोजर्स ने इसका नाम 'गुल-ए-आफ़शा' दिया है । हम 'रोजर्स' के कथन को ही प्रामाणिक मानकर चल रहे हैं, क्योंकि इतिहासकारों ने प्रायः इसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है—वैसे भी, यह कथन जहाँगीर की अपनी डायरी का अनुवाद होने के कारण अधिक संगत प्रतीत होता है ।

३. दे० 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' का अनुवाद 'मेमायर्स ऑव जहाँगीर', भाग २, पृ० ६५ तथा भाग १, पृ० ५-७ ।

इससे स्पष्ट है कि मतिराम वत्सगोत्रीय त्रिपाठी ब्राह्मण थे। परन्तु किंवदन्तियों के आधार पर भूषण और मतिराम को सहोदर मानने वाले विद्वानों की भावना इस कथन को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं; उनके विचार में कश्यपगोत्रीय भूषण[१] का अनुज 'वत्स' गोत्र का कैसे हो सकता है ? निश्चय ही वृत्तकौमुदीकार प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मतिराम के पंती,[२] बिहारीलाल त्रिपाठी ने अपना गोत्र 'कश्यप'[३] कहकर इस भावना को और भी बल प्रदान किया है। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने मतिराम और बिहारीलाल का सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए यद्यपि यह तर्क दिया है कि मतिराम को अपने गोत्र का ज्ञान नहीं था, इसलिए भ्रम हो गया—बिहारीलाल ने इस त्रुटि का प्रक्षालन किया है[४]; परन्तु हमारे विचार में इस प्रकार की युक्तियों में कोई सार नहीं। न तो दो मतिराम ही हुए हैं और न बिहारीलाल ही उनसे भिन्न थे; बात वास्तव में यह है कि 'पंती' शब्द को विद्वानों ने पकड़ने का प्रयास नहीं किया। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में पुत्र अथवा पुत्री के पुत्र को नाती कहा जाता है, यह शब्द संस्कृत के 'नप्तृ' शब्द का अपभ्रंश रूप है। नाती का पुत्र पंती कहलाता है, अतः पुत्र अथवा पुत्री—दोनों में से किसी के पौत्र को 'पंती' कहा जा सकता है।

अस्तु, कान्यकुब्जों में ऐसा नियम प्रचलित है कि वे अपनी कन्या ऊँची मर्यादा वाले कुलीन तथा अपने से भिन्न गोत्र के वर को ही देने का प्रयत्न करते है, चाहे वह दरिद्र ही क्यों न हो। कान्यकुब्ज वंशावली देखने से विदित होता है कि कश्यपगोत्रीय ब्राह्मण वत्सगोत्र वालों से भिन्न तथा उनकी अपेक्षा कुलीन माने जाते हैं[५]। अतः

---

१. दे० दुज कनौज कुल कस्यपी, रतनाकर सुत धीर। —वहीं 'शिवराज भूषण', छन्द संख्या २६।

२. दे० हैं पंती मतिराम के सुकवि बिहारीलाल। —'रसचन्द्रिका'।

३. दे० करयप बंस कनौजिया, विदित त्रिपाठी गोत। —'रसचन्द्रिका'।

४. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० २६।

५. दे० अथ गोत्राणि वक्ष्यामि कान्यकुब्जद्विजन्मनाम्।
कश्यपश्च भरद्वाजो शाण्डिल्यस्सांकृतस्तथा ॥२४॥
कात्यायनोपन्यूच काश्यपश्च धनञ्जयः।
कविस्तो गौतमो गर्गो भारद्वाजस्तथैव च ॥२५॥
कौशिकश्च वशिष्ठश्च वत्सः पाराशरस्तथा।
∠ इत्येतेकान्यकुब्जानां गोत्राण्याहुश्चषोडशः ॥२६॥
△ कात्यायनः कश्यप सांकृताश्च शाण्डिल्यनामा उपमन्युसंज्ञः।
तथा भरद्वाजमहर्षिगोत्रः कुलीनवंश्यः कथिताः षडेते ॥२७॥
= एते षट्गोत्रजाविप्रः षट्गोत्रेष्वेकेवलम्।
कुर्वन्ति कान्यादानं वै नान्येषु दिग्भवेषुच ॥२८॥
—'कान्यकुब्जवंशावली'—ले० पं० मन्नीलाल मिश्र—सन् १९५३ ई० का संस्करण।

∠ व्याकरण की दृष्टि से इस चरण का शुद्ध पाठ हमारे विचार में इस प्रकार होना चाहिये—
इत्येते कान्यकुब्जानां गोत्राश्चाहुर्हिषोडशाः ॥
अथवा
इमानि कान्यकुब्जानां गोत्राण्याहुर्षोडशानि ॥

बहुत सम्भव है कि मतिराम ने अपनी पुत्री का विवाह कश्यप गोत्र वालों के यहाँ किया हो और बिहारीलाल उसके पौत्र होने के कारण मतिराम के पंती हों। साधारणतः मनुष्य की यह सबसे बड़ी निर्बलता देखी जाती है कि वह स्वयं को प्रतिष्ठित सिद्ध करने के लिए किसी प्रतिष्ठित पूर्वज का अथवा पूर्वजों के प्रतिष्ठित नातेदारों से अपने को सम्बद्ध बनाने का प्रयास करता है। यदि बिहारीलाल ने अपने पिता के नाना, मतिराम, के साथ अपना सम्बन्ध दिखाने का प्रयत्न किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

इसकी पुष्टि में मुझे परम्परागत तथ्य भी मिला है। मतिराम के जीवन-वृत्त सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए मैं घाटमपुर से ९ मील पूर्व में सँजेती नामक ग्राम में मतिराम के कथित वंशज रामाधार तिवारी नामक सज्जन के पास पहुँचा। इस सरल ग्रामीण को अपने पूर्वजों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं; परन्तु उसने इतना अवश्य कहा कि इस गाँव के पास में एक बाग भूषण बाबा का कहा जाता है, उस पर मेरा अधिकार होना चाहिये था, पर जमीदारों ने नहीं होने दिया; तथा भूषण के ताम्रपत्र और सनदें मेरे पास थी, किन्तु उनका महत्त्व न जान सकने के कारण मैंने ये नष्ट कर दी। इससे मेरी यह धारणा दृढ हो गई कि इस व्यक्ति का सम्बन्ध भूषण से ही है—मतिराम से नही। रामाधार के अपने शब्दों में मतिराम के एक वंशज (जिनका उल्लेख दीक्षितजी ने 'भूषण-विमर्श' की भूमिका में किया है) थे जो सन्यासी हो गये हैं। ऐसी दशा में सँजेती से सामग्री की अधिक आशा न कर मैं तिकवाँपुर गया; यह वहाँ से एक मील दक्षिण-पूर्व दिशा में है। यहाँ मैं सर्वप्रथम डॉ० अश्वनीकुमार मिश्र और उनके अनुज श्री नन्दकिशोर मिश्र से मिला। ये महानुभाव अपने को भूषण और मतिराम—दोनों में से किसी के जामाता के वंशज कहते हैं, हमारी धारणा है कि ये भूषण के जामाता के वंशज होंगे, क्योंकि सँजेती के रामाधार तिवारी अब भी इन लोगों को पूज्य कहते हैं। इन महानुभावों ने मुझे बताया कि त्रिपाठी कवियों के घर पृथक्-पृथक् थे, पर उनका द्वार एक था। इन कवियों ने जिन घरानों में अपनी कन्याओं का विवाह किया था, उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, अतएव जामाताओं और कन्याओं को इन्होंने यही बसा लिया था। यही कारण है कि बहुत पूर्व से अब तक हमारे पूर्वजों को बसाने वाले इन कवियों की देहरी को महान् समझा जाता रहा है; हम भी उसकी पूजा करते हैं और वे लोग भी जो त्रिपाठियों के उन जामाताओं के वंशज हैं, जिन्होंने यहाँ आकर अपना

△ व्याकरण की दृष्टि से इस चरण का शुद्ध पाठ हमारे विचार में इस प्रकार होना चाहिये—

कात्यायनः कश्यपसांकृतौच शाण्डिल्यनामा उपमन्युसंज्ञः।

== व्याकरण की दृष्टि से इस चरण का शुद्ध पाठ हमारे विचार में इस प्रकार होना चाहिये—

एते षड्गोत्रजाः विप्राः षड्गोत्रेष्वेव केवलम्॥

घर बनाया था और अब यहाँ से दूर रहते हैं—इतना ही नहीं हमारे यहाँ यह प्रथा-सी हो गई है कि प्रत्येक नव-दम्पति गृह-प्रवेश से पूर्व उनकी देहरी को पूजते हैं तथा बच्चों का मुण्डन भी इसी स्थान पर किया जाता है। मैंने यह स्थान भी देखा था ; इस समय इसके चारों ओर धर्मगदपुर के जमींदारों ने एक दीवार लगा दी है। परन्तु ये लोग उसी के पिछवाड़े को पूजते हैं, जहाँ पर उक्त कवियों के घरों का द्वार था। कहना न होगा कि इस कथन से इसी धारणा को आश्रय और बल मिलता है कि बिहारीलाल मतिराम के जामाता के ही पौत्र रहे होंगे; इसीलिए उन्होंने अपने को उनका 'पंती' कहा। संक्षेप में मतिराम का गोत्र 'वत्स' ही था, बिहारीलाल ने अपना 'कश्यप' गोत्र बताया है, इससे मतिराम के विषय में 'वृत्तकौमुदी' में प्राप्त तथ्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, प्रत्युत नवीन तथ्य का उद्घाटन होता है।

पिता का नाम और वंश-परम्परा—'शिवसिंह सरोज' के अन्तर्गत चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ नामक चारों कवियों को रत्नाकर त्रिपाठी का पुत्र कहा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भूषण-कृत 'शिवराज भूषण' में तो इस बात की पुष्टि हो जाती है कि रत्नाकर भूषण के पिता थे, परन्तु अन्यत्र कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर शेष तीनों कवियों को भी उनका पुत्र कहा जा सके। ऐसी दशा में केवल किंवदन्तियों के आधार पर ही हम रत्नाकर त्रिपाठी को अपने आलोच्य कवि का जनक मान लें तो यह लकीर पीटने के अतिरिक्त और कुछ न कहा जायगा। यदि और कोई साक्ष्य न होता तो ऐसा भी कर सकते थे, पर जब 'वृत्तकौमुदी' में मतिराम ने स्वयं अपने पिता का नाम विश्वनाथ कहा है[1], तो इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं। परन्तु भूषण और मतिराम के बन्धुत्व की भावना पर विश्वास करने वाले विद्वानों को यह स्वीकार्य नहीं हो पाता कि विश्वनाथ मतिराम के पिता हो सकते हैं, यही कारण है कि तर्क के अभाव में उन्होंने 'वृत्तकौमुदी' को ही अप्रामाणिक घोषित कर दिया है। हमने मतिराम के प्रसिद्ध ग्रन्थों के साथ इसकी तुलना करके परीक्षा कर ली है कि यह किन्हीं पृथक् मतिराम की रचना नहीं; आगे इस पर विस्तार के साथ विचार भी किया गया है[2]। अतएव इस ग्रन्थ के साक्ष्य से हमें यह मानने में सकोच नहीं कि मतिराम के पिता का नाम विश्वनाथ था।

अस्तु, भूषण और मतिराम के सहोदर होने का जहाँ तक प्रश्न है, उस पर भी विचार किये लेते हैं। वस्तुतः यह धारणा शिवसिंह सेंगर की ही नहीं, इससे भी

---

१. दे० **तिनके तनय उदारमति विश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज सकल गुननि को धाम॥
तासु पुत्र मतिराम कवि निज मति के अनुसार।
सिंह सरूप सुजान को बरन्यो सुजस अपार॥**
(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

२. दे० तृतीय अध्याय—**'छन्दसार संग्रह' और 'वृत्तकौमुदी'** उपशीर्षक।

४३ वर्ष पूर्व सूर्यमल्ल ने अपने 'वंश भास्कर' में[1] तथा इनसे भी पहिले मीर ग़ुलाम अली बिलग्रामी ने संवत् १८०३ वि० में अपने 'तज़करा-ए-सर्व आज़ाद' नामक फ़ारसी ग्रन्थ के अन्तर्गत[2] चिन्तामणि, भूषण और मतिराम को भाई कहा है। परन्तु हमारे विचार में अपने पारस्परिक सम्बन्धों अथवा किसी दूर के नाते के कारण ये भाई कहलाते रहे होंगे, जिसको परम्परा से सुनकर इन ग्रन्थकारों ने लिख दिया है और तो क्या, स्वयं ग़ुलाम अली का यह कथन कि चिन्तामणि कोड़े जहाँनाबाद का रहने वाला था[3], इस बात की पुष्टि करता है कि यह कवि वहाँ से आकर ही तिकवाँपुर में बसा था। मतिराम ने अपने पूर्वजों का निवास-स्थान वनपुर लिखा ही है[4]। बहुत सम्भव है कि भूषण का जन्म-स्थान भी कोई अन्य स्थान रहा होगा। बिहारीलाल त्रिपाठी के इस कथन से कि नृप हम्मीर ने इन तीनों कवियों को सम्मानपूर्वक तिकवाँपुर में बसाया था[5] और भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त तीनों कवि न तो एक स्थान के रहने वाले थे और न एक परिवार के सदस्य ही थे। ऐसी दशा में याज्ञिक-त्रय की इस कल्पना को भी स्थान नहीं मिल सकता कि विश्वनाथ ने मतिराम को रत्नाकर से गोद ले लिया होगा[6]।

कहने का अभिप्राय यह है कि चिन्तामणि और भूषण—इन दोनों में से किसी के भी साथ मतिराम का सहोदरत्व नहीं जोड़ा जा सकता; संयोग की बात यह है कि ये तीनों ही त्रिपाठी थे, यदि इससे इनके सहोदर होने का भ्रम फैल गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

मतिराम ने अपने से पूर्व की चार पीढ़ियों का परिचय 'वृत्तकौमुदी' के अन्तर्गत दिया है। इसके अनुसार बनपुर निवासी चक्रमणि के पुत्र गिरिधर त्रिपाठी थे, इनके पुत्र का नाम था बलभद्र; बलभद्र त्रिपाठी के तीन पुत्र थे—द्युतिधर, श्रुतिधर और विश्वनाथ; विश्वनाथ इन तीनों में सबसे छोटे थे,

---

१. दे० **इन ही दिनन कछु पहिले वा इतर**
बुंदेलन भूमं ब्रज भाषा कवि-विप्र तीन।
जेठो भ्रात भूषन रु मध्य मतिराम, तीजो
चिन्तामणि विदित भये ये कविता प्रवीन॥

—'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ६), पृ० ७३६ से उद्धृत

२-३. "चिन्तामणि 'कवित्त विचार' का कर्त्ता कोड़े-जहाँनाबाद का रहने वाला था। इसके दो भाई भूषण और मतिराम थे, जो अच्छे शायर थे।"

—'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ६), पृ० ७३६ से याज्ञिक महोदयों द्वारा उद्धृत मुंशी देवीप्रसाद के पत्र का अंश, जो ग़ुलाम अली के कथन का अंश है।

४. 'तिरपाठी बनपुर बसैं.........' (वृत्तकौमुदी)।

५. दे० **भूषन चिन्तामणि तहाँ कवि भूषन 'मतिराम'।**
नृप हमीर सम्मान ते कीन्हे निज-निज धाम॥
(रसचन्द्रिका)

६. दे० 'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ६), पृ० ७३६।

मतिराम के ये ही पिता थे[1]। मतिराम के बाद कौन हुए, इसका प्रामाणिक वर्णन नहीं मिलता। यद्यपि बिहारीलाल त्रिपाठी ने अपने को मतिराम के पंती, जगन्नाथ का नाती और शीतल का पुत्र कहा है[2]; परन्तु इससे स्पष्ट नहीं हो पाता कि जगन्नाथ मतिराम के पुत्र थे; ऊपर निवेदन भी किया जा चुका है कि बिहारीलाल त्रिपाठी मतिराम की पुत्री के पौत्र रहे होंगे; ऐसी दशा में जगन्नाथ मतिराम के पुत्र नही माने जा सकते—उनके जामाता रहे होंगे। वैसे भी वत्सगोत्रीय मतिराम का आत्मज कश्यपगोत्री जगन्नाथ कैसे हो सकता है? इधर पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तिकवाँपुर के शिवसहाय तिवारी द्वारा मथुरा के चौबों की बही में लिखित अपनी वंश-परम्परा का उल्लेख किया है[3], जिसके अनुसार वंश-वृक्ष यों होगा—

- रतिनाथ
  - मतिराम
    - जगन्नाथ
      - शीतल
        - बिहारीलाल
          - काशीदत्त
        - शिवगुलाम
          - शिवराघव
      - बैजनाथ
        - शिवसहाय
          - गयादत्त
        - रामदीन
          - प्रयागदत्त
          - नंदकिशोर

इससे स्पष्ट है कि वंशावली लिखने वाले शिवसहाय तिवारी रामदीन के भाई थे। परन्तु मुझे तिकवाँपुर निवासी पं० शिवप्रसाद तिवारी के पौत्र चन्द्रबलि

---

१. दे० तिरपाठी बनपुर बसे वत्स गोत्र सुनि गेह।
विबुध चक्रमणि पुत्र तहँ गिरिधर गिरिधर देह॥
भूमिदेव बलभद्र हुव तिनहिं तनुज मुनि-मान।
मंडित पंडित मंडली, मंडन मही महान॥
तिनके तनय उदार मति विश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज सकल गुननि को धाम॥
तासु पुत्र मतिराम कवि······

२. दे० हैं पंती मतिराम के सुकवि बिहारीलाल।
जगन्नाथ नाती विदित सीतल सुत सुभ चाल॥
(रसचन्द्रिका)

३. दे० वही 'भूषण', पृ० ९७।

तिवारी से रामदीन का एक खण्डित छन्द प्राप्त हुआ है[1], जिसके अनुसार उनके अग्रज का नाम विश्वनाथ है—शिवसहाय का तो नाम भी नहीं। अतः शिवसहाय नामक किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया यह वंश-परिचय प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। बिहारीलाल के अड़ौस-पड़ौस का यह व्यक्ति प्रतीत होता है, जिसने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर मतिराम को रतिनाथ का और जगन्नाथ को मतिराम का पुत्र तो कहा ही है, बिहारीलाल और रामदीन नामक कवियों के साथ अपना भी सम्बन्ध जोड़ दिया है।

जन्म-भूमि और निवास-स्थान—'वृतकौमुदी' में मतिराम ने अपने पूर्वजों का निवास-स्थान बनपुर कहा है[2]। यही उनकी भी जन्म-भूमि होगी, क्योंकि इनके प्रपौत्र बिहारीलाल त्रिपाठी का यह कथन कि हम्मीर ने इन्हें तिकवाँपुर में सम्मान के साथ बसाया था[3], इस ओर स्पष्ट संकेत करता है कि तिकवाँपुर इनकी जन्म-भूमि नहीं था।

बनपुर की भौगोलिक स्थिति क्या थी, इस विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने आरम्भ में यह कल्पना की थी कि 'बनपुर' तिकवाँपुर का संक्षिप्त रहा होगा[4]; और अब तिकवाँपुर के निकटवर्ती किसी खण्डहर को मानने लगे हैं[5]; किन्तु इन दोनों बातों में से एक भी सत्य प्रतीत नहीं होती। न मतिराम इतना भाषा-विज्ञान जानते थे कि तिकवाँपुर का बनपुर बना लेते और न तिकवाँपुर के समीप इस नाम का कोई स्थान ही रहा है—समस्त कानपुर जिले की वर्तमान सीमा के भीतर इस नाम का कोई स्थान नहीं था। मुझे खोज में बनपुर नाम का छोटा-सा गाँव मिला है, जो अब भी जिला फतेहपुर की सीमा में अवस्थित है। रीतिकाल के तीन प्रसिद्ध कवि—दूलह, कालिदास त्रिवेदी

---

१. दे० भूषन, सुकवि चिन्तामनि……
मतिराम जू को पनाती प्रगट……
परमारथ मौ लीन्हों नाती जगन्नाथ को……
जगत यह जानत है…………
जगत जगत वेद विद्या प्रवीन है।
सीतल औ बैजनाथ जाको तन मन धन
……………देवता अधीन है।
विदित बिहारीलाल कविवर विश्वनाथ
तिनको अनुज द्विज नाम रामदीन है॥

२. **तिरपाठी बनपुर बसें……………**
(छन्दसार संग्रह : पंचम प्रकाश)

३. दे० **चिन्तामनि भूषन तहाँ कवि भूषन मतिराम।**
नृप हमीर सम्मान तें कीन्हे निज-निज धाम॥
(रसचन्द्रिका)

४. दे० वही 'हस्तलिखित पुस्तकों की खोज', पृष्ठ १७।

५. दे० उसी 'भूषण-विमर्श का प्राक्कथन', पृष्ठ २०।

और कवीन्द्र—तो यहाँ के रहने वाले थे ही, मतिराम को भी यहाँ के लोग अपने यहाँ का कवि मानते हुए अत्यन्त गौरव के साथ कहा करते हैं—

ऊँच गाँव अखई बसै और बसै तर गाँव।
बीच नवगवाँ हम बसै जो कबीसुरों का गाँव ।।[1]

मेरे विचार में मतिराम का जन्म यहीं हुआ होगा, क्योंकि जनश्रुतियों में कुछ तो सत्य होता ही है। सम्भव है मतिराम यहाँ पर्याप्त समय तक रहे भी हों और बाद में जब अधिक प्रसिद्ध हुए तो हम्मीर ने इन्हें अपने राज्य में रहने के लिए बुला लिया हो, जिसके परिणामस्वरूप तिकवाँपुर उनका निवास-स्थान बन गया। वैसे भी उनका निकट गाँव से तिकवाँपुर जाना अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। इधर सूर्यमल्ल का यह कथन कि बुन्देलों की भूमि में भूषण, चिन्तामणि और मतिराम नामक कवि रहते थे[2], इसी ओर सकेत करता है कि मतिराम बुन्देलखण्ड में स्थित बनपुर के ही मूल निवासी थे।

गुरु और सम्प्रदाय—मतिराम के गुरु कौन थे, इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता—यहाँ तक कि इनके ग्रन्थों के आरम्भ में जो स्तुति-परक छन्द हैं, उनमें भी कहीं पर 'गुरु' शब्द तक का प्रयोग नहीं हुआ। यदि वास्तव में इनके कोई गुरु होते तो अपनी आरम्भिक कृतियों में कम से कम उनका उल्लेख अवश्य करते। हमारी धारणा है कि इस सरल-हृदय कवि का कोई धर्म-गुरु नही था, इसी-लिए उसने कोई संकेत नहीं दिया।

जहाँ तक इनके सम्प्रदाय-विशेष के अनुयायी होने का प्रश्न है, इस विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। इनके भक्ति-परक छन्दों से यद्यपि किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न कर सकते थे, परन्तु ये एक तो संख्या में कम हैं और दूसरे इनमें किसी एक देवता पर विश्वास प्रकट नही किया गया; अतएव इनसे यह धारणा नही बनाई जा सकती कि अमुक देवता इनका आराध्य था इसलिए ये अमुक सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इसके साथ ही साथ यह कहना भी उचित प्रतीत नही होता कि इन्होंने सभी मतों का समन्वय किया, कारण उस युग के दरबारी कवि को अध्यात्म-चिन्तन का इतना अवसर ही नहीं था। मतिराम जीवन पर्यन्त दरबारी कवि रहे, अतः यह कल्पना करने का कोई आधार नहीं मिलता कि उन्होंने किसी सम्प्रदाय-विशेष में 'दीक्षा' ली होगी।

आश्रयदाता—रीतिकालीन कवियों के जीविकोपार्जन का एक-मात्र साधन राजाश्रय था। मतिराम ने भी अपने किशोर-काल से लेकर मृत्यु-पर्यन्त लगभग ८० वर्ष के

---

१. यह छन्द मुझे बनपुर निवासी पं० सिद्धनाथजी दीक्षित से प्राप्त हुआ है।

२. दे० **इन ही बिनन कछु पहिले वा इतर**
बुन्देलन भूमँ ब्रज भाखा कवि विप्र तीन।
जेठो भ्रात भूषन रु मध्य मतिराम, तीजो
चिन्तामनि विदित भये ये कविता प्रवीन।।

'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ६), पृ० ७३६ से उद्धृत।

दीर्घ रचना-काल में अनेक राजदरबारों में सम्मान प्राप्त किया, परन्तु ये किसी भी आश्रय-दाता के यहाँ अधिक समय तक नहीं रहे, यह निश्चित है। संवत् १६७६ वि० में नौरोज के उत्सव पर जहाँगीर ने आगरे में 'गुल-ए-आफ़शाँ' नामक शाही उद्यान की यात्रा की थी, उसी अवसर पर मतिराम सम्राट् की आज्ञा से 'फूल-मंजरी' की रचना कर वहाँ से पुरस्कार प्राप्त करने के बाद चले आये होंगे। इसके बाद ये वहाँ रहे, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता; यदि ये जहाँगीर के आश्रय में रहे होते तो उसकी अपनी पुस्तक 'तुज़ुक-ए-जहाँगीरी' में इनका उल्लेख अवश्य होता। दूसरे उस समय इनकी कम अवस्था और 'फूलमंजरी' का महत्त्वहीन होना भी इन्हें मुग़ल दरबार के योग्य सिद्ध नहीं करता।

इसके पश्चात् मतिराम किसके आश्रय में रहे, इसका संकेत 'ललितललाम' की रचना से पूर्व नही मिलता—यद्यपि इस समय ये 'रसराज' जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना कर चुके थे। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि ये शाहजहाँ के यहाँ रहे, जबकि दूसरे इनका औरंगजेब के आश्रय में भी रहना मानते हैं। कहना न होगा कि औरंगजेब के यहाँ ये रहे, यह कथन संगत प्रतीत नही होता, क्योंकि उसके राज्यारोहण करते ही कलाकार दिल्ली छोड़ गये थे। हाँ, शाहजहाँ के दरबार में ये रहे हों तो हो सकता है, पर हमें इसका कोई प्रमाण नही मिला। वैसे इतना निश्चित है कि ये बैठे नही रहे; राजदरबारों में आयोजित कवि-गोष्ठियों में भाग लेकर पुरस्कृत होते रहे होंगे। हम्मीर द्वारा अपने राज्य की सीमा में इनका बसाया जाना यही सिद्ध करता है। मध्य प्रदेश के शासक हम्मीर के विषय में कोई ऐतिहासिक आलेख उपलब्ध नहीं है, पर उनका शासन-काल संवत् १७३७ वि० से पूर्व ही था, क्योंकि इसके बाद यह क्षेत्र छत्रसाल बुन्देले के अधिकार में आ गया था और फिर संवत् १७६१ वि० तक यह युद्ध-क्षेत्र बना रहा[1]; हमारा अनुमान है कि मतिराम बूँदी जाने से पूर्व ही तिकवाँपुर में आ बसे थे।

बूँदी-नरेश राव भाऊसिंह हाड़ा का शासन-काल संवत् १७१५ वि० से संवत् १७३४ वि० तक है; राज्यारोहण के पश्चात् प्रथम तीन वर्ष तक वे आत्माराम गौड़ के साथ और फिर औरंगजेब की सेवा में शाहशुजा, शिवाजी आदि के साथ युद्ध करने में व्यस्त रहे; संवत् १७२१ वि० से संवत् १७२५ वि० तक औरंगजेब की आज्ञा से युद्ध में संलग्न रहे, तदुपरान्त उन्हे शाह आलम के साथ अपने जीवन के शेष दिन औरंगाबाद में व्यतीत करने पड़े[2]। अतः यह निश्चित है कि मतिराम ने बूँदी में रहने के समय अर्थात् संवत् १७१८-२१ वि० के बीच ही 'ललितललाम' की रचना के फलस्वरूप ४ सहस्र मुद्राएँ, ३२ हाथी तथा रिडी-चिड़ी नामक दो ग्राम पुरस्कार में

---

१. दे० 'इम्पीरियल गजेटियर', भाग १३, पृ० १४।

२. दे० वही 'मआसिरुल् उमरा' (अनुवादक—ब्रजरत्नदास), पृ० २५८-५९; तथा 'टाड का राजस्थान' (सन् १९५० ई० में प्रकाशित), भाग २, पृ० ९०-९७।

प्राप्त किये होंगे[1] और फिर वहाँ से चले आये होंगे। ऐसा प्रसिद्ध भी है कि ये महाराज आश्रयदाताओं मे धन प्राप्त कर घर आ जाते थे और जब आवश्यकता पड़ती थी तो फिर किसी को खोज लेते थे; रीतिकाल के अनेक कवियों के विषय में यही बात कही जाती है।

इसके पश्चात् इन्होंने भोगनाथ के आश्रय में 'सतसई' की रचना की। भोगनाथ का स्थान और शासन-काल अज्ञात है, पर 'सतसई' के अन्तर्गत शिवाजी के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में एक दोहा देखने से इस कल्पना को प्रश्रय मिलता है कि इस ग्रन्थ की रचना शिवाजी के निधन के पश्चात् अर्थात् संवत् १७३८-४० वि० के बीच हुई होगी। वैसे भोगनाथ से पूर्व ये शिवाजी के दरबार में भी गये होंगे, क्योंकि उनकी प्रशस्ति में भी इनके लिखे हुए दो छन्द मिलते हैं। छत्रसाल बुन्देला की प्रशंसा में इनका छन्द भी सम्भवतः भोगनाथ के यहाँ से आने से पूर्व का है।

उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त मतिराम जिन तीन आश्रयदाताओं के यहाँ रहे, वे हैं—ज्ञानचन्द, फ़तहशाह और स्वरूपसिंह बुन्देला। इन तीनों का उल्लेख 'वृत्तकौमुदी' में हुआ है। कुमायूँपति ज्ञानचन्द के नाम से मतिराम ने 'अलंकार पंचाशिका' की रचना की यह छोटी-सी पुस्तिका उन्होंने संवत् १७४७ वि० में समाप्त की। अतः कुमायूँ नरेश के यहाँ भोगनाथ का आश्रय छोड़ने के बाद से ही रह रहे होंगे। 'शिवसिंह सरोज' में भी मिला हुआ है कि मतिराम उद्योतचन्द (ज्ञानचन्द के पिता) के आश्रय में बहुत दिन रहे। जो हो, इतना अवश्य है कि संवत् १७४७ वि० के कुछ समय पश्चात् ही ये यहाँ से चले आए होंगे, क्योंकि इस संवत्सर के पश्चात् कुमायूँ प्रदेश औरंगजेब के हाथ में आ गया था।

कुमायूँ से लौटते हुए मतिराम कदाचित् श्रीनगर-नरेश फ़तहशाह के दरबार में गये होंगे ; क्योंकि 'वृत्तकौमुदी' में इनका नामोल्लेख मिलता है। ठा० शिवसिंह सेंगर ने इन महाराज को बुन्देलखण्ड-स्थित श्रीनगर का शासक कहा है और मतिराम का पिंगल-ग्रन्थ इन्हीं को समर्पित माना है। किन्तु यह भ्रामक है ; कारण 'छन्द-सार संग्रह' (वृत्तकौमुदी) स्वरूपसिंह बुन्देला को समर्पित हुआ है। हमारी धारणा

---

१. दे० भाऊ के प्रभाव अलंकारन विषय आनि,
नूतन बनाय ग्रन्थ ललितललाम नाम।
संसद को पाय सो नरेसन सुनाय रुचि,
रीझ पै बढ़ाय कह्यो आगम जितेक काम॥
सब पट भूषन रु वारन बत्तीस कहे
बाइसहु कति रु दए चउ सहस दाम।
गेहहि इति गज निबाहन बहुरि बये,
पाहनि के प्रान्त के रिरी रु खिरी बुवगाम॥

वहो 'मतिराम मकरंद', पृ० ४३ से सूर्यमल्ल के 'वंशभास्कर' का यह छन्द उद्धृत किया गया है।

है कि ठाकुर साहब उक्त पिंगल-ग्रन्थ को न देख सकने के कारण ग्रन्थ और आश्रय-दाता दोनों के नामों के सम्बन्ध में भ्रम कर गये हैं—'छन्दसार संग्रह' के स्थान पर 'छन्दसार पिंगल' और स्वरूप शाह के स्थान पर फतहशाह लिख गये हैं। वास्तव में फतहशाह गढ़वाल अवस्थित श्रीनगर के निवासी थे, जिसका कि बुन्देलखण्ड अवस्थित श्रीनगर से कोई सम्बन्ध नहीं। उनका समय भी संवत् १७५६ वि० तक है[1]। मतिराम का इनके यहाँ जाना संवत् १७५३-५४ वि० के आस-पास ही प्रतीत होता है, क्योंकि स्वरूपसिंह बुन्देला के नाम से लिखी गई 'वृत्तकौमुदी' संवत् १७५८ वि० में समाप्त हुई। इसका विशाल कलेवर यह सिद्ध करता है कि वृद्ध मतिराम को इसे लिखने में कम से कम ३-४ वर्ष अवश्य लगे होंगे। कहना न होगा कि हमारे कवि की यह अन्तिम रचना थी। यद्यपि इसके बाद भी मध्यदेश के किन्हीं भगवन्त नृप की प्रशस्ति में भी उनका रचा हुआ एक छन्द कहा जाता है; पर हमारे विचार में यह इतर मतिराम का है।

यात्राएँ—मतिराम ने अपने जीवन-काल में कितनी यात्राएँ की यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं; पर उनका अनेक आश्रयदाताओं के यहाँ जाना यह सिद्ध करता है कि यह कवि अपने जीवनकाल में बहुत घूमा था। कतिपय विद्वानों की यह धारणा है कि मतिराम और भूषण—दोनों ने ही साथ-साथ यात्रा की थीं; यह असम्भव नहीं क्योंकि दोनों के ही कतिपय स्फुट छन्द भाऊसिंह, शिवाजी, छत्रसाल, फ़तहशाह और भगवन्त नृप की प्रशंसा में उपलब्ध होते हैं, पर इसकी पुष्टि में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता। वास्तव में यदि ये लोग साथ-साथ यात्रा करते तो इनके छन्दों से कुछ संकेत अवश्य मिलता। भगवन्त नृप की प्रशंसा में लिखा गया भूषण का छन्द उनकी मृत्यु के बाद का है, जबकि मतिराम का उनके जीवनकाल का है। हमारा अनुमान है कि मतिराम ने इन महाराजाओं के यहाँ स्वतन्त्र रूप से यात्रा की होगी।

किंवदन्तियाँ—मतिराम और भूषण के विषय में तिकवाँपुर और इसके आस-पास अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं; किन्तु इनमें इतना अन्तर है कि इन पर विश्वास नहीं किया जा सकता—किसी के अनुसार ये भूषण के विषय में हैं और कोई इन्हे मतिराम पर लागू करता है। इनकी पुष्टि में कोई प्रमाण भी नहीं है। मतिराम के विषय में एक-दो बातें आश्रयदाताओं द्वारा दिये गये दान के विषय में प्रसिद्ध हैं, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं; इनकी पुष्टि भी हो जाती है, अतः सिवाय इनके और किसी किंवदन्ती को विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

मृत्यु—मतिराम की मृत्यु कब और कहाँ हुई, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने अनुमान प्रस्तुत किये हैं, जो केवल इनके रचना-काल के आधार पर हैं। मतिराम की अन्तिम रचना 'वृत्तकौमुदी' है, जो संवत् १७५८ वि० में समाप्त हुई। अतः यह निश्चित है कि इसके पश्चात् ही उनका स्वर्गवास हुआ। हमारी धारणा है कि ये स्वरूपसिंह बुन्देला के यहाँ से ग्रन्थ समाप्ति

---

१. दे० 'इम्पीरियल गजेटियर ऑव इण्डिया' भाग ११ (सन् १९०८ ई० में प्रकाशित), पृ० २१२।

के पश्चात् ही तिकवाँपुर चले आये होंगे, जहाँ संवत् १७५८ वि० के आस-पास लगभग ६७ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई होगी, पर किस रोग से यह अज्ञात है।

आयु—अन्त में मतिराम की आयु के सम्बन्ध में एक बार पुनः विचार करना आवश्यक जान पडता है, क्योंकि आज के युग में यह सहज ही विश्वसनीय नहीं हो पाता कि कोई व्यक्ति साधारणतः ९६-९७ वर्ष की दीर्घकालावधि तक जीवित भी रह सकता है—विशेषतः उस दशा में जबकि वह विलासी वातावरण में अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत कर चुका हो। फिर भी यह काल इतना अधिक नहीं कि अनायास ही असम्भव कह दिया जाय। इधर यह परम्परागत मान्यताओं के विपरीत भी नहीं—मिश्रबन्धुओं ने इनकी आयु १०० वर्ष की स्वीकार की है[1], जबकि याज्ञिक-त्रय ने इन्हें ६६ वर्ष तक जीवित माना है[2]। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने इनकी अवस्था का यद्यपि सीधा उल्लेख नहीं किया, तथापि उनके विवेचन से यह निष्कर्ष निकाल लेना कठिन नहीं कि ये कम से कम ८७ वर्ष तक जीवित रहे[3]। वैसे यह अवस्था एक प्रकार से कम भी की जा सकती है और वह ऐसे कि हम 'फूलमंजरी' अथवा 'छन्दसार संग्रह' और 'अलंकार पचाशिका' को या फिर तीनों ही ग्रन्थों को उनकी कृतियाँ न मानें। 'फूलमंजरी' को अप्रामाणिक मानने से अधिक से अधिक १५ वर्ष[4] तथा 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार सग्रह' को अप्रामाणिक मानने से अधिक से अधिक १८ वर्ष एवं तीनों को अप्रामाणिक मानने से ३३ वर्ष[5] उनकी उपर्युक्त अनुमानित आयु में से और कम किये जा सकते हैं। परन्तु ऐसा करने से हमारे सम्मुख अनेक प्रश्न उठ खड़े होंगे, जिनका सहज ही समाधान नहीं हो सकता। यदि 'फूलमंजरी' को अप्रामाणिक माना जाय तो स्वभावतः यह प्रश्न सामने आता

---

१. मिश्रबन्धुओं ने इनका जन्म संवत् १६७३ वि० और मृत्यु संवत् १७७३ वि० माना है। अतः इस हिसाब से इनका जीवन-काल १०० वर्ष ठहरता है।

[दे० 'हिन्दी नवरत्न' (तृतीय संस्करण), पृ० ४२९-३१।]

२. याज्ञिक महोदय इनका जन्म संवत १६६४ वि०, मृत्यु संवत् १७३० वि० तथा आयु ६६ वर्ष मानते हैं। [दे० 'माधुरी' (वर्ष २, खण्ड २, संख्या ६), पृ० ७३८।]

३. मिश्रजी मतिराम का जन्म संवत् १६६० वि० स्वीकार करते हैं तथा 'अलंकार पंचाशिका' (रचना-काल संवत् १७४७ वि०) उन्हीं की रचना मानते हैं—किन्तु 'वृत्तकौमुदी' (छन्दसार संग्रह) को किसी अन्य मतिराम की रचना कहते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ये (मतिराम) ८७ वर्ष तक तो जीवित रहे हो। [दे० उसी 'मतिराम ग्रन्थावली' की भूमिका, पृ० २३०-३८]

४. 'रसराज' संवत् १७०० वि० के आस-पास की रचना है (दे० तृतीय अध्याय—'रसराज' का रचना-काल)। यदि कवि ने इसे कम से कम २५ वर्ष की अवस्था में भी लिखा हो तो उनका जन्म संवत १६७५-७६ वि० के लगभग ठहरेगा। 'फूलमंजरी' को प्रामाणिक मानने पर इनका जन्म संवत् १६६१ वि० के आस-पास मानना ही पड़ता है।

५. 'छन्दसार संग्रह' और 'अलंकार पंचाशिका' को अप्रामाणिक मानने पर मतिराम का स्वर्गवास संवत् १६४७ वि० ('अलंकार पंचाशिका' का रचना-काल) से पूर्व ही मानना चाहिए। चूँकि 'सतसई' का रचना-काल संवत् १७३९ वि० के आसपास है (दे० तृतीय अध्याय); अतएव इनका मृत्यु संवत् १७३९ वि० के आस-पास मानना होगा और इस हिसाब से उनकी उपर्युक्त अनुमानित आयु में से १८ वर्ष कम किये जा सकेंगे।

है कि 'रसराज' जैसी प्रौढ कृति से पूर्व उनकी कोई न कोई अप्रौढ़ रचना अवश्य होनी चाहिए—और जब 'फूलमंजरी' उपलब्ध है तो क्यों न इसे उनकी रचना माना जाय ? इसका रचना-काल भी तो दूर नहीं पड़ता। इसी प्रकार यदि 'छन्दसार संग्रह' को मतिराम की रचना स्वीकार नही किया जाता तो एक तो हम परम्परा से प्रसिद्ध उनकी 'पिंगलसम्बन्धी रचना' को तिरस्कृत करते हैं; दूसरे ऐसी कल्पना के लिए भी प्रस्तुत होते हैं जिस पर सहज ही विश्वास नहीं किया जा सकता। बात यह है कि 'छन्दसार संग्रह'-कार मतिराम ने 'दाता एक ऐसो' इत्यादि छन्द में अपने आश्रयदाता अथवा परिचित के रूप में जिन महाराज जयसिंह और जसवन्तसिंह की प्रशंसा की है वे प्रसिद्ध मतिराम से अवश्य परिचित रहे होंगे क्योंकि इनके आश्रयदाता राव भाऊसिंह हाड़ा के क्रमशः मित्र और बहनोई होने के नाते[1] 'ललितललाम' की रचना के समय ये दोनों महाराज बूँदी आते-जाते ही थे। अतः यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि 'छन्दसार संग्रह' और 'ललितललाम' जैसी प्रौढ़ कृतियाँ लिखने वाले एक ही नाम के दो भिन्न कवि एक ही समय में उक्त दो महाराजाओं से मिले अथवा उनके आश्रय में रहे। इधर 'सतसई' से भी स्पष्ट है कि मतिराम शिवाजी के सम्पर्क में आये होंगे, जबकि 'छन्दसार संग्रह' के उक्त छन्द में भी शिवाजी की प्रशंसा दानी के रूप में जिस प्रकार की गई है वह भी इसके रचयिता का उनके साथ सम्पर्क सिद्ध करती है। तब क्या एक बार पुनः यही स्वीकार करें कि दो भिन्न मतिराम शिवाजी के यहाँ भी रहे और वह भी एक समय में, क्योंकि दोनों ग्रन्थों—'सतसई' और 'छन्दसार संग्रह' का रचना-काल अधिक दूर नहीं पड़ता—दूसरे इन दोनों के शिवाजी सम्बन्धी छन्दों से तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि इनकी रचना से पूर्व ही कवि मिला था। कहना न होगा कि इन सभी प्रश्नों का समाधान केवल एक प्रकार से ही हो सकता है और वह यह कि उक्त तीनों ग्रन्थों को प्रसिद्ध मतिराम की ही रचनाएँ स्वीकार करते हुए उनकी आयु को ९६-९७ वर्ष की मान लेने में किसी प्रकार का संकोच न करें।

(आ) व्यक्तित्व

वेश-भूषा, प्रकृति और प्रतिभा ही व्यक्तित्व के ऐसे उपकरण हैं, जिनके प्रकाश में एक व्यक्ति को दूसरों से पृथक् किया जा सकता है। अतः इन्हीं के आधार पर हम मतिराम का व्यक्तित्व-चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

वेश-भूषा—वेश-भूषा यद्यपि व्यक्तित्व का स्थूल अंग है, किन्तु इससे व्यक्ति विशेष के वातावरण और उसकी मानसिक अवस्था का अनुमान लगाने में पर्याप्त सहायता मिलती है। दुर्भाग्य से आज मतिराम का कोई चित्र उपलब्ध नहीं, जिसे देखकर उनकी वेश-भूषा आदि के विषय में कुछ कह सकते। 'हिन्दी नवरत्न' के अन्तर्गत जो चित्र दिया गया है, वह मिश्रबन्धुओं की कल्पना मात्र है, उससे कम से कम इनके विषय में कोई अनुमान नहीं लग पाता, भले ही दो-तीन पीढ़ी पहले के

१. दे० तृतीय अध्याय में 'छन्दसार-संग्रह' की प्रामाणिकता।

किसी ग्रामीण कवि की कल्पना की जा सकती हो। वैसे भी उस युग की किसी भी चित्र-शैली में इस चित्र का-सा पहनावा नहीं मिलता, केवल वही वेश-भूषा मिलती है, जो मुगल शासक और दरबारी लोग धारण करते थे। इधर बिहारी आदि कवियों के जो चित्र देखने को मिलते हैं, उनसे भी इसी बात की पुष्टि होती है। हमारी धारणा है कि दरबारी होने के नाते मतिराम की वेश-भूषा भी कुछ ऐसी ही रही होगी ; पर उनका डीलडौल और शरीर की गठन कैसी थी, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रकृति और स्वभाव—किसी भी व्यक्ति की प्रकृति और उसके स्वभाव के सम्बन्ध में जितना उसके साहचर्य से जाना जा सकता है और किसी से नहीं। आज न तो मतिराम ही हमारे बीच हैं और न उनका कोई अन्तरंग मित्र ही, जो हमें उनके विषय में कुछ बता सकता। किन्तु उनके ग्रन्थ अवश्य ही हमारे साथ हैं, अतः बहुत कुछ इन्हीं के आधार पर कहा जा सकता है। यह सच है कि रीतिकालीन कवियों के साहित्य को देखकर उनकी वास्तविक मनोवृत्ति तक पहुँचना कठिन है, क्योंकि इस पर कवि की अपेक्षा आश्रयदाताओं के व्यक्तित्व की छाप अधिक है ; फिर भी कवि की अभिव्यक्ति अपनी होती है और वह उसके स्वभाव और प्रकृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकती।

अस्तु, मतिराम की कृतियों में मुख्यतः दो प्रकार की विषय-वस्तु उपलब्ध होती है—१. शृंगारिक और २. आश्रयदाताओं की प्रशस्ति विषयक। कहने की आवश्यकता नहीं कि शृंगारिक वर्णनों में न तो बिहारी की नागरता है और न देव की मस्ती ही ; केवल मिलता है उनमें नायक-नायिकाओं के प्रेम का सरल शब्दावली में संयत वर्णन जो अपने आप में इस कवि की सरल और संयत प्रकृति का सूचक है। मतिराम का चिन्ता-विमुक्त नायक भी अप्रत्यक्ष रूप से उन्हीं के व्यक्तित्व का प्रतिनिधि मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त दाम्पत्य प्रेम, शील, लज्जा आदि का शृंगार-वर्णन-गत समावेश इस ओर संकेत करता है कि हमारा कवि रीतिकाल के वातावरण से संतुष्ट न रहा होगा।

दूसरी ओर, प्रशंसात्मक छन्दों के अन्तर्गत मतिराम ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा वहीं तक की है, जहाँ तक वह सत्य से परे न हो—सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया। इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत प्रतीत नहीं होता कि मतिराम धन के पीछे व्यर्थ का झूठ बोलना पसंद नहीं करते थे ; वैसे भी सरल और गम्भीर प्रकृति के लोगों में इस प्रकार की आदत कम ही मिलती है। मतिराम के व्यक्तित्व की जो दूसरी विशेषता इस प्रकार की रचनाओं में परिलक्षित होती है, वह है—उनका भावात्मक[1] दृष्टिकोण। यही कारण है कि उन्होंने कहीं भी दूसरों की बुराई का वर्णन नहीं किया, यदि उन्हें किसी में गुण दिखाई दिये हैं तो उनका उल्लेख करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। इससे भी ऊपर इनमें व्यक्ति की प्रकृति को पहचानने की प्रवृत्ति थी, यह इनके अनेक छन्दों से स्पष्ट है। यदि एक

१. पोज़िटिव।

आश्रयदाता दूसरे का विरोधी है तो उसके सम्मुख ये इसके सम्बन्ध में कुछ न कहेंगे और यदि समर्थक है तो दोनों की प्रशंसा करना अनुचित न समझेंगे। इसी विशेषता के कारण ये दो परस्पर विरोधी व्यक्तियों का आश्रय प्राप्त करने में सफल हो सके; किसी के साथ झगड़ा करके देव के समान भटकते नहीं फिरे। वास्तव में ये अपनी संयत और सरल प्रकृति के कारण ही आजीविका के क्षेत्र में सफल रहे।

प्रतिभा और अध्ययन—स्वभाव की अच्छाई के कारण भले ही कोई समाज में सुखी जीवन व्यतीत करले, किन्तु गुणग्राही और विद्वानों के बीच सम्मान केवल प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है। मतिराम में इस गुण के अतिरिक्त प्रतिभा भी थी, यह निश्चित है, तभी तो ये अपने ८० वर्ष के दीर्घ रचना-काल में लगभग एक दर्जन आश्रयदाताओं के यहाँ समादृत हो सके। महाराज हम्मीर ने तो इनका अपने राज्य में होना ही अपने लिए बड़े गौरव की बात समझी थी। यह सच है कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इनका अध्ययन सीमित था, किन्तु विषय का स्वच्छता को देखकर यह स्वीकार नही किया जा सकता कि इन्होंने उस पर चिंतन नहीं किया था। परन्तु सबसे अधिक इनका अध्ययन था मनुष्य के भावों का, इसीलिए उनके चित्रण में ये जितने सफल हो सके हैं उतने रीतिकाल के अधिकांश कवि नहीं हो पाये। वास्तव में, युग का वातावरण और परम्परा मार्ग में न पड़ती तो इस श्रमशील कवि से और भी उत्कृष्ट काव्य की अपेक्षा की जा सकती थी।

तृतीय अध्याय

मतिराम के ग्रन्थ

मतिराम ने कितने ग्रन्थ लिखे इसका सही उत्तर देना तो अपने आप में कठिन है, कारण अपने सम्बन्ध में तो ये मौन हैं ही, किसी तत्कालीन लेखक ने भी सिवाय इसके कि भाषा-काव्य के सत्कवियों में इनकी गणना होती थी और ऐसा कोई संकेत नही दिया जिससे इनके ग्रन्थों का अनुमान लगाया जा सके। पर इतना अवश्य है कि इन्होंने अपने दीर्घ जीवन-काल में अनेक ग्रन्थ लिखे होगे। इस धारणा के मूल में यद्यपि कोई ठोस आधार नही, किन्तु फिर भी आधुनिक काल के अन्तर्गत हस्तलिखित पुस्तकों की जब से खोज आरम्भ हुई है तब से अब तक इनके नाम से उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर इस प्रकार की कल्पना करना असंगत प्रतीत नही होता।

संवत् १८९६ वि० में गार्सां द तासी ने सर्वप्रथम इनके विषय में विचार प्रकट करते हुए इनकी प्रसिद्ध कृति 'रसराज' की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख किया था कि "श्रेष्ठ हिन्दी कवि जिनकी वार्ड और कोलब्रुक द्वारा उल्लिखित रचना 'रसराज' देन है, और जिसकी कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी के विद्वान् और उत्साही मन्त्री (स्वर्गीय) जे० प्रिंसेप की कृपा से प्राप्त नागरी अक्षरों में लिखी हुई एक प्रति मेरे पास है।[१]" इससे ठीक ३८ वर्ष पश्चात् ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंह सरोज' के अन्तर्गत 'रसराज' के अतिरिक्त इनके 'ललितललाम' और 'छन्दसार पिंगल' नामक दो ग्रन्थों का उल्लेख करने के साथ-साथ यह कहकर कि ये महाराज उद्योतचन्द्र, छत्रसाल और शंभुनाथ सुलकी के आश्रय में भी रहे[२]; इस कल्पना के लिए स्थान छोड़ दिया कि मतिराम ने कम से कम तीन ग्रन्थ इन आश्रय-दाताओं के नाम से रचे अथवा उनको समर्पित किये होंगे। कहना न होगा कि इनमें से महाराज उद्योतचन्द्र के पुत्र ज्ञानचन्द्र के नाम से रचा हुआ 'अलंकार पंचाशिका' नामक ग्रन्थ पटियाला राज्य के प्राचीन-हस्तलेख पुस्तकालय में वर्तमान भी है; स्वरूपसिंह बुंदेले के आश्रय में लिखा गया 'छन्दसार पिंगल' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के आर्य भाषा पुस्तकालय में सुरक्षित है तथा 'रसराज' और 'ललितललाम' अनेक स्थानों से प्रकाशित भी हो चुके हैं।

अस्तु, शिवसिंह सेंगर के पश्चात् अनेक संस्थाओं ने खोज में मतिराम की कृतियों को प्राप्त किया। इनमें से नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अन्वेषकों ने

---

१. दे० 'इस्त्वार द ल लितरेत्यूर ऐंदूई ऐ ऐंदूस्तानी' का हिन्दी भाषा में 'ऐंदुई साहित्य का इतिहास' शीर्षक से डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा किया गया वही अनुवाद। पृ० २०१।

२. दे० वही 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४३२-३३।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मतिराम-सतसई', 'साहित्यसार' और 'लक्षणशृंगार' नामक तीन पुस्तकें और देखीं—'सतसई' छप भी चुकी है। स्वतन्त्र रूप से खोज करने वाले महानुभावों में सभा के तत्कालीन खोज एजेंट पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित और याज्ञिक-त्रय का नाम भी उल्लेखनीय है; इन्होंने क्रमशः 'वृत्तकौमुदी' और 'फूल-मंजरी' को मतिराम-कृत सिद्ध किया। इधर रहीम-कृत 'बरवै नायिका भेद' को अनेक विद्वानों ने मतिराम द्वारा सम्पादित माना है। संक्षेप में अब तक मतिराम के नाम से निम्नलिखित १० पुस्तकें विद्वानों के देखने में आई हैं—

१. फूलमंजरी, २. रसराज, ३. ललितललाम, ४. सतसई, ५. साहित्यसार, ६. लक्षणशृंगार, ७. पिंगल छन्दसार, ८. अलंकार पंचाशिका, और ९. वृत्त-कौमुदी के अतिरिक्त १० बरवै नायिका भेद (सम्पादित)। किन्तु इनमें से 'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार' कहीं भी उपलब्ध नहीं हो पाये। नागरी प्रचारिणी सभा ने हस्तलिखित पुस्तकों की खोज रिपोर्ट में लिखा है कि ये ग्रन्थ क्रमशः दतिया और बिजावर के राज्य पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं[1], परन्तु मुझे अधिकृत रूप से ज्ञात हुआ है तथा मैंने वहाँ स्वयं जाकर भी खोज की पर इनमें से किसी भी पुस्तक को न देख सका। 'वृत्तकौमुदी' के विषय में पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने मुझे अपने पत्र में लिखा था कि उन्होंने यह नारनौल (पैप्सू) निवासी पं० भवानी प्रसाद शर्मा के पास देखी थी; मैंने शर्माजी के पास जाकर इस पुस्तक के सम्बन्ध में बातचीत की और उन्होंने यह स्वीकार भी किया कि यह पुस्तक उनके पास थी, किन्तु इस समय उनके पास नहीं—वह नष्ट हो गई है। ऐसी दशा में 'वृत्तकौमुदी' के उपलब्ध न हो सकने के कारण केवल उन्हीं अंशों के आधार पर ही संतोष किया जा सकता था, जो दीक्षितजी ने अपने लेखों में उद्धृत किये हैं। परन्तु सौभाग्य से इसकी एक प्रति की प्रतिलिपि मुझे कैप्टेन शूरवीरसिंह से प्राप्त हो गई। शेष ग्रन्थों में से 'पिंगल छन्दसार' की खण्डित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है; 'फूलमंजरी' डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक, लखनऊ, के पास है तथा 'अलंकार पंचाशिका' पटियाला राज्य के पुरातत्व विभाग के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इन तीनों की नकलें मेरे पास भी हैं। बाकी ग्रन्थ—'रसराज', 'ललितललाम' और 'सतसई'—पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली' शीर्षक के अन्तर्गत सम्पादित कर प्रकाशित करा दिये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि अब तक मतिराम के नाम से केवल सात ग्रन्थ ही पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप में देखने के लिए प्राप्त हो सके हैं; जो रचना-काल की दृष्टि से इस क्रम में प्रतीत होते हैं—

१. फूलमंजरी, २. रसराज, ३. ललितललाम, ४. सतसई, ५. अलंकार पंचाशिका, ६. छन्दसार पिंगल और ७. वृत्तकौमुदी।

इनके अतिरिक्त एक ग्रन्थ 'बरवै नायिका भेद' भी है जो इनके द्वारा सम्पादित कहा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थों के अन्तर्गत 'रसराज', 'ललितललाम' और 'सतसई' मतिराम की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

---

१. दे० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों का सन् १९०६ ई० का खोज विवरण—संख्या १९६ (बी) और १९६ (सी)।

अब हम इन ग्रन्थों के रचना-काल, प्रामाणिकता और वर्ण्य-विषय पर क्रम से विस्तार सहित पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

फूलमंजरी

मतिराम की प्रथम कृति—मतिराम की सर्वप्रथम रचना कौनसी है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित, याज्ञिक-त्रय आदि विद्वानों की ऐसी धारणा रही है कि मतिराम ने आरम्भ में कोई मौलिक रचना न कर अपने आश्रयदाता अब्दुर्रहीम खानखाना द्वारा विरचित नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी स्फुट बरवै छन्दों पर लक्षण लिखकर 'बरवै नायिका भेद' का सम्पादन किया होगा; बाद में इन्हीं दोहों को अपने 'रसराज' में यथास्थान व्यवहृत कर लिया होगा। परन्तु मेरे विचार में यह कृति मतिराम द्वारा सम्पादित न होकर बाद के किसी अज्ञात कवि द्वारा ही सकलित है[1]। ऐसी दशा में यह उनकी सर्वप्रथम रचना है अथवा नहीं है, इस बात पर विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। अस्तु, 'फूलमंजरी' ही वास्तव में मतिराम की पुस्तकों में से ऐसी रचना है जो भाव और भाषा दोनों की दृष्टि से ही उनकी सर्वप्रथम कृति ठहरती है। इसमें अन्तर्निहित भावों का अध्ययन करने से स्पष्टतः इस बात का आभास मिल जाता है कि ये भाव कवि की किशोरावस्था के प्रतिनिधि हैं—इनमें किशोरकाल का भोलापन, काम का तीव्र उच्छ्वास और विचारों के विकास का आरम्भ झलकता है, 'रसराज' अथवा 'सतसई' का-सा संयत वाग्वैदग्ध्य इनमें नहीं है। दूसरी ओर पुस्तक की भाषा की अप्रौढ़ता भी इसी बात की पोषक है। सामान्यतः 'रसराज' के बाद के ग्रन्थों पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि मतिराम की प्रवृत्ति बोलचाल की भाषा से हटकर संस्कृत की सरस शब्दावली-युक्त शुद्ध ब्रजभाषा की ओर है। 'फूलमंजरी' में इसके विपरीत ऐसी भाषा का स्वरूप परिलक्षित होता है जो तत्कालीन साहित्यिक भाषा से भिन्न बोलचाल की ब्रजभाषा के अधिक निकट है। अतः इससे भी यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं जान पड़ता कि 'फूलमंजरी' मतिराम की सर्वप्रथम रचना है।

रचना-काल—जहाँ तक 'फूलमंजरी' के रचना-काल का प्रश्न है, उसके विषय में यद्यपि ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, पर मतिराम के इस कथन से कि पुस्तक की रचना जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में की गई[2], यह अनुमान अवश्य ही लग जाता है कि यह जहाँगीर के शासन-काल (संवत् १६६० से १६८३ वि० तक) के बीच ही लिखी गई होगी। इसके अतिरिक्त जहाँगीर लिखित 'तुजुकु-ए-जहाँगीरी' नामक पुस्तक से भी किसी सीमा तक इसके सही रचना-काल के निकट पहुँचने में सहायता मिल जाती है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में जहाँगीर ने यमुना के किनारे पर आगरे में स्थित 'गुल-ए-आफ़शाँ' नामक शाही उद्यान के अनेक पुष्पों की प्रशंसा की

१. 'बरवै नायिका भेद' की प्रामाणिकता पर इसी अध्याय में आगे विचार किया गया है।

२. **हुकम पाय जहाँगीर को नगर आगरे धाम।**
फूलन की माला करी मति सों कवि, मतिराम ॥६०॥
(फूलमंजरी)

है[1]; 'फूलमजरी' में इन सभी पुष्पों के नामों का उल्लेख है। अतः सम्भव है कि 'फूलमंजरी' में जिन पुष्पों का वर्णन है, वे सबके सब इमी उद्यान के हों। आगे सम्राट् ने लिखा है कि उसने संवत् १६७६ वि० की बसन्त ऋतु में इस उद्यान की विशेष यात्रा की थी; उस समय इसके अध्यक्ष ख्वाजा जहान को प्रसन्न होकर विशेष पुरस्कार भी दिया था[2]। अतएव अनुमान लगाया जा सकता है कि इसी अवसर पर मतिराम ने जहाँगीर की आज्ञा प्राप्त करके 'फूलमंजरी' की रचना आरम्भ की होगी; वैसे भी इसके अधिकांश पुष्प बसन्त ऋतु में खिलने वाले हैं। ग्रीष्म, वर्षा और शेष ऋतुओं के पुष्पों का उल्लेख तथा उनका बिना किसी आधार के क्रम-निर्धारण इस बात का द्योतक है कि कवि ने इन दोहों को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं किया। कहने का अभिप्राय यह है कि 'फूलमंजरी' को मतिराम ने संवत् १६७६ वि० के आस-पास अपने किशोरकाल में लिखकर भाग्य-परीक्षा की होगी।

प्रामाणिकता—'फूलमंजरी', मतिराम की ही रचना है, इसमें तो सन्देह के लिए स्थान नही। पर यह रसराजकार मतिराम की ही कृति है, इसका उत्तर विचार किए बिना देना कठिन है। कुछ विद्वानो ने 'रसराज' और 'फूलमंजरी' में सन्निविष्ट भावों और भाषा में प्रौढ़ता की दृष्टि से अन्तर देखकर इसे किन्ही दूसरे मतिराम की रचना सिद्ध करने का प्रयास किया है; परन्तु इस कसौटी पर निर्णय देना अधिक संगत प्रतीत नहीं होता, कारण काव्य के ये दोनों अंग कवि की अवस्था के अनुसार परिवर्तित होते जाते हैं। केवल उसका विषय-वस्तु सम्बन्धी दृष्टिकोण और उसकी अभिव्यंजक उचित शब्दावली ये दो उपकरण ऐसे हैं जिनमें परिवर्तन की कम गुंजायश रहती है। अतएव 'रसराज' और 'सतसई' तथा 'फूलमंजरी' का अध्ययन इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर किया जाय तो किसी निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता मिल सकती है।

'फूलमंजरी' के शृंगार-वर्णन पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि इसके अन्तर्गत कवि स्वकीया-प्रेम का ही वर्णन कर रहा है; सामान्या-प्रेम तो इसमें देखने को भी नही और परकीया-प्रेम का आभास केवल क्लिष्ट कल्पना से एकाध छन्द में ही ढूँढ़ा जा सकता है; अन्यथा किशोर दम्पतियों के तीव्र प्रेम की तीव्रता के ही इसमें सर्वत्र दर्शन होते हैं। दूसरे इसमें जिन नायक-नायिकाओ का चित्रण है, उससे भी कवि के विशिष्ट दृष्टिकोण की झलक मिलती है। इस पुस्तक में उनका नायक गम्भीर और चिन्ता-विमुक्त-सा दिखाई देता है, यही कारण है कि नायिका पछताती मिलती है कि उसका 'कन्त' कभी उसके पास नही रह पाता[3]। पर इसका

---

१. दे० "तुजुक-ए-जहाँगीरी" का अंग्रेजी भाषा में "मैमायर्स आव जहाँगीर" शीर्षक से दो भागों में वही अनुवाद। पृ० ५—७।

२. दे० "मैमॉयर्स आव जहाँगीर" का वही भाग, २ पृ० ८५।

३. दे० माया गर्ब कोऊ जनि करो कहिबे की बात सुहात।
कंत कटेरी फूल है पलक माँहि फिर जात ॥५६॥
(फूलमंजरी)

अर्थ यह नहीं कि बिहारी के समान नायक से क्षमा के लिए घण्टों अपनी पैर-चप्पी कराये। वह तो वास्तव में सच्ची भारतीय नारी के समान अपने को पति की 'दासी' मात्र ही मानती है एवं प्रतिक्षण उससे दो मधुर बातें करने में ही अपने जीवन को सार्थक समझ लेती है—और यदि वह प्रेम के साथ एक पुष्प भी उसको लाकर दे देता है, तब तो वह 'निहाल' ही हो गई[1]। कहना न होगा कि शृंगार-वर्णन की यह विशेषता 'रसराज' के अन्तर्गत इसी रूप में उपलब्ध होती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के भीतर परकीया और सामान्या-प्रेम का भी वर्णन है, पर यह हमारे कवि को तत्कालीन परिपाटी के प्रभाव में आकर नायक-नायिका-विवेचन के अन्तर्गत ही करना पड़ा है। वास्तव में उनका मन जितना स्वकीया-वर्णन में रमा है उतना परकीया के वर्णन में नहीं—सामान्या का चित्र तो उसने ऐसा प्रस्तुत किया है कि वह घृणित ही लगता है। 'रसराज' के अन्तर्गत 'हाव' के लक्षण में ही 'दम्पति' शब्द का प्रयोग[2] इस बात का साक्षी है कि मतिराम स्वकीया-प्रेम के पक्षपाती रहे हैं। इसी प्रकार इन तीनों शृंगारिक ग्रन्थों की शब्दावली को ध्यान से देखा जाय तो इनमें कतिपय विशिष्ट शब्द एक ही तन्मयता के साथ व्यवहृत मिलेंगे। इनमें से 'सरस', 'ढिग', 'पैंड़ो', 'निहाल', 'मजलिस' इत्यादि शब्द तो अपने विशेष प्रयोग के कारण मतिराम के काव्य की विशेषता बन गये हैं, जिनसे अपने आप ही मतिराम की कविता इस युग के कवियों की वाणी से पृथक् दृष्टिगोचर होने लगती है। इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त मतिराम की कविता में प्रसाद गुण का जो समावेश मिलता है, वह 'फूलमंजरी' के भीतर भी देखा जा सकता है। अतः इन सभी तर्कों के प्रकाश में 'फूलमजरी' रसराजकार मतिराम की ही रचना कही जा सकती है।

ग्रन्थ-परिचय— 'फूलमजरी' छोटी-सी पुस्तिका है, जिसका कलेवर केवल ६० दोहों तक ही सीमित है। अन्य ग्रन्थों के समान इसके आरम्भ में न तो कोई मंगलाचरण है और न किसी प्रकार की स्तुति ही। इससे मूल प्रति के खंडित होने का सन्देह किया जा सकता है, पर क्योंकि आदि से लेकर अन्त तक के दोहों की क्रम-संख्या अविच्छिन्न है, अतएव इस प्रकार की कल्पना को कोई स्थान नहीं मिल सकता। पुस्तक के किसी भी दोहे में कवि का नाम नहीं है; केवल अन्तिम दोहा ही ऐसा है जिससे विदित होता है कि 'फूलमंजरी' की रचना कवि मतिराम ने सम्राट् जहाँगीर की आज्ञा से आगरे में की थी। शेष दोहों में प्रत्येक के अन्तर्गत एक-एक के

---

१. दे० **आकसपेचा माल गुहि पहिराई मो ग्रीव।**
हूँ निहाल बलिमा करी दासी जानिक जोव ॥१६॥
लिए हजारा हाथ में पँखुरी गिने सँवारि।
प्रीतम दीनों मोहि करि (कर ?) तो पर डारी वारि ॥१७॥
(फूलमंजरी)

२. दे० **दम्पति के संयोग में होत प्रगट जे भाव।**
ते संयोग सिगार में बरनत सब कवि हाव ॥३४७॥
(रसराज)

क्रम से ५६ देशी-विदेशी पुष्पों का नामोल्लेख हुआ है, जिनकी योजना और क्रम कवि का अपना है—आरम्भ में पुष्प का नाम और फिर उसका अलग से दोहे में प्रयोग किया गया है[1]।

वर्ण्य-विषय—मतिराम के अपने शब्दों में 'फूलमंजरी' का वर्ण्य-विषय है पुष्प ; पर सिवाय एक दोहे के, जिसमें 'पलास' के फूल का चमत्कारपूर्ण वर्णन है[2], समस्त पुस्तक में कहीं भी स्वतन्त्र रूप से इनका वर्णन नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त दो और दोहे हैं, जिनमें कवि ने अपने आराध्य देवों के साथ सम्बन्ध दिखाकर 'आक' और 'शंखाहुली' नामक पुष्पों का महात्म्य दिखाया है[3], किन्तु इनमें प्रतिभा का सर्वथा अभाव है। शेष दोहों में एक-एक के क्रम से ५६ पुष्पों का उल्लेख मात्र है और वह भी नायिकाओं के प्रसंग में। यदि इन पुष्पों का वर्गीकरण किया जाय तो मुख्यतः तीन वर्ग होंगे। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत वे पुष्प आयेंगे जो नायक और नायिकाओं के लिए अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत हुए हैं[4]। ये संख्या में कम हैं तथा अपने आप में अत्यन्त नवीन होने के कारण सुन्दर प्रतीत होते हैं ; परन्तु एकाध को छोड़कर कोई भी ऐसा नहीं जिससे कवि का अभिप्राय प्रकट हो सके। दूसरे वर्ग के पुष्पों का सम्बन्ध नायक और नायिकाओं के केवल हाथों तक ही सीमित है—या तो नायिका उनमें से किसी एक को अपने हाथ में लेकर प्रिय की प्रतीक्षा करती है, या फिर नायक उसके हाथों में प्रेम के साथ देकर उसे निहाल करता है[5]। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे वर्णन पुस्तक के अन्तर्गत सबसे अधिक संख्या में हैं। तीसरी कोटि में उन पुष्पों को रखा जा सकता है, जिनका प्रयोग निरर्थक ही हुआ है, दोहे के अर्थ के साथ उनकी संगति नहीं बैठती[6]—ऐसे प्रसंग कम नहीं हैं। इसी प्रकार

---

१. उदाहरण के लिए देखिये—

फूल चमेली को सरस चौंसर लीयें हाथ।
सरस चाँदनी आज की मेरे रहिये नाथ ॥२॥

२. दे० रुतिहिं बसन्त पलास लै रैन रहे हैं सोइ।
फल बेकों (वाको ?) कालौ भयौ सिद्ध कहाँ ते होइ ॥४६॥

३. तीनन में गिनती गनै तीन लोक भगवान।
फूल धरें सिर आक को पारवती के प्रान ॥५०॥
साँखाहुली फूल की महिमा महा अकत्थ।
सीस धरें पिय सीय के जिन तोरे दसमत्थ ॥५८॥

४. उदाहरण के लिए—

सौतनि की मजलिस जुरी पोसत के से फूल ॥३२॥

५. उदाहरण के लिए—

(क) अलबेली लिये बेलि को देखत प्रीतम गैल ॥ (३)
(ख) खुभी फूल बालम लिये सो फिर दीनो मोहि। (२२)

६. निसि कारी भारी हुती तरसत मेरो जीव।
फूल निवारी को सरस वारी तुम पर पीव ॥१३॥

यदि नायिकाओं पर विचार किया जाय तो विदित होगा कि उनके वर्णन की पृष्ठ-भूमि में नायिका-भेद की भावना अवश्य ही विद्यमान है, किन्तु यह सब स्थूल न होकर उनके परिस्थिति-जन्य भावों का चित्रण है, जो सामान्यतः कवि ने उनकी उक्तियों के माध्यम से व्यक्त किया है। नायक की उपस्थिति पुस्तक में यद्यपि दिखाई नहीं देती, पर उसके व्यक्तित्व की विशेषता-- स्वच्छन्दता का परिचय नायिका के पछतावे अथवा चिन्ता से व्यक्त हो जाता है। इसमें भी आगे इस पुस्तक की विशेषता है स्वकीया-प्रेम-वर्णन। नायक-नायिका आयु में किशोर से होते हुए भी परकीयत्व का तनिक भी आभास नहीं होने देते। कवि के दम्पति भारतीय समाज के प्राणी होने के नाते आपस में किसी भी प्रकार की दीवार नहीं आने देते; यद्यपि उनमें झगड़ा भी होता है और उसके फलस्वरूप पछतावा भी; पर उनका अटूट प्रेम कभी विनोद में और कभी सुन्दर उक्तियों में परिणत होकर रसोच्छेद नही होने देता।

भाषा की दृष्टि से यद्यपि इस पुस्तिका में अप्रौढ़ता का आभास होता है; व्याकरण की दृष्टि से भी इसके प्रयोगों में एकता नहीं तथा शब्दावली भी अधिकांशतः बोलचाल की ही प्रतीत होती है; किन्तु फिर भी, बालम, सरस, पैंड़ों, मजलिस, अलबेली आदि शब्द अपने सही अर्थ में आकर कवि की अभिव्यंजना को तन्मयता की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। वास्तव में इस प्रकार के प्रयोग उसकी मानसिक अवस्था का ठीक परिचय देते हैं।

संक्षेप में 'फूलमजरी' भाव अथवा भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन ब्रजभाषा साहित्य के उत्तम ग्रन्थों की कोटि में तो नहीं आती पर शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम का यह अच्छा ग्रन्थ है, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय गृहस्थ का जो सजीव चित्र इस पुस्तक में मिलता है, वह अन्यत्र अधिक सुलभ नहीं है।

'रसराज'

रचना-काल—मतिराम के ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रसिद्ध 'रसराज' ही है, पर इसमें कही भी ऐसा संकेत नही मिलता जिसके आधार पर इसका रचना-काल निश्चित किया जा सके; अन्यत्र भी इस प्रकार का कोई उल्लेख नही। यही कारण है कि विद्वान् इसका रचना-काल निर्धारित करने में एकमत नहीं हो पाये। मिश्रबन्धुओं ने जहाँ एक ओर काव्योत्कर्ष के आधार पर यह मानते हुए कि यह मतिराम की अन्तिम रचना ही हो सकती है, इसका रचना-काल बूँदी से उनका सम्बन्ध टूट जाने के बाद संवत् १७६७ वि० के आस-पास निर्धारित किया है; वहाँ दूसरी ओर याज्ञिक-त्रय ने बूँदी से कवि का सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व संवत् १७०० वि० के आस-पास इसकी सम्भावना प्रकट की है। किन्तु इस प्रकार की अटकलों पर विश्वास नही किया जा सकता। इसके लिए किसी ठोस आधार की अपेक्षा फिर भी रह जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे पास किसी भी प्रकार का ऐसा साक्ष्य नही जिससे सत्य पर पहुँचने का दावा किया जा सके, किन्तु इतना अवश्य है कि यदि 'रसराज' और 'ललितललाम'—इन दोनों में से भाषा, छन्द आदि के आधार पर किसी एक को दूसरी से पूर्व की रचना सिद्ध किया जा सके तो सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है,

कारण 'फूलमंजरी' को छोड़कर मतिराम के शेष ग्रन्थों में 'ललितललाम' सबसे पहले का रचा हुआ है। अतएव अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम इन दोनों ग्रन्थों की परीक्षा करते हैं।

'रसराज' और 'ललितललाम' का अध्ययन करने से विदित होता है कि दोनों में ३८ छन्द समान हैं; तथा इन छन्दों में कवि का अभिप्रेत मूलतः नायिका अथवा भाव विशेष का वर्णन रहा है, अलंकार-निरूपण नहीं। उदाहरण के लिए—

आज कहा तजि बैठी हो भूषन ऐस ही अंग कछू अरसीले;
बोलत बोल रुखाई लिए 'मतिराम' सनेह सने न रसीले।
क्यों न कहौ दुख प्रान प्रिया असुवानि रहे भरि नैन लजीले;
कौन तिन्हें दुख है, जिनके तुम-से मनभावन छैल-छबीले[1] ॥४४॥

(रसराज)

प्रस्तुत छन्द 'रसराज' के अन्तर्गत मध्याधीराऽधीरा के उदाहरण में दिया गया है और 'ललितललाम' में वक्रोक्ति के उदाहरणस्वरूप। इसका यदि विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट होगा कि प्रथम तीन चरणों में केवल मध्याधीरा के ही लक्षण मिलते हैं, वक्रोक्ति की किसी भी प्रकार की ध्वनि तक नही; अन्तिम पंक्ति में अवश्य ही काकु वक्रोक्ति स्पष्ट है पर उससे इस नायिका का अधीरत्व पुष्ट हो रहा है, अलंकार का चमत्कार अपने आप मे फीका पड़ गया है। दूसरे शब्दों में इस छन्द के अन्तर्गत अलंकार गौण है और नायिक मुख्य। इसी प्रकार—

आलस बलित कोरे काजर-कलित 'मतिराम' वे ललित अति पानिप धरत हैं;
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरब सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं।
बरुनी सघन बंक तीछन कटाछ बड़े लोचन रसाल उर पीर ही करत हैं;
गाढ़े ह्वै गड़े हैं, न निसारे निसरत नैन-बान-से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं[2] ॥४०७॥

(रसराज)

यह छन्द 'ललितललाम' में पूर्णोपमालंकार का उदाहरण है और 'रसराज' में विरह की दशा 'स्मृति' का। अलंकारों की दृष्टि से समग्र रूप से विश्लेषण करने पर स्पष्ट होगा कि इसके द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणों में क्रमशः प्रतीप, असंगति और पूर्णोपमा नामक अलंकार हैं। ये तीनों अपने पूरे चमत्कार के साथ हैं—अन्तिम चरण में पूर्णोपमालंकार का इतना चमत्कार नहीं, जितना कि यमक का है। दूसरी ओर इसके प्रत्येक चरण में नयनों की स्मृति किसी न किसी प्रकार से उपलब्ध है; अतः अलंकार-निरूपण इस छन्द का मूल उद्देश्य नहीं माना जा सकता। ऐसे ही दूसरे[3]

---

१. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या ३७१।

२. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या ४४।

३. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या—४५, ८१-८२, ८४, ८८, ६६, ६६, १०६, ११२-१३, ११५, १३६, १३६, १५४, १६७, १६६-७०, १७४, १८३, १६७, २०१, २११, २१६, २१८, २२०, २२७, २२६, २४१, २४३-४४, २४६, २५४, २६३, २६८, २६६, २७८, २८०, २८२, २८४, २८६, २६७, ३०१, ३०४, ३०६, ३१६, ३१६, ३२०, ३२२, ३३२, ३४६, ३५५, ३६१, ३६५, ३६७, ३७०, ३७६, ३८०, ३८३, ३८५, ३८८, ३६३, ३६५, ३६७।

छन्दों में भी यही बात देखने को मिलती है। ऐसी दशा में यही निष्कर्ष निकलता है कि मतिराम ने ये छन्द 'रसराज' के विवेचन में ही लिखे होंगे, 'ललितललाम' में तो इन्हें विशिष्ट अलंकारों से युक्त होने के कारण उनके उदाहरण स्वरूप उदाहृत कर दिया गया है। तात्पर्य यह है कि 'रसराज' की रचना 'ललितललाम' से पूर्व ही हुई होगी, पीछे नहीं।

इस धारणा की पुष्टि एक और छन्द[1] से होती है। यह 'ललितललाम' के अन्तर्गत अर्थान्तरन्यास और अवज्ञा नामक अलंकारों के प्रसंग में उदाहरणस्वरूप दिया गया है, जबकि 'रसराज' के अन्तर्गत यह परकीया खण्डिता का उदाहरण है। इससे यह स्पष्ट है कि मतिराम का प्रथम उद्देश्य नायिका-वर्णन ही था, बाद में उन्होंने इस में उक्त दोनों अलकार घटते देखे तो उनके उदाहरणों में उद्धृत कर दिया। इस सम्बन्ध में यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि इन दोनों अलंकारों के लिए ही यह छन्द पृथक् से रचा गया।

इसी प्रकार 'ललितललाम' में ऐसे भी छन्द हैं जो शृंगार-परक होने पर भी 'रसराज' में नहीं मिलते। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब के सब ऐसे हैं जो 'रसराज' के किसी न किसी लक्षण के उदाहरण हो सकते हैं, जैसे—

मोहन को मुखचन्द लखे बढ़ि आनँद आँखिन ऊपर आवै ;
रोम उठे 'मतिराम' कहैं तनु चारु कदंब-लता छबि छावै।
बूझति हौं हित कै सखि तोहि कहा रिस कै यह भौंह चढ़ावै ;
मैं तृन सो गन्यो तीनहुँ लोकनि, तू तृन ओट पहार छपावै ॥३६७॥

(ललितललाम)

इस छन्द से स्पष्ट है कि नायिका लक्षिता है। 'रसराज' में भी लगभग इन्ही भावों का एक दोहा[2] इसी नायिका के उदाहरणस्वरूप दिया गया है। कहना न होगा कि यह सवैया सरसता और कवित्व दोनों की दृष्टि से उत्कृष्ट है। यदि 'रस-राज' 'ललितललाम' के बाद की रचना होती तो कोई कारण नहीं था कि मतिराम इस सवैये को लक्षिता के उदाहरण में न लिखते।

भाषा की दृष्टि से अध्ययन करने पर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि 'रसराज' 'ललितललाम' से पूर्व की तथा 'फूलमंजरी' से बाद की कृति है, कारण इनमें कवि का झुकाव बोलचाल से हटकर संस्कृत शब्दावली की ओर क्रम से बढ़ता हुआ दिखाई देता है। दूसरे 'फूलमंजरी' से लेकर 'ललितललाम' की रचना तक मतिराम

---

१. **रावरे नेह कों लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए ;**
डारि दियो गुरु लोगनि को डर गाँव चवाय में नाम धराए।
हेत कियो हम जो तो कहा तुम तो 'मतिराम' सबै बिसराए ;
कोऊ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत हैं आपने पीव पराए ॥

'रसराज' में इसकी छन्द संख्या १२६ और 'ललितललाम' में क्रमशः २६० और ३१८ है।

२. **सतरौंही भौंहन नहीं, दुरै दुरायौ नेह।**
होत नाम नँदलाल के, नीपमाल-सी देह ॥७८॥

(रसराज)

ने व्यर्थ ही समय नष्ट नहीं किया होगा, कुछ अवश्य ही लिखा होगा. शृंगारिक रचना युवावस्था में जितनी सरस हो पाती है, वृद्धावस्था में उतनी नहीं; 'ललितललाम' के समय तक तो मतिराम की अवस्था ५० वर्ष के लगभग हो चुकी थी। कहने का अभिप्राय यह है कि 'रसराज' 'ललितललाम' से पूर्व की ही कृति हो सकती है।

अस्तु, यह सिद्ध होने पर कि 'रसराज' 'ललितललाम' से पूर्व रचा गया, इस का रचना-काल अनुमान से बताया जा सकता है। 'ललितललाम' महाराज भाऊसिंह, बूँदी नरेश के आश्रय में संवत् १७१८-२१ वि० के बीच लिखा गया होगा[1]। यदि 'रसराज' इससे २०-२५ वर्ष पूर्व की कृति मानी जाय तो उसका रचना-काल संवत् १६९०-१७०० वि० के लगभग बैठेगा। वैसे भी इसकी सरसता और गाम्भीर्य से यही प्रकट होता है कि इसकी रचना के समय मतिराम की अवस्था ३०-४० वर्ष के लगभग रही होगी।

प्रामाणिकता—ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि मतिराम की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'रसराज' ही है; वास्तव में उनकी प्रसिद्धि भी इसी ग्रन्थ के कारण हुई। अतएव इसकी प्रामाणिकता में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। परन्तु इसकी जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ देखने को मिली हैं उनमें एकाध को छोड़कर लगभग सब में न तो कोई मंगलाचरण है और न किसी प्रकार का परिचय ही; कवि द्वारा एक साथ विवेचन का आरम्भ किया जाना इस शंका को जन्म देता है कि इसकी मूल प्रति आरम्भ में खण्डित रही होगी। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम ग्रन्थावली' में जो गणेश-स्तुति और कवि-निवेदन-विषयक क्रमशः एक सवैया और दो दोहे मूल के आरम्भ में जोड़े हैं, वे भाषा-शैली की दृष्टि से तो ऐसे ही लगते हैं कि ये मतिराम के हैं परन्तु इससे उपर्युक्त धारणा की पुष्टि ही होती है, निराकरण नहीं। ऐसे ही इसकी आकस्मिक समाप्ति भी अन्त के कतिपय छन्दों के न होने की ओर संकेत करती है। बीच में इसके छन्दों का क्रम अविच्छिन्न है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने किंवदन्ती के आधार पर यह सम्भावना प्रकट की है कि ये अनुपलब्ध छन्द मतिराम ने औरंगजेब के नाम से लिखे थे; उसने इन्हें भूषण का भाई होने के कारण अपने आश्रय से निकाल दिया था, इससे रुष्ट होकर उन्होंने ये छन्द 'रसराज' से निकाल दिये[2]। त्रिपाठीजी का यह कथन यद्यपि किसी असम्भव बात की ओर संकेत नहीं करता; फिर भी इसकी पुष्टि में हमें कोई प्रमाण नहीं मिला। अतएव सिवाय इसके कि उपलब्ध प्रतियाँ खण्डित मूल प्रति की ही नकल हैं, और कुछ नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ-परिचय—'रसराज' मतिराम के ग्रन्थों में ('छन्दसार संग्रह' को छोड़कर) कलेवर की दृष्टि से सबसे बड़ा है। इसमें कुल मिलाकर ४२७ छन्द हैं, जिनमें से ८७ सवैये, ६२ कवित्त और २७५ दोहे हैं; दोहों में से भी १२४ दोहे ऐसे हैं जो लक्षणों के रूप में आये हैं तथा शेष नायिका-भेद आदि के उदाहरणों में दिये गये हैं—इनके

---

१. दे० आगे 'ललितललाम' का रचना-काल।

२. दे० 'प्रभा' (वर्ष ५, खण्ड १, संख्या ६), १ जून सन् १९२४ ई० में श्रीयुत् रामनरेश त्रिपाठी का 'भूषण की कुछ नई कविताएँ' शीर्षक का लेख, पृ० ४७१।

अतिरिक्त दो दोहे आरम्भ में कवि निवेदन-विषयक और अन्त में दिया हुआ एक दोहा ग्रन्थ समाप्ति के सम्बन्ध में है। आरम्भ का सवैया गणेश की स्तुति में है[1]। समस्त ग्रन्थ के भीतर कहीं भी ऐसा स्थल देखने को नहीं मिलता, जिससे ग्रन्थकार, उसके आश्रयदाता अथवा रचना-काल के सम्बन्ध में कुछ मिल सके ; सम्भव है ये बातें इस के अनुपलब्ध छन्दों में रही हों, क्योंकि जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, यह ग्रन्थ मूल का खण्डित रूप प्रतीत होता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ के नाम अर्थात् 'रसराज' शब्द से ही ऐसा बोध होता है कि संस्कृत के मध्यकालीन आचार्यों के समान मतिराम ने भी शृंगार रस को काव्य के नव रसों में शिरोमणि सिद्ध किया होगा। इसमें संदेह नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत शृंगार के विभिन्न अंगों का व्यापक और स्वच्छ वर्णन है, पर 'शृंगार एव एको रस:' की स्थापना जैसी कोई बात नही—ग्रन्थकार यह पहले मे धारणा लेकर अग्रसर हुआ है कि यह रस रसो का 'राव' है[2]। इतना ही नही शृंगार रस क्या है तथा उसके कौन-कौनसे अंग है, इस विषय में आरम्भ में कुछ न कहकर केवल भानुदत्त की 'रसमंजरी' के समान ही इस कथन से अपना रस-सम्बन्धी विवेचन आरम्भ करता है कि शृगार रस का आलम्बन नायक-नायिका हैं अतएव सर्वप्रथम मैं इनका ही वर्णन करता हूँ। इससे आगे नायिकाओं के भेदों, नायक-निरूपण, दर्शन-भेद, उद्दीपन, सात्विक अनुभावों, हावों तथा विरह की नवदशाओं का जो भी वर्णन मतिराम ने किया है, वह भानुदत्त की उक्त पुस्तक के आधार पर ही है ; शृगार रस का लक्षण भी इसी के समान 'रसराज' के आरम्भ में न होकर बीच में है। 'संचारी' भावों का वर्णन भानुदत्त ने नहीं दिया है, मतिराम ने भी इनका उल्लेख तक नहीं किया। कहने का अभिप्राय यह है कि 'रसराज'-गत विवेचन का एकमात्र आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' ही रही है ; यदि 'रसराज' के लक्षणों को इस पुस्तक के लक्षणों का भाषा में अनुवाद मात्र कह दिया जाय तो अनुचित न होगा।

'रसराज' में जितने भी उदाहरण हैं वे सब उनके मौलिक हैं। कहीं-कहीं पर स्पष्टतः रहीम-कृत 'बरवै नायिका भेद' का प्रभाव दिखाई देता है, किन्तु 'मतिराम' ने उनकी अपेक्षा अधिक कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। इन छन्दों के अन्तर्गत मतिराम का सच्चा कवि-हृदय झलकता है। सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि कवि कहीं भी स्थूल वर्णन करने का प्रयास नहीं करता ; सर्वत्र भावों के द्वारा ही अपने नायक और नायिका का चित्रण करता है। उसका नायक रीतिकालीन परम्परा के अनुसार यद्यपि कृष्ण ही रहा है, पर उसमें बिहारी के नायक के समान लम्पटता नहीं मिलेगी। दूसरी ओर नायिका भी छैल-छबीली होती हुई भी कहीं भी अपने आपको भारतीय नारी से पृथक् नहीं दिखाती—उसका चरित्र संयत रहता है। यदि इन दोनों व्यक्तियों का अध्ययन वर्गीकरण की दृष्टि से किया जाय तो दोनों ही अवस्था के अनुसार दो वर्गों में रखे जा सकेंगे—१. किशोर और २. प्रौढ़। इनमें

---

१. दे० उसी 'मतिराम ग्रन्थावली' के अन्तर्गत 'रसराज', छन्द संख्या १।

२. दे० 'रसराज', छन्द संख्या ३४२।

से प्रथम वर्ग के नायक-नायिका में कुछ बचपन-सा झलकता है, कवि इनको 'लाल' और 'बाल' अथवा 'लला' और 'बाला' शब्दों से अभिहित करता है ; दूसरे वर्ग के नायक-नायिका आयु में अपेक्षाकृत अधिक बड़े होने के कारण गम्भीर प्रतीत होते हैं—वे प्रेम को मन की वस्तु समझते हैं, यही कारण है कि कवि उनके लिए क्रमशः 'मनभावन' और 'मनभावती' शब्दों का प्रयोग करता है। इनके सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि रीतिकालीन परिपाटी के अनुसार परकीया और सामान्या-नायिका भी वर्णन का विषय हो जाती है, पर स्वकीया को जितना महत्त्व कवि ने दिया है, उतना सम्भवतः अन्य कवियों ने नहीं दिया—स्वकीया का वर्णन करते समय वह तन्मय हो जाता है। सामान्या के वर्णन में तो स्वयं ग्रन्थकार ही अपनी घृणा व्यक्त करता हुआ-सा लगता है। परकीया का प्रेम स्वकीया की अपेक्षा अस्थायी, परन्तु तीव्र होता है, यही कारण है कि मतिराम जब भी उसका वर्णन करते हैं अथवा उसकी उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, उस समय स्वकीया नायिका द्वारा नायक के प्रति प्रदर्शित प्रेम उसके सामने फीका-सा लगता है। संक्षेप में 'रसराज' को यदि प्राधानतः भावों के वर्णन का ही ग्रन्थ कह दिया जाय तो असंगत न होगा।

भाषा की दृष्टि से यदि इस ग्रन्थ को देखें, तो उसमें विशुद्ध ब्रज का निखरता हुआ रूप मिलेगा। कवि का आग्रह सर्वत्र सरस और सरल संस्कृत शब्दावली के चयन की ओर ही मिलता है। अरबी-फ़ारसी के शब्द तो केवल अँगुलियों पर गिनने लायक ही हैं। इस दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह मिलती है कि कवि जिस भी विशिष्ट भाव अथवा वस्तु का वर्णन करता है, उसके लिए वह भावाभिव्यंजक शब्द का प्रयोग करेगा—चाहे यह बोलचाल की ब्रज का हो अथवा पूर्वी बोली का। कवि की सफलता का यही मूल रहस्य है।

कुल मिलाकर इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विवेचन की दृष्टि से लक्षण-रचना में चाहे मतिराम ने संस्कृत की पुस्तक-विशेष का अनुवाद प्रस्तुत कर दिया हो ; पर उसकी पुष्टि में जो छन्द कवि ने रचकर उदाहृत किये हैं ; उनसे कवि की अपूर्व सहृदयता ही नहीं झलकती, प्रत्युत यह भी सिद्ध हो जाता है कि उसे अपने विषय का पूरा ज्ञान था। वास्तव में रीतिकाल के रससिद्ध ग्रन्थों में 'रसराज' का स्थान अग्रगण्य है।

ललितललाम

रचना-काल—'रसराज' के समान 'ललितललाम' में भी रचना-काल का उल्लेख नहीं किया गया, परन्तु मतिराम के अपने साक्ष्य के अनुसार इसकी रचना बूँदी नरेश राव भाऊसिंह के आश्रय में हुई, अतएव इतिहास की सहायता से इसके रचना-काल का अनुमान लगाना कठिन कार्य नहीं। राव भाऊसिंह का शासन-काल संवत् १७१५ वि० से संवत् १७३४ वि० तक है[1] ; अतः यह तो निश्चित है कि

१. जनरल टॉड ने 'राजस्थान', भाग २ (सन् १९५० ई० में प्रकाशित) पृ० ३९०; पर इनका मृत्यु संवत् १७३८ वि० दिया है, किन्तु 'मआसिरुल उमरा' (अनुवादक श्री ब्रजरत्न दास—प्रथम संस्करण, पृ० २५९) में इनकी मृत्यु औरंगजेब के राज्य के २१वें वर्ष अर्थात् संवत् १७३४ वि० में कही गई है। हम 'मआसिरुल् उमरा' के आलेख को ही इस सम्बन्ध में प्रामाणिक मानते हैं।

इसी बीच इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी, परन्तु इसके अन्तर्गत एक ऐसा छन्द भी है, जो इनके द्वारा शिवाजी के विरुद्ध औरंगज़ेब की ओर से की गई कार्रवाहियों की ओर संकेत करता है[१]। बूँदी-नरेश ने औरंगज़ेब की ओर से इनमें दो बार भाग लिया। एक बार शायस्तखाँ के साथ संवत् १७१७ वि० में और दूसरी बार अपने बहनोई महाराज जसवंतसिंह और फिर महाराज जयसिंह के साथ संवत् १७२१-२२ वि० में[२]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से प्रथम की ओर ही मतिराम का संकेत रहा है, कारण इसके अन्तर्गत ही भाऊसिंह को शिवाजी को हराने का श्रेय मिला था, दूसरी बार तो जसवंतसिंह और इनमें एक आक्रमण के विफल हो जाने के कारण कलह हो गई थी और औरंगज़ेब ने जसवंतसिंह को बुलाकर महाराज जयसिंह को भेजा था[३]। ऐसी दशा में इनके सम्मान में कमी आ जाना स्वाभाविक है—शिवाजी को इस बार हराने का श्रेय जयसिंह को ही मिला। अतः उक्त छन्द के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इसकी रचना संवत् १७१८ वि० के बाद और सवत् १७२१ वि० से पूर्व हुई होगी। दूसरे शब्दों में 'ललितललाम' संवत् १७१८ और १७२१ वि० के बीच रचा गया होगा। इसके पश्चात् अर्थात् संवत् १७२२ वि० के बाद इस ग्रन्थ का रचना-काल इसलिए भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि भाऊसिंह बूँदी में नहीं रहे। संवत् १७२२ वि० में जयसिंह की शिवाजी से सन्धि हो जाने के पश्चात् ये जैसे ही लौटे, इन्हें संवत् १७२३-२४ वि० में चाँदा के युद्ध में संलग्न रहना पड़ा और फिर औरंगज़ेब ने इन्हें शाहज़ादे मुअज्जम के साथ औरगाबाद भेज दिया, जहाँ ये जीवन पर्यन्त रहे[४]।

---

१. दे० सूबनि कौं मेटि दिल्ली देश दलिबे कौं चमू
　　सुभट समूहनि सिवा की उमहति है ;
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे कौं संगर में
　　काहू के न हिम्मति हिए में उलहति है।
सत्रुसाल-नन्द के प्रताप की लपट सब
　　गरबी गनीम बरगीन कौं दहति है ;
पति पात साह की इजति उमरावन की
　　राखी रैया राव भाऊसिंह की रहति है ॥ १३१ ॥

२. दे० वही 'मआसिरुल उमरा', पृ० २५८।

३. दे० श्री यदुनाथ सरकार-कृत 'हिस्ट्री ऑव औरंगज़ेब', भाग ४ (द्वितीय संस्करण), पृ० ७४-७५।

४. दे० वही 'मआसिरुल् उमरा', पृ० २५८।

५. दे० टॉड-कृत वही 'राजस्थान', भाग २, पृ० ३९०। इसमें लेखक ने लिखा है कि भाऊसिंह ने औरंगाबाद में अनेकों महल इत्यादि बनवाये, इससे सिद्ध होता है कि वे वहाँ दीर्घकाल तक रहे। 'मआसिरुल उमरा' (पृ० २५६) में भी इनके दीर्घ-काल तक रहने की चर्चा है। इधर श्री यदुनाथ सरकार ने लिखा है कि सन् १६६३ ई० से सन् १६७३ ई० तक शाहजादा मुअज्जम औरंगाबाद में रहा*। अतः निश्चय है कि औरंगजेब की आज्ञा से भाऊसिंह भी वहाँ रहे होंगे।

* 'हिस्ट्री ऑव औरंगज़ेब', भाग ५ (द्वितीय संस्करण), पृ० ४४-४५।

प्रामाणिकता—'ललितललाम' रसराजकार मतिराम की ही कृति है, इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। भाषा, काव्यगुण तथा वर्णनशैली की दृष्टि से ही यह ग्रन्थ 'रसराज' के निकट नहीं बैठता, प्रत्युत ३३ छन्द ऐसे हैं जो इन दोनों ग्रन्थों में समान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह किसी इतिहास-प्रसिद्ध घटना के विरुद्ध नहीं पड़ता; इसमें जिन बूँदी-नरेश भाऊसिंह की प्रशस्ति के छन्द मिलते हैं, उनमें तो सत्य अंकित है ही, उनके पूर्वजों का वर्णन भी इतिहास के अनुकूल है। राव सुरजन ने अपने दान और वीरता के द्वारा तथा हिन्दू धर्म की रक्षा कर कीर्ति प्राप्त की[1]; उनके पुत्र भोज ने दिल्लीपति (अकबर) की आज्ञा से (जोधाबाई की मृत्यु पर) अपनी दाढ़ी-मूँछें न मुड़वाई[2], रावरतन ने जहाँगीर के किले की (विद्रोहियों से) रक्षा की[3]; महाराज शत्रुसाल (छत्रसाल) औरंगज़ेब और दारा के बीच युद्ध में मारे गये[4] तथा राव भाऊसिंह ने शिवाजी की सेना को रोक कर औरंगज़ेब के नष्ट होते हुए सूबों को बचाकर उसकी पति राखी[5]—ये सब घटनाएँ असत्य नहीं है। इसमें संदेह नही कि कवि के वर्णन अत्युक्ति-पूर्ण हो गये हैं—होते भी क्यों नही; ग्रन्थ अलंकार का है और भाऊसिंह की 'रीझि' के लिए रचा गया है; किन्तु फिर भी कही इतिहास की सीमाओं का उल्लंघन होता दिखाई नहीं देता।

ग्रन्थ-परिचय—'ललितललाम' में कुल मिलकर ४०१ छन्द हैं, जिनमें ५० सवैये, ७३ कवित्त, ८ छप्पय और २७० दोहे हैं- दोहों में भी १४६ लक्षण सम्बन्धी हैं, ६६ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं तथा शेष मंगलाचरण, नगर-वर्णन, नृपवंश-वर्णन और ग्रन्थ-परिचय-विषयक हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ५ छन्द मंगलाचरण के हैं, जिनमें से प्रथम चार में गणेशस्तुति और अन्तिम में कृष्ण के प्रति निवेदन है। इसके पश्चात् १७ दोहों में बूँदी नगर का कवि समयानुसार वर्णन देकर आश्रयदाता के पूर्वजों राव सुरजन, राव भोज, राव रतन, राजकुमार गोपीनाथ, महाराज छत्रसाल तथा आश्रयदाता राव भाऊसिंह की १५ छन्दों में प्रशस्ति है। अलंकार-निरूपण के आरम्भ और समाप्ति की सूचना एक-एक दोहे द्वारा दी गई है। आशीर्वचन और आत्म-निवेदन के साथ कवि ने ग्रन्थ समाप्त किया है।

'ललितललाम' के अन्तर्गत अलंकार-निरूपण केवल ३६० छन्दों में किया गया है, जिनमें से १४६ दोहे लक्षण-परक हैं। उदाहरणों में ६० छन्द महाराज भाऊसिंह की प्रशस्ति के तथा ३ छन्द उनके पूर्वजों की प्रशंसा के हैं; शेष छन्दों में १२५ शृंगारिक, ११ भक्ति-परक, ६ उद्धव-गोपी-संवाद-विषयक, ४ नीति के और २ चित्रकाव्य के उदाहरण हैं। शृंगारिक छन्दों में से ३३ छन्द 'रसराज' से उद्धृत कर दिये गये हैं—शेष ८७ स्वतन्त्र रूप से रचे गये हैं। दो छन्द—एक 'रसराज'

---

१. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या २२, २३ २४।
२. दे० वही, छन्द संख्या २५, २६, ११५।
३. दे० वही, छन्द संख्या २७, २८, २७२।
४. दे० वही, छन्द संख्या ३१, ३२, ३३ (१६५)।
५. दे० वही, छन्द संख्या १३१।

का तथा दूसरा छत्रसाल की प्रशंसा का—ऐसे हैं जो इस ग्रन्थ में दो-दो बार उद्‌धृत हुए हैं।

वर्ण्य-विषय—यह तो कहा ही जा चुका है कि 'ललितललाम' केवल अलंकारों का ही ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत जिन अलंकारों का वर्णन है वे सब अर्थालंकार ही हैं; शब्दालंकारों की किसी भी प्रकार से चर्चा न कर ग्रन्थकार अप्रत्यक्ष रूप से यह संकेत कर देता है कि काव्य में इनका महत्त्व नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसने इस दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर किसी प्रकार की मौलिकता का परिचय दिया है। बात तो वास्तव में यह रही है कि अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' में इनका उल्लेख नहीं हुआ, इसीलिए 'ललितललाम' में भी इन्हें स्थान नहीं मिल पाया। मतिराम पर अप्पय दीक्षित का इतना प्रभाव रहा है कि उन्होने केवल अलंकारों का क्रम ही 'कुवलयानन्द' के अनुसार नही रखा, प्रत्युत जितने भी लक्षण दिये हैं वे प्रायः सबके सब इसकी कारिकाओं के अनुवाद हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि मतिराम ने उक्त सस्कृताचार्य का अन्धानुसरण नही किया, जहाँ इन्हें कोई बात नहीं रुची अथवा अभाव खटका है, वहाँ इन्होंने दूसरे आचार्यो का भी सहारा लिया है। यही कारण है 'उपमा' के भेदों में प्रसिद्ध 'मालोपमा' व 'रशनोपमा' को तथा 'उत्प्रेक्षा' के भेदों में प्रसिद्ध 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' को जहाँ कुवलयानन्दकार छोड़ बैठे हैं, वहाँ मतिराम ने इन्हें अपने ग्रन्थ में उचित स्थान दिया है। इसी प्रकार 'काव्यलिंग' और 'हेतु' नामक अलंकारों का कुवलयानन्द-गत पृथक्-पृथक् निरूपण इन्हें पसन्द नहीं आया; इस सम्बन्ध में यद्यपि इन्होंने कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया, पर 'काव्यलिंग' को 'हेतु' में अन्तर्भूत कर अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया है। आचार्य मम्मट ने यद्यपि 'हेतु' नाम का अलंकार नहीं माना—'काव्यलिंग' को ही स्वीकार किया है, किन्तु मतिराम इसके विपरीत उसे 'हेतु' नाम देना ही उचित समझते हैं। अप्पयदीक्षित ने 'रसवत्' आदि अलंकारों का भी वर्णन किया है, पर रसराजकार अपने कर्म को तथा अपनी मान्यताओं को भली प्रकार समझता है, इसी कारण उसने इन्हें 'ललितललाम' में स्थान नहीं दिया। 'चित्रालंकार' के विषय में मतिराम की एक विशेष मान्यता रही है। वे 'पद्मबन्ध' आदि चित्रालंकारों के विषय में तो कुछ नहीं कहते, दूसरे शब्दों में अप्रत्यक्ष रूप से उनको काव्य-सौंदर्य का पोषक नहीं मानते; पर ऐसे अलंकार जो एक प्रकार से शाब्दिक चमत्कार भी हैं, और उसी के कारण अर्थ का चमत्कार भी लिये हुए हैं, उनको इन्होंने चित्र के अन्तर्गत माना है; यही कारण है कि ये 'उत्तर' अलंकार के दूसरे भेद को 'कुवलयानन्द' के समान प्रस्तुत न कर 'चित्र' के अन्तर्गत रखते हैं।

रीतिकाल के अन्य कवियों के समान मतिराम ने भी कतिपय अलंकारों का नया नामकरण करने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो संस्कृत में भी मिलते हैं, जैसे 'स्वभावोक्ति' का 'जाति'; 'अन्योन्य' का 'परस्पर' और 'कारणमाला' का 'हेतुमाला'। परन्तु 'कैतवापह्नुति' का 'छलापह्नुति' और 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' का 'गुप्तोत्प्रेक्षा'—ये दो नाम—ऐसे हैं, जो अपने आप में भ्रामक कहे जा सकते हैं। इनमें ग्रन्थकार ने यद्यपि मौलिकता लाने का प्रयास किया है, पर इनकी आत्मा

तक न पहुँच पाने के कारण सुबोधता नष्ट हो गई है। फिर भी इस कठिन कार्य को जिस स्वच्छता के साथ उसने निबाहा है, उसके लिए वह प्रशंसा का पात्र है।

जहाँ तक 'ललितललाम' के उदाहरणों का प्रश्न है, उनमें भी किसी प्रकार की उलझन देखने को नहीं मिलती। प्रसाद गुण का तो मतिराम में भाण्डार ही है, अतएव उदाहरणों में अलंकार सरलता के साथ देखा जा सकता है—विशेषता यह रही है कि छन्द की अन्तिम पंक्तियों में ही यह मिलेगा। कतिपय स्थल ऐसे भी हैं—विशेषतः वे छन्द जो 'रसराज' से उद्धृत हुए हैं—जिनमें अलंकार कुछ अशक्त-सा हो गया है ; किन्तु जिन छन्दों में भाऊसिंह की प्रशंसा है, उनमें अलंकार अपने पूर्ण चमत्कार के साथ उपलब्ध होते हैं।

कवित्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ के छन्दों को मुख्यतः चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—१. शृंगारिक छन्द, २. आश्रयदाता की प्रशस्ति के छन्द, ३. भक्ति और नीति-परक छन्द तथा ४. उद्धव-गोपी-संवाद-विषयक छन्द। इनमें से शृंगारिक छन्दों में वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं, जो 'रसराज' के छन्दों में हैं। माधुर्य-संयुक्त प्रसाद गुण, नायिका विशेष का चित्र, भावो में गाम्भीर्य और मतिराम की अपनी प्रिय शब्दावली प्रत्येक छन्द में देखने को मिल जायगी ; कही भी कवि स्वाभाविकता को नहीं छोड़ता।

आश्रयदाता तथा उसके पूर्वजों की प्रशंसा में 'मतिराम' के छन्द उक्त शृंगारिक छन्दों से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें उनका शृंगारिक कवि का रूप न मिलेगा, वे वीर रस के ही कवि दिखाई देंगे। राव भाऊसिंह की प्रशंसा करते समय कवि की वाणी प्रसाद गुण-सम्पन्न होती हुई भी ओज गुण-सम्पृक्त रहती है ; एकाध स्थान के सिवाय कही भी कवि का प्रयास भूषण के समान बनावटी शब्दावली की ओर नहीं जाता। भाषा के विकास की दृष्टि से मतिराम की विशेषता इन छन्दों में यह दिखाई देती है कि उनका झुकाव बोलचाल की ब्रज से सर्वथा हटकर संस्कृत-शब्द-संयुक्त शुद्ध ब्रज की ओर हो गया है—यथास्थान ओजपूर्ण फारसी के शब्दों का प्रयोग करने में भी वे नहीं सकुचाये, पर ऐसे शब्द कम ही हैं। वर्णन में सबसे अधिक उत्कृष्ट वर्णन हाथियों का मिलेगा ; राव भाऊसिंह की प्रशंसा वास्तव में इनसे ही स्वाभाविक लगती है। कतिपय स्थानों पर ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख हुआ है ; उनमें कवि की उक्तियाँ भी हैं, पर ऐसा कोई भी स्थल न मिलेगा जहाँ वह इतिहास के विरुद्ध कुछ कह गया हो। भावों में सहज गाम्भीर्य है।

नीति और भक्ति के छन्दो में मतिराम ने कोई विशेषता नही दिखाई। नीति के छन्द प्रायः संस्कृत के श्लोकों अथवा उक्तियों के अनुवाद मात्र ही हैं। भक्ति के छन्दों में वे जहाँ रसिक-शिरोमणि कृष्ण के भक्त हैं, वहाँ आक धतूरे के फूलों से रीझने वाले शिव तथा सर्वत्र विचरण करने वाली भवानी के प्रति भी उनकी श्रद्धा है—भगवान् विष्णु की प्रशंसा में भी छन्द मिल जाते हैं। किन्तु जिस तन्मयता और अधिकता से शिव का वर्णन किया गया है उससे मतिराम के शिव-भक्त होने का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रेम के विषय में भक्त की निःस्वार्थता और निष्कपटता को ही इन्होंने महत्त्व दिया है।

उद्धव-गोपी-संवाद के छन्दों में केवल गोपियों की उक्तियाँ ही सुनने को मिलती हैं ; उद्धव सर्वत्र मौन ही लगते हैं। इससे ऐसा अनुमान होता है कि मतिराम ने यद्यपि इस विषय में कोई स्वतंत्र दृष्टिकोण तो नहीं रखा, पर गोपियों की उक्तियों द्वारा वे प्रेम की महत्ता की स्थापना करना चाहते हैं। संक्षेप में ये छन्द 'ललितललाम' के अन्तर्गत भ्रमरगीत की परम्परा में मतिराम का अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं।

सतसई

रचना-काल—'सतसई' की रचना महाराज भोगनाथ के लिए की गई, यह इनके नाम पर लिखे गये दोहों से स्पष्ट है। पर ये भारत के किस-भूखण्ड पर शासन करते थे, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता, कारण इतिहास इनके सम्बन्ध में सर्वथा मौन है, प० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने यद्यपि इनका स्थान जम्बू (जम्मू) बताया है[1], किन्तु हमारे विचार में यह ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि मतिराम सदैव अपने आश्रयदाता की प्रकृति के अनुसार ही रचना करते थे। 'सतसई' के अन्तर्गत एक छन्द शिवाजी की प्रशंसा में है[2], जो इस बात का द्योतक है कि भोगनाथ शिवाजी के सहायकों अथवा समर्थकों में से रहे होंगे। उन दिनों कश्मीर औरंगज़ेब के हाथों में था, अतः यह सम्भव नहीं कि उस क्षेत्र का कोई शासक उसके शत्रु की प्रशंसा करे। मेरी धारणा यह है कि भोगनाथ बुन्देलखण्ड अथवा कूर्माचल के कोई सामान्य विलासी शासक ही रहे होंगे। इनका समय क्या था यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, पर इतना निश्चित है कि ये संवत् १७३८ वि० के लगभग अवश्य विद्यमान थे, क्योंकि शिवाजी की प्रशंसा में उक्त छन्द निश्चय ही इस बात का परिचायक है कि मतिराम ने इसकी रचना उनकी मृत्यु अर्थात् संवत् १७३८ वि० के पश्चात् की होगी—यह छन्द उनके प्रति श्रद्धांजलि ही प्रतीत होता है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायगा, 'सतसई' समय-समय पर रचे गये दोहों का संकलन है, जिन्हें भोगनाथ की प्रशस्ति के कतिपय छन्दों के साथ गूँथ दिया गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'सतसई' की निबंधना संवत् १७३८ वि० के आस-पास हुई होगी। वैसे भी 'रसराज' और 'ललितललाम' के इससे मिलते-जुलते छन्दों की तुलना करने से भी इसी धारणा की पुष्टि होती है कि निश्चय ही यह इन दोनों ग्रन्थों से बाद की कृति है। मतिराम दोहों का संकलन कर भोगनाथ के यहाँ ले गये होंगे।

प्रामाणिकता—मतिराम के नाम से उपलब्ध 'सतसई' उन्हीं की रचना है, इसमें किसी भी प्रकार के सन्देह को स्थान नहीं। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से ही इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती प्रत्युत इसके दर्जनों छन्द ऐसे

---

१. दे० 'भूषण-विमर्श', पृ० १६।

२. दे० **सुजस ओज सों साहु सुत, सिवा सूर सिरदार।**
सरद चन्द आतप कियो, सुचि आतप इक बार॥ ३२४॥

हैं जो मतिराम के प्रसिद्ध ग्रन्थों—'रसराज' और 'ललितललाम' में से उद्धृत हुए हैं[१]। 'सतसई' के अन्य दोहों में से कतिपय में मतिराम के नाम का प्रयोग भी इसी बात की पुष्टि करता है। इधर ग्रन्थ के अन्त में किन्हीं महाराज भोगनाथ की प्रशंसा तथा उनको इसके समर्पित होने का संकेत इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि कवि ने इसके सभी दोहों का संकलन स्वयं किया है—किसी अन्य व्यक्ति ने इसका सम्पादन नहीं किया।

ग्रन्थ-परिचय—'सतसई' में कुल मिलाकर ७०३ दोहे हैं, जिनमें से ११२ दोहे 'रसराज' से और ७१ दोहे 'ललितललाम' से लिये गए हैं; एक दोहा खंडित है। उक्त दोनों ग्रन्थों के 'सतसई' में अंतर्भूत १८५ दोहों में से ४२ दोहे परिवर्तित अथवा संशोधित रूप में उपलब्ध होते हैं[२]। ग्रन्थ के आरम्भ में यद्यपि ४ दोहे स्तुति-परक भी हैं, किन्तु उन्हें किसी भी प्रकार का मंगलाचरण नहीं कहा जा सकता। दोहों का क्रम तथा उनकी योजना कवि की अपनी है। 'सतसई' के अन्तिम शतक में आश्रयदाता—भोगनाथ की प्रशंसा में १६ दोहे दिये गए हैं[३], जिससे अनुमान होता है—और वह ठीक भी है कि यह उन्हीं को समर्पित की गई। एक दोहा (संख्या ३२४) महाराज शिवाजी की प्रशस्ति का भी है। 'रसराज' और 'ललितललाम' के सभी दोहों को निकालकर शेष दोहों का विभाजन इस प्रकार होगा—४४१ दोहे शृंगारिक, २२ भक्ति-परक, १५ नीति-विषयक तथा ४० अन्य विषयों के—जिनमें सामान्यतः आश्रयदाता की प्रशस्ति, प्रकृति-वर्णन, गोपियों की उद्धव-प्रति उक्तियों तथा नारी-स्वभाव के शील-गुण वर्णन को रखा जायगा। शृंगारिक दोहों में सामान्यतः रूप-वर्णन, उद्दीपन, अनुभाव-योजना, नायक-नायिकाओं के कतिपय भेदों, संभोग तथा विप्रलम्भ और उसकी नव दशाओं (मरण को छोड़कर)—सभी का थोड़ा-बहुत वर्णन उपलब्ध होता है। 'सतसई' की समाप्ति कवि ने आश्रयदाताओं के कल्याण और अपने लिए सद्बुद्धि की याचना के साथ की है।

वर्ण्य-विषय—मतिराम के ग्रन्थों में अधिकांश विषय-वस्तु शृंगारिक ही रही है। 'सतसई' का वर्ण्य भी मुख्यतः शृंगार है, जिसका अध्ययन यदि शास्त्रीय दृष्टि से किया जाय तो शृंगार रस के सभी उपकरण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होंगे। उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'फूलमंजरी', 'रसराज' तथा 'ललितललाम' के अन्तर्गत कवि का शृंगार-सम्बन्धी जो दृष्टिकोण रहा है वह तो 'सतसई' में

---

१. दे० उसी 'मतिराम ग्रन्थावली' में 'सतसई' के २५२—७०, २७२—८३, २८५—८७, २८९—९७ तथा ४०१—४२ तक की संख्याओं के छन्द। अन्त में परिशिष्ट—१ भी देखिये।

२. दे० उसी 'मतिराम ग्रन्थावली' में 'सतसई' के दोहे—८, २६, ५२, ७४, ८५, ९१, १०३, १०५, ११७, १२१, १४०, १४६, १६३, १६८, १७०, १७१, १९२, १९३, २०३, २३८, २४५, २४८, २५५, २५८, २६३, २६४, २६६, २७२, २७४, २७५, २८२, २९३, २९९, ३०५, ३२७, ३३४, ३४३, ३४४, ४०५, ४०८, ४२० और ५५४ संख्याओं के।

३. दे० वही सतसई—६१२, ६१३, ६२३, ६२४, ६४४, ६४६, ६६१, ६७०, ६९३—९९, ७०२।

परिलक्षित होता ही है, उसके अतिरिक्त भी नायक-नायिका के रूप-वर्णन, अनुभाव-योजना, उद्दीपन-सामग्री तथा शृंगार के दोनों पक्षों — संयोग और वियोग का वर्णन ऐसी विशेषताएँ लिये हुए है, जिनके आधार पर सतसईकार मतिराम को रीतिकाल के अन्य कवियों से पृथक् किया जा सकता है ।

'रसराज' के अन्तर्गत नायक-नायिका के रूप का वर्णन प्रसगवश और चलते ढंग से किया गया है, जबकि 'सतसई' में शरीर के उन सभी अवयवों का वर्णन स्वतन्त्र रूप से हुआ है, जिसके आधार पर किसी स्त्री अथवा पुरुष के सौन्दर्य को आँका जा सकता है । इन वर्णनों में कवि ने अप्रस्तुतों का भी सहारा लिया है और विशेषणों का भी । जहाँ पर शरीरावयवों के साथ विशेषणों का व्यवहार हुआ है, वहाँ वर्णन अधिक प्रभविष्णु बन गये है ।

अनुभाव-योजना तथा उद्दीपन-सामग्री का चयन मुख्यतः नायक-नायिकाओं तथा दूती अथवा सखी की उक्तियों से ही किया गया है । इन उक्तियों में सहज स्वाभाविकता तथा गाम्भीर्य का एक साथ पुट होने के कारण लम्पटता अथवा नागरता को स्थान नहीं मिल पाया; उसके स्थान पर उत्कट प्रेम को ही प्रमुखता दी गयी है । कायिक-अनुभावों मे भी इसका आभास नही मिलता । उद्दीपक-सामग्री में यद्यपि परम्परा का निर्वाह हुआ है, पर वहाँ तक ही जहाँ तक कि उसकी स्वाभाविकता नष्ट न होने पाये । सात्विक भावों का वर्णन बहुत कम है ।

जहाँ तक शृंगार रस के संयोग और वियोग पक्षों का प्रश्न है, उनमें से सयोग के अन्तर्गत नायक-नायिका के मन की अनुकूलता का ही ध्यान रखा गया है, जिसके बर्णन का माध्यम अभिधात्मक शब्दावली रही है । इससे एक ओर जहाँ स्वाभाविकता आई है, वहाँ दूसरी ओर कतिपय दोहो में गोपनीयता के अभाव में ध्वनिमूलक चमत्कार नही आ पाया; और यही कारण है कि सतसई-गत सम्भोग के चित्रों में आवश्यकता से अधिक यथार्थ अंकित हो जाने से अश्लीलत्व का आरोप किया जा सकता है । किन्तु वियोग-पक्ष का चित्रण ऐसा है, जिसमें अभिधा और परम्परा का पालन करते हुए भी कवि कही पर सीमाओं का अतिक्रमण करता दिखाई नहीं देता; ऊहात्मक वर्णनों से न तो विरह की मार्मिकता पर प्रहार किया गया है और न सस्ती उपमाओं से उसका गाम्भीर्य ही नष्ट हुआ है । विरह और विरही के साथ किसी भी प्रकार की खिलवाड़ अथवा मज़ाक नही की गई ।

शृंगारिक दोहों के अतिरिक्त 'सतसई' में इतर विषयों के दोहे भी हैं । इनमें से भक्ति-परक दोहों का विषय उस युग के आराध्य सभी देवी-देवता रहे हैं, जिनसे यह अनुमान लगाना कठिन-सा हो जाता है कि कवि किस सम्प्रदाय का अनुयायी था, वैसे कवि का झुकाव कृष्ण और शिव की ओर अधिक रहा है, यह तद्विषयक दोहों की अधिकता के आधार पर कहा जा सकता है । सामान्यतः इन दोहों में कवि की मौलिकता के कम दर्शन होते हैं; बिहारी तथा अन्य पूर्ववर्ती कवियों ने जिस प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं, मतिराम ने उन्हीं को पर्याप्त मात्रा में अपनी शब्दावली में व्यक्त कर दिया है । इसी प्रकार कतिपय नीति-परक दोहों में कवि रहीम से इतना प्रभावित हुआ है कि अपनी शैली को छोड़कर उन्हीं का अनुकरण करने लगा है ।

शेष विषयों—प्रकृति-वर्णन, उद्धव-प्रति गोपियों की उक्तियों तथा आश्रयदाता की प्रशस्ति के दोहों में कोई विशेष चमत्कार नही दिखाई देता; ऐसा प्रतीत होता है मानो इनका रचयिता मुक्तक परम्परा का पालन कर रहा है— इसमे अधिक कुछ नहीं।

अस्तु, सम्पूर्ण 'मतसई' को भाव और भाषा की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि दोनों की ही दृष्टि से यह प्रौढ़ कृति है; परन्तु इसके पर्याप्त दोहे ऐसे हैं जिनके ऊपर उनके पूर्ववर्ती कवियो का किसी न किमी प्रकार का प्रभाव लक्षित होता है। मतिराम से पूर्व तुलसी, रहीम और बिहारी ने अपनी-अपनी सतसइयों का प्रणयन किया था और उनमें इन्होने अपने-अपने भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये थे; तुलसी ने भक्ति-परक, रहीम ने नीति-परक और बिहारी ने नागर-शृंगार-विषयक। मतिराम ने उक्त तीनों से भाव और शैली— दोनो की दृष्टि से प्रभाव ग्रहण किया है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कह देना असंगत न होगा कि जहा उन्होने किसी से भाव ग्रहण किया है वहाँ शैली इनकी अपनी रही है और जहां किमी की शैली का अनुकरण किया है वहाँ भाव इनका अपना। उदाहरण के लिए बिहारी के कतिपय दोहे स्पष्टतः इनकी 'सतसई' को प्रभावित करते हुए दृष्टिगत होते हैं, पर उनमें से अधिकांश इनकी अपनी अभिव्यक्ति के कारण बिहारी से पृथक् ही नही कही-कही तो उनसे उत्कृष्ट भी हो गये हैं— बिहारी अपने दोहो में जहाँ सूक्ष्म अभिव्यक्ति और चमत्कार का प्रदर्शन करते है वहां मतिराम अपनी स्वच्छ अभिव्यक्ति के माध्यम से रस-प्लावित आनन्द की हलकी तरंगों का सचार कर देते हैं। इसी प्रकार तुलसी और रहीम में से उन्होंने क्रमश भक्ति और नीति-परक शैलियों को अपनाया है, पर इनमें से किसी के भाव को ग्रहण नही किया। ऐसी दशा में उनकी 'सतसई' के दोहों पर सामान्य रूप से किसी कवि के अर्थापहरण का दोष तो लगाया नही जा सकता। हाँ, यदि आग्रह-वश इन कवियों का प्रभाव कहा भी जाय तो भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मतिराम की प्रस्तुत 'सतसई' का अपना स्थान अलग है। इसमें चाहे बिहारी का-सा वाग्वैदग्ध्य न होने के कारण ध्वनि-मूलक उत्तम काव्य के दर्शन न हो पायें, पर रीतिकाल के घोर शृंगारी वातावरण में स्वच्छ और गम्भीर रुचि का जो परिचय इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, वह समस्त रीतिकालीन साहित्य में कम देखने को मिलेगा। भारतीय गृहस्थ और स्वस्थ प्रेम के चित्रण के कारण मतिराम और उनकी 'सतसई' को पृथक् स्थान देना पड़ेगा। भाषा के भोलेपन के कारण जितनी सरसता इसमें दृष्टिगोचर होती है, उतनी नागर बिहारी की 'सतसई' में नही। कहने का अभिप्राय यह है कि तुलसी, रहीम और बिहारी का प्रभाव ग्रहण करने पर भी अभिधा द्वारा अपने भावो को जिस कुशलता से मतिराम ने प्रस्तुत किया है, उसका सतसई-परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान है।

अलंकार पंचाशिका

रचना-काल—'अलंकार पंचाशिका' के रचनाकाल के विषय में किसी भी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता; इसके अन्त में कवि ने स्वयं एक दोहा लिखा है,

जिसके अनुसार इसकी समाप्ति संवत् १७४७ वि० में हुई[1]। कलेवर की दृष्टि से यह ग्रन्थ अपने आपमें अधिक बड़ा नहीं है, अतः इसकी रचना में एक वर्ष से अधिक समय लगने की कम सम्भावना है।

प्रामाणिकता—'अलंकार पंचाशिका' के अनेक छन्दों में मतिराम का नाम मिलता है, अतएव यह तो निश्चित है कि इसकी रचना मतिराम नामधारी किन्हीं कवि ने की, पर ये 'रसराज' और 'ललितललाम' की रचना करने वाले ही मतिराम हैं, इसमें तो सन्देह किया ही जा सकता है। इधर पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने इसे प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न इसी नाम के किसी अन्य कवि की रचना ठहराया है[2], इससे और भी इस पुस्तक की प्रामाणिकता पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। दीक्षितजी ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि में कोई ठोस प्रमाण नहीं दिया—केवल रहीम के यौवनकाल से लेकर इस ग्रन्थ के रचना-काल तक के दीर्घ समय को एक मतिराम का रचना-काल होना असम्भव कहकर अपना निर्णय दिया है। इससे पूर्व के अध्याय में हमने मतिराम के रचना-काल का आरम्भ संवत् १६७६ वि० के आस-पास सिद्ध किया है, अतः इससे दीक्षितजी की उक्त धारणा का निराकरण तो हो जाता है, किन्तु फिर भी 'अलंकार पंचाशिका' की प्रामाणिकता के लिए आवश्यक तथ्यों और तर्कों की अपेक्षा रह जाती है। इसमें सन्देह नही कि इसको प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए हमारे पास ऐसा कोई ठोस ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं, जिसके आधार पर निर्णय दिया जा सके—प्रसिद्ध ग्रन्थों में से भी कोई छन्द इसमें उद्धृत नहीं मिलता, केवल वर्ण्य-वस्तु, भाव और भाषा ही अपने आपमें एक मात्र उपाय हो सकता है। 'अलंकार पंचाशिका' में सिवाय एक छन्द के शृंगारिक वर्णन भी नही, सबके सब आश्रयदाता की प्रशस्ति के ही छन्द हैं। ऐसी दशा में 'ललितललाम' के उन्ही ६० छन्दों से इसके छन्दों की तुलना (उक्त आधार से) करते हुए किसी निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयास किया जायगा, जिनमें महाराज भाऊसिंह की प्रशंसा की गई है।

अस्तु, वर्ण्य-वस्तु, भाव और भाषा में से सर्वप्रथम वर्ण्य-वस्तु और भावों के आधार पर 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' की तुलना की जाय तो विदित होगा कि दोनों ही ग्रन्थों में कवि का उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं के दान, वीरता और कीर्ति का वर्णन करना रहा है। दान का वर्णन करते समय ललितललामकार केवल हाथियों के दान का ही उल्लेख करता है, 'अलंकार पंचाशिका' में भी ज्ञानचन्द के उसी प्रकार के दान का ही वर्णन है। इन दोनों ग्रन्थों के दान-वर्णन की विशेषता यह रही है कि आश्रयदाताओं तथा उनके हाथियों के विशेषण और उपमान लगभग एक-से ही हैं—'ललितललाम' में भाऊसिंह को यदि 'पुहुमी का पुरहूत' कहा गया है[3]

१. दे० **संवत् सत्रह से जहाँ सैंतालिस नभमास।**
अलंकार पंचासिका पूरन भयो प्रकास॥११६॥
(अलंकार पंचाशिका)

२. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० २०-२१।

३. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या—४६, ६४, १०३, ३७८।

तो 'अलंकार पंचाशिका' में ज्ञानचन्द को 'मही का मघवा'[1] ; बूँदी नरेश की कीर्ति यदि सभी दिशाओं में फैल रही है[2], तो कुमायूँ पति का यश भी 'जहान में जाहिर है'[3] ; दोनों ही ऐसे हाथियों का दान करते हैं, जिनके ऊपर जरकसी की रंग-बिरंगी झूलें पड़ी हुई हैं[4]; जिनके गण्डस्थलों से छलकते हुए मदजल को पीने भौरों की भीड़ एकत्र रहती है[5]; तथा जो अपने धक्कों मे बड़े-बड़े गढ़ों को ढा देते हैं[6]। वास्तव में दान के हेतु इन दोनों महीपतियों के हाथ सदा ऊँचे ही उठे रहते हैं[7]। इसी प्रकार दोनों नरपतियों का तेज और वीरता भी किसी से छिपी नहीं है[8]। भाऊसिंह ने बड़े-बडे वैरियों को इतना आतंकित कर रखा है कि वे सदैव अपनी वनिताओं सहित सघन जंगलों में छिपे रहते हैं और जब कभी रिपु-पत्नियाँ इस नरिंद के नगाड़ों की ध्वनि सुन लेती हैं तो रो-रो कर अपने 'नाहो' से सन्धि कर लेने की प्रार्थना करती हैं—उन्हें समझाती हैं कि भाऊ दीवान की शरण में पहुँचने से ही कल्याण होगा ; अथवा बिलखती हुई वनों में मारी-मारी फिरती हैं[9] ; ज्ञानचन्द महाबाहु का आतंक भी ऐसा ही है[10]।

जहाँ तक 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' के छन्दों में भाव-साम्य का प्रश्न है, वह अनेक छन्दों में देखा जा सकता है ; यदि किसी स्थान पर कवि का अभीष्ट उनमें परिवर्तन करने का रहा है तो वह भी उनमे स्पष्ट हो जाता है[11]। परन्तु

---

१. दे० 'अलंकार पंचाशिका', छन्द संख्या—२८, ६३, ८६, १११।

२. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या—६६, ७९. १०३, १०८, १५८, १६५, १७१, २३५, २४८, २५०, २५६, २६०, ३९० ।

३. दे० 'अलंकार पंचाशिका', छन्द संख्या—२१, ८०, ८६, ९७, ११३।

४. दे० 'ललितललाम' में ७१, १२२, १४० संख्या के छन्द ; और 'अलंकार पंचाशिका' में २४ संख्या का छन्द ।

५. दे० 'ललितललाम' में ७१, ७६, १२०, १२२, १२९, १४० संख्या के छन्द और 'अलंकार पंचाशिका' में ५७ संख्या का छन्द ।

६. दे० 'ललितललाम' में ७१, १०५, १२२, १४०, ३३० संख्या के छन्द और 'अलंकार पंचाशिका' में ५७ संख्या का छन्द ।

७. दे० 'ललितललाम' में ५२, ५६, ११९, २६५ संख्या के छन्द और 'अलंकार पंचाशिका' में ३७, ७२ संख्या के छन्द ।

८. दे० 'ललितललाम' में ४१, ४७, ४९, ६०, ७४, १०३, १०८, ११९, २५६ संख्या के छन्द और 'अलंकार पंचाशिका' में २१, २६, ३०, ४०, ५१, ५३, ५७, ५९, ६५, ९२, १०२ संख्या के छन्द ।

९. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या—१५८, २६६, २७६, ३९० ।

१०. दे० 'अलंकार पंचाशिका', छन्द संख्या—३५, ४३, ४९, ५३, ५७, ५९, ६१, ८८, ९६, १०५, १११ ।

११. तुलना के लिए देखिए—

(क) **चाहत सत पावत सहस, गज पावत हय चाहि ।**
भावसिंह यों दानि हैं जगत सराहत जाहि ।।३०६।।
(ललितललाम)

यहाँ यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि इस भाव-साम्य का कारण 'पंचाशिका' के प्रणेता द्वारा 'ललितललाम' से प्रभाव-ग्रहण रहा हो। निश्चय ही यह बात सम्भव हो सकती है, किन्तु इन भावों की प्रौढ़ता, गाम्भीर्य तथा उनकी अभिव्यंजना शैली अपने आपमें ऐसी है, जिससे 'पंचाशिका' का कवि 'ललितललाम' के रचयिता से भिन्न नहीं जान पड़ता।

भाषा की दृष्टि से उक्त दोनों ग्रन्थों में गाम्भीर्य, प्रवाह और प्रौढ़ता की समानता मिलती है। जो शब्द मतिराम ने 'ललितललाम' के अन्तर्गत प्रयुक्त किये है, जैसे—निकाई, बखत बिलन्द, जेल, मजलिस, गनीम, जहान, जाहिर इत्यादि वे सभी अपने उन्हीं अर्थों में 'अलंकार-पंचाशिका' में भी उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार क्रियाओं का प्रयोग, यथा—पाइयतु है, कीजियतु है इत्यादि, जो मतिराम की भाषा की विशेषता है, वह भी 'पंचाशिका' के अनेक स्थलो पर देखा जा सकता है। पुस्तक में सर्वत्र प्रसाद-गुण मिश्रित ओज-गुण की प्रधानता है ; 'ललितललाम' की भी यही विशेषता है। विकास की दृष्टि से भी भाषा और विवेचन—दोनों में ही 'अलंकार पंचाशिका' 'ललितललाम' की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ प्रतीत होती है। ऐसी दशा में इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि 'अलंकार पंचाशिका' प्रसिद्ध मतिराम की ही रचना है, किसी अन्य मतिराम की नहीं। इसकी पुष्टि इसके

घोरे चाहि आवत हैं गिरि अवगाहि तिन्है
एते बड़े डील के पील नील घन से। (३०)

(अलंकार पंचाशिका)

(ख **ऐसें सब खलक तं सकल सकिलि रही**
राव में सरस जैसे सलिल दरयाव में। (४१)

(ललितललाम)

औरन के जस तेरे में मिलत ऐसे
जैसे सुरसरि में सलिल सरितान के। (१२)

(अलंकार पंचाशिका)

(ग) **गायनि कौं बकसी कसाइनि की आयु सब**
गायनि की आयु सो कसाइन कौं बकसी। (२ २)

(ललितललाम)

दरद गरीबन को बकसौ गनीमन कौ
गनीमन को गरब गरीबन कौं बकसौ। (६५)

(अलंकार पंचाशिका)

(इसी प्रकार 'ललितललाम' के ७६, १७८, २३६, २७६ संख्याओं के छन्दों और 'अलंकार पचाशिका' के क्रमशः ५५, ६८, ३५ संख्या के छन्दों में भाव-साम्य देखा जा सकता है। 'पंचाशिका' का संख्या—१ का छन्द 'सतसई' के संख्या—७०० के छन्द के साथ मिलाने से उसके निकट बैठता है।)

उन छन्दों से भी हो जाती है, जिनमें मतिराम ने अपने आश्रयदाता को 'लाल' शब्द से अभिहित किया है[1]—उस समय इनकी अवस्था ज्ञानचन्द से बहुत अधिक रही होगी।

'अलंकार पंचाशिका' नाम से ही यह बोध होता है कि इसके अन्तर्गत कम से कम ५० अलंकारों का वर्णन होगा, परन्तु गणना करने पर इसमें केवल ४० अलंकारों का ही वर्णन मिलता है—भेदोपभेद मिलाकर भी ५० नहीं होते, केवल ४८ ही बैठते हैं[2]। इधर 'पंचाशिका' के छन्दों की क्रम संख्या भी अत्यन्त अव्यवस्थित है ; तथा एक छन्द ऐसा भी है, जिसमें दो अलंकारों का अन्तर स्पष्ट किया गया है[3]—सम्भव है ग्रन्थकार ने इस प्रकार के दोहे और भी लिखे हों। इन सभी बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस पुस्तक में अलंकार-निरूपण सम्बन्धी एक दर्जन से ऊपर छन्द अवश्य ही रहे होंगे, जो इस समय उपलब्ध नहीं।

ग्रन्थ-परिचय—'अलंकार पंचाशिका' की प्रस्तुत उपलब्ध हस्तलिखित प्रति के अन्तर्गत कुल मिलाकर ११६ छन्द हैं, जिनमें से प्रथम १० छन्द क्रमशः आश्रयदाता के कल्याणार्थ स्तुति, आश्रयदाता के परिचय और कवि-निवेदन सम्बन्धी हैं तथा अन्तिम दोहा ग्रन्थ के रचना-काल के विषय में है ; शेष १०५ छन्दों में अलंकार-निरूपण किया गया है। अलंकार-निरूपण के इन छन्दों में ५० दोहे लक्षण-परक हैं तथा ४८ कवित्तों और ७ सवैयों के क्रम से ५५ छन्द अलंकारों के उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये गए हैं। उदाहरणों में एक शृंगारिक कवित्त के सिवाय सबके सब छन्द आश्रयदाता की प्रशस्ति के हैं। प्रति के आरम्भ में 'श्री जिनाय नमः' लिखा हुआ है, जिससे विदित होता है कि लिपिकार जैन मतावलम्बी है। भाषा की दृष्टि से यद्यपि प्रत्येक छन्द अपने आपमें प्रौढ़ है, फिर भी अधिकांश छन्दों में—विशेषतः कवित्त और सवैयों में लिपिकार की असावधानी के कारण शुद्ध पाठ नहीं मिल पाता।

ऊपर यह उल्लेख किया जा चुका है कि 'अलंकार पंचाशिका' का वर्ण्य-विषय मूलतः ५० अलंकार ही रहे हैं, जिनमें से केवल ४० अलंकारों का ही वर्णन प्राप्त होता है। इन अलंकारों को देखने से स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार ने किसी आधार पर इनका चयन नहीं किया—प्रमुख अलंकारों की अपेक्षा साधारण अलंकारों को

---

१. दे० 'अलंकार पंचाशिका', छन्द संख्या—५१।

२. १. उपमा, २. अनन्वय, ३. व्यतिरेक, ४. गुणवत, ५. प्रतीप (दो भेद ही), ६. प्रहर्षण (दो भेद ही), ७. विभावना (दो भेद ही), ८. अतिशयोक्ति (सम्बन्ध, अक्रम और अत्यन्त), ९. स्वभावोक्ति, १०. विनोक्ति, ११. विशेषोक्ति, १२. वक्रोक्ति, १३. उल्लेख (दोनों भेद), १४. असंगति, १५. विषम, १६. परिकर, १७. स्मृति. १८. भ्रान्ति, १९. सन्देह, २०. परिवृत, २१. अधिक, २२. दीपक, २३. सार, २४. अपह्नुति (शुद्ध, भ्रान्त, छेक), २५. अन्योन्य, २६. आक्षेप, २७. रूपक, २८. विशेष, २९. असम्भव, ३०. तुल्ययोगिता, ३१. यथासांख्य, ३२. परिकरांकुर, ३३. निन्दास्तुति, ३४. समाधि, ३५. मीलित, ३६. सामान्य, ३७. उन्मीलित, ३८. उत्प्रेक्षा, ३९. अर्थान्तरन्यास, और ४०. पर्यायोक्ति।

३. दे० 'अलंकार पंचाशिका', छन्द संख्या—१०३।

अधिक प्रधानता दी गई है तथा प्रतीप, प्रहर्षण, विभावना, अतिशयोक्ति और अपह्नुति जैसे प्रसिद्ध अलंकारों के भी उपमेयों का वर्णन नहीं किया गया। अतः इससे यही सम्भावना की जा सकती है कि मतिराम ने ज्ञानचन्द की प्रशंसा में स्फुट छन्द लिखे होंगे, बाद में उनमें सन्निविष्ट अलंकारों पर लक्षणों की रचना कर पुस्तक की ग्रन्थना कर डाली होगी। यदि उनका उद्देश्य आरम्भ में पुस्तक लिखने का रहा होता तो अवश्य ही वे उन्ही अलंकारों को स्थान देते, जिनका ज्ञान साधारण पाठक के लिए आवश्यक होता है। वैसे भी उन्हीं के शब्दों में अलंकारों की अपेक्षा ज्ञानचन्द के गुणों का उद्घाटन करना उनका प्रथम उद्देश्य रहा है[1]।

जो हो, 'पंचाशिका' के विवेचन को देखने से ज्ञात होता है कि मतिराम ने 'कुवलयानन्द' और मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का ही सहारा लिया है। परन्तु इस निरूपण की जो सबसे बड़ी विशेषता रही है, वह यह कि 'ललितललाम' की अपेक्षा यहाँ पर उनका झुकाव स्वच्छता और संक्षिप्तता की ओर अधिक रहा है। प्रायः जो लक्षण दिये गये हैं, वे अपने आप में उक्त दोनों ग्रन्थों—विशेषतः 'कुवलयानन्द' के लक्षणों के अनुवाद मात्र हैं; जहाँ दो अलंकारों का भेद स्पष्ट किया गया है, वहाँ 'काव्यप्रकाश' कवि के सामने रहा है। सामान्यतः इस पुस्तिका से मतिराम के किसी विशिष्ट दृष्टिकोण का पता नहीं चलता।

कवित्व की दृष्टि से 'पंचाशिका' का अध्ययन किया जाय तो इसके छन्द 'ललितललाम' से दूर नहीं पड़ते। इनमें ज्ञानचन्द के दान और दान के हाथियों का वैसा ही वर्णन है जो 'ललितललाम' में रहा है। हाँ, एक विशेषता अवश्य ही दृष्टव्य है। 'ललितललाम' के अन्तर्गत राव भाऊसिह की वीरता का वर्णन कम हुआ है उनके दान और तेज का अधिक है; 'पंचाशिका' में ज्ञानचन्द की वीरता का वर्णन अत्यन्त ओजपूर्ण और स्वाभाविक हुआ है। इस प्रकार मतिराम ने वीर-रस की कविता के सभी अंगों—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर का वर्णन प्रस्तुत किया है। दयावीर का वर्णन बहुत कम मिलता है, सम्भवतः मतिराम इस वर्णन को पसन्द नहीं करते—इसमें उतना ओज और सौन्दर्य भी नही आ पाता। 'पंचाशिका' के सभी छन्दों को पढ़ जाइये इनमें उसी प्रकार का प्रसाद-सम्पन्न ओज गुण मिलेगा जो 'ललितललाम' के इस विषय के छन्दों में उपलब्ध होता है—भाषा भी अपने आप में अत्यन्त प्रौढ़ है, वैसे 'ललितललाम' की अपेक्षा कवि का झुकाव संस्कृत शब्दावली को ग्रहण करने के अतिरिक्त फारसी शब्दावली को अपनाने की ओर भी रहा है—इससे ओज गुण और भी प्रखर हो उठा है। संक्षेप में, यद्यपि मतिराम को वीर रस

---

१. दे० ग्यानचन्द के गुन घने गनै भनै गुनवन्त।
बारिद के मुकतान को कौने पायो अन्त ॥८॥
तदपि यथामति सौं कह्यौ शब्द अर्थ अभिराम।
अलंकार पंचाशिका रची रुचिर 'मतिराम' ॥९॥
(अलंकार पंचाशिका)

का कवि तो 'ललितललाम' ही सिद्ध कर देता है, फिर भी 'अलंकार पंचाशिका' से इस तथ्य की ओर पुष्टि हो जाती है।

'छन्दसार पिंगल' और 'वृत्तकौमुदी'

मतिराम के 'छन्दसार पिंगल' नामक ग्रन्थ का उल्लेख सर्वप्रथम ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने किया था ; तब से विद्वान् उनके 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर बिना किसी संकोच के यह स्वीकार करते चले आ रहे हैं कि इसकी रचना फतहशाह बुन्देला के आश्रय में हुई[1] — पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने तो बुन्देलखण्ड के इतिहास में इन महाराज का नाम न होने पर भी अनुमान से समय निश्चित कर दिया है[2]। पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने यद्यपि अपनी खोज में प्राप्त 'वृत्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ को ही मतिराम की पिंगल-विषयक रचना सिद्ध करने की चेष्टा की है, फिर भी विद्वानों में प्रचलित भूषण और मतिराम के बन्धुत्व सम्बन्धी धारणा इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार न कर सकी[3]। दीक्षितजी भी अपनी मान्यताओं के विषय में अनिश्चित होने के कारण अब यह धारणा बना बैठे हैं कि इस ग्रन्थ के रचयिता रसराजकार से भिन्न हैं। बात वास्तव में यह है कि इस पिंगल ग्रन्थ का नाम 'वृत्तकौमुदी' ही नहीं, मतिराम के अपने शब्दों में इसका नाम 'छन्दसार संग्रह' भी है[4], जिससे यदि सेंगरजी को इसके नाम के विषय में भ्रम हो गया हो तो आश्चर्य नहीं। वैसे भी यह कल्पना सामान्यतः नहीं की जा सकती है कि बार-बार संस्कृत की दुहाई देने वाला मतिराम अपने पिंगल ग्रन्थ का 'छन्दसार पिंगल' जैसा सदोष नाम रखे —'छन्द' और 'पिंगल' की पुनरावृत्ति शिवसिंहजी ने ही की है। मिश्रबन्धुओं का यह दावा कि उन्होंने 'छन्दसार पिंगल' के प्रथम दो-चार पृष्ठ देखे हैं[5], अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु इन पृष्ठों का रचयिता प्रसिद्ध मतिराम है तथा इनकी रचना शम्भुनाथ सोलंकी के आश्रय में हुई, इसमें सन्देह है। मिश्र महोदयों का यह कथन कि उन्होंने किस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला था, स्मरण नहीं[6], इस सन्देह की और भी पुष्टि कर देता है। इधर काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की जो प्रति सुरक्षित है, उसमें कहीं भी 'छन्दसार पिंगल' नहीं लिखा हुआ ; आश्रयदाता का नाम भी स्वरूपसिंह बुन्देला है। 'वृत्तकौमुदी' के छन्दों से इस ग्रन्थ का मिलान करने पर कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे

१. दे० वही 'शिवसिंह सरोज', पृ० ४३२-३३।
२. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', पृ० २३१।
३. 'वृत्तकौमुदी' और भूषण के 'शिवराज भूषण' के अनुसार मतिराम और भूषण के पिता और गोत्र का नाम भिन्न बैठता है।
४. दे० **'छन्दसार संग्रह' रच्यो सकल ग्रन्थ मत देखि।**
बालक कविता सिख को, भाषा सरस विसेषि ॥
(प्रथम प्रकाश)
५. दे० 'हिन्दी नवरत्न' (तृतीय संस्करण), पृ० ४३२।
६. दे० 'माधुरी' (११ मई, सन् १९२४ ई०) में मिश्रबन्धुओं का 'महाकवि भूषण और मतिराम' शीर्षक का लेख, पृ० ४४४।

'कौमुदी' के अन्तर्गत एक छन्द में फतहशाह के नाम का भी उल्लेख हुआ है[१], अतः इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनके आश्रय में किन्हीं भिन्न मतिराम ने पिंगल ग्रन्थ की रचना की—निश्चय ही एक मतिराम है और सरोजकार को उनका पिंगल ग्रन्थ न देखने के कारण आश्रयदाताओं के विषय में भ्रम हुआ है। शिवसिंहजी ने अपने ग्रन्थ के अन्तर्गत 'पिंगल' के जो दो छन्द उद्धृत किये हैं उनमें से एक सेनापति का है और दूसरा 'वृत्तकौमुदी' का; अतः इससे भी हमारी धारणा की पुष्टि होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'वृत्तकौमुदी' (जिसका नाम 'छन्दसार संग्रह' भी है) ही मतिराम की परम्परा से प्रसिद्ध पिंगल-सम्बन्धी रचना है।

छन्दसार संग्रह

रचना-काल—'छन्दसार संग्रह' की रचना के विषय में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं। मतिराम ने स्वयं लिखा है कि इसकी रचना संवत् १७५८ वि० के कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की त्रियोदशी को आरम्भ हुई[२]। अतः यही इस ग्रन्थ का रचना-काल माना जायगा।

प्रामाणिकता—परम्परा से यह प्रसिद्ध है कि मतिराम ने पिंगल-विषयक ग्रन्थ की रचना की थी और 'छन्दसार संग्रह' से इस बात की पुष्टि भी हो जाती है[३]। परन्तु ये 'रसराज' के प्रणेता ही हैं, अथवा कोई और मतिराम हैं, यह प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा होता है—विशेषतः उस दशा में जबकि पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित ने अत्यन्त विश्वास के साथ 'अलंकार पंचाशिका' और इस ग्रन्थ को किन्हीं परवर्ती मतिराम की रचना कह दिया है[४]। यह सत्य है कि दीक्षितजी की इस मान्यता का खण्डन करने के लिए हमारे पास कोई प्रामाणिक आलेख नहीं; फिर भी इस सम्बन्ध में 'छन्दसार संग्रह' का ही यह छन्द द्रष्टव्य है।

छाता एकु जैसो सिवराज भयो तैसो अब
फतेसाहि श्रीनगर साहिबी सभाजु है।
जैसो चितवर धनी राना नरनाह भयो
तैसोई कुमाऊँ पति पूरो रज लाजु है॥
जैसे जयसिंह जसवन्त महाराज भये
जिनकी महीं मैं अजौं बाढ़ी बल साजु है।
मित्र साहि नन्दन कुलचन्द जग भयो उदै—
बुन्देल बंस मैं सरूप महराजु है॥
(पंचम प्रकाश)

---

१. दे० पंचम प्रकाश।

२. दे० **संवत् सत्रह सौ बरस, अट्ठावन सुभ साल।**
कातिक शुक्ल त्रियोदसी, करि विचार तिहिकाल॥ (पंचम प्रकाश)

३. दे० **त्यों ही नृप को सुजस सुनि आयौ कवि 'मतिराम'।**
छन्दसार संग्रह रच्यौ सकल ग्रन्थ मति देखि॥ (पंचम प्रकाश)

४. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० २०-२१।

इससे स्पष्ट ही है कि स्वरूपसिंह बुँदेला के आश्रय में आने से पूर्व मतिराम अवश्य ही शिवाजी, फ़तहशाह, कुमायूँ-नरेश (ज्ञानचन्द), जयसिंह और जसवन्तसिंह के सम्पर्क में आ चुके होंगे। कुमायूँ-नरेश ज्ञानचन्द के लिए लिखी गई उनकी 'अलंकार-पंचाशिका' इस अनुमान को और भी पुष्ट कर देती है। चूँकि यह पुस्तिका भाव, भाषा-शैली एवं वर्ण्य-वस्तु के आधार पर रसराजकार की ही कृति ठहरती है, अतएव यह कहा जा सकता है कि 'छन्दसार, संग्रहकार प्रसिद्ध मतिराम ही हैं।

दूसरे यदि 'अलंकार पंचाशिका' को दृष्टि में न भी रखें तो भी 'छन्दसार संग्रह' अन्य तथ्यों के आधार पर रसराजकार की रचना सिद्ध होती है। 'छन्दसार संग्रह' के उक्त छन्द का रचयिता जिन महाराज जयसिंह और जसवन्तसिंह से अपने परिचय की घोषणा करता है, वह प्रसिद्ध मतिराम से भिन्न नहीं हो सकता। कारण, इतिहास इस बात का साक्षी है कि महाराज जसवन्तसिंह राव भाऊसिंह के बहनोई थे[1] तथा महाराज जयसिंह भी उनके घनिष्ठ मित्रों में से थे—शिवाजी के विरुद्ध संवत् १७२१ वि० में सैनिक अभियान दोनों ने मिलकर किया ही था[2]; अतः यह स्वाभाविक ही है कि जसवंतसिंह और जयसिंह बूँदी आते-जाते होंगे और इस प्रकार संवत् १७१८-२१ वि० के बीच 'ललितललाम' की रचना के समय मतिराम की उनसे भेंट हुई होगी। इसी प्रकार इस छन्द में महाराज शिवाजी का जो उल्लेख हुआ है, उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है। 'सतसई' में प्रसिद्ध मतिराम ने महाराज शिवाजी के प्रति अपनी श्रद्धा जिस रूप में व्यक्त की है, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये शिवाजी से मिले थे। किंवदन्तियों से भी दोनों के मिलने की बात प्रसिद्ध है। ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'सतसई' और 'छन्दसार संग्रह' के रचने वाले एक नाम के दो भिन्न व्यक्ति महाराज शिवाजी से मिले थे। निश्चय ही एक मतिराम थे और वह प्रसिद्ध मतिराम ही होने चाहिये।

यहाँ इस सम्बन्ध में यद्यपि यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'छन्दसार संग्रह' का रचयिता जब प्रसिद्ध मतिराम ही था तो उसने जयसिंह और जसवन्तसिंह के साथ राव भाऊसिंह हाड़ा तथा भोगनाथ का नामोल्लेख क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में अनुमान से केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भोगनाथ जैसे विलासी व्यक्ति का नाम अपने वीर-ग्रन्थ में देना उचित न समझा होगा। या यह भी हो सकता है कि बाद में उसके प्रति इनकी अच्छी भावना न रही हो। ऐसे ही, भाऊसिंह के विषय में भी यह बात कही जा सकती है।

इन तथ्यों के अतिरिक्त भी यदि वर्ण्य-वस्तु के आधार पर 'छन्दसार संग्रह' की परीक्षा की जाय तो भी यह विदित होगा कि 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' के समान ही मतिराम ने इसमें भी अपने आश्रयदाता के दान और पराक्रम का वर्णन करने के साथ-साथ उसके वैभव—विशेषतः मदजल गिराने वाले विराट् आकार के गजों का सजीव चित्रण किया है। ऐसे ही भाषा-शैली की दृष्टि से

---

१. दे० वही 'मआसिरुल् उमरा', पृ० २५८।
२. दे० वही 'हिस्ट्री ऑव औरंगज़ेब' भाग ४ (द्वितीय संस्करण), पृ० ७४-७५।

भी यह ग्रन्थ उक्त दो ग्रन्थों के अत्यन्त निकट है—साधारणतः उसमें संस्कृत-बहुला शब्दावली का ही प्रयोग किया गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'छन्दसार संग्रह', 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' के निकट होने तथा अन्य ऐतिसिक तथ्यों के कारण, 'रसराज' के रचयिता—प्रसिद्ध मतिराम—की ही कृति है।

हस्तलिखित प्रतियाँ—'छन्दसार संग्रह' इस समय हस्तलिखित रूप में केवल दो स्थानों पर ही उपलब्ध है—१. आर्य भाषा पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ; और २. जिला फतेहपुर (के निकट एक ग्राम-पुस्तकालय) में। ये दोनों ही हस्तलिखित ग्रन्थ मूल-ग्रन्थ की प्रतिलिपि मात्र हैं। सभा के पास जो प्रति सुरक्षित है उसका लिपिकाल संवत् १८६२ वि० है। परन्तु यह भी अपने आप में पूर्ण नहीं है—केवल १६ पृष्ठ ही देखने को मिलते हैं। इनमें जो कुछ भी लिखा गया है वह इतना अपाठ्य है कि न इससे यह बोध होता है कि मूल ग्रन्थ कितने आकार का रहा होगा और न यही ज्ञात हो पाता है कि वर्ण्य-विषय का क्रम क्या है। दूसरी प्रति इसकी अपेक्षा अवश्य ही पूर्ण कही जा सकती है—यद्यपि हमें इसकी पूर्णता पर भी संदेह है, कारण कहीं पर छन्द का नाम है तो लक्षण उदाहरण दोनों ही गायब हैं और कहीं पर केवल लक्षण अथवा केवल उदाहरण ही देखने को मिलता है। इसका लिपिकाल पूर्वोक्त प्रति से ४८ वर्ष पूर्व का है। प्रति के अन्तिम पृष्ठ से स्पष्ट है कि लिपिकार कोई रामैही निवासी नन्दराम भाट है। पाठ की दृष्टि से यह भी अत्यन्त अशुद्ध है—प्रायः जिला फतेहपुर के आस-पास की बोली के चलते शब्दों की मूलब्रज शब्दों के स्थान पर भरमार कर दी गई है—जैसे 'एक' के लिए 'याकु'। फिर भी इससे इतना ज्ञात अवश्य हो जाता है कि मूल ग्रन्थ में पाँच प्रकाश थे तथा अमुक छन्द का अमुक लक्षण और उदाहरण है। यदि दोनों प्रतियों की सहायता ली जाय तो मतिराम के छन्द-विवेचन के मूल्यांकन में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। वैसे आरम्भिक २०-२५ पृष्ठ तो इतने अशुद्ध एवं अपूर्ण हैं कि न तो यह ज्ञात हो पाता है कि इसमें मंगलाचरण सम्बन्धी कितने छन्द रहे होंगे तथा कितने छन्द आश्रयदाता और कवि-परिचय से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

ग्रन्थ-परिचय—'छन्दसार संग्रह' का दूसरा नाम 'वृत्तकौमुदी' भी है। इसीलिए ग्रन्थकार ने इसके अध्यायों को 'प्रकाश' संज्ञा दी है। प्रत्येक प्रकाश के अन्त में भी इस ग्रन्थ का 'वृत्तकौमुदी' नाम ही मिलता है। 'छन्दसार संग्रह' की आरम्भ में संज्ञा सम्भवतः इसलिए दी गई है, क्योंकि लेखक ने छन्द-विवेचन सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों से सार रूप में मुख्य-मुख्य छन्द ग्रहण कर इसके अन्तर्गत प्रस्तुत किये हैं।

जो हो, 'छन्दसार संग्रह' अथवा 'वृत्तकौमुदी' में पाँच प्रकाश हैं। इनमें क्रमशः गण, वर्णिक छन्द, मात्रिक छन्द, प्रत्यय और दण्डकों का विवेचन अथवा निरूपण किया गया है। प्रथम प्रकाश के अन्तर्गत ग्रन्थकार गणेश और सरस्वती की वन्दना के पश्चात् अपने आश्रयदाता स्वरूपसिंह बुन्देला के दान की प्रशंसा करता हुआ अपने आगमन और ग्रन्थारम्भ की सूचना देता है। उसके पश्चात् वर्णिक गणों के स्वरूप उनके क्रम, देवता, फल, ग्रह, गुण, पित्ता, रस, रंग, देश, पुरुषार्थ, दिशामुख, वाहन,

तेज, जाति और प्रकृति का वर्णन करने के उपरान्त देवनागरी वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण का शुभाशुभ फल, लिंग-भेद इत्यादि का वर्णन करता है। अन्त में मात्रिक गणों तथा लघु-गुरु एवं गणों के विभिन्न नामों का उल्लेख किया गया है।

द्वितीय प्रकाश में एक से लेकर २६ अक्षरों तक के १४७ सम वर्णिक छन्दों का वर्णन किया गया है, जबकि तृतीय में १ मात्रा से ३२ मात्रा तक के सम मात्रिक छन्दों के तथा इसके पश्चात् अर्धसम और विषम मात्रिक छन्दों के क्रम से ५५ छन्दों का वर्णन है। इनमें ३५ सम मात्रिक और शेष अर्धसम और विषम एवं दण्डक छन्द हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन छन्दों में से अधिकांश का आधार 'वृत्तरत्नाकर' (भट्ट केदार), 'छन्दोनुशासन' (हेमचन्द्र) तथा 'प्राकृतपैंगलम्' रहे हैं। शेष में से कतिपय इतर ग्रन्थों में मिल जाते हैं, जब कि दूसरे या तो उनकी अपनी उद्भावना हैं या फिर किसी ऐसे पूर्ववर्ती हिन्दी-ग्रन्थ से गृहीत हैं, जो आज उपलब्ध नहीं। मात्रिक छन्दों में कतिपय ऐसे हैं, जो उस समय के काव्य में प्रचलित थे। इन सभी छन्दों के वर्णन का क्रम कवि का अपना है।

चतुर्थ प्रकाश में प्रत्यय के सभी भेदों का जहाँ वर्ण और मात्रा के अनुसार संक्षिप्त वर्णन है, वहाँ पंचम प्रकाश में केवल तीन वर्णिक दण्डकों—अनंगशेखर, घनाक्षरी और रूप घनाक्षरी को ही प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकाश के अन्त में कवि ने अपना वंश-परिचय भी दिया है।

निवेदन किया जा चुका है कि मतिराम के छन्द सम्बन्धी लक्षणों का आधार संस्कृत-प्राकृत के लक्षण रहे हैं और यही कारण है कि इनमें एकरूपता नहीं—सुविधानुसार दोहा, चौपाई, सवैया और छप्पय इन सभी छन्दों का उपयोग कर लिया गया है। वैसे सिवाय 'अरिल्ल' के भ्रामक लक्षण के उनके सभी लक्षण अपने आपमें इतने स्वच्छ और सुबोध हैं कि साधारण पाठक अत्यन्त सरलता से इन्हें समझ सकता है। यदि इनमें किसी प्रकार से बात स्पष्ट नहीं हो पाई तो उदाहरणों ने प्रायः उस अभाव की पूर्ति कर दी है। कहना न होगा कि लक्षणों में उल्लिखित विशिष्ट नियमों के अनुसार उदाहरणों की रचना ही नहीं की गई, इसके साथ वीर रस तथा राज-विषयक-रति का भी सम्यक् परिपाक हुआ है। उनकी सफलता का मूल-रहस्य ही अपने कवित्त्व की यथासम्भव रक्षा करने में निहित है। इसीलिए 'मंगलमहाश्री' नामक छन्द के उदाहरण में वे नियमोल्लंघन कर गये हैं—उसे इन्होंने २६ अक्षरों के स्थान पर २८ का करके दण्डक बना दिया है। संक्षेप में स्वच्छ और सुबोध लक्षणों तथा नियमबद्ध एवं कवित्वपूर्ण उदाहरणों की रचना के लिए वे श्रेय के पात्र हैं। उक्त लक्षण और उदाहरण में यदि वे किसी प्रकार की त्रुटि कर भी गये हैं तो इस विशालकाय ग्रन्थ की सफलता की तुलना में वह उपेक्षणीय है। काव्यशास्त्र के इतर अंगों के विवेचन की अपेक्षा इस प्रसंग में उनकी उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों का यथास्थान उल्लेख कर उन्होंने अपनी सूक्ष्म आलोचक दृष्टि का परिचय दिया है।

'बरवै नायिका भेद' और मतिराम

'बरवै नायिका भेद' के सम्बन्ध में यह बहुत पूर्व से ही प्रसिद्ध है कि रहीम ने इसकी रचना की थी तथा यह हिन्दी में नायिका-भेद के आदि ग्रन्थों में से है। परन्तु अब तक इसकी जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उन सब में मतिराम-कृत 'रसराज' के नायिका भेद सम्बन्धी ५० दोहे लक्षण स्वरूप उद्धृत मिलते हैं। इससे याज्ञिक-त्रय[1], पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित[2] आदि विद्वानों ने यह कल्पना की है कि मतिराम ने ही रहीम के स्फुट बरवों का अपने दोहों सहित सम्पादन किया होगा। यह बात यद्यपि असम्भव नहीं, पर प्रमाण के अभाव में मान्य नहीं हो सकती। दीक्षितजी ने इस विषय में जो यह तर्क दिया है कि 'फूलमंजरी' से पूर्व रहीम ने उक्त दोहों की रचना कर डाली होगी और मतिराम ने तभी अपने आश्रयदाता रहीम के 'बरवै नायिका भेद' का सम्पादन किया होगा[3], वह अपने आपमें इसलिए संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'फूलमंजरी' की भाषा इन दोहों की अपेक्षा अत्यन्त अप्रौढ़ होने के कारण बाद की नहीं मानी जा सकती। वैसे भी यह हास्यास्पद-सा लगता है कि इस वयोवृद्ध कवि की कविता का सम्पादन एक नवोदित कवि करे। मेरे विचार में रहीम ने लक्षण-उदाहरण सहित ही 'बरवै नायिका भेद' रचा होगा, किन्हीं अज्ञात कारणों से इसके छन्द नष्ट हो गये होंगे और बाद के किसी साधारण कवि ने 'रसराज' के स्वच्छ दोहों के साथ इसका सम्पादन कर इसे अपने आपमें पूर्ण और सुपाठ्य बना दिया होगा ; मतिराम ने इसका सम्पादन नहीं किया।

इस धारणा की पुष्टि में स्वय 'बरवै नायिका भेद' के आधार पर प्रमाण दिये जा सकते हैं। ग्रन्थ को देखने पर उसके अन्तर्गत बरवै छन्द में रचे गये निम्न दो लक्षण भी मिलते हैं—

> **सुन्दर, चतुर धनिअवा, जातिउ ऊँच।**
> **केलि-कला-परबिनवा, सील-समूच ॥९६॥**
> **पति उपपति बेसिकवा, त्रिविध बखान।**
> **विधिसों ब्याहो गुरुजन, पति सो जान ॥९७॥**[4]

इनसे यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार रहीम ने ये दो लक्षण लिखे हैं, वैसे ही दूसरे लक्षण लिखे होंगे, जो अब प्राप्य नही। पर यहाँ शंका की जा सकती है कि क्या केवल लक्षण ही नष्ट हुए, उदाहरण नही ? अवश्य ही दोनों के विषय में यह बात कही जा सकती है ; कारण भी यही है कि किसी के उदाहरण में दो-दो बरवै मिलते हैं और किसी के में एक ही—नायक का उदाहरण भी नहीं हैं।

---

१. दे० 'रहीम रत्नावली', सम्पादक—श्री मायाशंकर याज्ञिक (तृतीयावृत्ति), पृ० २३।
२. दे० 'भूषण-विमर्श', पृ० १५, २६।
३. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० १५।
४. दे० वही 'रहीम रत्नावली' (तृतीयावृत्ति), पृ० ५८

दूसरे, संग्रहकर्त्ता ने ग्रन्थ के अन्त में स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि दोनों *अर्थात् लक्षणों और उदाहरणों के संग्रह हुए हैं*[1], *जो इन्हें पढ़ेगा वह भली प्रकार से* नायक-नायिका-भेद को समझ जायगा[2]। दूसरे शब्दों में लक्षण और उदाहरणों का संग्रह नायक-नायिका-भेद को सुबोध बनाने के लिए किया गया है। मतिराम ने यदि यह संग्रह किया होता तो वे यह न कहते कि उन्होंने दोनों का संग्रह किया है—'दोनों' शब्द का प्रयोग ही इस बात का द्योतक है कि संग्रहकर्त्ता कोई तीसरा व्यक्ति है। मतिराम के सभी ग्रन्थों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने 'दूनों' शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं किया, अतः इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि मतिराम ने 'बरवै नायिका भेद' का सम्पादन नहीं किया। संक्षेप में कहने का अभिप्राय यही है कि रहीम की उक्त कृति का सम्पादन मतिराम के दोहों के साथ किसी अन्य कवि ने किया है ; वैसे इतना अवश्य है कि 'रसराज' की रचना में मतिराम ने अवश्य ही इससे सहायता ली होगी, कारण ऐसे अनेक छन्द मिल जाते हैं जो भावों की दृष्टि से समान हैं।

स्फुट छन्द

मतिराम के रचे हुए चार स्फुट छन्द पं० कृष्णबिहारी मिश्र को प्राप्त हुए हैं, जिनमें से दो छन्द शिवाजी की प्रशंसा के हैं, एक छत्रसाल की प्रशस्ति में तथा एक किन्हीं राजा भगवन्त के विषय में लिखा गया है। शिवाजी की प्रशस्ति के छन्द ये हैं—

मोह मद छाके बिरचे ते बर बाँके ऐसे
बकसे सिवा के कविराज लिए जात हैं ;
धावत धरनि धराधर धुकि धक्कन सों
चिक्करत जिन्हें देखि दिग्गज परात हैं।
तामसी तरुन तामरस तोरि 'मतिराम',
गगन की गंगा में करत उतपात है ;
मंद गति सिंधुर मदंध में बिलंद बिंदु
ज्ञान अरबिंद-कंद चंदहि चबात हैं ॥१॥
बान अरजुन को बखाने 'मतिराम' कवि
गदा भीमसेन की सदा ही जस काज की ;
वासव को बज्र वासुदेव जू को चक्र,
बलदेव को मुसल सदा कीरति है लाज की।

---

१. दे० लच्छन दोहा जानिए, उदाहरण बरवान।
दूनों के संग्रह भए, रस सिंगार निर्मान ॥११७॥

२. दे० एह नवीन संग्रह सुनो, जो देखे चित देय।
बिबिध नायका नायकनि जानि भली बिधि लेय ॥११८॥

(वही 'रहीम रत्नावली', पृ० ६२)

दंड दंडधर को अदंडन के दंडिबे को
नखन की पाँति नरसिंह सिरताज की ;
संभु को त्रिसूल संभु-सिस्य को कुठार
संभु-सुत की सकति, समसेर सिवराज की ॥२॥[1]

इन छन्दों की मतिराम के छन्दों से तुलना करने से यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि भाषा-शैली, गुण आदि की दृष्टि से ये उनके ही प्रतीत होते हैं। प्रथम छन्द भाऊसिंह और ज्ञानचन्द के दान-वर्णन से किसी भी प्रकार दूर नहीं बैठता—इसमें व्यवहृत शब्दावली तथा भाव वैसे ही हैं जैसे 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' के अन्तर्गत हाथियों के वर्णन में मिलते हैं। द्वितीय छन्द पर भूषण की शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है, जो इस बात का द्योतक है कि मतिराम शिवाजी के दरबारी कवि भूषण के सम्पर्क में अवश्य आये होंगे।

छत्रसाल के आतंक के विषय में मतिराम का छन्द इस प्रकार है—

कवि 'मतिराम' कहै रति ते अनूप बनी,
रूप धरे राजै मानौ कोकन की कारिका ;
धार सुने बार-बार नीर भरि आवतु है,
नीरज की आँखनि नलिन-ऐसी तारिका।
आगरे दिली में छत्रसाल तेरो धाकनि तें।
आयो-आयो बोलत मुखन सुक-सारिका ;
चौंकि चलि सकें न चरन जुगलनि लाल,
गुलनि के रंग मुगुलनि की कुमारिका ॥[2]

यह छन्द भी मतिराम-कृत प्रतीत होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन छन्दों का अस्तित्व अपने आपमें सर्वथा स्वतन्त्र है, अतएव ये किसी भी प्रकार से इस कल्पना को आश्रय नहीं देते कि मतिराम ने शिवाजी और छत्रसाल के आश्रय में ग्रन्थों की रचना की थी और ये उनके अंश हैं। जहाँ तक इनके रचना-काल का प्रश्न है, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि किस सवत् में इनकी रचना हुई ; परन्तु इतना निश्चित है कि बूँदी-नरेश से सम्बन्ध टूटने के बाद ही इनकी रचना हुई होगी। शिवाजी की प्रशस्ति के छन्द उनकी मृत्यु अर्थात् संवत् १७३८ वि० से पूर्व के ही हैं, कारण इनकी वर्तमानकालिक क्रियायें इस बात की द्योतक हैं कि मतिराम ने उनके दरबार में जाकर स्वयं इनका पाठ किया होगा। छत्रसाल की प्रशंसा के छन्द के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

चौथा छन्द, मतिराम ने किन्हीं भगवन्त नृप के विषय में लिखा है. वह है—

दिल्ली के अमीर दिल्लीपति सों कहत वीर,
दक्खिन की फौज लैकें सिंहल बबाइहौं।

---

१. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', पृ० २५५-५६।
२. दे० वही, पृ० २५६।

जड़ाती जमेसन की जेर कं सुमेर हू लौं,
सम्पति कुबेर के खजाने ते कढ़ाइ हौं।
कहै 'मतिराम' लंकपति हू के धाम जाइ
जंग जुरि जम हूँ कों लोह सो बनाइ हौं।
आगि में गिरेंगे कूदि कूप में परेंगे एक,
भूप भगवन्त की मुहीम पै न जाइ हौं।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र इसे प्रसिद्ध मतिराम की रचना नहीं मानते, इसी कारण उन्होंने इसको 'मतिराम ग्रन्थावली' में उद्धृत नहीं किया। पं० भागीरथ-प्रसाद दीक्षित ने इसका रचयिता द्वितीय मतिराम माना है[1]। दीक्षितजी का कथन है कि यह छन्द असोथर-नरेश भगवन्तराय खीची के विषय में लिखा होगा। अतः इसका रचना-काल संवत् १७५८ वि० के पश्चात् ही होगा। इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि असोथर-नरेश ने औरंगज़ेब के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया था, ऐसी दशा में यह उन्हीं की प्रशंसा में लिखा हुआ कहा जा सकता है। परन्तु इसी समय में भगवन्त नाम के दो नृप हुए हैं—एक बुन्देलखण्ड के जो औरंगज़ेब के सहायकों में थे और दूसरे बूँदी-नरेश के कनिष्ठ भ्राता। हो सकता है यह द्वितीय भगवन्तसिंह के लिए लिखा हो, पर इतिहास में उनके विद्रोह का कोई उल्लेख नहीं। ऐसी दशा में यह भगवन्तराय खीची के विषय में ही कहा जायगा, किन्तु इसके रचयिता प्रसिद्ध मतिराम हैं, इसमें हमें सन्देह है। हमारी धारणा है बाद के किन्हीं मतिराम ने भूषण के ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण करके लिख दिया है। इस छन्द की शैली भी मुख्यतः फ़ारसी के शब्दों से आच्छादित होने के कारण हमारे कवि की संस्कृत-प्रवृत्ति के विरुद्ध पड़ती है।

मतिराम के अप्राप्य ग्रन्थ

मतिराम के अब तक प्राप्त ग्रन्थों में से केवल 'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार' ही ऐसे हैं जो इस समय उपलब्ध नहीं। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज रिपोर्ट में इनके प्राप्ति-स्थान क्रमशः दतिया और बिजावर राज्यों के पुस्त-कालय बताये गए हैं[2], किन्तु वहाँ ये ग्रन्थ नही हैं—बिजावर का पुस्तकालय ही नष्ट हो गया है। उक्त रिपोर्ट के अन्तर्गत इन ग्रन्थों की प्रतियों का सामान्य परिचय दिया हुआ है, इससे ज्ञात होता है कि 'साहित्यसार' का कलेवर केवल ३३ छन्दों तक ही सीमित है तथा 'लक्षणशृंगार' १९५ छन्दों की पुस्तक है और 'साहित्यसार' की अपेक्षा बड़ी है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इनका वर्ण्य-विषय क्रमशः 'नायिका-भेद' और 'भाव-विभाव' बताये हैं[3]; ज्ञात नहीं इस कथन में उनका क्या सूत्र रहा है—हमें इस प्रकार का उल्लेख कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ।

---

१. दे० वही 'भूषण-विमर्श', पृ० १६-१७।
२. दे० वही 'हस्तलिखित पुस्तकों का खोज विवरण', संख्या १९६ (बी) और १९६ (सी)।
३. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', पृ० २३२।

इन अप्राप्य पुस्तकों की प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि इनको मतिराम की रचनाएँ मान लिया जाय (हमारा विचार भी ऐसा है) तथा कृष्णबिहारीजी के कथनानुसार इनकी विषय-वस्तु शृंगारिक भी स्वीकार करलें तो इनका रचना-काल संवत् १६८० वि० से १६६० वि० के बीच मानना उचित होगा। क्योंकि जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् मतिराम ने 'रसराज' की रचना तक इस प्रकार का कोई ग्रन्थ अवश्य ही लिखा होगा—उनकी आरम्भिक प्रवृत्ति भी शृंगारिक है। यदि ये पुस्तकें उपलब्ध होतीं तो इस कल्पना की पुष्टि भी हो जाती कि ये 'रसराज' से पूर्व की रचनाएँ हैं। हमारी धारणा है कि मतिराम ने पहले इन्हीं की रचना करके अपना हाथ सधाया होगा, तभी तो वे 'रसराज' जैसा प्रौढ़ और सरस ग्रन्थ लिख सके।

इस प्रकार मतिराम के नाम से प्राप्त ग्रन्थों में से केवल छः प्रामाणिक ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त दो ग्रन्थ—'साहित्यसार' और 'लक्षणशृंगार' इस समय अप्राप्य हैं, परन्तु हमारी धारणा यही है कि ये भी मतिराम के आरम्भिक ग्रन्थों में से रहे होंगे। 'बरवै नायिका भेद' मतिराम द्वारा सम्पादित प्रतीत नही होता। कतिपय स्फुट छन्दो से यह कल्पना कर लेना असंगत नही जान पड़ता कि हमारे कवि की और साधारण रचनाएँ कही पड़ी न हों।

संक्षेप में मतिराम के समस्त ग्रन्थों को काल-क्रम के अनुसार इस प्रकार रखा जायगा—

१. 'फूलमजरी'—सवत् १६७६ वि० के आस-पास,
२. 'रसराज'—संवत् १६६०-१७०० वि० के बीच,
३. 'ललितललाम'—संवत् १७१८-१७२१ वि० के बीच,
४. 'सतसई'—संवत् १७३८-१७४० वि० के बीच,
५. 'अलंकार पंचाशिका'—संवत् १७४७ वि०,
६. 'वृत्तकौमुदी'—संवत् १७५८ वि०, तथा—
७. 'साहित्यसार'
८. 'लक्षणशृंगार,
} संवत् १६८०-१६६० के मध्य की रचनाएँ रहीं होंगी।

इनके अतिरिक्त स्फुट छन्दों की रचना कवि ने विभिन्न राजाओं के दरबार में जाकर की होगी। ऐसे प्रामाणिक छन्द अभी तक संख्या में तीन ही उपलब्ध हुए हैं, जिनका रचना-काल संवत् १७३० वि० के बाद का प्रतीत होता है।

चतुर्थ अध्याय

मतिराम की कविता के विभिन्न विषय

प्रत्येक रचना की विषय-वस्तु मुख्यतः युग की प्रवृत्ति और रचयिता की अपनी अभिरुचि से प्रभावित रहती है; युग की प्रवृत्ति के प्रकाश में रचयिता अपना विषय निर्धारित करता है और उसकी अभिरुचि इसके अन्तर्गत वैशिष्ट्य का समावेश कर उसे अपने समकालीनों से पृथक् करती है। रीतिकाल के अधिकांश कवि ऐसे राजा-नवाबों के आश्रय में रहे जो या तो विलासी थे अथवा अपने पराक्रम और दानशीलता के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि कवियों के रुचि-भेद से उस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति शृंगारिक अथवा राज-प्रशस्ति-परक होती। सौभाग्य से मतिराम ने भी इन दोनों कोटियों के राजाओं के यहाँ आश्रय प्राप्त किया, यही कारण है कि उनकी कविता का विषय शृंगार और राज-प्रशस्ति दोनों ही है। किन्तु इस दिशा में उनका सौन्दर्य-प्रेम दो और विषयों की ओर भी प्रशस्त हुआ है; ये हैं—प्रकृति और राज-वैभव। इसमें सन्देह नही कि ये दोनों विषय क्रमशः शृंगार और राज-प्रशस्ति के रूप में ही मतिराम की कविता में आये हैं; फिर भी उन्होंने जिस प्रकार से इनके प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है—यहाँ तक कि वे कभी-कभी मूल विषय को भी भूल गये हैं—उससे इन्हें उनकी कविता के स्वतन्त्र विषय मानना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इधर कवि का व्यक्तिगत अनुभव भी कम नही रहा—अपने दीर्घ-जीवन-काल में विभिन्न प्रदेशो की यात्रा से यह होना ही था; अतएव उसकी रुचि के व्यावहारिक पक्ष को धार्मिक एवं नैतिक विचार-धारा के रूप में देखा जा सकता है।

इस प्रकार, संक्षेप में, मतिराम की कविता के ये पाँच पक्ष हैं—

१. शृंगार
२. राज-प्रशस्ति (दान, पराक्रम का वर्णन आदि),
३. धर्म और नीति,
४. प्रकृति, एवं
५. राज-वैभव।

कहना न होगा कि इनमें से शृंगार का उनके ग्रन्थों में बाहुल्य है। 'छन्दसार संग्रह' के सिवाय ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं, जिसमें उनकी शृंगारिक रचनाएँ न हों। राज-प्रशस्ति-परक रचनाएँ केवल 'ललितललाम', 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' के अन्तर्गत उपलब्ध होती हैं—कतिपय छन्द 'सतसई' में भी देखने को मिल जाते हैं। धर्म और नीति सम्बन्धी विचार तथा प्रकृति का वर्णन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रायः सभी ग्रन्थों में तथा राज-वैभव-विषयक छन्द केवल राज-प्रशस्तियों के अन्तर्गत ही उपलब्ध होते हैं।

पंचम अध्याय

मतिराम की श्रृंगारिक कविता

मतिराम के काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय शृंगार है, जिसका परिमाण-बहुल वर्णन ही नहीं, शास्त्रीय-विवेचन भी उन्होंने किया है। प्रस्तुत प्रसंग के अन्तर्गत इस विषय के वर्णन-पक्ष को ही उठाया जा रहा है; विवेचन-पक्ष पर आचार्यत्व-सम्बन्धी प्रसंग में विचार किया जायगा—वहीं पर शृंगार के स्वरूप आदि को भी स्पष्ट करेंगे। यहाँ तो केवल शृंगार के दोनों पक्षों की—अर्थात् संयोग और वियोग-परक रचनाओं में अभिव्यक्त कवि की रुचि एवं दृष्टि के स्वरूप की परीक्षा करना हमारा अभीष्ट है।

संयोग शृंगार

संयोग शृंगार के विभाव, अनुभाव और मिलन ये तीन अंग ही ऐसे हैं, जिनका प्रत्यक्ष वर्णन हुआ करता है। इनमें भी विभाव के अन्तर्गत आलम्बन के रूप और उद्दीपक-सामग्री तथा मिलन में परिहास-वर्णन का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार संयोग शृंगार के ये पाँच वर्ण्य कहे जा सकते हैं—रूप, उद्दीपन, अनुभाव, मिलन और परिहास। मतिराम ने इन सबका वर्णन वस्तु-परक और भाव-परक—दोनों ही प्रकार से किया है।

रूप-वर्णन—'रूप' शब्द अपने आपमें इतना अस्पष्ट है कि इसे परिभाषा की सीमाओं में बद्ध करना सहज नहीं। वैसे साधारणतः शृंगार के प्रसंग में इसे नख-शिख-सौन्दर्य के पर्याय रूप में ग्रहण करके इसके अन्तर्गत अप्रत्यक्ष रूप से दो मुख्य बातों की प्रतिष्ठा कर दी जाती है—(१) मानव-शरीर के विभिन्न अंगों की बनावट और (२) सौन्दर्य, जिसके भीतर द्रष्टा की अभिरुचि का तत्त्वतः विद्यमान रहना निश्चित है। हमारा भी यही आशय है।

रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने रूप के वस्तु-परक वर्णन को केवल परम्परा-भुक्त नख-शिख-वर्णन तक ही सीमित रखा है, यही कारण है कि उसमें रुचि-वैशिष्ट्य का समावेश न हो पाने से प्रायः वह तन्मयता नहीं आई, जो भाव-परक वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। मतिराम ने भी यद्यपि नख-शिख-वर्णन के लिए परम्परागत उपमानों एवं विशेषणों का उपयोग किया है, किन्तु इनकी आधार-भूमि सर्वत्र उनकी रुचि ही रही है। इसलिए शरीरावयव-विशेष के लिए वे जिन अप्रस्तुतों अथवा विशेषणों का प्रयोग करते हैं उनसे तन्मयता के साथ कवि की सौन्दर्य-विषयक दृष्टि का एक ही स्वरूप प्रकट होता है। देखिये—

मुख—मुख के वर्णन में उन्होंने प्रफुल्लता, सहज रुचि और औज्ज्वल्य—इन तीन गुणों का ही उल्लेख किया है—

(१) ह्वै के डहडहे दिन समता के पाएँ बिन
साँझ सरसिजनि सरमि सिर नायो है।
निसा भरि निसापति करिकै उपाय बिन
पाएँ रूप बासर बिरूप ह्वै लखायो है॥
कहै 'मतिराम' तेरे बदन बराबरि को
आदरस बिमल बिरंचि न बनायो है।
दरप न रह्यो ताते दरपन कहियत
मुकुर परत ताते मुकुर कहायो है ॥३८६॥
(ललितललाम)

(२) बदन सिंगाररस-बेलि आलबाल भो। (१५)
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत परम्परागत अप्रस्तुतों की सहायता से मुख में उक्त तीनों गुणों की व्यंजना की गई है, जबकि द्वितीय में 'सिंगाररस-बेलिआलबाल' जैसे नवीन उपमान द्वारा इनके समन्वित रूप का संकेत है।

कपोल—इसी प्रकार कपोलों में वे इन गुणों के अतिरिक्त गोलाई और लालिमा को और जोड़ देते हैं—

(१) मुसकानि अमल कपोलन में रुचि वृंद
चमकै तरयोननि की रुचिर चुनीन के। (३१)
(२) चूमत प्यारी के मधुर बिहँसत गोल कपोल ॥५७॥
(रसराज)

(३) तरनि-किरनि झलमलति मुख लाली ललित कपोल।
प्यास जगावति दृगनि में प्यासी बाल अमोल ॥५४॥
(सतसई)

नेत्र—नेत्रों के सौन्दर्य के लिए उन्होंने जितनी विशेषताओं की अपेक्षा की है, उनको अन्यत्र खोजने की आवश्यकता नहीं—

आलस बलित कोरें काजर कलित
'मतिराम' वे ललित बहु पानिप धरत हैं।
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरब
सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं॥
बरुनी सघन बंक तीछन तरल बड़े
लोचन कटाच्छ उर पीर ही करत हैं।
गाढ़े ह्वै गढ़े हैं न निसारे निसरत मैन-
बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं ॥४०७॥
(रसराज)

अधर—अधर-वर्णन में वही सर्वस्वीकृत ललाई और सरसता का उल्लेख हुआ है—

बिमल बाम के बदन में राजत ओठ रसाल।
मनो सरद बिधु बिंब में लसत बिंब फल लाल ॥४८८॥

(सतसई)

कुच और कटि—कुचों की पीनता, कठोरता और उत्तुंगता को ही दर्शाया गया है, जबकि कटि प्रदेश की क्षीणता और सुकुमारता का वर्णन प्रायः फ़ारसी कवियों का-सा ही है—

(१) **पीन पयोधर भार यह धरें छीन कटि ऐन। (१११)**
(२) **लाल बाल को उर कठिन उरजनि निपट कठोर। (२१२)**
(३) **सोभित सुबरन बरन में उरज गुरज के रूप। (५२४)**
(४) **दुहुँ दिसि जघन नितंब कुच खैंचत हैं निधि सार।**
छीजै क्यों न मयंक मुखि ललित लंक सुकुमार ॥४६१॥

(सतसई)

(५) **टूटि परै जनि भारतें निपट पातरी लंक। (२४१)**

(ललितललाम)

(६) **कैसे वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै**
बिजन बियारि लागे लचकत लंक है ॥ (३०४)

(रसराज)

इतर अवयव— केश, हाथ, एडी आदि शरीरावयवों का वर्णन उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत कम उपलब्ध होता है, किन्तु फिर भी मुखादि के उक्त वर्णनों से किसी भी प्रकार हेठा नही कहा जा सकता —

(१ **पल्लव पग कर अधर हैं, फल उरोज नख फूल।**
भौंर भीर बर बार हैं बाल बेलि के तूल ॥ ५०४ ॥
(२) **नखगांसी सर आँगुरी कर पग चारु तुनीर।**
दसौं दिसनि जिन बरजि ते पवर पंचसर तीर ॥ ५०५ ॥
(३) **गयो महाउर छूटि यह रह्यो सहज इक अंग।**
फिरि फिरि झाँवति है कहा रुचिर चरन के अंग ॥५८२ ॥

(सतसई).

वर्ण और कान्ति—नायिकाओं के गौरवर्ण का वर्णन उन्होंने अपने समकालीनों के समान ही आग्रहपूर्वक किया है। किन्तु इसके साथ ही वे जिस कान्ति का समावेश करते हैं, उससे सहज ही यह आभास मिल जाता है कि उनकी दृष्टि में त्वचा की स्निग्धता और चिलक रूप के अन्तर्गत विशेष महत्त्व रखती है।

(१) पानिप अमल की झलक झलकन लागी
काई सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते ॥२२॥

(२) सहज सुबास जुत देह की दुगुन दुति
दामिनी दमक दीप केसरि कनक हैं। (१६५)
(रसराज)

(३) बदनचन्द की चाँदनी देह दीप की जोति।
राति बितेहू लाल वहि भौन राति सी होति ॥३३६॥
(ललितललाम)

(४) कामिनि दामिनि दमक-सी बरनि कौन पै जाइ।
डीठि नहीं ठहराइये डीठिन ही ठहराइ ॥ २०५ ॥
(सतसई)

जहाँ तक मतिराम के भाव-परक रूप-वर्णन का प्रश्न है, इसमें भी उनकी रुचि एवं दृष्टि का वही स्वरूप है, जो प्रायः उनके वस्तु-परक वर्णन में देखने को मिलता है; अन्तर केवल इतना है कि इनमें जिस ध्वन्यात्मक सूक्ष्मता का समावेश हुआ है वह इसकी एक और विशेषता बन गई है। उदाहरण के लिए—

(१) सेत सारी सोहत उजारी मुख-चन्द की-सी
मलहनि मंद मुसक्यान की महमही।
अँगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप
उर 'मतिराम' माल मालती डहडही ॥
माँजे मंजु मुकुर-से मंजुल कपोल गोल
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय
बेला को फुलेल फूली बेलि-सी लहलही ॥१७६॥

(२) कीने 'मतिराम' बिहँसौंहैं-से कपोल गोल
बोलन अमोल इतनोई दुख द्वै गई।
मेरे ललचौंहैं मुख फेरि कै लजौंहैं
ललचौंहैं चारु चखनि चितै कै सो चली गई ॥ (२५७)
(रसराज)

(३) लचकौंहीं-सी लंक उर उचकोहों सो ऐन।
बिहँसौंहैं-से बदन में लसत नचौंहैं नैन ॥२५॥
(सतसई)

इनमें 'उलही', 'गहगही', 'लहलही' 'बिहँसौंहैं', 'ललचौंहैं', 'लजौंहैं', 'लचकौंहीं', 'उचकोहों', 'नचौंहैं'—इन सभी शब्दों से द्रष्टा की वर्ण्य अवयवों से सम्बन्धित सूक्ष्म भावना व्यक्त हो रही है। 'उलही' शब्द सौन्दर्य के विकीर्ण होने की, 'गहगही'

गौरवर्ण के गहरेपन की, 'लहलही' अंगों की प्रफुल्लता और विकास की तथा शेष शब्द क्रमशः कपोलों की खिलावट, कटि की लचक, नेत्रों की ललक, वक्षस्थल के विकास और नेत्रों की चंचलता के प्रस्फुटन और गोपनीयता की एक साथ व्यंजना कर रहे हैं।

मतिराम की सौन्दर्यानुभूति—मतिराम के रूप-वर्णन पर विचार कर लेने के उपरान्त अब हम उनकी सौन्दर्यानुभूति की परीक्षा करते हैं। साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति जिस वस्तु को देखता है उसके मन पर इस वस्तु के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया होने लगती है और इसी प्रतिक्रिया के अनुरूप वह अपनी अभिव्यक्ति करता है। कवि की अनुभूति के सम्बन्ध में भी यही बात बहुत कुछ कही जा सकती है। कवि की अनुभूति वस्तुतः उसके द्वारा देखी गई वस्तु का वह चित्र है जो वह अपनी कल्पना और दृष्टिकोण के रंग में रँगकर पहले अपने अन्तःपट पर और फिर भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। सहृदय भी इसी चित्र को उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम से ग्रहण कर उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करता है। ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि कवि की अनुभूति का स्वरूप उसकी अभिव्यक्ति-गत चित्रों का प्रतिबिम्ब मात्र होता है।

रीतिकालीन कवियों ने अपनी शृंगारिक रचनाओं के अन्तर्गत रूप-वर्णन प्रचुरता से किया है। इन सबका दृष्टिकोण तथा चित्र अंकित करने का ढंग भी अपना है और यही कारण है कि विषय एक होने पर भी सबकी अनुभूति में अन्तर दष्टिगत होता है। बिहारी के ही चित्रों को लीजिए। ये सामान्यतः सूक्ष्म रेखाओं से अंकित हैं, फलतः उनकी अनुभूति इतनी उलझी हुई तथा सूक्ष्म हो गई है कि सहृदय जब तक एक-एक रेखा को देख नहीं लेता तब तक वह उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। उदाहरण के लिए—

अधर धरत हरि के परत ओठ दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष सी होति ॥२३॥

(बिहारी-बोधिनी)[1]

यहाँ कृष्ण के सामीप्य से वंशी के इन्द्र-धनुषी हो जाने के कथन द्वारा उनके रूप-सौन्दर्य की व्यंजना की गई है। कवि के शब्दों में कृष्ण जब हरे बाँस की बनी वंशी बजाते हैं तो उनके ओष्ठ, दृष्टि और वस्त्र की रंगीन कान्ति पड़ने से यह इन्द्र-धनुष के रंग की हो जाती है। देखिए पहले तो यहाँ ओष्ठ, दृष्टि और वस्त्र के रंग का उल्लेख ही नहीं हुआ और यदि कृष्ण के चित्रों के आधार पर यह मान भी लें कि कवि का अभिप्राय क्रमशः इनके लाल, काले और पीले रंगों से है, तो प्रश्न उठता है कि इनकी कान्ति हरे रंग की वंशी पर इतनी स्पष्ट कैसे हो सकती है? इसके लिए एक ओर हमें यह अनुमान करना पड़ता है कि वंशी का बाँस ऊपर से घुटा होने के कारण इतना चिकना है कि उस पर इन तीनों रंगों का बिम्ब स्पष्ट रूप से पड़ जाता है और दूसरी ओर यह कि उनके ओष्ठ, दृष्टि और वस्त्र के रंग अपने आपमें इतने गहरे हैं कि सहज ही उसमें बिम्बित होकर उस के हरे रंग को आच्छादित कर

१. सम्पादक—स्व० ला० भगवानदीन (सप्तमावृत्ति)।

लेते हैं। तब एक और शंका उठती है और वह यह कि इन्द्रधनुष में सात रंग होते हैं और इस वर्णन के हिसाब से चार रंग—हरा, पीला, काला और लाल ही बैठते हैं, तो शेष तीन रंग—नारंगी, नीला और जामुनी (इन्द्रधनुष के सात रंगों में से तीन) कहाँ से आ गये ? इसके लिए यह कल्पना करनी पड़ती है कि पीला और लाल मिल कर नारंगी-सा तो हो ही जाता है, नीला उनकी त्वचा के रंग से बन गया होगा और जब नीला भी है तो लाल के संयोग से इसके जामुनी बनने में कितनी देर लगेगी। कहना न होगा कि रंगों की यह योजना अपने आपमें इतनी सूक्ष्म है कि अन्तःपट पर अंकित करने के लिए कल्पना पर काफी जोर देने की आवश्यकता पड़ती है।

देव के चित्रों में रेखाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्थूल हैं, पर इनको इतनी तीव्रता से आगे बढ़ाया गया है कि उनके रूप-चित्र भावात्मक ही नही आवेगमय भी हो जाते हैं, जैसे—

प्रेम महानद प्यारे के प्रानद आनँद संपद आपद भंजन।
जी में गड़े उमड़े से बड़े-बड़े चंचल नैन मढ़े लघु अंजन॥
'देव' मनोज सुधाए सरोज पै ओज के चोज मनो मन रंजन।
चंचु चुभै पल पंख उभै पिलि मेल बढ़ै मिलि खेलत खंजन॥२३७॥

(सुख सागर तरंग)[1]

इस छन्द में भी नेत्रों का वर्णन है। परन्तु यहाँ स्पष्टतः ऐसी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया—रेखाएँ इतनी सूक्ष्म नही कि वर्ण्य-वस्तु के चित्र का बोध करने के लिए विलष्ट कल्पना की आवश्यकता पड़ती हो। प्रथम दो चरणों में 'प्रेम महानद प्यारे के 'प्रानद', 'आनँद संपद', 'आपद भंजन', 'जी में गड़े' और 'उमड़े से' शब्दों में एक ओर जहाँ उनके भावात्मक रूप को प्रस्तुत किया गया है, वहाँ दूसरी ओर इनसे कवि की अनुभूति के आवेग की भी व्यंजना हो रही है।

देव के पश्चात् पद्माकर ने भी आकर्षक रूप-चित्र प्रस्तुत किये हैं और उन का रीतिकालीन कविता में अपना विशेष महत्त्व है। इन चित्रों की विशेषता यह है कि इनकी रेखाएँ देव की अपेक्षा कही अधिक पुष्ट हैं। ये अपने आपमें इतनी उभरी हुई हैं कि प्रायः चित्र भी उजागर और स्पष्ट बन गये हैं। परन्तु इस गुण के साथ उनमें स्थूलता का दोष भी आ गया है। उदाहरण के लिए—

ए अलि या बलि के अधरान में आनि चढ़ी कछु माधुरई-सी।
ज्यों 'पद्माकर' माधुरी त्यों कुच दोउन की चढ़ती उनई-सी॥
ज्यों कुच त्यों ही नितंब चढ़े कछु ज्यों ही नितंब त्यों चातुरई-सी।
जानि न ऐसी चढ़ाचढ़ि में किहि धौं कटि बीच ही लूटि लई-सी॥२२॥

(जगद्विनोद)[2]

इस छन्द के अन्तर्गत कवि ने नायिका के कुचों और नितम्बों की पीनता तथा कटि की क्षीणता का वर्णन किया है। 'माधुरई-सी', 'उनई-सी' और 'लूटि लई-सी'

---

१. डा० नगेन्द्रजी से प्राप्त।

२. दे० 'पदमाकर पंचामृत'—सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (प्रथम संस्करण)।

पद अपने आपमें अधरों, कुचों और कटि का यद्यपि *भावात्मक वर्णन प्रस्तुत करते हैं, तथापि 'चढ़ती', 'चढ़ाचढ़ि' और 'लूटि लई-सी' शब्दों द्वारों चित्रों की रेखाएँ* इतनी स्थूल हो गई हैं कि चित्र भी अपने आपमें निरा-स्थूल प्रतीत होता है—कटि के लूटने के भाव में अभद्रता का भी आरोप किया जा सकता है।

मतिराम के चित्रों में उपर्युक्त कवियों की-सी कोई भी विशेषता नहीं--उन की अपनी विशेषताएँ हैं। सामान्यतः इनमें न तो बिहारी की रेखाओं की-सी बारीकी है और न पद्माकर के चित्रों की-सी स्थूलता ही! देव के चित्रों में जो रेखाओं की तीव्र गतिशीलता दृष्टिगत होती है, वह भी इनमें नहीं। केवल एक बात है और वह यह कि रेखाएँ सरल, स्वच्छ तथा तरल हैं, इसीलिए उनकी अनुभूति भी अपने आपमें स्वच्छ परिष्कृत एवं सहज प्रभविष्णु हैं। उदाहरण के लिए पहले पुरुष के रूप का ही एक चित्र लीजिए—

गुच्छनि के अवतंस लसैं सिर पच्छन अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी कर-पल्लव सौं 'मतिराम' सुहायो॥
गुंजन के उर मंजुल हार सुकंजनि तें कढ़ि बाहर आयो।
आजु को रूप लखै नँदलाल कौ आजुहि नैननि को फल पायो॥२३८॥

(रसराज)

यहाँ नायक—कृष्ण—के रूप के जिन अवयवों का वर्णन किया गया है उनका बोध कराने वाली रेखाएँ अपने आपमें इतनी स्वच्छ हैं कि किसी प्रकार की कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती—छन्द को पढ़ते जाइए और प्रत्येक शब्द के स्फोट के साथ ही रेखाएँ अन्तःपट पर अंकित होती चली जाएँगी। छन्द के अन्तिम चरण में एक विशेष प्रकार की तन्मयता है, जिसका कारण है उक्त रेखाओं के अंकन में तरलता का होना। इसी प्रकार नारी-सौन्दर्य देखिए—

(१) **पग जराइ की गूजरी नथुनी मुकुत सुढार।**
घने घेर को घाघरौ घूँघरवारे बार॥१०८॥

(२) **ललित मंद कल हंस गति मधुर मंद मुसक्याति।**
चली सारदा बिसद रुचि सरद चाँदनी राति॥३४९॥

(सतसई)

इन दोनों दोहों में भी यही बात है। कोई भी रेखा ऐसी नहीं जो स्पष्ट रूप से नायिका के उस अंग विशेष को प्रस्तुत न कर रही हो, जिसके लिए कि इसको अंकित किया गया है।

इस प्रकार रूप-चित्रों की सहायता से मतिराम की अनुभूति का विश्लेषण कर लेने के उपरान्त एक प्रश्न का उत्तर देना और आवश्यक जान पड़ता है और वह यह कि मन पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। इस सम्बन्ध में यह निवेदन कर देना अनुचित न होगा कि किसी भी सुन्दर वस्तु को देखकर कवि के मन पर प्रतिक्रिया तो आनन्दमय ही होती है, अन्तर केवल आनन्द के स्तर का होता है। आनन्द

की प्रथम अवस्था वस्तुगत प्रतिक्रिया के फलस्वरूप आती है । इसमें कवि के मन का सम्बन्ध वर्ण्य-वस्तु के साथ स्थापित हो जाता है, यह बिम्ब सर्वथा स्थूल होने के कारण सत्काव्य में प्रायः ग्रहण नहीं किया जाता । रीतिकालीन काव्य में इसे यत्र-तत्र स्थूल उपमानों के रूप में देखा जा सकता है ।

आनन्द की दूसरी अवस्था भाव-क्षेत्र की होती है । कवि वस्तु को देखने के पश्चात् उसका जो चित्र अपने मन पर अंकित करता है, उसी के साथ वह भाव का सम्बन्ध स्थापित कर आनन्द प्राप्त करता है । इस प्रकार की प्रतिक्रिया साधारणतः सत्काव्य में दृष्टिगोचर होती है ; कारण काव्य का मूल उद्देश्य आनन्द प्राप्ति ही होता है । रीतिकालीन कवियों ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है ।

अन्त में आनन्द की तीसरी स्थिति आती है, जो भाव-क्षेत्र से उठकर इन्द्रियों तक पहुँच जाती है । इसमें वस्तु-दर्शन से मानसिक आनन्द प्राप्त करने के स्थान पर उससे ऐन्द्रिय सुख-प्राप्ति की इच्छा जाग्रत हो जाती है । दूसरे शब्दों में मन की यह प्रतिक्रिया वासनात्मक आनन्द को जन्म देती है । रीतिकाल के कवियों में देव आदि ने इस प्रकार की प्रचुर मात्रा में रचनाएं की हैं ।

मतिराम के शृंगार-काव्य का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि उन्होंने परम्परागत उपमानों की सहायता से भी रूप का वर्णन किया है, तथापि उनका मन अपने समकालीनों के समान ही आनन्द की द्वितीय कोटि की अभिव्यक्ति करने में अधिक रमा है । उनके किसी भी रूप-चित्र को ले लीजिये, उसमें केवल मानसिक आनन्द की ही अभिव्यक्ति होगी—ऐन्द्रिय वासना की गन्ध भी नहीं आती । उदाहरण के लिए—

आनन पूरनचन्द लसै अरबिंद बिलास बिलोचन पेखे ।
अम्बर पीत लसै चपला छबि अंबुद मेचक अंग उरेखे ।।
काम हूँ तें अभिराम महा 'मतिराम' हिए निहचै करि लेखे ।
तै बरनें निज बैनन सौं सखी मैं निज नैनन सौं जनु देखे ।।२७६।।

(रसराज)

इस छन्द में अन्तिम चरण-गत नायिका की उक्ति स्पष्टतः उसके मानसिक आनन्द की अभिव्यक्ति कर रही है—उसमें ऐन्द्रिय सुख की न तो प्राप्ति है और न लालसा ही ।

उद्दीपन-वर्णन—संयोग शृंगार की उद्दीपक सामग्री को दो वर्गों में रखा जा सकता है—एक वे उपकरण जिनका आलम्बन के शरीर के साथ सीधा सम्बन्ध है और दूसरी वे वस्तुएँ और क्रियाएँ जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं । इस प्रकार प्रथम के अन्तर्गत वस्त्राभरण और हावादि आ जाते हैं और द्वितीय में प्राकृतिक पदार्थ तथा दूती आदि की उक्तियाँ एवं क्रियाएँ । मतिराम ने इन सबको यथास्थान ग्रहण किया है । इनमें वस्त्राभरणों का वर्णन यद्यपि वस्तु-परक ही है, किन्तु इसकी विशेषता यह है कि यह रूपोत्कर्ष का साधन होकर ही आया है—इससे आगे और कुछ नहीं, यही कारण है कि कभी-कभी वस्त्रों के रंगों एवं आभूषणों की चमक

अपना पृथक् अस्तित्व रखने पर भी रूप का अंग ही प्रतीत होती है—भाव को उद्दीप्त करती है। उदाहरण के लिए यह छन्द देखिये—

कुन्दन के अांग मांग मोतिन संवारी, सारी
सोहत किनारीवारी केसरि के रंग की।
कहै 'मतिराम' मनि मंजुल तरौना छोटी
नथुनी बिराजै गज मुकतन संग की॥
कुसुम के हार हियो हरित कुसंभी आँगी
सकै को बरनि आभा उरज उतंग की।
जोबन जरब महारूप के गरब गति
मदन के मद मद मोकल मतंग की॥२८०॥
(ललितललाम)

इसमें वस्त्र और आभूषण—इन दोनों के रगों को ही महत्त्व दिया गया है। वस्त्रों में केसरिया रंग में रँगी हुई किनारीदार साड़ी और कुसुम्भी आँगी के तथा आभूषणों में माँग और बेसर में लगे हुए मुक्ताओं, तरौनों की मणियों एवं वक्ष पर लहराते हुए हार के पुष्पों के रंग नायिका के गौरवर्ण शरीर के साथ मेल खाकर निश्चय ही उसके सौन्दर्य में वृद्धि कर रहे हैं। इसी प्रकार—

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी
केसरि के अंगराग कीनो सब तन मैं।
तीखन तरनि के किरन तें दुगन जोति
जगत जवाहर जटित आभरन मैं॥
कवि 'मतिराम' आभा अंगनि अँगारनि की
धूमको-सी धार छबि छाजति कचन मैं।
ग्रीष्म-दुपहरी में हरि कौं मिलन जात
जानी जात नारि न दवारि जुत बन मैं॥२०१॥
(रसराज)

इसमें जरी की साड़ी और जगमगाते हुए आभूषण नायिका के दीप्ति-युक्त गोरे अंगों के साथ मिलकर आग की लपट की और उसके केश धूम्र की भ्रान्ति उत्पन्न कर उसे दावानल से जलते हुए वन में छिपा लेने के साथ द्रष्टा को भी कामाग्नि में लपेटने में समर्थ कहे जा सकते हैं।

मतिराम का हावादिक-वर्णन भी वस्तु-परक ही है। इसमें उन्होंने आलम्बन के व्यापारों के विश्लिष्ट और संश्लिष्ट दोनों प्रकार के चित्र अंकित किये हैं। विश्लिष्ट चित्रों में वे जिस व्यापार विशेष को प्रस्तुत करते हैं, उससे एक ओर आलम्बन के रूप का उत्कर्ष और दूसरी ओर उसके चित्त का कामजन्य विकार व्यंचित होकर उद्दीपन का कार्य करता है। एक उदाहरण देते हैं—

बानी को बसन कैधौं बात के बिलास डोलें
कैधौं मुखचन्द चारु चान्द्रिका प्रकाश है।

कवि 'मतिराम' कैधौं काम को सुजस है
पराग-पुंज प्रफुलित सुमन-सुबास है ।।
नाक नथुनी के गजमोतिन की आभा कैधौं
देहवंत प्रगटित हिए को हुलास है ।
सीरे करिबे कों पियनैन घनसार कैधौं
बाल के बदन बिलसत मृदुहास है ।।८६।।
(ललितललाम)

इसमें केवल नायिका की मुस्कान का वर्णन है, जिसकी विशेषताओं को व्यंजित करने में कवि ने अप्रस्तुतों का आश्रय लिया है। 'बानी को बसन कैधौं बात के बिलास डोलै' के प्रयोग में उसका उद्देश्य यह बताने का है कि बात करते समय जब नायिका मुस्कराती जाती है तो चारों ओर विशेष प्रकार की आभा विकीर्ण होती है। इसी प्रकार 'पराग-पुंज प्रफुलित सुमन-सुबास है, और 'घनसार' से मुस्कान की मादकता और शीतलता की व्यंजना हो रही है ; 'चारु चन्द्रिका प्रकास' तथा 'गजमोतिन की आभा' से उसकी स्वच्छता स्पष्ट है। 'काम को सुजस' और 'देहवंत प्रगटित हिए को हुलास है' जैसे लाक्षणिक प्रयोग स्पष्टतः नायिका के मन में काम की स्थिति का संकेत कर रहे हैं। ऐसे ही—

(१) सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है
मंद मंद गो आज हिय को हरत है ।। (३७८)
(२) किंकिनी कलित कल नूपुर ललित रव
गौन तेरो देखिकै सकतु करि गौनुको ।।३५४।।
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण में जहाँ केवल गजगति को ही दर्शाया गया है, वहाँ द्वितीय के अन्तर्गत उसकी किंकिणी और नूपुरों की ध्वनि के उल्लेख द्वारा उसकी इस स्वाभाविक गति को संगीतमय बनाकर उसमें नेत्र और श्रवणेन्द्रियों को तृप्त करने की क्षमता उत्पन्न कर दी गई है।

संश्लिष्ट चित्रों में उन्होंने एक साथ कई व्यापारों का उल्लेख किया है। इनकी विशेषता यह है कि ये आलम्बन के भावों की स्थूल और सूक्ष्म अभिव्यक्ति करने में इतने समर्थ होकर आये हैं कि इन्हें क्रमशः हेला और हाव के उदाहरणों के रूप में सरलता से पृथक् किया जा सकता है। इधर इनमें आश्रयत्व का आभास न होने से अनुभावों से भी इन्हें पृथक् करके देखा जा सकता है। सर्वप्रथम कुलटा नायिका का एक चित्र लीजिये—

अंजन दै निकसै नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै ।
रूप गुमान भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै ।।
जोबन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै ।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सँभारै ।।८०।।
(रसराज)

इसमें नायिका के नित्य-प्रति के शृंगार करने की क्रियाओं के कथन के अतिरिक्त उसके अपने आपको अत्यन्त सुन्दरी समझकर बार-बार पैर के अँगूठे की अनवट सुधारने, केशों को बिखराकर चलने, अंचल को न सँभालने एवं मार्ग के लोगों की ओर देखने की क्रियाओं का स्थूल चित्रण मात्र है, जिससे स्पष्टतः अनेक लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने की उसकी इच्छा व्यक्त हो रही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी व्यापार अपने आपमें अत्यन्त भाव-मुखर होने के कारण 'हेला' की कोटि में ही आयेंगे। इसी प्रकार—

(१) सोय रही रति अंत रसीली अनंत बढ़ाय अनंग तरंगनि।
केसरि खौरि रची तिय के तन प्रीतम और सुबास के संगनि॥
जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावति भौंह के भंगनि।
लाल सों बोलति नाहिंन बाल सु पोंछति आँखि अँगोछति अंगनि॥१०५॥

(२) प्यार पगी पगरी पिय की घर भीतर आपने सीस सँवारी।
एते मैं आँगन तें उठि कै तहाँ आय गयो 'मतिराम' बिहारी॥
देखि उतारन लागी पिया पिय सौंहनि सौं बहुर्‌यौ न उतारी।
नैन नवाय लजाय रही उरलाय लई मुसकाय पियारी॥३५१॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत प्रिय द्वारा लगाये गये अंगराग जैसी अभिलषित वस्तु का तिरस्कार नायिका की भ्रू-भंगी तथा नायक से न बोलते हुए अंगों को पोंछने की क्रियाओं द्वारा सूक्ष्मता के साथ प्रकट करके 'विब्बोक हाव' का वर्णन किया गया है। द्वितीय में नायिका के पति की पगड़ी शिर पर धारण करने, पति को देखकर इसे संकोच से उतारने तथा उसके सौगंध खिलाने पर धारण किये रहने की क्रियाओं में 'लीलाहाव' चित्रित हुआ है।

जहाँ तक उद्दीपन रूप में प्रकृति और दूती आदि की उक्तियों एवं क्रियाओं के वर्णन का प्रश्न है, प्रकृति को तो उन्होंने, सिवाय एक-दो स्थलों के, सर्वत्र भावी संयोग की सहायिका के रूप में ग्रहण किया है, जिस पर प्रकृति वर्णन के प्रसंग में आगे चर्चा की जायगी। रही बात दूती आदि की क्रियाओं और उक्तियों की, इनका वर्णन प्रायः वस्तु-परक और भाव-परक दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है। बानगी के लिए पहिले वस्तु-परक वर्णन के दो छन्द देते हैं—

(१) भई हौ सयानी तरुनाई सरसानी प्रीति
प्रीतम पत्यानी, दूरि लाज उर नाखियो।
कवि 'मतिराम' काम केलि की कलानि करि
मोहन लला को बस कीबो अभिलाखियो॥
मृदु मुसकाय परजंक में निसंक जाय
अंक भरि आनँद अधर-सुधा चाखियो।
नेवर की झनक-झनक राखि प्यारी आजु
रसना की झनक तनक रस राखियो॥१६८॥

(रसराज)

(२) बारन धूपि अगारनि धूपि कै धूम अँध्यारी पसारी महा है।
आननचन्द समान उग्यो मृदु मंजु हँसी जनु जोन्ह छटा है॥
फैलि रही 'मतिराम' जहाँ तहाँ दीपति दीपनि की परभा है।
लाल तिहारे मिलाप कौं बाल सु आज करी दिनही मैं निसा है॥१०७॥
(ललितललाम)

प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत सखी-शिक्षा का वर्णन है और द्वितीय में नायक के प्रति दूती की उक्तियाँ। दोनों ही अवस्थाओं में विषय की स्थूलता स्पष्ट है। भाव-परक वर्णन इसके विपरीत सर्वथा सूक्ष्म हैं, देखिये—

(१) बातनि जाय लगाय लई रस हो रस मैं मन हाथ कै लीनौं।
लाल तिहारे बुलावन को 'मतिराम' मैं बोल कह्यो परबीनौं॥
बेग चलौ न बिलंब करौ लख्यो बाल नबेली को नेह नबीनौं।
लाज भरी अँखियाँ बिहँसी बलि बोल कहें बिन उत्तर दीनौं॥१९७॥
(ललितललाम)

(२) जानत कछू न पै कहावत रसिकराय
ल्याउ-ल्याउ अबहीं तिहारे यह टेक है।
कूरन की रीति है जु झेल ऐसो डारि देत
'मतिराम' चतुराई चतुर लिए कहै॥
बोली ना नवेली कछू बोल सतराय वह
मनसिज ओज को सुहानों कछु सेक है।
बातन सुनत अँगरात अलसात गात
सोहै करि नैन बिहसोहैं भई नेक है॥३०७॥
(रसराज)

यहाँ रेखांकित वाक्यों में दूती की जिन क्रियाओं और उक्तियों का उल्लेख हुआ है, वे सभी सूक्ष्मता की ओर ही केन्द्रित हैं। इतना ही नहीं कतिपय स्थलों पर तो ये इतनी सूक्ष्म हो गई हैं कि इनके उद्दीपक तत्त्व का आभास केवल आश्रय की विशिष्ट चेष्टाओं द्वारा ही प्रकट होता है। उदाहरण के लिए—

गौने के द्यौस सिंगारन को 'मतिराम' सहेलिन को गनु आयौ।
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास बढ़ायौ॥
'प्रीतम सौन समीप सदा बजैं' यौं कहि कै पहिले पहिरायौ।
कामिनि कौल चलावनि कौंकर ऊँचो कियौ पै चल्यौ न चलायौ॥२९६॥
(रसराज)

इसमें "प्रीतम सौन समीप सदा बजै" सखी की इस परिहासोक्ति की उद्दीपन-क्षमता की व्यंजना केवल अन्तिम चरण से ही हो रही है।

अनुभाव-वर्णन—अनुभाव-वर्णन रीतिकालीन शृंगारिक कविता की मुख्य विशेषता है। साधारणतः इस युग के अधिकांश कवियों ने अनुभाव-योजना को ही

काव्य की सफलता समझकर इसके उत्कर्ष के लिए अपने अनुभव, वैदग्ध्य, कल्पना, रुचि और प्रकृति को एक साथ जुटा दिया है। यही कारण है कि इनमें से प्रत्येक की रचना एक ओर तत्कालीन समाज की स्थिति का और दूसरी ओर कवि के व्यक्तित्व का सही चित्र प्रस्तुत कर देती है। यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं कि उस समय के समाज में बहु विवाह और इसलिए परकीया-प्रेम एक प्रकार से लोक-जीवन का अंग बन गया था। अतः इस प्रकार की रसिकता का वर्णन रसिक कवियों की रुचि के अनुकूल होने के कारण और अधिक प्रखर होकर आया है। हमारे आलोच्य कवि की रचनाएँ भी इस रोग से अछूती नहीं रहीं—

नन्दलाल गयो तित ही चलिके जित खेलत बाल अलीगन में।
तहाँ आपु ही मूँदे सलोनी के लोचन चोर मिहीचनि खेलनि में॥
दुरिबे को गई सिगरी सखियां 'मतिराम' कहै इतने छिन में।
मुसकाय कै राधिका कंठ लगाय छिप्यो कहूँ जाय निकुंजन में॥२७०॥

(रसराज)

यहाँ सखियों के बीच खेलती हुई नायिका को मुस्कराते हुए अपने हृदय से लगाकर नायक के कुंजों में जा छिपने का वर्णन अपनी वस्तु-परकता से तत्कालीन रसिकों की क्रियाओं का सजीव उदाहरण है। इसी प्रकार—

(१) **सुन्दरि सरस सब अंगन सिंगार साजे**
सहज सुभाव निसि नेह कछु कै गई।
कीने 'मतिराम' बिहसौंहैं से कपोल गोल
बोलन अमोल इतनोई सुख वै गई॥
मेरे ललचौंहैं मुख फेरि के लजौहैं
ललचौंहैं चारु चखनि चितै कै सो चली गई।
निपट निकट ह्वै कै कपट छुवाय अंग
लायकी-सी लपट लपेटि मनु लै गई॥२५७॥

(२) **नैन जोरि मुख मोरि हँसि नैसुक नेह जनाय।**
आगि लेन आई हिये मेरे गई लगाय॥ २५८॥

(रसराज)

इन उद्धरणों में कायिक और मानसिक—दोनों ही प्रकार के अनुभावों का भाव-परक वर्णन हुआ है। अब आप ही देखें कि इनमें 'नेह कछु कै गई' तथा 'नैसुक नेह जनाय' इत्यादि से नायिका का जो चित्र अंकित हुआ है, सो तो है ही, पर 'लायकी सी लपट लपेटि मनु लै गई' और 'आगि लेन आई हिये मेरे गई लगाय' के द्वारा नायक की तीव्र लालसा की अभिव्यक्ति हो रही है।

मतिराम ऐसे वर्णनों में अधिक संलग्न नहीं हुए, इस कारण युग का प्रभाव कहकर किसी भी प्रकार के आक्षेप से उनकी रक्षा की जा सकती है। वास्तव में इस प्रकार की गिनी-चुनी रचनाओं को छोड़कर, शेष में जहाँ भी कहीं उन्होंने अनुभावों का वर्णन किया है, वहाँ नैतिकता की परिसीमाओं का उल्लंघन नहीं हो पाया,

जिसका प्रमुख कारण उनकी अपनी गम्भीर प्रकृति और भारतीय संस्कारों में पली हुई परिष्कृत रुचि है। बानगी के लिए देखिए—

(१) बैठी तिया गुरुलोगन मैं रति तैं अति सुन्दर रूप बिसेखी।
आयो तहाँ 'मतिराम' सुजान मनोभव सौं बढ़ि कान्ति उरेखी॥
लोचन रूप पियो ही चहैं अरु लाजनि जात नहीं छबि पेखी।
नैन नमाय रही हिय-माल मैं लाल की मूरति लाल मैं देखी॥७४॥

(२) चन्दमुखी सजनीन के संग हुती पिय अंगन मैं मनु फेरत।
ताहि समै पिय प्यारे के आवन प्यारी सखी कह्यौ द्वार तें टेरत॥
आय गए 'मतिराम' जबै तबै देखत नैन अनन्द भए रत।
भौन के भीतर भाजि गई हँसि कै हरुवै हरि को फिरि हेरत॥२१६॥

(रसराज)

इन छन्दों में एक ही अनुभाव—प्रिय-अवलोकन का वर्णन किया गया है जो एक ओर नायिकाओं की वैदग्ध्यपूर्ण क्रियाओं से और दूसरी ओर उनके गुरुजनों की मर्यादा का पालन करने के कारण स्वाभाविकता-सम्पृक्त मार्मिकता लिये हुए है। इसी प्रकार—

(१) छल सौं छबीली कौं सहेलिन लिवाय करि
ऊपर अटारी जाय रूप रच्यौ ख्याल को।
कवि 'मतिराम' भूखनन की झनक सुनि
चाय भौ चपल चित रसिक रसाल को॥
अली चलीं सकल अलीक मिस करि-करि
आवत निहारि करि मदन गोपाल को।
लालन को इन्दु सौ बदन अवलोकि
अरबिंद सो बदन कुम्हिलाय गयो बाल को॥३३१॥

(२) खेलन चोर-मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात वहाँ ईं॥
एकहि भौन दुरे इकसंग ही अंग सौं अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो घनस्वेद बढ़्यो तनुरोम उठ्यो अँखियाँ भरि आईं॥१६॥

(रसराज)

यहाँ इन दोनों छन्दों के अन्तर्गत सात्विक अनुभावों का वर्णन है—प्रथम में लज्जा के कारण नायिका का वैवर्ण्य और द्वितीय में अंग-स्पर्श से होने वाले कम्प, स्वेद, रोमांच और अश्रु का उल्लेख हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें भी किसी भी प्रकार का मर्यादोल्लंघन नहीं हुआ, जिन परिस्थितियों में इन सात्विक अनुभावों की सृष्टि की गई है, उनमें ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

मतिराम भाव-वर्णन के कवि पहले हैं, इसके पश्चात् वस्तु-वर्णन के। यही कारण है कि उनके स्थूल-वर्णनों तक में विशिष्ट भाव भी स्पष्ट रहता है—उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है। किन्तु जहाँ पर उन्होंने केवल भावों का ही

चित्रण किया है, उनका तो कहना ही क्या ? उनके ऐसे चित्र साधारणतः अनुभावों के रूप में ही विभिन्न प्रकार से व्यक्त हुए हैं। पहले अकेले भाव का चित्र लीजिये—

भावते को सुनि आगम आनँद अंगन-अंगन में उमह्यो है।
सो हमहूँ-सी सखि सो दुराइए आली कह्यो यह कौन कह्यो है॥
खेंच लिए सुख के अँसुआ यह क्यों दुरिहै जु हियो उमह्यो है।
गाढ़ी भई कर की मुँदरी अँगिया की तनीन तनाव गह्यो है॥२२४॥

(रसराज)

इसमें प्रिय के आगमन पर नायिका के शरीरावयवों की प्रफुल्लता द्वारा उसके मन की प्रफुल्लता को दर्शाया गया है। इसी प्रकार मानसिक द्वन्द्व अपने आपमें इससे भी अधिक सजीव होकर आया है—

न्योते गए कहुँ नेह बढ़्यो 'मतिराम' दुहूँ के लगे दृग गाढ़े।
ऊँचे अटा पर काँधे सहेली के ठोढ़ी दिए चितवें दुख बाढे॥
लाल चले सुनिकें ग्रह कौं तिय अंग अनंग की आगि सौं डाढ़े।
मोहन जू मन गाढ़ो करें पग द्वैक चलें फिर होत हैं ठाढ़े॥

(रसराज)

नायक को ध्यान है कि वह दावत खाने आया हुआ है, इसके पश्चात् उसके रुकने का क्या कारण ? उसे चला ही जाना चाहिये। जब वह यह सोचता है तो आगे पैर बढ़ा देता है, परन्तु दूसरी ओर नायिका से आँखे चार होने के कारण प्रेम जब प्रबल होता है तो पुनः रुक जाता है। मर्यादा और प्रेम के द्वन्द्व का ऐसा सजीव चित्र विरल है।

द्वन्द्व का चित्र भी प्रस्तुत किया जा सकता है, पर इससे भी अधिक कठिन है एक भाव का परिस्थिति के अनुसार अचानक विपरीत भाव में परिणत हो जाने का अनुभाव द्वारा चित्रण ! देखिये, नायिका के क्रोध के आँसू किस प्रकार से प्रेम के आँसुओं में परिवर्तित हो जाते हैं—

आयो प्रान पति राति अनतें बिताय बैठी
भौंहन चढ़ाय रँगी सुन्दरि सुहाग कों।
बातन बनाय पर्‌यो प्यारी के चरन आय
छल सौं छिपाई छैल-छबि रति दाग की॥
छूटि गयो मान लगी आपुही सँवारन कौं
खिरकी सुकबि 'मतिराम' पिय पाग की।
रिस ही के आँसू रस-आँसू भए आँखिन में
रोस की ललाई सो ललाई अनुराग की॥२३२॥

(रसराज)

अनुभावों के ऐसे सजीव और मर्यादा-पूर्ण चित्र ही मतिराम के काव्य की विशेषता हैं, जो इसे अन्य कवियों की रचनाओं से पृथक् करते हैं।

मिलन-वर्णन—'मिलन' से हमारा अभिप्राय संभोग से है, जिसके अन्तर्गत सुरत का वर्णन ही नहीं, इसके बाद का अर्थात् सुरतान्त-वर्णन भी आ जाता है। सुरत-पूर्व का वर्णन प्रायः नायक-नायिका के अनुभावों के वर्णन से परे नहीं कहा जा सकता। क्योंकि रीतिकाल की कविता मुख्यतः तत्कालीन विलासी राजाओं के मनोविनोद की सामग्री रही, अतः उनके आश्रित कवियों को केवल अनुभाव-वर्णन से ही संतोष नहीं हुआ, उन्हे प्रसन्न करने वे इससे आगे संयोग के उक्त दोनों स्वरूपों के वर्णन में भी जुट गये और संभोग के ऐसे चित्र तक खीच डाले जो कुरुचि पूर्ण होने के नाते 'रति' स्थायी को पुष्ट करने के स्थान पर अपने आपमें जुगुप्सित हो गये हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मतिराम की रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी, पर इस प्रकार का वातावरण इनके ऊपर भी अपना मायावरण डाले बिना न रहा, जिसका परिणाम इस छन्द में देखा जा सकता है—

पाइ इकंत कै बाल सों बालम जो रति रूप कला दरसावै।
नाहीं कहूं मुख नारि के नाह जहीं हिय सों हियरा परसावै॥
काम बढ़ौ 'मतिराम' तहीं अति लाल बिलासनि कौं सरसावै।
जोवै त्रसै मन मोवै अनन्द में रोवै-हँसै रसकौं बरसावै ॥२७८॥

(ललितललाम)

यहाँ आदि से लेकर 'जोवै त्रसै मन मोवै अनन्द में रोवै हँसै' तक का वर्णन अपनी वस्तु-परकता से इतना घृणित नहीं, जितना कि अन्तिम पद—'रस को बरसावै' के द्वारा भाव-परक हो जाने से बन गया है। इससे ऐसा लगता है मानो स्वयं कवि ही तन्मय होकर इसका आनन्द ले रहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि मतिराम के संभोग-चित्र प्रायः ऐसे ही हैं। उनके सभी ग्रन्थों की खोज करने पर हमें इसके अतिरिक्त एक और छन्द मिला है, जो अपने आपमें इसी भाव का है[1], इसलिए उनके शृंगार-वर्णन के इस पक्ष को सर्वथा कुरुचिपूर्ण नही कहा जा सकता। साधारणतः उन्होंने जितने भी ऐसे चित्र प्रस्तुत किये हैं, उनमें तन्मयता होने पर भी ऐसी कोई बात नहीं जो बीभत्स हो। इनमें प्रायः भाव की मर्यादा का पूरा ध्यान रखा गया है। उदाहरण के लिए—

पारावार पीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग
बरनत कोऊ कवि-कोविद निहारि कै।
सो तो मतो 'मतिराम' न मनमाने निज
मति सौं कहत यह बचन बिचारि कै॥
जरत बरत बड़वानल सौं बारिनिधि
बीचिनि के सोर सौं जनावत पुकारि कै।

---

१. बैठि रहै रोवै हँसै आतुर उतरि उताल।
प्रथम सुरति बिपरीति की रीति न जानति बाल ॥४९४॥

(सतसई)

ज्यावत बिरंचि ताहि प्यावत पियूष निज
कलानिधि मंडल कमंडल तैं ढारिकै ॥८८॥

(ललितललाम)

यह छन्द काम के क्षणों का अत्यन्त सबल एवं कलात्मक चित्र प्रस्तुत कर रहा है। इसमें 'पारावार प्रीतम को प्यारी ह्वै मिली है गंग' वाक्य के द्वारा ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से संभोग की तरंगों का संकेत ही नहीं किया गया, प्रत्युत 'बीचिन के सोर' तथा अन्तिम चरण द्वारा क्रमशः किंकिणी आदि के मधुर रव तथा पति को प्राप्त आनन्द की अतिशयता का भी उल्लेख हुआ है। कहना न होगा कि इसमें सुरत-वर्णन के उपर्युक्त छन्द की अपेक्षा अधिक तन्मयता होने पर भी इसको कुरुचि-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार—

(१) **किंकिनि नेवर की झनकारिनि चारु पसार महारस जालहि।**
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' कलानि निहाल कियो नँदलालहि॥
स्वेद के बूँद लसैं तन मैं रति अन्तर ही लपटाय गुपालहि।
मानो फली मुकता फल पुंजन हेमलता लपटानी तमालहि॥३१६॥

(२) **प्रान प्रिया प्रिय आनँद सौं बिपरीति रची रति रँग रह्यो म्वै।**
काम कलोलनि मैं 'मतिराम' रही धुनि त्यौं कटि किंकिनी की ह्वै॥
आनन की उजियारी परी श्रमबूँद समेत उरोज लखे द्वै।
चन्द की चाँदनी के परसें मनों चंद पखान पहार चले च्वै॥३४५॥

(रसराज)

इनमें प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत सुरत का और द्वितीय में विपरीत रति का वर्णन है। दोनों ही के उपकरण अपने आपमें स्थूल हैं—वस्तु-परक हैं, परन्तु यहाँ भी भावावेश और कलात्मक उपकरणों के प्रयोग द्वारा अश्लीलता का निवारण हो गया है। दोनों के अन्तिम चरणों में उत्प्रेक्षाओं ने जहाँ एक ओर कवि के आवेश की सही व्यंजना की है, वहाँ दूसरी ओर इनके प्रकृति से गृहीत अप्रस्तुत अपनी सूक्ष्मता के कारण मन में ऐसी विकृति नही आने देते जो प्रायः संभोग के स्थूल चित्रो की दशा में सामान्य होती है। इसके अतिरिक्त भी विषय के अनुसार कोमल वर्णों का विन्यास तथा 'काम कलोलनि', 'निहाल', 'रतिरंग रह्यौ म्वै'—जैसे सटीक एवं भावात्मक शब्दों का प्रयोग भी इन चित्रों को केवल भाव-क्षेत्र तक ही पहुँचाता है—ऐंद्रियता की ओर मन को प्रवृत्त नहीं करता।

सुरत-वर्णन में अश्लीलता आ जाने का भय प्रायः बना रहता है, पर सुरतान्त-वर्णन में इसकी सम्भावना कम रहती है। खेद का विषय है कि रीतिकालीन कवियों ने इसको भी कुरुचिपूर्ण बना डालने में कसर नहीं उठा रखी। उन्होंने न जाने इसे किन-किन रूपो में ग्रहण करके घृणित कर डाला है। इस युग में अग्रगण्य बिहारीलालजी का यह दोहा इसका परिचय है—

दृग थरकौंहैं अधखुले देह थकौंहैं ढार।
सुरति सुखित सी देखियत दुखित गरभ कें भार॥६६२॥

(वही बिहारी-बोधिनी)

गर्भ के भार से दुःखी नायिका को सुरत-सुखित कहना, गर्भ और सुरत दोनों का ही जुगुप्सित रूप प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत कवि-कुरुचि की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करता है। परन्तु मतिराम के वर्णनों के सम्बन्ध में इस प्रकार की कोई बात नहीं कही जा सकती। उन्होंने अपने सुरतान्त-वर्णनों को साधारणतः खण्डिता अथवा अन्य संभोग-दुःखिता की उक्तियों तक ही सीमित रखा है ; दो उदाहरण देते हैं -

(१) जावक लिलार ओठ अंजन की लीक सोहै
खंये न अलीक लोक लीक न बिसारिए।
कबि 'मतिराम' छाती नख-छत जगमगै
डगमगै पग सूधै मग में न धारिए॥
कसके उघारत हौ पलक-पलक यातैं
पलका पै पौढ़ि स्रम राति को निवारिए।
अटपटे बैन मुख बात न कहत बनै
लटपटे पेंच सिर-पाग के सुधारिए॥१२५॥

(२) याही कौं पठाई भलो काम करि आई बड़ी
तेरी ये बड़ाई लखे लोचन लजीले सौं।
सांची क्यों न कहै कछु मोकों किधौं आपहि कौं
पाइ बकसीस लाइ बसन छबीले सौं॥
'मतिराम' सुकबि संदेसा अनुमानियत
तेरे नख-सिख अंग हरष कटीले सौं।
तू तौ है रसीली रस बातन बनाय जानै
मेरे जान आई रस राखिकैं रसीले सौं॥६६॥

(रसराज)

यहाँ नयिकाओं के व्यंग्य-वाक्यों द्वारा क्रमशः नायक और दूती की सुरतोपरान्त-शरीर-स्थिति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, उसमें स्वाभाविकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं। व्यंग्यों से इसमें तीव्रता और आ गई है।

परिहास-वर्णन—निवेदन किया जा चुका है कि मतिराम की प्रकृति संयत थी, यही कारण है कि परिहास-वर्णन संयोग शृंगार का महत्त्वपूर्ण अंग होने पर भी उनकी रचनाओं में उतना स्थान प्राप्त नहीं कर सका, जो रूपादिक के वर्णन को प्राप्त हुआ है। पर क्योंकि वे शृंगार रस-गत परिहास-वर्णन की आत्मा से भली-भाँति परिचित थे, इसलिए अँगुलियों पर गणना करने लायक इन छन्दों की रचना में भी उन्हें उतनी ही सफलता मिली है। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि इनसे नायका-नायिका के आपस के हँसी-मजाक का केवल बाहरी रूप ही प्रकट नहीं होता, प्रत्युत इनके मूल में विद्यमान वह मधुर और गम्भीर विनोद भी व्यक्त हो जाता है, जिसका उद्देश्य पारस्परिक प्रेम को अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। उदाहरण के लिए यह छन्द लीजिए—

देखत और तियाहि छबीले कों मान छबीली के नैनन छायो।
प्रीतम यों चतुराई करी 'मतिराम' कछू परिहास बढ़ायो॥
रीति रची बिपरीति जु प्रीति सौं ताको कबित्त बनाय सुनायो।
भूलि गई रिस लाजन तें मुसकाय पिया मुख नीचे कों नायो॥३८७॥

(रसराज)

कोई भी नारी अपने पति का अन्य नारी की ओर आकृष्ट होना सहन नहीं कर सकती। इस पर उसे क्रोध तो आयेगा ही, साथ में उसके प्रेम का ह्रास होना भी स्वाभाविक है। यदि उसका पति किसी प्रकार के बहाने द्वारा सफाई देने का प्रयास करे तो भी कोई अनुकूल प्रभाव पडने की सम्भावना नहीं की जा सकती है। केवल विनोद से ही कुछ काम बन सकता है। यहाँ मतिराम के नायक ने विपरीत रति का वर्णन—और वह भी कविता में—नायिका के आगे सुनाकर यद्यपि अपनी धृष्टता का परिचय दिया है, पर मनोविज्ञान की दृष्टि से यह अपने आपमें इतना सफल प्रयोग है कि नारी के किसी भी प्रकार के क्रोध को लज्जा और स्मिति में परिणत होते देर न लगेगी। इसी प्रकार—

केलि कै राति अघाने नहीं दिनहो मे लला पुनि घात लगाई।
प्यास लगी कोउ पानी दै जाइयौ भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हँसि हेरि हरैं 'मतिराम' बुलाई।
कान्ह के बोल मै कान न दीनों सो गेह की देहरी पै धरि आई॥२८॥

(रसराज)

यहाँ क्रिया की सहायता से अत्यन्त क्षीण और स्वच्छ विनोद का समावेश किया गया है। नायक ने पानी पीने के बहाने नायिका को अपने निकट बुलाना चाहा, पर वह भी कम चतुर नहीं थी—सब ताड़ गई—अतः वह पानी पिलाने के लिए गई तो, किन्तु पात्र को दरवाजे की देहरी के भीतर रखकर भाग आई; बेचारा नायक यह तमाशा देखता ही रह गया।

संक्षेप में मतिराम का संयोग-शृंगार-वर्णन इतना स्वच्छ है कि इससे सहज ही उनकी रुचि और दृष्टि के परिष्कार एवं संयम का आभास मिल जाता है। यद्यपि कतिपय स्थलों पर वे युग के प्रवाह में बह गये हैं, किन्तु इनमें भी एकाध-स्थल को छोड़ सर्वत्र भाव मर्यादा का पालन हुआ है। वास्तव में इस विषय के समस्त अंगो को उन्होंने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है, इसीलिए इनका खुलकर ही नहीं, तन्मयता के साथ वर्णन करने पर भी वे तत्कालीन रसिक कवियों के समान छिछले नहीं बन पाये।

विप्रलम्भ शृंगार

संस्कृत के आचार्यो ने विप्रलम्भ शृंगार के जिन चार भेदों—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण का विवेचन किया है उनका मूल-आधार विशिष्ट परिस्थितियाँ हैं, जो आलम्बन अथवा आश्रय के मन पर रति के अनुकूल प्रभाव न डालकर उसे दुःख

का अनुभव कराती हैं। चूँकि आलम्बन और आश्रय अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं, अतएव स्वभावतः विप्रलम्भ शृंगार-गत मन की स्थिति दो प्रकार की होती है। इनमें एक की परिसीमा के अन्तर्गत केवल 'मान' आता है, जब कि आश्रय का अपराध आलम्बन की रति को क्रोध अथवा प्रेम की प्रतिदान-सम्बन्धी निराशा से आच्छादित कर लेता है। दूसरी में विप्रलम्भ शृंगार के शेष तीन भेद आ जाते हैं, कारण आलम्बन की शारीरिक उपस्थिति का अभाव आश्रय की रति के ऊपर छाया रहता है। इसीलिए मन की व्यथा का प्रथम स्वरूप अपने भीतर दो विपरीत भावों को एक साथ लिये रहने के कारण तीव्र होता है, जबकि द्वितीय रति के आधार के अभाव में अत्यन्त गम्भीर बन जाता है।

अस्तु, रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने विप्रलम्भ शृंगार को भी अपनी कविता का विषय बनाया है, किन्तु अधिकांश को सफलता केवल इसके अगंभीर पक्ष अर्थात् 'मान' का वर्णन करने में ही मिली है—इसके शेष तीन भेदों का वर्णन परम्परा का पालन मात्र रह गया है और उसमें भी 'करुण' जैसे सर्वाधिक गम्भीर अंग का वर्णन तो इस युग के काव्य में अत्यन्त विरल है। इसका मुख्य कारण यह है कि तत्कालीन समाज में नारी भोग का उपकरण मात्र रह गई थी—अर्द्धांग नहीं; इसी-लिए उसके अश्रु गिराने, रूठने आदि व्यापारों में भी रसिक जन आनन्द की अनुभूति करते थे; उसके हृदय की वेदना का उनको कभी ध्यान तक न आता था। इधर कवियों को ही किस बात की बाधा थी? उन्हें इस प्रकार के वर्णनों की छूट तो थी ही, साथ में पुरस्कार भी मिल जाते थे। ऐसी दशा में नायिकाओं के रूठने अथवा उनकी व्यंग्य-प्रधान और तीखी उक्तियों के रूप में 'मान' का मनोयोगपूर्वक वर्णन किया गया तो आश्चर्य ही क्या? मतिराम ने भी अपने काव्य में वियोग शृंगार के इस भेद को प्रमुख स्थान देते हुए साधारणतः इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम नायिका के रूठने का एक वर्णन लीजिए—

आजु कहा तजि बैठी हो भूषण ऐसे ही अंग कछू अरसीले।
बोलतीं बोल रुखाई लिए 'मतिराम' सनेह सने न रसीले॥
क्यों न कहौ दुख प्रान प्रिया अँसुवानि रहे भरि नैन लजीले॥४४॥

(रसराज)

आभूषणों को त्याग फेंकना, अंगों में उत्साह और वाणी में स्निग्धता का अभाव होना तथा नेत्रों में आँसू भर लाना—नायिका के ये सभी व्यापार तो स्थूल हैं, किन्तु—

वैसे ही चितै कै मेरे चित्त को चुरावती हो
बोलती हौ वैसे ही मधुर मृदु बानि सौं।
कवि 'मतिराम' अंग भरत मयंक मुखी
वैसे ही रहत गहि भुज-लतिकानि सौं॥
चूमति कपोल पान करत अधर रस
वैसे ही निहारियत सकल कलानि सौं।

कहा चतुराई ठानियत प्रान प्यारी तेरो
मान जानियत रूखी मुख-मुसकानि सौं ॥४७॥
(रसराज)

यहाँ नायिका के मुस्कान में रूक्षता ले आने का वर्णन इतना सूक्ष्म है कि इससे पूर्व-कथित प्रेम-प्रदर्शन की क्रियाएँ भी इसी स्वर में स्वर मिलाती हैं। इसी प्रकार नायिकाओं की उक्तियाँ भी क्रोध की छाया में अत्यन्त तीखी होकर व्यक्त हुई हैं ; यथा—

बरज्यो न मानत हो बार बार बरज्यो मैं,
कौन काम मेरे इत भौन मैं न आइए।
लाज को न लेस जग-हाँसी को न डर मन,
हँसत-हँसत आन बात न बनाइए॥
कबि 'मतिराम' नित उठि कलकानि करो,
नित झूँठी सौंहैं करो नित बिसराइए।
ताके पग लागो निस जागि जाके उर लागे,
मेरे पग लागि उर आगि न लगाइए ॥२५४॥
(रसराज)

कभी-कभी इनमें प्रेम की प्रतिदान-सम्बन्धी निराशा भी मुखर हो गई है—

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम' रहो तितही जितही मन भायो।
काहे कौं सौंहैं हजार करौ तुम तौ कबहूँ अपराध न ठायो॥
सोवन दीजै न दीजै हमैं दुख यों ही कहा रसबाद बढ़ायो।
मान रहोई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानैं मनायो ॥४१॥
(रसराज)

इसके प्रथम तीन चरणों में जहाँ तीव्र भर्त्सना और क्रोध की अभिव्यक्ति है, वहाँ अन्तिम चरण में नायिका की व्यथा स्पष्टतः लक्षित हो रही है, जिसकी चरम सीमा इस छन्द में देखने को मिल जायगी—

तुम कहा करो कान काम तें अटकि रहे,
तुमकौं न दोस सो तो आपनोई भाग है।
आय मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही तैं,
अति हरबरन बनाय बाँधी पाग है॥
मेरे ही बियोग रहे जागत सकल राति,
गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मनहु की जानी प्रान प्यारे 'मतिराम' यहै,
नैननि हूँ माँहि पाइयतु अनुराग है ॥३८॥
(रसराज)

नायक का पहला अपराध हो तो उसे झिड़ककर सुधारा जा सकता है; पर यहाँ तो हज़रत की दिनचर्या ही ऐसी बन गई है। उस दशा में नायिका सिवाय दो-चार व्यंग्य कसने के और कर ही क्या सकती है? इधर भारतीय नारी का आदर्श मतिराम के अपने विचार से इतना है कि चाहे उसका पति नपुंसक ही क्यों न हो, तो भी उसे उसकी मर्यादा रखनी चाहिये[1]। अतः मर्यादा के बन्धन में बँधी नारी के लिए इस प्रकार के दुःख को अपने भाग्य का दोष समझकर चुप हो बैठने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। यहाँ पर ऐसी ही परिस्थिति को दर्शाया गया है, जिससे तत्कालीन गृहणियों के जीवन की करुणा साकार हो उठती है। वास्तव में यह दुःखिनी नायिका की उक्ति मात्र नहीं, वरन् इसके व्याज से कवि की आत्मा अपने युग के अनैतिक जीवन की भर्त्सना कर रही है। रसिकताप्लावित काव्य में भी नैतिक दृष्टि को अक्षुण्ण बनाये रखना ही मतिराम की विशेषता है।

पूर्वराग, प्रवास और करुण में से प्रथम दो का वर्णन ही मतिराम की रचनाओं में उपलब्ध होता है—करुण का तो उन्होंने अपने शृंगार-विवेचन में उल्लेख तक नहीं किया। साधारणतः विप्रलम्भ के इन भेदों के वर्णन में: (१) अभिलाष, (२) चिन्ता, (३) स्मृति, (४) गुण-कथन, (५) उद्वेग, (६) प्रलाप, (७) उन्माद, (८) व्याधि, (९) जड़ता और (१०) मरण—इन दश काम-दशाओं का वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम पाँच का सम्बन्ध आश्रय की मानसिक स्थिति के साथ ही रहता है, जबकि शेष पाँच मुख्यतः उसकी शारीरिक स्थिति का द्योतन करती हैं। परन्तु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इन दशों दशाओं का एक दूसरी से किसी प्रकार का पृथक् उद्देश्य नहीं रहता—सभी एक के बाद दूसरी आकर आश्रय के विरह की उत्कटता प्रकट करती हैं[2]। संस्कृत के आचार्यों ने भी इसीलिए इन्हे विशेष क्रम में प्रस्तुत किया है। देखिये, आलम्बन से मिलने की इच्छा (अभिलाष) जागृत हो जाने पर आश्रय स्वभावतः इसकी पूर्ति के लिए उपाय विचारता है (चिन्ता) और यदि वह इसमें सफल नहीं हो पाता तो उसके रूप आदि का स्मरण (स्मृति) और फिर वर्णन करना (गुण-कथन) आरम्भ कर देता है, क्योंकि इसके द्वारा वह अपने मन को शान्त कर लेना चाहता है। परन्तु जब यह इच्छा उत्कट रूप धारण कर लेती है तो प्रिय (आलम्बन) के अतिरिक्त संसार की कोई भी वस्तु उसे अच्छी नहीं लगती (उद्वेग)। इस अवस्था में उसके चित्त के भीतर एक विशेष प्रकार का विक्षेप आ जाता है, जिसके फलस्वरूप उसमें अवसर के अनुकूल बात करने का विवेक न रहने से वह अनापशनाप बक उठता है (प्रलाप)। आगे इस विवेक के नष्ट हो जाने से जड़-चेतन-सभी कुछ उसे प्रिय जैसा ही लगता है और वह इनके प्रति प्रिय-जैसा ही व्यवहार करने लगता है (उन्माद)। किन्तु

---

१. दे० गुरुजन दूजे ब्याह कों प्रतिदिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखे बहू आपुन बाँझ कहाइ ॥९॥
(सतसई

२. इस विषय में विद्वानों में मतभेद है, परन्तु हमारी धारणा यही है

इसी प्रक्रिया में- -विशेषतः मानसिक व्याधि के कारण उसका शरीर क्षीण होता चला जाता है, जिससे कृशता, दीर्घ-निश्वास, पाण्डुता आदि का बढ़ना स्वाभाविक ही है (व्याधि) आगे चलकर शरीर के अंगों की दुर्बलता के कारण मूर्च्छा आदि (जड़ता) और फिर मृत्यु तक भी हो जाती है (मरण)। रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने इस विषय की आत्मा तक पहुँचने का प्रयास नहीं किया ; नायक अथवा नायिका का विरहाधिक्य दिखाने के हेतु मरण को छोड़ इन सभी दशाओं का अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन कर डाला है ; और यही कारण है कि उनकी शृंगारिक-कविता का यह पक्ष ऊहात्मक ही नही, कहीं-कही तो हास्यास्पद भी वन गया है। बिहारी की अनेक रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। मतिराम के ग्रन्थों में भी ऐसे छन्द देखने को मिल जाते हैं उदाहरण के लिए—

(१) दसा सुने निज बाग की लाल मानिहौ झूँठ ।
पावस रितु हूँ में लखे डाढ़े ठाढ़े ठूँठ ॥५३॥
(२) ग्रीषम हूँ रितु मैं भरी दुहूँ कूल पैराउ ।
खारे जल की बहति है नदी तिहारे गाऊँ ॥६१॥
(३) आजुहि चल्यो बिदेस कों तजि सनेह चितचोर ।
लखति भरे घर भाँवती जमी घास चहुँ ओर ॥२२८॥

(सतसई)

नायिका के विरह के कारण बाग के वृक्षों का जलकर ठूँठ मात्र रह जाना; ग्रीष्म ऋतु में उसके आँसुओं से नदी बह उठना तथा नायक के जाते ही घर भर में घास जम आना—ये सभी उक्तियाँ तमाशा नही तो क्या ? किन्तु सौभाग्य की बात है कि मतिराम इस प्रकार के वर्णनों के पीछे हाथ धोकर नही पड़े। उनके अधिकांश छन्द ऐसे ही हैं, जिसमें विरह का स्वरूप तपे हुए सुवर्ण जैसा झलमलाता है। उदाहरण के लिए यहाँ हम प्रत्येक काम दशा के कतिपय छन्द उद्धृत करते हैं ; देखिये—

अभिलाष[१] —

(१) मृदु बोलत कुंडल डोलत कानन कानन कुंजनि तें निकस्यौ ।
बनमाल बनी 'मतिराम' हिए पियरो पट त्यों कटि में बिलस्यौ ॥
जब तें सिर मोर पखानि धरें चितचोर चितै इत ओर हँस्यौ ।
तब तें दुरि भाजि कै लाज गई अब लालचु नैनानि आनि बस्यौ ॥२६८॥

(ललितललाम)

(२) नींद भूख अरु प्यास तजि करती हों तन राख ।
जलसाईं बिन पूजि हैं क्यों मन के अभिलाख ॥२२॥

(सतसई)

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का मुख्य कारण होता है—रूप-सौन्दर्य। आकृष्ट हो जाने पर उससे मिलने की इच्छा जागृत होती है—यहाँ नायिका की ये

१. मतिराम ने 'अभिलाष' के जो उदाहरण दिये हैं, वे अस्पष्ट होने के कारण यहाँ उद्धृत नहीं किये जा रहे ; उन पर आचार्यत्व के प्रसंग में विचार किया जायगा।

उक्तियाँ कि कृष्ण को जब से देखा तब से नेत्रों में लालच आ बसा अथवा उनके बिना मेरी मन की अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती; उसकी मिलन-इच्छा को कलात्मक ढंग प्रस्तुत करती हैं। जिस काव्य-सामग्री का इन छन्दों में चयन किया गया है, उससे सहज ही नायिका के मन की उथल-पुथल व्यक्त हो जाती है। उपर्युक्त छन्दों में तो 'अभिलाष' की प्रकारान्तर से व्यंजना की गयी है, परन्तु निम्नोद्धृत छन्द में वह अधिक स्पष्ट हो गई है;

प्यार पगे बचन पियूष पान करि करि
उमँगि उमँगि तिय आनँद बिसेखि हौं।
कवि 'मतिराम' तन तपनि बुझाय जैहै
तब निज जनम सफल करि लेखि हौं।।
हीतल को सीतल करन चारु चाँदनी सी
मन्द मृदु मुसकानि अनमिख पेखि हौं।
ह्वै है निसा मेरे इन लोचन चकोरनि को
जब वाको आनन अमल इन्दु देखि हौं।।२७३।।

(रसराज)

इसमें प्रोषित नायक की यह उक्ति कि कब मैं उससे मिलूँगा—ऐसी घड़ी कब आवेगी—सहज ही उसकी अपनी प्रेयसी से मिलने की 'अभिलाष' दशा की सूचना दे देती है।

चिन्ता—

(१) **जैये अकेली महाबन बीच तहाँ मतिराम अकेलोई आवै।**
आपने आनन चंद की चाँदनी सो पहिलैं तन ताप बुझावै।।
कूल कलिंदी के कुंजन मंजुल मीठे अमोल वे बोल सुनावै।
ज्यों हँसि हेरि लियो हियरो हरि त्यों हँसि कै हियरे हरि लावै।।४०४।।

(२) **काज कहा कुल कानि सों लोक लाज किन जाय।**
कुंज बिहारी कुंज मैं कहूँ मिलैं मुसकाय।।४०५।।

(रसराज)

यहाँ नायिका का अपने प्रिय से मिलने के उपाय का वर्णन है। वह सामाजिक बन्धनों के कारण घर पर तो मिल नहीं सकती अतएव यमुना के एकान्त कुंजों में—जबकि वह अकेला हो जिससे अन्य व्यक्ति को मिलन का आभास तक न हो पाये—मिलने की युक्ति सोचती है। इसी प्रकार—

(१) **क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।**
नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसे कहौ कैसे के जीजै।।
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजै।।६०।।

(२) गोप सुता कहै गौरि गुसाँइनि पायँ परौं बिनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेक सुचित्त दया रस भीजै॥
देँहि जो ब्याहि उछाह सों मोहनै मात पिता हू को सो मन कीजै।
सुन्दर साँवरो नंद कुमार बसै उर जो वह सो बर दीजै॥६३॥
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत ऊढ़ा-परकीया की तथा द्वितीय में अनूढ़ा परकीया की 'चिन्ता' दशा का वर्णन है। दोनों ही नायिकाएँ सामाजिक बन्धनों और दबाव के कारण अपने इष्ट से नहीं मिल पाती—यद्यपि काम उन्हे अत्यधिक पीड़ित करता है। *यही कारण है कि ऊढ़ा नायक की 'बनमाल' और 'मुरली' बनने के लिए* तपस्या करना चाहती है, जिससे आगे चलकर—दूसरे जन्म में ही सही—उसके हृदय से हृदय और अधर से अधर लगाकर आनंद की प्राप्ति कर सके; जबकि अनूढ़ा पार्वती की सेवा करके उनसे यह वरदान प्राप्त करना चाहती है कि उसके माता-पिता स्वतः ही नन्द के पुत्र को उसके लिए योग्य वर समझकर उसका विवाह करना निश्चित कर लें; क्योंकि इससे वह अपनी इच्छा की पूर्ति भी कर लेगी और लोक-लज्जा से भी बच जायगी।

स्मृति—

(१) आलस बलित कोरें काजर कलित
'मतिराम' वे ललित बहु पानिप धरत हैं।
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरब
सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं॥
बरुनी सघन बंक तीछन तरल बढ़े
लोचन कटाच्छ उर पीर ही करत हैं।
गाढ़े ह्वै गढ़े हैं न निसारे निसरत मैन—
बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं॥४०७॥

(२) सोभा सो रति सुन्दरी नव सनेह सौं बाम।
तन बूड़त रँग पीत में मन बूड़त रँग स्याम॥४०८॥
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत नायक द्वारा नायिका के सुन्दर नेत्रों की स्मृति का वर्णन है, जबकि द्वितीय में नायक के रूप-गुण की नायिका द्वारा स्मृति की व्यंजना की गई है। इसी प्रकार नायक की क्रियाओं और उसके साथ केलि-क्रीड़ाओं का स्मरण करने वाली परकीया की मार्मिक उक्तियाँ भी देखिये—

ह्वाँ मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनन्द वारी।
तेई लता द्रुम देखत दुःख चले अँसुवा अँखियान ते भारी॥
आवति हौं जमुना तट कौं नहिं जानि परै बिछुरे गिरधारी।
जानति हौं सखि आवन चाहत कुंजन तें कढ़ि कुंज बिहारी॥११८॥
(रसराज)

किसी भी स्त्री के लिए अपने प्रिय का बिछुड़ जाना ही अपने आप में करुण है। इस पर उसकी क्रीड़ाओं आदि का स्मरण तो करुणा को द्विगुणित कर देता है। किन्तु इससे भी अधिक करुणाजनक स्थिति तब हो जाती है जब वह स्थान-विशेष पर पहुँचकर ऐसा सोचे कि वह आता होगा और न आये। इस छन्द में नायिका की यही स्थिति है, जिसके कारण उसके प्रत्येक शब्द से विशेष प्रकार की करुणा झलकती है।

गुण-कथन—

(१) **मोर पखा मतिराम किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई।**
मोहन की मुसकानि मनोहर कुंडल डोलनि में छबि छाई॥
लोचन लोल बिसाल बिलोकनि को न बिलोकि भयो बस माई।
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई॥४१०॥

(२) **सरद चंद की चाँदनी जारि डारि किन मोहि।**
वा मुख की मुसकानि सम क्यों हूँ कहौं न तोहि॥५११॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम छन्द में नायिका द्वारा सखी (माई) के प्रति नायक के रूप का वर्णन है, जबकि द्वितीय में वह नायक की मुस्कान का कथन चाँदनी के प्रति कहकर अपने हृदय को शान्त कर लेना चाहती है। प्रथम छन्द में विशेषता यह है कि नायिका ने जो भी नायक के रूप सम्बन्धी उपकरण कहे हैं, वे स्थूल न होकर भावात्मक हैं। अन्तिम चरण उसके रूपमाधुर्य की ऐसी व्यंजना कर रहा है जिससे सहज ही यह आभास मिल जाता है कि नायिका का मन तन्मय हो गया है। इसी प्रकार का एक छन्द और भी है, देखिये—

आनन पूरनचन्द लसै अरबिंद बिलास बिलोचन पेखे।
अंबर पीत लसै चपला छबि अंबुद मेचक अंग उरेखे॥
काम हूँ तें अभिराम महा 'मतिराम' हिए निहचै करि लेखे।
तें बरनें निज बैनन सों सखी मैं निज नैनन सों जनु देखे॥२७६॥

(रसराज)

यहाँ श्रवण-दर्शन-जन्य गुण-कथन काम दशा का वर्णन है। नायिका की सखी ने नायक के रूप का जो वर्णन किया था, उसी की कल्पना में वह विचरण करती हुई उसके (नायक के) रूप का बार-बार कथन करती है और कहती है कि तेरा वर्णन ऐसा है जिससे साक्षात् दर्शन का-सा आनन्द मिलता है। कहना न होगा कि इस छन्द का अन्तिम चरण तो मानो प्रेम में पगी नायिका की तन्मयता को ही व्यक्त कर देता है—वह अपने प्रेमी के रूप का वर्णन करके ही मानो आनन्द-विभोर हो जाना चाहती है।

उद्वेग—

(१) चाहि तुम्हें 'मतिराम' रसाल परी तिय के तन मैं पियराई ।
काम के तीछन तीरन सों भरि भीर तुनीर भयो हियराई ॥
तेरे बिलोकिबे कौं उतकंठित कंठ लौं आय रह्यौ जियराई ।
नेंक परे न मनोज के ओजनि सेज सरोजनि मैं सियराई ॥४१३॥

(२) जे अंगन पिय संग मैं बरसत हुते पियूष ।
ते बीछू के डंक-से भए मयंक मयूष ॥४१४॥

(रसराज)

यहाँ विरहाधिक्य के कारण प्रथम छन्द के अन्तर्गत नायिका द्वारा अपने तल्प पर पडे कमल पुष्पों से कष्ट प्राप्ति का वर्णन है, जबकि द्वितीय में चन्द्रकिरणों से प्राप्त कष्ट का कवि ने स्वयं उल्लेख किया है। इसी प्रकार—

(१) चन्द के उदोत होत नैन कंज तपे कन्त
छायो परदेस देह दाहनि दगतु है ।
उसिर गुलाब नीर करपूर परसत
बिरह अनल ज्वाल जालन जगतु है ॥
लाजनि ते कछू न जनावै काहू सखी हूँ सौं
उर को उदार अनुराग उमँगतु है ।
कहा करौं मेरी बीर उठी है अधिक पीर
सुरभी समीर सीरो तीर सौ लगतु है ॥११४॥

इसमें प्रोषितपतिका नायिका का विरहाधिक्य दर्शाने के लिए 'उद्वेग' काम दशा का आश्रय लिया गया है। चाँदनी, गुलाब जल, कर्पूर और सुगंधित-शीतल-पवन—सभी उद्दीपक पदार्थ उसके प्रियतम के परदेश में रहने के कारण दाहक बने हुए हैं—यदि वह उपस्थित होता तो यही उसे आनन्द देते। वास्तव में ये पदार्थ मूलतः कष्ट-दायक नहीं, पर क्योंकि नायिका का मन अपने कान्त का स्मरण करके ही दुःखी है, अतः ये पदार्थ उसकी काम-भावना को जागृत कर दुःख को और भी बढ़ा रहे हैं। यही कारण है कि वह इन उपचारों को विरहाग्नि की शान्ति के लिए उपयोग में लाना नही चाहती। अन्तिम चरण का यह वाक्य कि 'सुरभी समीर सीरो तीर सौ लगतु है' मानो उसके हृदय की टीस को व्यक्त कर रह ।

प्रलाप[1] —

उड़त भौंर ऊपर लसैं पल्लव लाल रसाल ।
मनो सधूम मनोज को ओज अनल की ज्वाल ॥५८६॥

(सतसई)

---

१. मतिराम ने 'प्रलाप' सम्बन्धी जो दो छन्द उद्धृत किए हैं, वे अशुद्ध होने के कारण यहाँ प्रस्तुत नहीं किए जा रहे। उन पर आचार्यत्व के प्रसंग में विचार किया जायगा।

इस दोहे में विरहाधिक्य के कारण नायक अथवा नायिका की यह उक्ति कि आम के लाल पत्तों पर उड़ते हुए भौंरे कामदेव की तेज रूपी अग्नि से निकलता हुआ धुआँ है, उसके चित्त-विक्षेप को ही प्रकट करती है।

उन्माद—

जा छिन तें 'मतिराम' कहैं मुसकात कहूँ निरख्यौ नँदलालहि।
ता छिन तें छिन-ही-छिन छीन बिथा बहु बाढ़ी बियोग की बालहि॥
पोंछति है कर सों किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि।
भोरी भई है मयंक मुखी भुज भेटति है भरि अंक तमालहि॥४१६॥
(रसराज)

इसमें चित्त-विक्षेप के कारण नायिका के जड़-चेतन सम्बन्धी अविवेक का वर्णन किया गया है—उसे विरहाधिक्य में सब वस्तुएँ प्रिय-जैसी ही दृष्टिगोचर होती हैं इसीलिए वह तमाल के वृक्ष को अपना प्रिय समझकर उसका आलिंगन करना आरम्भ कर देती है। इसी प्रकार—

रोय उठै छिन हँसि उठै छिन उठि चलै रिसाय।
बौरी करी बनाय के रूप ठगौरी लाय॥४२०॥
(रसराज)

इसमें चित्त-विक्षेप के कारण नायिका की मुग्धता का वर्णन है—वह जब यह समझती है कि प्रिय सम्मुख है अपने दुःख को प्रकट करने रो पड़ती है और जब यह जानती है कि वह परिहास कर रहा है तो हँसने लगती है तथा जब जानती है कि वह उसकी बात ध्यान देकर नहीं सुन रहा तो क्रुद्ध होकर चल देती है। कहना न होगा कि इस प्रकार के वर्णन द्वारा नायिका की सही मानसिक स्थिति का परिचय मिल जाता है। मतिराम के काव्य में ऐसी रचनाएँ अत्यन्त विरल हैं।

व्याधि—

बरसा-सी लागी निसि बासर बिलोचननि
बाढ़ौ परबाह भयो नावनि उतरिबो।
सह्यो जात कौन पै सुकवि 'मतिराम' अति
बिरह अनल ज्वाल जालन ते जरिबो॥
जैयत समीप तें उड़ैयत उसासनि सौं
हमकों तौ होत उत हेरत हहरिबो।
कियौ कहा चाहत सु करो न कुँवर कान्ह
रह्यो अब वाको उपचारनि को करिबो॥४२२॥
(रसराज)

इस छन्द में कवि ने नायिका के रुदन और विरह-ज्वर का इतना आधिक्य बताया है कि एक ओर नावें चलती हैं और दूसरी ओर लोग झुलसने लगते हैं।

देखने वालों को भी डर लगता है। परन्तु इस प्रकार की रचनाएँ विरहाधिक्य न दर्शाकर नायिका के सच्चे प्रेम के प्रति खिलवाड़ जैसी प्रतीत होती हैं। ज्ञात नहीं, मतिराम अपने युग के प्रवाह में बहकर व्याधि का लक्षण देकर उदाहरण रूप में ऐसे हास्यास्पद छन्द को कैसे उद्धृत कर गये हैं? क्योंकि इसकी अपेक्षा निम्नलिखित छन्द ऐसे हैं जो सही मायनों में व्याधि का चित्र प्रस्तुत करते हैं, सहृदय को उसके प्रति सहानुभूति और तादात्म्य दोनों ही होते हैं। देखिये—

(१) बार कितेक सहेलिन के कहैं कैसे हूँ लेत न बीरी सँवारी।
राखति रोकि कहूँ 'मतिराम' चलै अँसुवा अँखियान तैं भारी॥
प्रान पियारो चल्यो जब तैं तब तैं कछु और ही रीति निहारी।
पीरी जनावति अंगन मैं कहि पीर जनावति काहे न प्यारी॥११२॥

(२) पान की कहानी कहा पानी को न पान करै
आहि कहि उठति अधिक उर आधि कै।
कवि 'मतिराम' भई विकल बिहाल बाल
राधिके जिवावरे अनंग अवराधि कैं॥
याही को कहायो ब्रजराज दिन चार ही मैं
करी है उजारि ब्रज ऐसी रीति नाँधि कैं।
जैसे तुम मोहन विलोको वाकी ओर तैसे
बैरि हूँ सों बैरी न बिलोकै बैर साधि कै॥२६४॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम छन्द में पाण्डुता और द्वितीय में कृशता और व्याकुलता का वर्णन है। नायिका का पीला पड़ते जाना पर विरह को प्रकट न करना उसके दुःख की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना कराता है। ऐसे ही 'आहि कहि उठति' और 'भई बिकल बिहाल' वाक्यों में भी उसके दुःख का भावात्मक वर्णन उपलब्ध होता है। साधारणतः मतिराम ने ऐसे ही छन्दों की रचना की है—इन छन्दो से पूर्व का छन्द तो वस्तुतः पूर्वोक्त छन्दों की कोटि का है जो युग के प्रवाह में बहकर कवि ने लिख डाले हैं और उसके ग्रन्थों में संख्या की दृष्टि से अधिक नहीं हैं।

जड़ता—

(१) सूँघै न सुबास रहै राग रंग तैं उदास
भूलि गई सुरति सकल खान पान की
कबि 'मतिराम' इकटक अनमिष नैन
बूझै न कहति बात समुझै न आन की॥
थोरी-सी हँसनि मैं ठगौरी तैंने डारी स्याम
बौरी कीनी गोरी तैं किसोरी वृषभान की।
तब तैं बिहारी वह भई है पखान की सी
जब तैं निहारी रुचि मोर के पखान की॥४२५॥

(२) जा दिन तें छबि सौं मुसक्यात कहूँ निरखे नँदलाल बिलासी ।
ता दिन तें मन ही मन मैं 'मतिराम' पियें मुसक्यानि सुधा सी ॥
नेंकु निमेष न लागत नैन चकी चितवै तिय देव तिया सी ।
चन्दमुखी न हलै न चलै निरबात निवास मैं दीप सिखा सी ॥३३७॥

(३) अचल भए हैं गात परस न जान्यौ जात
कही न सुनत बात जात बात न कही ।
सूँघै न सुबास न सुमन की समुझि परै
टकटकी बड़े-बड़े दृगन मैं उलही ॥
कवि 'मतिराम' तोहि नेक परवाह नहीं
ऐसी भाँति भई वह तेरे नेह सौं नहीं ।
एरे चितचोर चलि चाहि चन्द मुखि तोहि
चित्र ही मैं चाहि-चाहि चित्र ही मैं ह्वै रही ॥२८०॥
(रसराज)

इन तीनों छन्दों में नायिका के अंगों में व्याप्त जड़ता का जिस प्रकार कवि ने वर्णन किया है, वह अपने आपमें उसके मन की उस दशा का चित्र प्रस्तुत कर रहा है जबकि लाख प्रयत्न करने पर भी अपनी अभीष्ट वस्तु से यह विलग नहीं होता ।

उपर्युक्त छन्दों में सभी ऐसे हैं जिनमें साधारणतः एक ही काम दशा का वर्णन किया गया है । किन्तु इनके साथ हमारे कवि ने इन दशाओं के संश्लिष्ट वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं । ऐसे चित्रों में वस्तुतः विरहाधिक्य की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है । उदाहरण के लिए पहले पूर्वानुरागिनी नायिका का ही वर्णन लीजिये—

चिन्ता में चितै कै सब सुधि विसरावत है
मण्डल विमल तेरे मुख द्विजराज को ।
सोयबे कौं साजत सरस परजंक तेरी
स्याम अंग छबि इंदीवर की समाज को ॥
कवि 'मतिराम' काम बाननि सौं बेध्यौ यौं
जु दुःख भयो सकल समूह सुख साज को ।
कहा कहौं लाल तलबेली तलफत पर्यो
बाल अलबेली को बियोगी मन लाज को ॥१६३॥
(ललितललाम)

इसमें प्रथम चरण में जहाँ 'चिन्ता' और 'स्मृति' का समावेश हुआ है वहाँ द्वितीय और तृतीय में क्रमशः 'अभिलाष' और 'उद्वेग' का । अन्तिम चरण में 'व्याधि' का वर्णन किया गया है और यह मनोविज्ञान की दृष्टि से अपने आपमें अत्यन्त मार्मिक है । नायिका के हृदय में एक ओर प्रिय-मिलन की तीव्र इच्छा है और दूसरी ओर गुरुजनों की लज्जा । इन परस्पर-विरोधी भावों के बीच फँसे मन का तिल-

मिलाना और उसके फलस्वरूप विभिन्न अंगों में व्याकुलता का वार्द्धक्य स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार—

> **बिरह तिहारे लाल बिकल भई है बाल**
> **नींद भूख प्यास सिगरी बिसारियतु है।**
> **चोरी कैसी बात चन्द्रमा हूँ ते चुराइत**
> **नसननि तानि के बयारि बारियतु है॥**
> **कहै 'मतिराम' कलाधर कैसी कला छीन**
> **जीवन विहीन मीन सी निहारियतु है।**
> **बार-बार सुकुमार फूलन की मार ऐसी**
> **मार के मरोरन मरोरि मारियतु है॥११६॥**
>
> (रसराज)

इस छन्द में काव्यशास्त्र की दृष्टि से यद्यपि 'व्याधि' और 'उद्वेग' की ही व्यंजना की गई है तथापि कवि ने नायिका की मनोवैज्ञानिक स्थिति का जो परिचय दिया है वह अपने आपमें मार्मिक है। भूख-प्यास विसारना अथवा पीला पड़ जाना इतनी बड़ी बात नहीं जितनी कि कष्ट को सहन करते हुए लज्जा के कारण व्यथा व्यक्त न करना। अन्तिम चरण में तो 'मार के मरोड़े' उसके शरीर पर ही नहीं मनको भी मोड़े डालते प्रतीत होते हैं—मन के तलफने का इससे अधिक भावात्मक चित्र और क्या हो सकता है।

विरह का वर्णन काम-दशाओं के अतिरिक्त पत्र और व्यक्ति द्वारा भेजे संदेशों के द्वारा भी किया जाता है। इन संदेशों मे भी एक विशेष मार्मिकता रहती है जिससे पाठक पर आश्रय की शारीरिक और मानसिक स्थिति के वर्णन जैसा ही प्रभाव पड़ता है। किन्तु यहा यह कह देना असगत न होगा कि सामान्यतः इनमें दुःख की जो अभिव्यक्ति होती है वह अतिरंजित अधिक हुआ करती है। चूँकि मतिराम संयत प्रकृति के कवि थे, इसलिए प्रायः उन्होंने इस प्रकार के संदेशों को अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। यदि दो-चार छन्द रचे भी हैं तो उनमें प्रेम की असफलताजन्य निराशा अधिक झलकती है—प्रेम अथवा विरह का आधिक्य अपेक्षाकृत कम, उदाहरण के लिए—

> (१) **लाज छुटी गेहौ छुट्यो सुख सों छुट्यो सनेह।**
> **सखि कहियो वा निठुर सों रही छूटिबे देह॥८१॥**
>
> (२) **रात्यौ दिन जागति रहै अगिनि लगनि की मोहि।**
> **मो हिय में तू बसत है आँच न पहुँचति तोहि॥२०६॥**
>
> (सतसई)
>
> (३) **मेरे दृग बारिद बृथा बरसत बारि प्रबाह।**
> **उठत न अंकुर नेह को तो उर ऊसर माह॥३१६॥**
>
> (ललितललाम)

प्रेम का स्वरूप

यों तो नायिका-भेद-विवेचन के प्रसंग में मतिराम ने सामान्या-वर्णन भी अत्यन्त खुलकर किया है, पर इससे यह धारणा नहीं बनाई जा सकती कि वे सामान्यता-प्रेम को किसी प्रकार का महत्त्व देते थे। इस सम्बन्ध में एक तर्क तो यही दिया जा सकता है कि रसराज गत छन्दों[1] के अतिरिक्त उनके शेष ग्रन्थों में इस विषय का एक भी छन्द उपलब्ध नहीं होता। दूसरे इन छन्दों से भी प्रेम की तन्मयता के स्थान पर गणिकाओं के प्रेम की 'निस्मारता' ही प्रकट होती है; उदाहरण के लिए एक छन्द लीजिये—

आली सिंगारति है हठ सौं पर लागत अंग सिंगार अँगारो।
पीरी परी तन मै 'मतिराम' चलै अँखियान तें नीर-पनारो॥
सोउ नहीं मनभावन नायक आवत जो बहु तें धन वारो।
बारबिलासिनि कौं बिसरै न विदेस गयो पिय प्रानपियारो॥१२०॥

(रसराज)

इसमें धनिक नायक के लिए सामान्या की जिस विरहानुभूति का वर्णन किया गया है, उसके साथ किसी भी सहृदय का तादात्म्य नहीं हो सकता।

मतिराम का परकीया-प्रेम-वर्णन यद्यपि विशद है; तन्मयता और तीव्रता का भी इसमें अभाव नहीं; किन्तु इस प्रेम के परिणाम में अशान्ति अथवा असफलता-जन्य करुणा स्थित होने के कारण यह अपनी सार्थकता खो बैठा है। परकीयाओं की इन उक्तियों: 'कोऊ कितेक उपाय करो कहुँ होत है आपने पीउ पराए'[2], 'लाज छुटी गेहो छुट्यौ सुख सो छुट्यौ सनेह, सखि कहियो वा निठुर सो रही छुटिबे देह'[3] से जो स्वर निकल रहा है वह इस विषय की अधिकांश रचनाओं में विद्यमान है। इधर स्वकीया-खंडितादि नायिकाओं की पूर्व प्रसंग-गत उद्धृत क्षोभ और व्यंग्य भरी उक्तियों से भी स्पष्ट है कि पर-नारी से प्रेम करने वाले पुरुष का पारिवारिक जीवन अशान्त रहता है। परन्तु अनूढ़ाओं के प्रेम में समाज की मर्यादा के कारण उनकी मानसिक व्याकुलता को स्थान मिल गया है, जो यह प्रकट करती है कि कवि ने प्रेम को अपने सच्चे, गम्भीर और मर्यादापूर्ण अर्थ में ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए, देखिए—

गोप सुता कहै गौरि गुसाँइनि पायँ परौं विनती सुनि लीजे।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेक सुचित्त दया-रस भीजे॥
देहि जो ब्याहि उछाह सों मोहनै मात-पिता हू को सो मन कीजै।
सुन्दर साँवरो नन्दकुमार बसै उर जो वह सो बर दीजै॥६३॥

(रसराज)

---

१. दे० ९५. ९६, १२०, १२१, १३१, १३२, १४२, १४३, १५४, १५५, १६५, १६६, १७६, १७७, १८७. १८८, १८९, २०३, २०४, २१४, २१५, २२६, २२७, २६०, २६१, संख्या के छन्द।

२. दे० 'रसराज', छन्द संख्या १२९।

३. दे० 'सतसई', छन्द संख्या ८१।

इस प्रेम में समाज अथवा गुरुजनों से संघर्ष नहीं, मर्यादा-पालन का समान महत्त्व होने के कारण मन की व्यग्रता है, जिसकी अभिव्यक्ति इष्ट देवी की शरण में होने से प्रेम का अत्यन्त गहरा और एकनिष्ठ धरातल स्पष्ट हो गया है।

वास्तव में मतिराम ऐसे ही प्रेम के कायल हैं। 'छोड़ि आपनो भौन तुम भौन कौन के जात'[1] के द्वारा उन्होंने स्वकीया प्रेम की जिस महत्ता की स्थापना की है, उसके मूल में शान्ति है, आनन्द है, पवित्रता है—संघर्ष, भय और घृणा नहीं और यही कारण है कि इसकी अभिव्यक्ति जितनी कोमल, मधुर और सच्ची होकर आई है, उतनी और किसी दशा में नहीं। एक उदाहरण लीजिए—

आपने हाथ सों देत महावर आप ही बार सँवारत नीके।
आपुन ही पहिरावत आनि कै हार सँवारि कै मौरसिरी के॥
हौं सखिलाजन जाति मरी 'मतिराम' सुभाव कहा कहौं पीके।
लोग मिलैं, घर घैरु करैं, अब ही ते ये चेरे भए दुलही के॥१७६॥

(रसराज)

यहाँ पर नायिका के 'हौं सखि लाजन जाति मरी' वाक्य में नायक के निर्लज्ज स्वभाव की शिकायत नहीं, उसके प्रेम की अतिशयता का उल्लेख है, जिसमें वह डूबकर आनन्द का अनुभव कर रही है—अपने भाग्य को सराह रही है।

नायिका-भेद के अतिरिक्त अनुभूति की दृष्टि से यदि प्रेम का अध्ययन किया जाय तो मतिराम की रचनाओं में इसके दो रूप उपलब्ध होंगे—एक ऐंद्रिय और दूसरा विशुद्ध। इनमें प्रथम के अन्तर्गत भोग की प्रबल इच्छा की अभिव्यक्ति हुई है, जो अपने आपमें काम की उग्र गन्ध से आप्लावित रहने के कारण मन को रमाता ही नहीं, आलोड़ित तक कर डालता है—

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहौ कैसे कै जीजै॥
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरारस लीजै॥६०॥

(रसराज)

यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो नायिका की सभी इन्द्रियाँ लोक-मर्यादा के सभी बन्धनों को तोड़ डालने के लिए आतुर हो उठी हैं। इस प्रकार के वर्णन रीतिकालीन शृंगारिक कविता की अपनी विशेषता हैं। मतिराम ने भी इनको उपयुक्त स्थान दिया है; किन्तु इनके साथ ही प्रेम का दूसरा रूप भी उनकी रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान लेकर आया है। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि अपनी स्थिरता के कारण यह मन में आनन्द की हलकी तरंगें उत्पन्न करता है, उसे काम के झूले में झोटे देकर झुलाता है—पागल नहीं बनाता, उदाहरण के लिए—

---

१. दे० 'सतसई', छन्द संख्या ६६०।

कब की हौं देखति चरित्र निज आँखिन सौं
राधिका रसीली स्याम रसिक रसाल के।
'मतिराम' बरनै दुहूँनि के मुदित अति
मन भए मीन-से अमृतमय ताल के॥
इकटक देखें लिए व्रत-से निमेखनि के
नेम किए मानों पूरे प्रेम प्रतिपाल के।
लाल मुख इंदु नैन बाल के चकोर
बाल मुख अरविंद चंचरीक नैन लाल के॥२४४॥

(ललितललाम)

इसमें नायक-नायिका का परस्परावलोकन अपने नेत्रों को रूप की दावत देना नही कहा जा सकता, अपितु नेत्रों के माध्यम से अपने मन को रस-सिक्त करना है। वस्तुतः प्रेम का यही रूप ऐसा है जो भोग के अभाव में कुण्ठा-ग्रस्त न होकर वृद्धि को प्राप्त होता है ; वियोगाग्नि में जलता नहीं, उफनता है—

(१) **ज्यों-ज्यों विषम वियोग की अनल ज्वाल अधिकाइ।**
त्यों-त्यों तिय की देह में नेह उठत उफनाइ॥६२८॥

(२) **बड़वानल पर बढ़ति है बिरह ताप तिय अंग।**
अति अद्‌भुत अधिकाति है प्रेम पयोधि तरंग॥६२६॥

(सतसई)

कहने का अभिप्राय यह है कि मतिराम की शृंगारिक कविता में प्रेम के सभी रूप उपलब्ध होते हैं। स्वकीया के एकनिष्ठ प्रेम से लेकर परकीया के करुणान्तक और सामान्या के कृत्रिम प्रेम के अतिरिक्त उन्होंने वासना और लगन-सम्पृक्त प्रेम का अंकन अत्यन्त मनोयोग के साथ किया है। अपने वस्तु-परक और भाव-परक—दोनों रूपों में यह सफल ही नहीं कहा जा सकता, रमणीय भी है।

षष्ठ अध्याय

मतिराम का वीर-काव्य

शृंगार के पश्चात् मतिराम के काव्य का यदि और कोई महत्त्वपूर्ण विषय आता है तो वह राज-प्रशस्ति है, जिसमें उन्होंने मुख्यतः अपने आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन किया है। क्योंकि वीर रस सम्बन्धी ये रचनाएँ अपने आपमें स्वतन्त्र हैं—शृंगारिक रचनाओं के समान इनको शास्त्रीय विवेचन सहित प्रस्तुत नहीं किया गया ; अतः कवित्व की दृष्टि से इनकी परीक्षा करने से पूर्व वीर रस के स्वरूप को स्पष्ट कर लेना समीचीन होगा।

वीर रस की परिभाषा

संसार में प्रधान-वस्तु कर्म है। यहाँ जो भी प्राणी जन्म लेकर आता है, उसे जीवन-पर्यन्त कर्म-शृंखला में बँधा रहना ही पड़ता है। व्यक्ति को किन प्रकार के कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए, इसका निर्णय तो अपनी वृत्तियों में ढली हुई उसकी विवेक-शक्ति ही करती है, किन्तु लोक साधारणतः लोक-कल्याण अथवा सत्त्वगुण-प्रधान भावना पर आधृत कर्मों को ही ऊँचा स्थान देता है। काव्य में इन्हीं लोक-विश्रुत कर्मों की रसात्मक अभिव्यक्ति को 'वीर रस' के नाम से अभिहित किया जाता है।

वीर रस की सामग्री

रस का लक्षण देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है[1] कि सहृदय पुरुषों के हृदय में वासना रूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस रूप को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव—ये चार उपकरण हैं जिनके पारस्परिक संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। वीर रस का स्वरूप इन्हीं चारों के अनुरूप स्पष्ट किया जायगा।

स्थायी भाव—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥१७४॥

—'साहित्यदर्पण' (विमला टीका) तृतीय परिच्छेद।

---

१. दे० **विभावानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।**
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥१॥

—'साहित्यदर्पण', (विमला टीका—द्वितीय संस्करण) तृतीय परिच्छेद।

अविरुद्ध और विरुद्ध भाव जिसको तिरोहित न कर सकें, उस आस्वादन के मूलभूत भाव का नाम 'स्थायी भाव' है।

वीर रस का स्थायी भाव है—'उत्साह'। यह भाव कर्म-प्रधान जीवन क्षेत्र में जितना व्याप्त है, अपने स्वरूप में उतना ही परिसीमित। संस्कृत के आचार्यों ने इस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए यद्यपि अपने मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं, किन्तु इनमें प्रायः एकदेशीयता आ गई है। बात यह है कि प्रत्येक भाव का सम्बन्ध किसी न किसी कर्म के साथ हुआ करता है, अतएव इस नाते भाव का स्वरूप बहुत कुछ कर्म के कार्यरूप, उसके प्रयोजन तथा उसे सम्पन्न करने के प्रयत्न पर आधृत रहता है। 'उत्साह' के स्वरूप के लिए भी इन अपेक्षित तत्त्वों पर समान महत्त्व के साथ विचार करने की आवश्यकता थी, पर आचार्यों ने प्रायः उसे समग्र रूप में ग्रहण नहीं किया है। उदाहरण के लिए नैयायिकों का यह लक्षण कि अन्य के लिए जो कार्य अशक्य है, उसको अवश्य करने की बुद्धि 'उत्साह' है[1], 'उत्साह' में कार्य की असाध्यता और उसको सम्पन्न करने में दृढ़ता के महत्त्व की स्थापना तो करता है, किन्तु इससे आगे उनकी पार्थक्य-प्रवृत्ति और कुछ स्वीकार नहीं करती, जिससे 'उत्साह' को हिन्दी में प्रचलित 'साहस' शब्द की भाव-भूमि के स्वरूप से पृथक् किया जा सके। इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ का यह कथन कि कार्य करने में स्थिरतर और उत्कट आवेश (संरम्भ) को 'उत्साह' कहा जाता है[2], स्पष्टतः यह सूचित करता है कि उन का ध्यान भाव की गतिशीलता की ओर जितना रहा है, उतना उसके स्वरूप की ओर नहीं; क्योंकि 'स्थिरता' और 'औत्कट्य' शब्द क्रमशः कार्य की दुस्साध्यता तथा कर्त्ता के प्रयत्न की एक-रूपता की मात्र व्यंजना करते हैं, जबकि कर्त्ता के प्रयोजन का बोध भी नहीं हो पाता। इधर रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के मस्तिष्क में वीर रस के भेद रमे हुए थे, इसी कारण वे 'उत्साह' को दूसरे व्यक्ति के महान् पराक्रम आदि कार्यों की स्मृति से जन्मा औन्नत्य[3] कहकर भी उसमें महत्कार्य और उमंगपूर्ण महत्प्रयत्न का ही समावेश कर सके हैं। संक्षेप में ये लक्षण अपने आपमें पूर्ण न होने के कारण 'उत्साह' के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं कहे जा सकते।

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अवश्य ही 'उत्साह' के स्वरूप पर विस्तार के साथ विचार किया है। परन्तु उन्होंने जो इसे 'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग[4]' कहा है, उसमें मौलिक उद्भावना तो नहीं है, हाँ इसे उक्त संस्कृत मतों का समन्वय मात्र कहा जाय तो अनुचित नहीं; कारण 'साहस' शब्द जहाँ नैयायिकों के असाधारण

---

१. दे० **अन्यैरशक्यतयाऽवधृतेप्यवश्यकर्त्तव्यताबुद्धिः।**

—'सर्वतन्त्र सिद्धान्तपदार्थ लक्षण संग्रह', भिक्षु गौरीशंकर द्वारा संगृहीत (षष्ठ संस्करण)।

२. दे० **कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ॥१७८॥**

—वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद।

३. दे० **परपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः ॥**

—'रसगंगाधर'—काव्यमाला सीरीज (सन् १८१६ ई० का संस्करण), पृ० ३२।

४. दे० 'चिन्तामणि', भाग १ (सन् १९५१ ई० का संस्करण), पृ० ६।

कर्म और उसको पूरा करने में दृढ़ता की व्यंजना कर रहा है, वहाँ आनन्द की उमंग में स्पष्टतः विश्वनाथ के 'औत्कट्य' और पण्डितराज के 'औन्नत्य' का अन्तर्भाव है। इससे आगे शुक्लजी ने कार्य के प्रयोजन का उल्लेख तो नहीं किया, किन्तु इसमें लोकोपकारिता और शुभ-परिणाम के समावेश द्वारा[१], उन्होंने यह संकेत कर दिया है कि लोक-कल्याण की भावना भी 'उत्साह' का अभिन्न अंग है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं तीनों बातों—अर्थात् असाधारण कर्म, उसके सम्पादन में 'औत्कट्य' और उल्लासपूर्ण महान् प्रयत्न तथा लोक-कल्याण जैसे महान् प्रयोजन को लेकर श्री वटेकृष्ण ने अपनी 'वीर रस का शास्त्रीय विवेचन' नामक पुस्तक में 'उत्साह' के स्वरूप को स्पष्ट करने में और योगदान किया है। उनके विवेचन की विशेषता यह है कि कर्म की असाधारणता पर तो बल है ही, इसके अतिरिक्त प्रयत्न और प्रयोजन की परिसीमाएँ भी निर्धारित कर दी गई हैं। महत्प्रयत्न में वे स्पष्टतः आशा, आत्म-विश्वास, सन्तोष अथवा आनन्द और औचित्य का समावेश मानते हैं[२]; जबकि इसके प्रयोजन में लोक-कल्याण और सत्वगुण को स्वीकार करते हैं[३]। इसमें सन्देह नहीं कि कर्म कर्त्ता को लोक में वैशिष्ट्य प्रदान करता है; परन्तु कोई भी व्यक्ति इसमें सिर खपाने के लिए तभी प्रस्तुत होगा जबकि उसे फल की आशा हो जाय और यह तभी सम्भव है जबकि उसमें आत्मविश्वास हो, क्योंकि इससे उसके प्रयत्न में स्थिरता आयेगी। इन दोनों बातों के साथ जो बात अनिवार्य है वह यह कि व्यक्ति को इसमें आनन्द अथवा सन्तोष की प्राप्ति होती रहे, कारण, जैसा कि शुक्लजी ने भी कहा है कि 'उत्साह' सुखात्मक भाव है[४], आनन्द अथवा सन्तोष के अभाव में प्रयत्न करते हुए, व्यक्ति द्वारा उठाये गए कष्ट उसके आत्मविश्वास को हिलाकर गिरा देंगे। प्रयत्न में औचित्य भी आत्मविश्वास का ही परिचायक है; यदि व्यक्ति छिपकर अपने शत्रु पर आक्रमण करता है—भले ही वह लोक-कल्याण के लिए हो—तो यह उसके आत्मविश्वास की शिथिलता को दर्शायेगा। इसी प्रकार महत्प्रयत्न के लिए महत्प्रयोजन भी आवश्यक है। यदि व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अधिक प्रयत्न करता है, तो वह श्लाघ्य नहीं हो सकता, क्योंकि स्वार्थ की पूर्ति न होने पर उसे आनन्द प्राप्त न होगा और महानतम प्रयत्न भी उसके लिए कष्टप्रद भार बन जायगा जबकि दूसरी ओर लोक-कल्याण अथवा सत्वगुण पर आधृत-कर्म में असफलता मिलने पर भी उसे आत्मतुष्टि मिलेगी। शुक्लजी ने अपनी 'उत्साह' की परिभाषा में इन तत्त्वों में से अधिकांश को प्रस्तुत कर दिया है; शेष को भी यदि इसमें समाविष्ट कर दिया जाय तो उसका संशोधित रूप इस प्रकार होगा—

"सत्वगुण-युक्त अथवा लोक-कल्याण-प्रधान कर्म-सम्पादन में साहस और औचित्यपूर्ण आनन्द की उमंग का नाम 'उत्साह' है।"

---

१. दे० वही, पृ० ८, ९ और १५।

२. दे० 'वीर रस का शास्त्रीय विवेचन' (संवत् २०१२ वि० का संस्करण), पृ० ३२-३४, ४४-४७।

३. दे० वही, पृ० ४२-४४।

४. दे० वही 'चिन्तामणि', भाग १, पृ० ६; तथा 'रसमीमांसा' (संवत् २००६ वि० का संस्करण), पृ० १९२, १९४।

विभाव—संस्कृत-काव्यशास्त्र में विभावों के दो वर्ग किये गए हैं, (१) आलम्बन और (२) उद्दीपन। इनका कार्य सहृदय के हृदय में वासना रूप से विद्यमान स्थायी भावों को जागृत कर उन्हें रसदशा की ओर प्रशस्त करना होता है—आलम्बन का सम्बन्ध मुख्यतः भाव के उद्बुद्ध होने से है और उद्दीपन उसे तीव्र बनाता है। इनमें आलम्बन के भी दो अंग हैं—एक आलम्बन अथवा विषय, जिसमे भाव उद्बुद्ध होता है; और दूसरा आश्रय, जिसमें यह भाव उद्बुद्ध होकर सहृदय तक प्रेषित करता है। दूसरे शब्दों में आश्रय वह व्यक्ति है, जिसकी अनुभूति प्रत्येक सहृदय की अनुभूति होती है और आलम्बन वह विषय है, जो सब में विशिष्ट भाव को जाग्रत करता है। वीर रस के अन्तर्गत आलम्बन, आश्रय और उद्दीपन—इन तीनों का अपना विशेष स्थान है। अस्तु।

वीर रस का आलम्बन क्या है, इस विषय में संस्कृत-आचार्यों का मत अधिक स्पष्ट नहीं। भरत मुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत विभावों के आलम्बन आदि भेदों का उल्लेख न करते हुए प्रायः उन गुणों का वर्णन किया है, जो स्थायी भाव को जागृत करने के निमित्त हैं[1]। वीर रस के प्रसंग में भी उन्होंने असंमोह, अध्यवसाय, नय, विनय, बल, पराक्रम, शक्ति, प्रताप, प्रभाव आदि[2] जो विभाव बताये हैं उनको देखकर यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि ये गुण उक्त आलम्बन के हैं अथवा आश्रय के। यदि इन्हें उक्त आलम्बन के गुण माना जाय तो स्पष्टतः वीर रस के शेष तीन भेदों—दानवीर, दयावीर और धर्मवीर के ऐसे अनेक प्रसंग आ जायेंगे जिनके आलम्बनों में ये गुण विद्यमान नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिए गंगा के सुरम्य-एकान्त-पावन तीर पर कोई व्यक्ति मन्दिर बनवाता है अथवा किसी पक्षी की प्राण-रक्षा के निमित्त अपना सर्वस्व त्याग कर देता है तो क्या इन परिस्थितियों में धर्म और दया करने का उत्साह मन्दिर और असहाय पक्षी के बल, पराक्रम आदि गुणों ने उसके भीतर उद्बुद्ध किया है? निश्चय ही नहीं। तब फिर कैसे कहा जा सकता है कि भरत द्वारा उल्लिखित उक्त गुण आलम्बन के हैं। दूसरे यदि यह भी मान लें कि उन्होंने इन गुणों का उल्लेख केवल युद्धवीर के प्रतिनायक को आलम्बन मानकर किया है, तो भी संगत नहीं, कारण अपने प्रतिद्वन्द्वी के बल, पराक्रम आदि को देखकर उत्साही यदि युद्ध करने के लिए तत्पर होगा तो या तो यह अपने बल-प्रदर्शन द्वारा उसके अहंकार का दमन करने के लिए होगा अथवा दूसरों की देखा-देखी। क्योंकि प्रेरणा के ये दोनों ही रूप अपने आपमें राजसी हैं, अतः सत्वगुण-प्रधान 'उत्साह' के उद्बुद्ध करने वाले नहीं कहे जा सकते। तब फिर ये गुण आश्रय के हैं? इसका उत्तर स्वीकारात्मक ही हो सकता है। कारण दो हैं—

---

१. दे० **विभावो नाम विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।**
—'नाट्यशास्त्र' (काव्यमाला सीरीज का सन् १६४३ ई० का संस्करण), पृ० १०५।

२. दे० **अथवीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स चासंमोहाध्यवसायनय-विनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।**
—वही 'नाटयशास्त्र', पृ० १००।

एक तो यह कि सहृदय का तादात्म्य सीधा उत्साही आश्रय के साथ हुआ करता है। दूसरा यह कि भाव होने के नाते 'उत्साह' का मूल-आधार कर्म होता है ; और जैसा कि स्थायी-भाव के प्रसंग में पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, इस भाव का बोध इसी से (भाव से) सम्बद्ध विशिष्ट कर्म के सम्पन्न होने की क्रिया में ही सम्भव है ; परन्तु क्रिया मे भाव-विशेष का उद्बोधन तभी हो सकता है जबकि उसका कर्त्ता बल-पराक्रम जैसे विशिष्ट गुणों से सम्पन्न हो। यही कारण है कि भरत ने रस की दृष्टि से जहाँ बल-पराक्रम आदि गुणों का विभाव रूप में उल्लेख किया है, वहाँ लौकिक दृष्टि से शौर्य, त्याग आदि गुणों की स्थिति उत्साही में मानते हुए इन्हें अनुभाव भी कहा है[1]। अतएव कहा जा सकता है कि भरत अप्रत्यक्ष रूप से वीर रस का आलम्बन कर्म को ही मानते हैं और इसके द्वारा उद्बुद्ध उत्साह का ज्ञापन आश्रय के बल, पराक्रम आदि गुणों तथा उसकी शौर्य, त्याग आदि क्रियाओं में स्वीकार करते हैं।

भरत के परवर्ती आचार्यों ने प्रायः कर्म के स्थान पर व्यक्ति को ही वीर रस का आलम्बन माना है ; साहित्यदर्पणकार का आलम्बन को 'विजेतव्य' कहना[2] भी इसी ओर स्पष्ट संकेत करता है। किन्तु इस मान्यता का मूल आधार क्या है इस सम्बन्ध में कुछ कहना अपने आपमें अत्यन्त कठिन है। हाँ, अनुमान से इतना कह सकते हैं कि भरत ने अप्रत्यक्ष रूप से जिस कर्म को वीर रस का आलम्बन माना है उसका मूल-निमित्त व्यक्ति को स्वीकार करके ही ये आचार्य चले होंगे ; क्योंकि इस मत के प्रबल पोषक आचार्य विश्वनाथ भी स्वयं आश्रय के विषय में भारत से प्रभावित प्रतीत होते हैं[3]।

जो हो, इन मान्यताओं से यह तो स्पष्ट ही है कि वीर रस मे भावोद्बोधन के दो केन्द्र हो सकते हैं—एक, कर्म और दूसरा, व्यक्ति। यहाँ दृष्टव्य यह है कि इनमें से कौनसा हमारे विवेच्य रस का आलम्बन हो सकता है। कहना न होगा कि इनमें व्यक्ति को आलम्बन मानना तो अधिक संगत प्रतीत नहीं होता, कारण, जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, वीर रस के कतिपय प्रसंगों में व्यक्ति

---

१. दे० **तस्य स्थैर्यधैर्यशौर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।**
—वही नाट्यशास्त्र, पृ० १०० ।

तस्य स्थैर्यधैर्यात्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः
—वही नाट्यशास्त्र, पृ० ११० ।

२. दे० **आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ॥२३३॥**
—वही 'साहित्यदर्पण,', तृतीय परिच्छेद ।

३. दे० (क) **अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः।**
—वही 'नाट्यशास्त्र', पृ० १०० ।

उत्साहो नाम—उत्तम प्रकृतिः।
—वही 'नाट्यशास्त्र' प० ११० ।

(ख) **उत्तमप्रकृतिवीर उत्साहस्थायिभावकः ॥२३२॥**
—वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद ।

भाव-जागृति का ही निमित्त नहीं बन पाता और यदि बनता भी है तो उस दशा में वह भाव सत्त्वगुण-प्रधान 'उत्साह' के समकक्ष नहीं हो सकता—उसमें अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष जैसे राजसी अथवा तामसी गुण अवश्य ही विद्यमान रहेंगे। वास्तव में कर्म ही एक ऐसा विषय है जो प्रत्येक व्यक्ति में 'उत्साह' का संचार कर सकता है। क्या युद्ध और क्या दान, धर्म अथवा क्षमा—इन सबमें आश्रय के समक्ष कर्म ही प्रधान रहता है। किन्तु यह कर्म उसमें उद्बुद्ध भावनाओं को 'उत्साह' की संज्ञा तब तक ही दिला सकता है जब तक कि वह यह समझकर कि 'मेरा जन्म इसे करने के निमित्त ही हुआ है' इसे सम्पन्न करता है; यदि उसके सम्मुख केवल व्यक्ति ही रहता है—वह यह समझता है कि मुझे जो कुछ भी करना है वह इस व्यक्ति के प्रति ही है, तो उस दशा में क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आदि सत्त्वगुण से इतर वृत्तियाँ उसकी कर्त्तव्य-भावना में मिलकर इसे उत्साह की कोटि से भ्रष्ट कर डालती हैं। सच्चे उत्साही में इस प्रकार की वृत्तियों का उदय सर्वथा अनुचित ही कहा जायगा। सम्भवतः इसीलिए भरत ने उत्साही में बल-पराक्रम जैसे उद्धत गुणों के साथ नय, विनय आदि प्रशान्त गुणों का होना स्वीकार किया है।

जहाँ तक उद्दीपन विभावों का प्रश्न है, उनके अन्तर्गत वे सभी जड़-चेतन पदार्थ आ जाते हैं जो अपने गुण-क्रिया आदि द्वारा आश्रय में विशिष्ट कर्म को सम्पन्न कर डालने की भावना को तीव्रता प्रदान करते हैं। ऐसे पदार्थों को आलम्बन और आश्रय के आधार पर दो वर्गों में रखा जा सकता है—१. आलम्बन-आश्रयी और २. आश्रय-आश्रयी। इनमें आलम्बन-आश्रयी वे पदार्थ कहे जायँगे जिनका सीधा सम्बन्ध किसी न किसी रूप में आलम्बन—अर्थात् कर्म—के साथ हुआ करता है। इनके दो भेद किये जा सकते हैं—एक वे, जिनके प्रति आश्रय का क्रिया व्यापार उसके उद्देश्य को पूर्ण करता है। जैसे युद्ध-वर्णन के प्रसंग में दुष्ट के वध द्वारा आश्रय असत्य-अत्याचार आदि का समूल नाश करके सद्वृत्तियों की अथवा दानवीर के वर्णन में भिक्षुओं को दान देकर, दयावीर के वर्णन में त्रस्त की सहायता कर तथा धर्मवीर के वर्णन में शास्त्र-विहित कर्मों का अनुष्ठान कर क्रमशः दान, दया और धर्माचरण जैसे लोक-कल्याणकारी तत्त्वों की स्थापना का उद्देश्य पूरा करता है। अतः इन प्रसंगों में दुष्ट की क्रूरता, मिथ्याचरण आदि, दुर्गुण, भिक्षुओं की दरिद्रता, त्रस्त का दुःख और शास्त्रों के आदेश उद्दीपन विभाव हैं। दूसरे पदार्थ वे हैं जिन्हें तटस्थ कहा जा सकता है। ये ऐसा वातावरण उत्पन्न करते हैं कि आश्रय में कर्म-सम्पादन के लिए 'उत्साह' का संचार स्वतः ही हो जाता है। जैसे युद्ध के समय सेना, रणवाद्य; बाधाएँ उत्पन्न करने वाले नदी, नाले, पर्वत आदि; दान और धर्म के समय प्रयाग, काशी जैसे तीर्थ-स्थान तथा दया के समय किसी तीसरे व्यक्ति की दीन दुखियों के सम्बन्ध में हृदय-विदारक उक्तियाँ आदि।

आश्रय-आश्रयी पदार्थों का सीधा सम्बन्ध आश्रय के साथ होता है। इनके भी दो भेद हो जाते हैं—एक, आश्रय द्वारा की गई प्रतिज्ञाओं अथवा कृत्यों का स्मरण और दूसरा, चारणों आदि की आश्रय-विषयक प्रशस्तियाँ। इन दोनों भेदों का उद्देश्य स्पष्टतः यह होता है कि उत्साही आश्रय के क्रिया-व्यापारों में शिथिलता न आने

पाये। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रकार की प्रशस्तियों में 'उत्साह' को गौण कहकर उनमें उद्दीपन-क्षमता स्वीकार नहीं की[1]। इस कथन में सार्थकता भी है। कारण, चारणों का उद्देश्य सच्ची प्रशंसा न होकर झूठी उक्तियों द्वारा धन ऐंठने का होता है। परन्तु यदि आश्रय सात्विक-भाव से अपनी झूठी प्रशस्ति सुनकर भी दान करता है अथवा युद्ध के लिए तत्पर होता है तो उसे उद्दीपन-सामग्री में सम्मिलित करने में संकोच न होना चाहिए। वास्तव में इन उद्दीहन विभावों का कार्य स्थायी भाव — 'उत्साह' को तीव्रता प्रदान कर उसे रसदशा तक ले जाना होता है—अब यह बाधा के रूप में हो अथवा अनुकूल वातावरण के; या फिर प्रशस्ति हो-- उसका उद्देश्य वही एक है।

अनुभाव—आलम्बन और उद्दीपन विभाव जिस स्थायी-भाव को आश्रय मे क्रमशः उद्बुद्ध और उद्दीप्त करते हैं, उसका बोध केवल आश्रय के व्यापारों द्वारा ही होता है। क्योंकि आश्रय के इन व्यापारों की सहायता से सहृदय उसमें स्थित स्थायीभाव-विशेष का अनुभव करता है, इसीलिए आचार्यों ने इनको अनुभव की संज्ञा दी है[2]।

अनुभावों की कुल मिलाकर संख्या कितनी है अथवा विशिष्ट रस में कितने अनुभाव होते हैं, यह निश्चय करना अपने आपमें अत्यन्त कठिन है; कारण, आश्रय की प्रवृत्ति और परिस्थितियाँ इनके स्वरूप को स्थिर नहीं रहने देतीं। वैसे विशेषताओं के आधार पर इनका वर्गीकरण सरलता से किया जा सकता है और यही कारण है कि संस्कृत के आचार्यो ने प्रायः इनके वर्गो का ही उल्लेख किया है। भरत ने अनुभाव तीन प्रकार के माने हैं—वाचिक, कायिक और सात्विक[3]। इनमें कायिक और सात्विक अनुभावों से उनका अभिप्राय स्पष्टतः शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन तथा सत्व से उत्पन्न स्वेद, रोमांच आदि से रहा है। वाचिक अनुभावों से उनका आशय वचन आदि वाणी के व्यापारों से है।

साहित्यदर्पणकार ने कायिक और सात्विक अनुभावो को तो स्वीकार कर लिया है, पर वाचिक को ग्रहण न करते हुए उसके स्थान पर स्वभावज तथा आहार्य नामक दो अनुभाव और जोड़ दिए हैं। इनमें स्वभावज अनुभावों से उनका अभिप्राय स्पष्टतः हावों से रहा है जबकि आहार्य अनुभावों में वे वेष-भूषा को समाविष्ट करते

१. दे० कामगर्वागत उत्साहो राजस्तुतिगुणीभूत इति न रसव्यपदेश हेतुः।

—वही 'रसगंगाधर', पृ० ३८।

२. दे० यानि च कार्यतया तान्यनुभावशब्देन ।।

अनुपश्चाद्भाव उत्पत्तिर्येषाम्। अनुभावयन्तीति वा व्युत्पत्तेः।

—वही 'रसगंगाधर', पृ० ३३।

३. दे० अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्व कृतोऽभिनय इति।

—वही 'नाट्यशास्त्र', पृ० १०५।

हैं[1]। किन्तु इस वर्गीकरण को भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता। कारण, हाव और अलंकरण-सामग्री अपने आपमें उद्दीपक भी तो हैं—अनुभाव तो ये उसी दशा में कहलायेंगे जबकि आश्रय आलम्बन को देखकर ऐसा करे।

इसमें सन्देह नही कि अनुभावों का मूल उद्गम आश्रय में जाग्रत भाव हैं; पर क्योंकि इनकी अभिव्यक्ति उसके शरीरावयवों द्वारा होती है, अतएव यदि इनका वर्गीकरण शरीर की प्रक्रियाओं के आधार पर किया जाय तो अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ होगा। शरीर में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं—१. बाह्य और २. आन्तरिक। बाह्य-प्रक्रियाओं से हमारा आशय उन व्यापारों से है, जिनका-संचालन स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है—जैसे हाथ, नेत्र आदि का संचालन। आन्तरिक-प्रक्रियाएँ प्रायः स्नायु-मण्डल के व्यापार हैं, पर इनका प्रभाव शरीर पर दृष्टिगोचर होता है—जैसे स्वेद, कम्प, वैवर्ण्य इत्यादि। इस प्रकार प्रथम वर्ग की परिसीमा के अन्तर्गत कायिक, वाचिक, आहार्य आदि सभी अनुभाव रखे जा सकते हैं, जबकि द्वितीय में केवल सात्विक अनुभाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, वैवर्ण्य, कम्प, स्वरभंग, अश्रु और प्रलय[2]—ही आ सकते हैं।

जहाँ तक वीर रस के अनुभावों का प्रश्न है, वे भी उक्त दोनों वर्गों के ही हैं—उनसे बाहर के नहीं। किन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं कि इनसे स्थायी भाव 'उत्साह' की अभिव्यक्ति अनिवार्यतः होनी चाहिए। अर्थात् उपर्युक्त विवेचन के अन्तर्गत 'उत्साह' के स्वरूप में आनन्द, आशा, आत्मविश्वास और सन्तोष नामक जिन उपकरणों को स्वीकार किया गया है उनका प्रदर्शन इनके द्वारा स्पष्टतः हो। यदि ऐसा नहीं होता तो कतिपय इतर रसों के भी अनुभाव होने के कारण ये दूसरे रस का भी भ्रम डाल सकते हैं अथवा यह भी हो सकता है कि रस-परिपाक ही भली भाँति न हो पाये। उदाहरण के लिए दूसरे वर्ग के अर्थात् सात्विक अनुभावों को ही लीजिए। युद्धवीर के वर्णन में उत्साही (आश्रय) का काँप उठना, नेत्र लाल हो जाना तथा माथे पर स्वेद-बिन्दु झलकने लगना उसमें स्थायीभाव 'क्रोध' या 'भय' को भी प्रकट करता है। अतः न तो वीर रस का सही रूप में परिपाक ही कहा जा सकता है और न इन अनुभावों को रौद्र या भयानक रस के अनुभावों से पृथक् ही कर सकते हैं। 'उत्साह' में तो उमंगजन्य आनन्द आदि की स्थिति रहने के कारण उत्साही अपने आपको हल्का-सा अनुभव करता है। इसीलिए उसके काँपने, स्वेद से भीगने तथा नेत्र लाल होने का वर्णन सर्वथा अनुचित कहा जायगा—इसमें तो रोमांच का वर्णन करना उपयुक्त होगा। इसी प्रकार दानवीर के वर्णन में दान करते

---

१. दे० उक्ताः स्त्रीणामलंकारा अंगजाश्च स्वभावजाः ॥
तद्रूपाः सात्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि। (१३३-३४)
—दे० वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद।

२. दे० स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमांचः स्वरभंगोऽथवेपथुः ॥
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्विकाः स्मृताः। (कारिका १३५-३६)
—दे० वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद।

समय उत्साही का रोमाचित होना आदि अनुभाव तो उचित हैं, किन्तु वैवर्ण्य, जड़ता आदि का वर्णन उसकी त्याग-भावना पर कुठाराघात होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि वीर रस के अनुभावों से 'उत्साह' की उसी प्रकार अभिव्यक्ति होनी चाहिए जिस प्रकार अन्य रसों के अनुभावों द्वारा उनके स्थायीभावों की सही रूप में हुआ करती है—इनके द्वारा आश्रय में विपरीत-भावों की अभिव्यक्ति होना सर्वथा अनुचित कही जायगी। सम्भवतः इसीलिए भरत ने अविषाद, शक्ति, धैर्य, त्याग आदि को उत्साही के गुण कहा है[1]।

संचारी--स्थायीभाव के भीतर उन्मग्न-निमग्न होते हुए संचरण करने वाले भावों का नाम संचारी या व्यभिचारी है[2]। ये स्थायीभावों की अपेक्षा बहुत कम स्थिर हुआ करते हैं। इनकी सार्थकता ही इस बात में निहित है कि ये आविर्भूत-तिरोभूत होकर स्थायीभाव को पुष्ट करें। वास्तव में स्थायीभावों के साथ इनका सम्बन्ध लगभग वैसा ही है जैसा आलम्बन के साथ स्थायीभाव का हुआ करता है। अर्थात् जिस प्रकार आलम्बन की उपस्थिति के काल तक ही स्थायीभाव रहता है और उसके हटते ही तिरोहित हो जाता है ठीक उसी प्रकार जब तक स्थायीभाव रहता है तभी तक इनका अस्तित्व रहता है। इधर इनकी उपस्थिति के बिना भी कोई स्थायीभाव रस-दशा तो क्या स्थायी की कोटि तक नहीं पहुँच सकता। इनके अभाव में यह साधारण भाव मात्र ही रह जायगा। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक रस-सिद्ध कविता में संचारीभाव अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

संस्कृत से रसवादी आचार्यों में प्रायः सभी ने निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति विवोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क—ये ३३ संचारी स्वीकार किए हैं। किन्तु इनमें से किसी के विषय में उन्होंने यह निश्चय नहीं किया कि अमुक संचारी अमुक रस का ही अंग होगा। इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि वे किसी भी स्थायीभाव की इनके संचरण द्वारा पुष्टि सम्भव मानते रहे हों। वैसे रस और संचारियों के विषय में यह सम्भावना अपने आपमें असंगत भी नहीं कही जा सकती, कारण किसी भी स्थायी की प्रकृति से मेल न खाने वाला संचारी भी विशिष्ट परिस्थिति में उसका पोषक हो सकता है—भाव के स्थायित्व की कसौटी ही वास्तव

---

१. दे० उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः।
स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।

—वही 'नाट्यशास्त्र', पृ० ११०,

२. दे० विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥१४०॥

—वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद।

३. दे० वही 'साहित्यदर्पण' तृतीय परिच्छेद, १४१वीं कारिका।

में यह है कि उसके विरोधी भाव जागृत होकर भी उसे न दबा सकें[1]; उसकी प्रकृति से मेल खाने वाले तो उसका पोषण करेंगे ही ।

वीर रस के सम्बन्ध में भी यह बात कही जा सकती है । अर्थात् अनुकूल परिस्थिति में उक्त सभी संचारी इसके अभिन्न अंग बन सकते हैं । बात यह है कि वीर रस का आलम्बन है—'महत्कर्म' । अतः आश्रय में इसके सम्पन्न करने की भावना अथवा 'उत्साह' को प्रवृत्तिमूलक संचारी—जैसे हर्ष, आवेग, चपलता आदि तो हर दशा में पुष्ट करेंगे ही ; शेष में से जो विकल्पमूलक हैं—जैसे चिन्ता, वितर्क, शंका आदि, वे भी अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रवृत्तिमूलक हो जायँगे । उदाहरण के लिए युद्ध-भूमि में जाने से पूर्व अनिष्ट का विचार प्रत्येक योद्धा के सम्मुख आना स्वाभाविक ही है, किन्तु जब वह अपने जीवन की अपेक्षा अपने कर्म का अधिक महत्त्व समझता है तो स्वतः ही यह संचारी (शंका) तिरोभूत होकर उसके 'उत्साह' को दृढ़ कर देता है । इसी प्रकार अनिष्ट-प्राप्ति-जन्य व्याकुलता (चिन्ता) भी महान् उद्देश्य की उपस्थिति में निःशेष हो जायगी ।

जहाँ तक निवृत्तिमूलक संचारियों—जैसे निर्वेद, ग्लानि, विषाद आदि का प्रश्न है, उनके विषय में अवश्य ही यह द्रष्टव्य हो जाता है कि क्या ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है जिसमें ये 'उत्साह' के पोषक हो जायँ । कहना न होगा कि जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में ऐसा होना असम्भव नहीं । उदाहरण के लिए 'निर्वेद' को ही लीजिये । यह व्यक्ति को कर्म-क्षेत्र से खींचकर प्रायः वैराग्य की ओर ले जाता है । किन्तु जब आश्रय यह समझकर कि संसार क्षणभंगुर है, लक्ष्मी भी चंचल है—अपना कोई नहीं, समस्त धन का दान करने का निश्चय करता है, तब स्वतः यह संचारी उसके 'उत्साह' का पोषक बन जाता है । इसी प्रकार किसी योद्धा के निकट सम्बन्धी की युद्ध-स्थल में मृत्यु उसे विषाद-मग्न तो अवश्य करेगी, पर इससे उसका 'उत्साह' क्षीण होगा यह नहीं कहा जा सकता । इससे उसके कार्य में और भी तीव्रता आ सकती है, क्योंकि उसका उद्देश्य महान् होगा । स्वतन्त्रता-संग्राम में यदि कोई व्यक्ति अंग्रेजों की गोलियों का शिकार हुआ तो इससे उसके निकट सम्बन्धियों में ही नहीं उसके सामान्य परिचितों—यहाँ तक कि अपरिचित देशवासियों तक में कितना 'उत्साह' बढ़ा, यह सभी जानते है । ऐसी दशा में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निवृत्तिमूलक संचारी भी विशिष्ट परिस्थिति में प्रवृत्तिमूलक होकर वीर रस के स्थायीभाव—'उत्साह'—के पोषकहोंगे, इसमें संदेह नहीं ।

---

१. दे० अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ।।१७४।।

—वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद ।

वीर रस के भेद

वीर रस के भेदों के सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्य एकमत नहीं रहे। भरत ने सर्वप्रथम इसके तीन भेद---दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर---स्वीकार किये थे[1], जिनको आगे रुद्रट ने ज्यों का त्यों ग्रहण करते हुए इस विभाजन का आधार विषय माना[2]। बाद में मम्मट ने जहाँ इनमें से केवल 'युद्धवीर' को ही स्वीकार किया[3] वहाँ आचार्य विश्वनाथ ने अपने विभाजन का आधार उत्साही के दान आदि कर्मों को बनाते हुए इनके साथ चौथा 'दयावीर' और जोड़ दिया[4]। इसके पश्चात् तो इन भेदों की सीमा निर्धारित करना भी कठिन हो गया, फलतः पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि शृंगार रस के समान ही वीर रस के भी अनेक भेद किये जा सकते हैं[5]। कहना न होगा कि हिन्दी में आज दिन कर्मवीर, वाग्वीर, पाण्डित्य-वीर, सत्यवीर आदि शब्दों का प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से पण्डितराज के कथन का समर्थन है। किन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि इन सभी मान्यताओं के मूल में कर्म के विभिन्न स्वरूपों और उनके सम्पादन-सम्बन्धी आश्रय के गुण ही रहे हैं, न कि कर्म के उद्देश्य की पूर्ति-विषयक आश्रय की भावना ; और यही कारण है कि इनमें या तो तर्क की दृष्टि से संगति नहीं आ पाई या फिर अतिव्याप्ति दोष आ गया है। बात वास्तव में यह है कि सभी रसों की निष्पत्ति का सिद्धान्त चूँकि भरत का वही एक सूत्र---विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः---स्वीकार किया गया है अतः उनमें से प्रत्येक के भेदीकरण का आधार भी एक ही होना चाहिए। शृंगार और हास्य रसों के विभाजन में जब आश्रय की भावना को प्रधानता प्राप्त हुई है---विषय अर्थात् आलम्बन को नहीं, तो वीर रस के भेदों के लिए भी उसे क्यों न स्वीकार किया जाय ?

अस्तु, ऊपर निश्चित किया जा चुका है कि वीर रस का आलम्बन 'महत्कर्म' है, जिसका पर्यवसान लोक कल्याण में होता है। अतः उत्साही की भावना में उत्सर्ग का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उत्सर्ग,

---

१. दे० दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥८०॥
---वही 'नाट्यशास्त्र', पृ० १०३।

२. दे० उत्साहात्मा वीरः स त्रेधा युद्धधर्मदानेषु।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायकः स्यातः ॥१॥
'काव्यलंकार'---काव्यमाला सिरीज (सन १९०९ ई० का संस्करण), पृ० १६४।

३. दे० मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' के अन्तर्गत केवल 'युद्धवीर' का ही उदाहरण दिया है।

४. दे० स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥२३४॥
स च वीरो दानवीरो, धर्मवीरो, युद्धवीरो, दयावीरश्चेति चतुर्विधः।
---दे० वही 'साहित्यदर्पण' तृतीय परिच्छेद, पृ० १६३।

५. दे० वस्तुतस्तु बहवो वीर रसस्य शृंगारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते।
---वही 'रसगंगाधर', पृ० ४१।

आश्रय केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ही कर सकता है, कारण प्रत्येक मनुष्य के क्रिया-कलाप इन चारों में से किसी न किसी की प्राप्ति के लिए ही हो रहे हैं। दानवीर में स्पष्टतः निःस्वार्थ भाव से लोक-कल्याणार्थ अपने परिश्रम से संचय किए हुए धन के उत्सर्ग की भावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसी प्रकार युद्धवीर में भी लोक-कल्याण के लिए काम-पूर्ति के साधन शरीर के बलिदान की भावना ही आश्रय में प्रधान रहती है। जहाँ तक धर्म और मोक्ष का प्रश्न है, इनका सम्बन्ध वीर रस के किसी भेद के साथ बताने से पूर्व इनके स्वरूप पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। संस्कृत में 'धर्म' शब्द का प्रयोग साधारणतः दो अर्थों में किया जाता है। इन में प्रथम की परिसीमा के अन्तर्गत नीतिशास्त्र आदि विहित नियमों को रखा जा सकता है, जब कि द्वितीय में मनुष्य के केवल वे गुण ही आते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध उसकी आत्मा के साथ होता है—जैसे दया, धृति, क्षमा इत्यादि। यदि 'धर्म' के इन दोनों प्रयोगों को एक दूसरे से पृथक् न किया जाय तो मोक्ष स्वतः धर्म का अंग बन जायगा, क्योंकि यह भी तो मानव आत्मा से सम्बद्ध है। किन्तु यदि समाज से व्यक्ति की पृथक् सत्ता स्वीकार की जाय तो निश्चय ही धर्म और मोक्ष के पार्थक्य को स्वीकार करना होगा। सम्भवतः चतुर्वर्ग में इनका समावेश इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर किया गया है।

वीर रस के अन्तर्गत भी धर्म के उक्त प्रथम अर्थ के प्रकाश में समाज, नीति-शास्त्र आदि द्वारा निर्धारित नियमों के पालनार्थ सर्वस्व-उत्सर्ग की भावना से प्रेरित आश्रय को धर्मवीर कह दिया जाता है। इसी प्रकार दयावीर में स्पष्टतः समस्त प्राणिमात्र के लिए मोक्ष—अर्थात् सांसारिक दुःखों से निवारण की भावना विद्यमान रहती है। किन्तु इसको मोक्षवीर की संज्ञा क्यों नहीं दी गई—दयावीर ही क्यों कहा गया? इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर देना अनुचित नहीं कि 'मोक्ष' शब्द अपने आपमें इतना व्यापक है कि सत्य, क्षमा, धृति आदि इसके अंग ऐसे हैं जो केवल व्यक्ति तक ही सीमित रहते हैं—केवल 'दया' ही ऐसा है जिसका सम्बन्ध मूलतः इससे इतर प्राणियों के साथ हुआ करता है। दूसरे दयालु व्यक्ति न तो रजोगुणी हो सकता है और न तमोगुणी ही। अतः दयावीर के मूल में जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष—को स्वीकार किया जाय तो अनुचित न होगा। संक्षेप में वीर रस के भेदों का वैज्ञानिक आधार आश्रय की महत्कर्म-सम्बन्धी भावना ही कही जा सकती है और इसे 'साहित्य-दर्पण' में लिखित उक्त चारों भेदों में देखा जा सकता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस भावना को चार प्रकार से प्रकाशित करने के चार स्तम्भ हैं।

वीर रस का इतर रसों से अन्तर

साधारणतः प्रत्येक रस की निष्पत्ति विभावादिकों के संयोग से होती है; पर चूँकि इनमें आलम्बन और अनुभाव उपेक्षाकृत स्थूल एवं रस-प्रतीति के प्रमुख सहायक होते हैं, इसलिए दो भिन्न रसों में इनका साम्य उन्हें इतना निकट ले आता है कि दोनों में से किसकी स्थिति स्वीकार की जाय यह बतलाना कठिन हो जाता है। वीर रस के प्रसंग में रौद्र, अद्भुत और शान्त—ये तीन रस ऐसी ही समस्या उत्पन्न कर

देते हैं। बात वास्तव में यह है कि रौद्र रस में आलम्बन शत्रु और उस पर आश्रय के वार अनुभाव हैं जबकि युद्धवीर में भी शत्रु आलम्बन बन जाता है, क्योंकि आश्रय के महत्कर्म (आलम्बन) का मुख्य बाधक वही होता है। इधर अनुभाव भी इसमें लगभग वही होते हैं जो रौद्र रस में हुआ करते हैं। इसी प्रकार वीर रस के सभी भेदों में आश्रय का असाधारण कर्म करना सहृदय में अद्भुत रस की तथा धर्मवीर, दयावीर और दानवीर में उसका क्रमशः धर्माचरण, प्राणिमात्र पर दया एवं समस्त सम्पत्ति का दान शान्त रस की निष्पत्ति करता प्रतीत होता है। ऐसी दशा में इस समस्या का एक मात्र समाधान यही हो सकता है कि आश्रय के अनुभावों आदि की अपेक्षा उस की मनःस्थिति एवं उद्देश्य को ध्यान में रखा जाय। रणभूमि में यदि वह अपने व्यक्तिगत द्वेष को ध्यान में रखकर प्रतिहिंसा की भावना से युद्ध करता है, तो निश्चय ही इससे रौद्र रस की निष्पत्ति होगी, क्योंकि रौद्र रस का स्थायी भाव है—'क्रोध', जो तमोगुण प्रधान होने के कारण उसके व्यापारों के स्वरूप को ही अपने अनुरूप न बनावेगा प्रत्युत आश्रय को भी इसकी उपस्थिति के समय एवं इसकी समाप्ति के पश्चात् भी कष्ट देगा। युद्धवीर में इसके विपरीत योद्धा की युद्ध-भावना उसके व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित न होकर न्याय, आत्म-सम्मान, जन-कल्याण अथवा सत्त्व से होगी, जिसके सम्पादन के समय एवं उसके पश्चात् भी उसे आनन्द की प्राप्ति होगी, क्योंकि इस रस का स्थायीभाव—'उत्साह' सत्त्वगुण-प्रधान होने के कारण उसमें किसी भी प्रकार की मानसिक शिथिलता न आने देगा। वैसे वीर रस के अन्तर्गत क्रोध को संचारी भाव के रूप में स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि इसके बिना उसके अनुभाव प्रभावशाली नहीं हो सकते।

जहाँ तक अद्भुत और शान्त का प्रश्न है, इन रसों की स्थिति अपने आपमें रौद्र रस की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। इन दोनों रसों के स्थायीभाव हैं—क्रमशः 'विस्मय' और 'निर्वेद', जो अपने आपमें निवृत्तिमूलक (या उदासीनतामूलक) होने के कारण व्यक्ति को कर्म से हटाने वाले हैं, क्योंकि 'विस्मय' होने पर आश्रय अपने आलम्बन को (चाहे वह कर्म ही क्यों न हो) मुग्ध हुआ देखता रह जाता है, जबकि 'निर्वेद' के जागृत होने पर वह इस कर्म-प्रधान संसार को त्याग देने का निश्चय कर लेता है। इन दोनों के विपरीत वीर रस का स्थायीभाव—'उत्साह'—कर्म की भावना पर आवृत है, इसीलिए उसका आश्रय सर्वत्र कर्म में प्रवृत्त होता हुआ मिलेगा—उस से दूर भागता हुआ नहीं। दूसरे उत्साही में आलम्बन की उपस्थिति के समय 'विस्मय' अथवा 'निर्वेद' जागृत नहीं होता। अतः यही कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि आश्रय का असाधारण कर्म को सम्पादन करना अथवा उसके धर्माचारण, दान एवं दया से सहृदय में 'विस्मय' अथवा 'निर्वेद' जागृत होगा, कारण सहृदय का तादात्म्य सदैव आश्रय के साथ हुआ करता है। आश्रय के अभाव में अवश्य ही उसके भीतर ऐसे भाव जागृत हो सकते हैं (क्योंकि इस दशा में वह स्वयं आश्रय बन जाता है।) पर वीर रस में आश्रय की उपस्थिति अनिवार्य है, क्योंकि कर्म का सम्पादन उसके बिना नहीं हो सकता; और यह अर्थात् कर्म आलम्बन होने के कारण इस रस का प्राण है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि आश्रय के बल, पराक्रम, दान

आदि से सहृदय में 'विस्मय' अथवा 'निर्वेद' की भावना भी तो जागृत हो सकती है। यह ठीक है, पर 'विस्मय' की जागृति तभी सम्भव होगी जब कि वह आश्रय की शक्ति, आत्मविश्वास आदि में सन्देह करे। चूँकि वीर रस के अन्तर्गत उत्तम-प्रकृति आश्रय में ये गुण अनिवार्यतः होते हैं अतः 'विस्मय' के उत्पन्न होने की सम्भावना ही नहीं; और यदि ऐसा होता भी है तो इस भाव—अर्थात् 'विस्मय' का प्रभाव अस्थायी ही होगा—स्थायी कदापि नहीं। रही बात 'निर्वेद' की, सो यह भी स्पष्टतः 'उत्साह' के पोषक के रूप में ही आ सकता है, क्योंकि इससे सहृदय में दान आदि करने—अर्थात् कर्म में प्रवृत्त होने की भावना ही जागृत होगी; संसार से निवृत्त होने की नहीं।

यहीं एक बात पर और विचार कर लें और वह यह कि राज्याश्रित कवियों द्वारा किए गए अपने आश्रयदाताओं की वीरता, दान आदि के वर्णनो को वीर रस में सम्मिलित किया जाय अथवा नहीं? पण्डितराज जगन्नाथ तो स्पष्टतः इस प्रकार की रचनाओं में वीर रस की निष्पत्ति नहीं मानते, क्योंकि इनके मूल में कवि का उद्देश्य अपने आश्रयदाता से धन ऐंठने का होता है। वे इनमें 'उत्साह' को गौण मानते हैं[1]।

दूसरे शब्दों में इस प्रकार की उक्तियाँ राज-विषयक-रति-भाव की कोटि तक ही आ पाती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पण्डितराज द्वारा उठाया गया यह प्रश्न अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है, कारण अधिकांश राजप्रशस्तियाँ झूठी हुआ करती हैं। किन्तु फिर भी महान् आशय रखने वाले आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों का तो हमें ध्यान रखना ही चाहिए। उनकी वीरता, दान, धर्म-पालन अथवा दया का इतिहास में निश्चय ही अपना विशेष महत्त्व है। ऐसी दशा में उन रचनाओं को वीर रस की कोटि में रखना ही होगा, जो वास्तव में किसी राजा के सदाशय के वर्णन को प्रस्तुत करती हैं। किन्तु यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यह कैसे निश्चित किया जाय कि अमुक रचना में आश्रयदाता की सदाशयता का वर्णन है अथवा यह कोरी प्रशस्ति है। इसके उत्तर में तो कवि का अपना उद्देश्य देखना होगा। यदि वह केवल आश्रयदाता के वैभव आदि का वर्णन कर रहा है तो निश्चय ही ऐसी रचनाएँ राज-विषयक-रति-भाव-की कोटि में आयँगी; किन्तु यदि वह अपने आपको राजा के सद्व्यापारों का प्रेक्षक मानकर वर्णन कर रहा है तो उनको वीर रस की परिसीमा के अन्तर्गत रखना ही चाहिए। किन्तु यहाँ पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि ये दोनों बातें तो प्रत्येक राज-प्रशस्ति में देखी जा सकती हैं; तब इनको पृथक् करके कैसे देखा जाय? इसके उत्तर में केवल यही निवेदन किया जा सकता है कि सहृदय को इससे क्या प्रतीति होती है। यदि वह इससे वीर रस का आस्वादन करता है तो निश्चय ही ये

---

१. **कामगर्वगत उत्साहो राजस्तुति गुणीभूत इति न रसव्यदेश हेतुः।**

—वही 'रसगंगाधर', पृ० ३८।

विस्तृत विवेचन के लिए 'हिन्दी रसगंगाधर'—ले० श्री पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, भाग १ (प्रथम संस्करण), पृ० १०४-११ देखिये।

वीर-कविताओं की कोटि में आयेंगीं और यदि उसमें केवल भाव ही उठता है तो वह राज-विषयक-रति की रचनाएँ कही जायेंगी।

वीर रस और उदात्त भावना (सब्लाइम)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त जैसी वस्तु तो है नहीं, पर काव्य-गत भावनाओं का अवश्य ही विशद विवेचन है। स्वरूप की दृष्टि से ये भावनाएँ भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित नवरसों के स्थायी और व्यभिचारी भावों के समकक्ष कही जा सकती हैं। इनमें वीर रस के समकक्ष यदि कोई भावना आ सकती है तो वह है उदात्त भावना (सब्लाइम)। पाश्चात्यों के मत में इस भावना की विशेषता है—अभिभूत करने वाली विलाशता (ओवर हेल्मिग ग्रेटनैस), जो शारीरिक बल, आत्मिक शक्ति, साहस, आकार आदि के रूप में हमारे मन पर ऐसा प्रभाव डालती है कि एक क्षण को इसे अपने द्वारा अभिभूत कर लेती है[1]। मन का यह अभिभव विस्मय, आनन्द, श्रद्धा-समन्वित भय और आत्म-लघुता के रूप में व्यक्त होता है[2]। युद्ध-भूमि में योद्धा के पराक्रम और आत्मबलिदान से लेकर झंझावातों में अचल रहने वाला विशालकाय वृक्ष, रात्रि का सन्नाटा और उत्ताल तरंगों वाला सागर—ये सभी उदात्त हैं।

इधर वीर रस पर दृष्टिपात किया जाय तो उसमें भी ये सभी बातें किसी न किसी रूप में देखने को मिल जायँगीं। वीर रस का आश्रय अपने बल, पराक्रम, नय, विनय आदि गुणों द्वारा सहृदयों के मन पर गहरा प्रभाव ही नहीं डालता प्रत्युत उसके व्यापारों से विस्मय, आनन्द, श्रद्धा समन्वित भय एवं आत्म-लघुता का भान होने लगता है राम का रावण जैसे अतुल पराक्रमी और असाधारण व्यक्ति को मारना एक ओर विस्मय उत्पन्न करेगा तो दूसरी ओर आनन्द का सचार भी करेगा इतना ही नही सहृदय उनके सम्मुख अपने आपको तुच्छ समझने के अतिरिक्त उनके प्रति श्रद्धा-समन्वित भय भी रखेगा। यह तो ठीक है किन्तु इससे आगे यह प्रश्न किया जा सकता है कि मानवेतर पदार्थों से इस रस की निष्पत्ति कैसे स्वीकार की जा सकती है, जब कि ये वीर रस के आलम्बन—कर्म को सम्पन्न करने में ही असमर्थ हैं। इसके उत्तर में यही निवेदन किया जा सकता है कि चूँकि कवि की अभिव्यक्ति के साथ सहृदय का तादात्म्य हुआ करता है, अतएव जब कवि इस प्रकार के उत्साह-वर्द्धक गुणों का इन पदार्थों पर आरोप करता है तो स्वतः उनका प्रभाव रसात्मक हो जाता है, कारण उस दशा में सहृदय के समक्ष मानवेतर पदार्थ-विशेष न होकर उन गुणों से युक्त उत्साही आ उपस्थित होता है। उदाहरण के लिए जल-प्लावनों और झंझावातों के आघात सहन कर अडिग रहने वाला वृक्ष विपत्तियों में धैर्य न त्यागने वाले व्यक्ति का स्मरण करा देता है। उस समय सहृदय वृक्ष को सर्वथा

---

१. दे० 'आक्सफोर्ड लैक्चर्स ऑन पोइट्री'—ले० ए० सी० ब्रेडले (सन् १९५५ ई० में प्रकाशित), पृ० ४१, ४५, ४६, ५० और ५२।

२. दे० वही 'आक्सफोर्ड लैक्चर्स ऑन पोइट्री', पृ० ३७।

विस्मरण कर देता है। बस यही आत्म-विस्मृति 'रस' है—पाश्चात्यों के विचार में इस अवस्था को लाने वाली विशेषताएँ 'उदात्त भावना' हैं। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से 'रसाभास' की कोटि में आयेगा। इसका कारण अनौचित्य नहीं, रसात्मक अनुभूति का आभास है, क्योंकि रस की निष्पत्ति तो आश्रय के स्पष्ट-कर्मसम्पादन से ही सम्भव है।

वीर रस का महत्त्व

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध की घनिष्ठता अतवर्य है। पर इनमें महत्त्व किसका अधिक है, यह कहना अपने आपमें अत्यन्त कठिन है, कारण एक के बिना दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं। फिर भी जिन मतों में व्यक्ति अथवा समाज का प्रश्न प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आ जाता है उसकी स्थापना से पूर्व आचार्यों को दोनों में से किसी एक के महत्त्व को स्वीकार करके चलना ही पड़ता है। धर्म-शास्त्रकारों ने समाज को अधिक महत्त्व दिया है, इसीलिए उन्होंने व्यक्ति के लिए जितने आचारों की स्थापना की है, उनका मूल उद्देश्य समाज की समृद्धि रहा है। दूसरी ओर काव्यशास्त्र के कतिपय रसवादी आचार्यों की दृष्टि में, जिन्होंने शृंगार रस को 'रसराज' स्वीकार किया है, स्पष्टतः व्यक्ति का महत्त्व प्रधान रहा है— भोज का यह कथन कि शृंगार की उत्पत्ति का मूल कारण व्यक्ति का अहंकार है[1], इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। किन्तु वीररस की स्थति दोनों ही अवस्थाओं से भिन्न है। इसमें न तो व्यक्ति के लिए धर्म की आदेश-परतन्त्रता का आभास है और न शृंगार के समान उसके 'स्व' का ही बोलबाला है। यह तो वास्तव में व्यक्ति के हृदय का वह व्यापार है जिससे एक ओर उसे और दूसरी ओर समाज को सुख प्राप्त होता है—एक पक्ष को ग्रहण करने से उत्पन्न द्विधा अथवा कष्ट की प्राप्ति किसी को किसी भी दशा में नही हो पाती। आलम्बनरूप में आये हुए लोक-कल्याणकारी कार्य व्यक्ति और समाज, दोनों को एक सूत्र में बद्ध कर देते हैं। इन कार्यों के कर्त्ता को जहाँ आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है वहाँ समाज को सुख और समृद्धि। दूसरे, क्योंकि वीर रस का आश्रय उत्तम-प्रकृति का व्यवित होता है, अतएव सामाजिक की वृत्तियों का इससे परिष्कार और कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्ति होती है। मैं समझता हूँ, समाज और व्यक्ति दोनों की ही दृष्टि से ऐसी विशेषता अन्य किसी रस में नहीं। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखकर इस रस को महाकाव्य के लिए अनिवार्य प्रधानरसों में स्थान देने की आचार्यों ने स्वीकृति दी है। ऐसी दशा में यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि यदि व्यक्ति और समाज—दोनों को समान महत्त्व देकर वीर रस का मूल्यांकन किया जाय तो निश्चय ही अन्य काव्य-रसों की अपेक्षा यह अधिक भारी ठहरेगा।

---

१. दे० रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते। (१)
—'सरस्वती कण्ठाभरण' (काव्यमाला सिरीज का सन् १९३४ ई० का संस्करण), पाँचवाँ परिच्छेद।

मतिराम का वीर-काव्य

भारत वीर-भू है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहाँ पर प्रत्येक युग के अन्तर्गत ऐसे अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने असाधारण कर्मों को सफलतापूर्वक सम्पन्न कर व्यक्ति और समाज दोनों की मर्यादा की रक्षा की है। परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण चाहे वीरों की यह परम्परा शिथिल हो गई हो, पर निःशेष कभी नहीं हुई। इसका श्रेय मुख्यतः उन आदर्शों को दिया जा सकता है जो व्यक्ति को जीवन के भौतिक मूल्यों से ऊँचा उठने का आदेश ही नहीं देते, प्रत्युत उसकी आत्मा का सहज अंग बनकर सभी ओर से उसके व्यक्तित्व को अनुकरणीय बना देते हैं। मुसलमानों का आधिपत्य हो जाने से हिन्दू-संस्कृति पर सबसे बुरा प्रभाव यही पड़ा कि उनके भौतिक-जीवन-दर्शन ने सहज ही इसमें प्रवेश कर लिया। फलतः मुसलमानो की दासता के साथ विलासिता भी हिन्दू समाज के अभिजात वर्ग ने ग्रहण कर ली। सुरा-सुन्दरी की उपासना भी हिन्दू राजा लोग करने लगे। ऐसी दशा में किसी के भीतर असाधारण कर्म करने की क्षमता तो दूर की बात है, उस दिशा में विचार करने तक की सम्भावना नष्ट हो गई थी। विलासिता ने एक प्रकार से सात्विक वृत्तियों और विवेक-शक्ति को अपने जीवन से सर्वथा पृथक् कर दिया था। किन्तु फिर भी आत्मा के संस्कार और पूर्वजों के महान् कृत्यों का प्रकाश-स्तम्भ उनके सम्मुख विद्यमान था। अतएव इस घोर अधःपतन के युग में भी कतिपय वीरो का उद्भव असम्भव नहीं था। यही कारण है कि इस युग के विलासी समाज का चित्र अंकित करने वाली शृंगारिक कविताओं के बीच में यत्र-तत्र वीर-काव्य का भी दर्शन हो जाता है।

मतिराम की प्रकृति गम्भीर तथा रुचि परिष्कृत थी। तत्कालीन शृंगारिक-प्रवृत्ति एवं आजीविका के प्रश्न ने यद्यपि उन्हें शृंगारिक रचनाएँ लिखने के लिए बाध्य किया और युवावस्था ने इसमें उनका पूरा साथ दिया; पर प्रौढ़ावस्था के आते ही वे अपने कर्म को त्यागने की सोचने लगे, यह 'मतिराम की विचारधारा' शीर्षक के प्रसंग में विस्तार के साथ बताया जायगा। अब तो वास्तव में वे ऐसे आश्रयदाता की खोज में थे जिसके कर्म उनकी रुचि के अनुकूल हों। सौभाग्य से इस सतोगुणी ब्राह्मण को बूँदी-नरेश राव भाऊसिंह हाडा जैसा व्यक्ति मिल ही गया, जिसमें अपनी वंश-परम्परा एवं हिन्दू-संस्कृति के उच्च आदर्शों के चिह्न शेष थे। इस आश्रयदाता के यहाँ से लौट आने के पश्चात् यद्यपि इन्होंने विलासी भोगनाथ के लिए 'सतसई' की रचना की, पर इसमें शृंगार से उनकी विरति स्वतः स्पष्ट है—इसके अधिकांश छन्द 'रसराज' और 'ललितललाम' से ले लिये गये हैं और शेष में नीति आदि विषयों के दोहों को छोड़कर जो शृंगारिक दोहे रह जाते हैं उनमें प्रायः कवि का मनोयोग दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके पश्चात् तो मानों उन्होंने शृंगार को तिलांजलि ही दे दी; यही कारण है कि 'छन्दसार संग्रह' में इस विषय का एक भी छन्द देखने को नहीं मिलता। वास्तव में इस व्यक्ति की मनोवृत्ति के अनुकूल वीर रस सरलता से बैठ सकता था और इस सम्बन्ध में यह कहा भी जा सकता है कि आरम्भ से ही यदि

इस व्यक्ति को अवसर प्राप्त हो पाता तो निश्चय ही शृंगारिक रचनाओं के समान इसकी प्रतिभा वीर-काव्य-रचना में भी मुखर होकर आती। फिर भी जहाँ थोड़ा-सा इन्हें अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ पर इसके स्पष्ट लक्षण हैं—क्या शास्त्रीय और क्या मनोवैज्ञानिक, सभी दृष्टियों से इनका यह काव्य उपादेय है। देखिये।

आलम्बन—वीर रस के आलम्बन अर्थात् कर्म में असाधारणता तथा जन-कल्याण अथवा सत्वगुण—ये दो विशेषताएँ अनिवार्यतः होनी चाहियें। इनमें असाधारणता से हमारा अभिप्राय 'जन-सामान्य की शक्ति और सामर्थ्य से परे होने' से है, जबकि जनकल्याण की परिसीमा के अन्तर्गत स्पष्टतः लोक-सुख अथवा लोक-समृद्धि की भावना को देखा जा सकता है—सत्त्वगुण से भी लगभग जनकल्याण का अर्थ लिया जा सकता है, क्योंकि सत्त्वगुण-प्रधान कर्म चाहे कर्त्ता के अपने जीवन से सम्बन्ध रखता हो पर उसमे लोक के अकल्याण की सम्भावना नहीं की जा सकती। कहना न होगा कि आलम्बन की ये दोनों ही विशेषताएँ मतिराम के काव्य के अन्तर्गत अत्यन्त स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। उनके आश्रयदाता दानी है और वह भी ऐसे-वैसे नहीं—उच्चकोटि के हैं। जिस सम्पत्ति के लिए लोग बड़े से बड़ा अपराध कर डालते हैं उसे ये सहज ही दान कर डालते हैं। उदाहरण के लिए—

(१) **मंदर-बिलंद मंद गति के चलैया, एक**
पल मैं दलैया, पर-दल बलखानि के।
मदजल झरत झुकत जरकस झूल
झालरिनि झलकत झुण्ड मुकतानि के।।
ऐसे गज बकसे दिवान दुहूँ दीननि कों
'मतिराम' गुन बरनं उदार पानि के।
फौज के सिंगार हाथी और महिपालन के
मौज के सिंगार भावसिंह महादानि के।।१४०।।
(ललितललाम)

(२) **फिरं जो बनिता रमं सुचाल के विचार में**
नचै लसै अपार मैं गती अनेक लेत हैं।
गुमान मानि कै चलं बिहंग गोल लै दलं
समीर हीन ह्वै चलै विलोकिये सचेत हैं।।
इराक पुत्र रुद्ध मै चलै नहीं अरुद्ध मै
जुरे समूह जुद्ध मै सुजीत के निकेत हैं।
बने महा अनूप त्यों लहे न देव भूप ज्यों
कुरंग रूप रूप यों सरूप दान देत हैं।।४१।।[1]
(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

---

१. इसका पाठ मूल प्रति में इस प्रकार मिलता है—
फिरै जो बनिता रमै सुचाल कै विचार मै।
नचै लसै अपार मै गती अनेक लेत हैं।।

हय और गज प्रत्येक राज्य की सैन्य-शक्ति और श्री-वृद्धि—दोनों की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। इनका मूल्य भी कम नहीं होता। इस पर हमारे कवि के आश्रयदाताओं के हय-गज इतने सुन्दर और लड़ाके हैं कि बड़े-बड़े मनसबदार उनको प्राप्त करने के लिए ललचाते रहते हैं[1]। फिर बिना किसी स्वार्थ-भावना के दरिद्रों को इन्हें दान में दे डालना अपने आपमें असाधारण-कर्म नहीं तो क्या? इतना ही नहीं ये लोग अत्यधिक मूल्य की हीरे-जवाहिरात जैसी वस्तुओं का दान करना भी सामान्य समझते हैं—

(१) दिन-दिन दीने दूनी सम्पति बढ़त जाति
ऐसो याको कछू कमला को बर-बर है
हेम हय हाथी हीर बकसि अनूप जिमि
भूपति को करत भिखारिन को घर है ॥
कहै 'मतिराम' और जाचक जहान सब
एक दानि सत्रुसालनंद जू को कर है।
राव भावसिंह जू के दान की बड़ाई देखि
कहा कामधेनु है कछू न सुरतरु है ॥६६॥
(ललितललाम)

(२) काहू कंठमाला काहू तुरंग दुसाला अरु
काहू को नवीन जरी जामा दीजियतु है।
काहू पर काले काहू कंचन के वाले दै दै
मुहरें रुपैया दै के ऐंड़ मीजियतु है ॥
खोलि खोलि कवि परी राजी कविराजन को
बोल बोल ऐसी विधि विदा कीजियतु है ॥३२॥[2]
(अलंकार पंचाशिका)

गुमान भनि के मलै विहंग मोल लै वलै।
समीर हीन ह्वै चलै बिलोकिये सचेत हैं ॥
इराकत उढ़ मौले नहीं अरुट्ठ मै।
जुरे समूह ठट्ठ मैं सुजीत कै निकेत हैं ॥
पने महा अनूप त्यों लहे न देव भूप ज्यों।
तुरंग रूप रूप यों सरूप दान देते हैं ॥४१॥

१. मंगन की कहा है मतंगनि के माँगिबे को
मनसबदारन के मन ललकत हैं ॥ १२२ ॥
(ललितललाम)

१. मूल प्रति में इस छन्द का तृतीय चरण नहीं है। इसका पाठ भी इस प्रकार है—
काहू कंठमाला काहू तुरंग दुसाला काहू
काहू को नवीन जरी जामा मारी जियव है।
काहू पर काले काहू कंचन के वाले दै
मुहरें दै मुहरें रुपैया दै कै एड़ मीजयव है ॥

बोल्हू बोल्हू कवि परी राजी कविराजन को
बोल औसी विध विदा कीजियतु है ।।

धन-सम्पत्ति का दान करना तो अपने आपमें असाधारण बात है ही, किन्तु इसमे भी अधिक है सम्पत्ति आदि के अतिरिक्त अपने जीवन तक के उत्सर्ग की भावना । राव भाऊसिंह के पूर्वज राव भोज की धर्म-रक्षा के निमित्त युद्ध-घोषणा में इसका दर्शन किया जा सकता है—

जेते ऐड़दार दरबार-सिरदार सब
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भौ ।
'मतिराम' कहै करबार के कसैया केते
गाड़र से मूँड़े जग हाँसी को प्रसंग भौ ।।
सुरजन-सुत रज-लाज-रखवारो एक
भोज ही तें साहि को हुकुम-पग पंग भौ ।।
मूँछनि सों राव मुख लाल रंग देखि मुख
औरनि को मूँछनि बिना ही स्याम रंग भौ ।।२६।।

(ललितललाम)

जोधाबाई (अकबर की पत्नी) की मृत्यु पर अकबर की ओर से समस्त हिन्दू राजाओं को यह आदेश मिला कि वे अपनी मूँछें मुड़ा दें । अनेक राजपूत राजाओं ने ऐसा किया भी, क्योंकि वे अपने राज्य तथा जीवन की रक्षा की तुलना में अपनी मूँछें मुड़ाना साधारण-सी बात समझते थे । पर भोज ने इसे अपनी जाति के धर्म और संस्कृति पर कुठाराघात समझकर अकबर की आज्ञा की अवहेलना ही नहीं की प्रत्युत युद्ध की भी घोषणा कर दी । अन्त में इस वीर के सम्मुख उसे झुककर सन्धि का प्रस्ताव करना पड़ा । अकबर की तुलना में भोज साधारण व्यक्ति थे । यदि युद्ध होता तो निश्चय ही इन्हें पराजित होना पड़ता और इसके फलस्वरूप ये अपने जीवन और राज्य—दोनों से ही हाथ धो बैठते । पर इसकी चिन्ता न करके वे धर्म-रक्षार्थ अग्रसर हुए । कहना न होगा कि उनके इस कर्म में असाधारणता ही नहीं वीर रस के आलम्बन की द्वितीय विशेषता—लोक-मर्यादा की रक्षा का भी पूर्ण रूपेण सन्निवेश हुआ है । इसी प्रकार—

रिपुन विपिन बास दीन्हो लीन्हो देसवास
विविध विलास जहाँ होत है सरक सौ ।
कवि 'मतिराम' बैरी दल दलमलि राखै
प्रबल बदल अधिकाई जो खलक सौ ।।
ग्यानचन्द चक्कवै के ऐसी राजनीति
सुर नाग नर मीत जस गावत खलक सौ ।

दरद गरीबन को बकसो गनीमन को
गनीमन को गरब गरीबन को बकसो ॥६५॥[1]
(अलंकार पंचाशिका)

अत्याचारियों को मार भगाकर दरिद्रों की रक्षा करने में एक ओर जहाँ ज्ञानचन्द के कर्म की असाधारणता लक्षित होती है, वहाँ दूसरी ओर जन कल्याण। मतिराम के वीर-काव्य में आलम्बन की ये दोनों विशेषताएँ सामान्य रूप से सर्वत्र देखी जा सकती हैं।

आश्रय—वीर रस आश्रय प्रधान है; कारण आलम्बन अर्थात् कर्म की असाधारणता और उसमें निहित जन-कल्याण की सार्थकता तभी सिद्ध हुआ करती है, जबकि आश्रय में ऐसे गुण हों, जिनसे एक ओर वह अपने भीतर सत्त्व अथवा जन-कल्याण की भावना रखे और दूसरी ओर इस असाधारण कर्म को वह कर सकने में समर्थ हो। मतिराम के आश्रयों में इस प्रकार के गुण सरलता से देखे जा सकते हैं—

१. सत्ता को सपूत भावसिंह भूमिपाल जाकी
किति जौन्ह करत जगत चित चाव है।
कबिन को 'मतिराम' कामतरु ऐसो कर
अंगद को ऐसो रन में अडोल पांव है॥
चन्द कैसी जोति, चंडकर कैसो तेज पुर—
हूत कैसो पुहुमी में प्रकट प्रभाव है।
अरजुन पन मुनि मन धनपति धन
जगपति तन मृगपति रन राव है॥४७॥
(ललितललाम)

२. साहस को सागर सुमेर सिरदारन को
समर को सदन मदन बनितान को।
कवि 'मतिराम' वह देव द्विज दीनन को
कंचन बरस अंस पुरुष पुरान को॥

---

१. इसका मूल पाठ इस प्रकार मिलता है—
रिपुन विपिन कस दीन्हों लीन्हों देस बासु
विविध बिलास जहाँ होत हौसवर सो।
कवि मतिराम वै अरत दल मल मलि राखे
अवल बदल अधिकाई जोई थल सौं॥
ग्यानचन्द चक्कवैकेअैसी राजनीत
सुर नर नाग नस मीत जस गावत छलक सौं।
दरद गरीबन को बकसो गनीमन को
गनीमन कों गरब गरीबन को बकसो॥६५॥

गंजन गनीमन को रंजन गुनीमन को
दान देनहार जग षोडस विधान को।
ज्ञानिन को गुरु ग्यामचंद चन्द्र बंसिन को
बासुद सुभटन को टीको हिन्दुवान को ॥५५॥
(अलंकार पंचाशिका)

कार्य में दृढ़ता, साहस, तेज, प्रभाव, प्रतिज्ञा, मन की दृढ़ता, धन-सम्पत्ति की प्रचुरता, विवेक, ईश्वर में विश्वास तथा जनरंजन में प्रवृत्ति—ये सभी बातें जब आश्रय में हैं तो कोई कारण नहीं कि दान, युद्ध, धर्माचार और दया—इन सभी के सम्पादन में उसे सफलता प्राप्त न हो। मतिराम के आश्रयदाताओं में ये सभी बातें विद्यमान थीं, इसीलिए वे प्रजा और आश्रितों के सुख एवं समृद्धि के लिए बड़े से बड़े कृत्य करके उनके वीर-काव्य के सफल आश्रय बन सके।

उद्दीपन—विशिष्ट गुणों से सम्पन्न आश्रय के भीतर लोक-कल्याण अथवा सत्वगुण-प्रधान कर्म 'उत्साह' तो जागृत करता है पर इसमें तीव्रता तभी आती है जब उद्दीपक-सामग्री और उपस्थित हो। किन्तु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि कवि प्रायः उद्दीपक-सामग्री-चयन का अर्थ वस्तु-परिगणन समझ बैठते हैं और इसका परिणाम यह होता है कि जिन वस्तुओं का उल्लेख कविता में किया जाता है वे आश्रय के 'उत्साह' की अभिवृद्धि करने के स्थान पर कविता के लिए अनावश्यक भार बन जाती हैं। वीरगाथाकालीन काव्यों में यह दोष सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में इस सामग्री का उल्लेख वहीं होना चाहिए जहाँ यह अनिवार्य है, अन्यथा उसकी उपस्थिति की व्यंजना ही पर्याप्त होगी। मतिराम इस दृष्टि से अत्यन्त सजग रहे हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है। उद्दीपक-सामग्री का कहीं पर उल्लेख मात्र नहीं किया गया। आततायियों के कुकृत्य, दरिद्रों की दरिद्रावस्था आदि उद्दीपक उपकरणों का लम्बा-चौड़ा आलेख प्रस्तुत न करके उन्होंने कतिपय शब्दों द्वारा उसे ध्वनित ही कर दिया है। दूसरी ओर आवश्यकता पड़ने पर यथासम्भव संक्षेप के साथ उसे वाच्य रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए—

जीते जोर जंग अति अतुल उतंग तन
दूनी स्याम रंग छबि छपदनि छाए तें।
कहै 'मतिराम' नभ-नदी के कुसम सम
उड़ैं उड़गन सुंड अनिल उड़ाए तें॥
मदजल धार बरषत जिमि धाराधर
धक्कनि सौं धुक्करें धरनिधर धाए तें।
आवें कबिराज ऐसे पावें गजराज राव
भाव सतासुत सौं अगार गुन गाए तें॥१२९॥
(ललितललाम)

राजा के समक्ष उसके पूर्व दान की प्रशस्तियाँ उसे कम से कम उतना ही अन्यथा और भी अधिक देने के लिए प्रेरित करेंगी, यह निश्चित है। मतिराम ने

केवल 'अगार गुन गाए तें' के द्वारा उन उक्तियों का संकेत भर किया है—ये कैसी होंगी, इसका अनुमान सहृदय अपनी कल्पना से कर सकता है। यदि वे इन उक्तियों का विस्तार से वर्णन करते तो इसमें सन्देह नहीं कि दान-वर्णन के उद्देश्य से पीछे हट जाते प्रस्तुत छन्द के अन्तर्गत उद्दीपक सामग्री के उल्लेख की अपेक्षा गजों के आकर्षक वर्णन द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि आश्रयदाता के 'उत्साह' में कितनी तीव्रता है, जो इतने मूल्य के गजों को दान में दे रहा है—उद्दीपक सामग्री के उल्लेख द्वारा उसके 'उत्साह' में कृत्रिमता आ जाती ; यही कारण है कि इसे उतना महत्त्व नहीं दिया गया।

अनुभाव—आलम्बन के प्रति आश्रय में जागृत भाव की स्थूल-अभिव्यक्ति केवल अनुभावों से ही हुआ करती है इसी कारण रस-प्रतीति में इनका सर्वाधिक महत्त्व देख कर हिन्दी के कवि साधारणतः अनुभाव-वर्णन में अपने कवि-कर्म की इतिश्री समझते रहे हैं। फिर वीर रस का तो कहना ही क्या? चूँकि इस रस में सब कुछ आश्रय के अनुभावों पर ही आश्रित रहता है, इसलिए इनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। युद्धवीर-वर्णनों में यह बात प्रायः सामान्य-सी है। मतिराम ने भी अपने युद्ध-वर्णनों में अपने आश्रयदाताओं की वीर-चेष्टाओं को दर्शाने में भूल नहीं की—

बाहुबली ग्यान चन्द जंग जुर कियो जुद्ध
उद्धत दुअन दल दबे भए भार सौं।
कहै 'मतिराम' जोर जम आजम धुरन
उभर परत त्यौं डरत इन सार सौं॥
पाखरैं मतंगन के वपु पर बाही तेग
तमकत तड़ित-सी सी-सी अहिकार सौं[1]।
साथी सब देखत तमासौ गिरि ऐसौ गिरौ
हाथी कटि परो हाथ हालौ न हथ्यार सौं॥४०॥
(अलंकार पंचाशिका)

यहाँ तृतीय चरण के अन्तर्गत 'बाही तेग तमकत तड़ित-सी' के द्वारा आश्रय के तलवार चलाने की क्रिया का संक्षिप्त और स्पष्ट उल्लेख है ; किन्तु 'तमकति तड़ित-सी' पदांश यह व्यंजना कर रहा है कि कितने आवेग से वह इसे घुमा रहा है। इसी प्रकार—

दलबल जुरे जहँ भारे भट भूपनि के
वीर रस उमगि समराख माद बाजें।
क्षत्रिकुल तिलक उदण्ड भुजदण्डनिके
विक्रम विहद उर हिम्मत अपार साजें॥

---

१. इस चरण का पाठ मूल प्रति में इस प्रकार है—
तमतक तड़त सी सी सी अहकार सौं।

देखियत लाखन के बीच में परतु हुति
कोप सो समत्थ विरुदैत बलवंत गाजै ।
दिल्लीपुर आनि के सिगारी सब सूबन के—
आगे महीप तँह पंचम सरूप राजै[1] ॥

(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

इसमें 'उदण्ड भुजदण्डनि के विक्रम विहद' के द्वारा जहाँ आश्रय—स्वरूपसिंह बुन्देला—के अंगसंचालन की व्यंजना हो रही है, वहाँ 'गाजै' शब्द उसकी उमंग और आत्मविश्वास को ध्वनित कर रहा है।

परन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि मतिराम के काव्य में सात्विक अनुभावों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। अंगसंचालन अथवा कायिक अनुभाव भी केवल उनके युद्धवीर-वर्णनों में ही देखे जा सकते हैं और वह भी अत्यन्त संक्षेप के साथ-दान-वीर के वर्णन में इतना भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका मुख्य कारण कवि की अपनी शैली ही कही जायगी। बात वास्तव में यह है कि मतिराम वस्तु-परक वर्णन के कवि नहीं रहे—भाव-वर्णन ही उनके काव्य का प्रधान विषय रहा है। अनुभावों का वर्णन अपने आपमें वस्तु-परक ही हुआ करता है, जिसका निर्वाह वे युद्ध-वर्णनों में भी भली भाँति नहीं कर सके, जहाँ पर कि आश्रय के 'उत्साह' का प्रदर्शन केवल इन्हीं के द्वारा होता है। जहाँ तक दान-वर्णन का प्रश्न है, सो उसमें इनका महत्त्व उतना नहीं होता, जितना कि दान में दी गई वस्तु का होता है, क्योंकि उसके मूल्य को देखकर ही आश्रय के 'उत्साह' का अनुमान लगाया जा सकता है—जब वह बहुमूल्य वस्तु ही दान में दे रहा है तो निश्चय ही पुलक आदि सात्विक-अनुभाव उसमें उत्पन्न होंगे। पर इनका स्थूल-वर्णन अथवा कथन कभी-कभी काव्य को दुष्ट बना डालता है; यही कारण है कि मतिराम ने इन्हें सहृदय की कल्पना के लिए छोड़ दिया है। वैसे कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अनुभावों का वर्णन वीरगाथाकालीन कवियों का-सा न होने पर भी रस-प्रतीति में किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं हुआ। मतिराम के काव्य की यही विशेषता है।

संचारी—काव्य के अन्तर्गत संचारियों की व्यंजना हुआ करती है—कथन नहीं। पर रीतिकाल के कवियों का सामान्यतः यह दोष रहा है कि वे अपनी

---

१. मूल प्रति में इसका पाठ ऐसे है—

बलबल जुरे जहँ भारे भट भूपनि के
बीर रस [illegible] समरास मारु बाजै ।
क्षत्र कुल तिलक [illegible] के
वि[illegible] बिहद [illegible] अपार साजै ।
देखियेत लाखन [illegible] परतु [illegible]नि
कोप[illegible] बेत बलवंत गाजै ।
दिलीपुर आनि को सिगारे सबसूबन के
आगे ही महीपतिहूँ पंचम सरूप राजै ॥

रचनाओं को अनुभावों तक ही ला पाये हैं। मतिराम के वीर-काव्य में भी यह बात देखने को मिल जाती है। इसमें कतिपय स्थल—विशेषतः दान-वर्णन सम्बन्धी—ऐसे हैं जिनमें संचारियों की उपस्थिति कल्पना का ही विषय है। उदाहरण के लिए—

प्रबल बिलंद बर बारिन के दंतनि सौं
बैरिन के बाँके बाँके दुरग बिदारे हैं।
कहैं 'मतिराम' दीने दीरघ दुरद बृन्द
मुदिर से मेदुर मुदित मतवारे हैं॥
तेग त्याग राजत जगत राव भावसिंह
मेरे जान तेरे गज याही तें पियारे हैं।
दुजनि के दल कवि लोगनिके दारिदनि
नीके करि गजन की फौजनि सौं मारे हैं॥१०५॥

(ललितललाम)

यहाँ अत्यन्त लड़ाके-दीर्घकाय गजों का दान आश्रय--रावभाऊसिंह—के 'उत्साह' की तीव्रता तो व्यंजित कर रहा है—विशेषतः इसलिए कि ये उन्हें अत्यन्त प्रिय है; पर दान करते समय उनके भीतर कैसे भावों का चरण होता है, इसका किसी शब्द द्वारा संकेत तक नहीं मिल रहा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मतिराम ने सर्वत्र इस प्रकार का प्रमाद किया है। इन दान-वर्णनों में अनुभावों की व्यंजना के साथ संचारियों की ध्वनि भी अत्यन्त स्पष्ट है। उदाहरण के लिए—

सुरजन बंस राव भाव सिंह सूरज तू
तोते आज जगं जग जप-तप जाग हैं
झलकै ललाई मुख अमल कमल तेरे
हिए हरिचरन कमल अनुराग हैं॥
सत्ता के सपूत तैं जगाई 'मतिराम' कहै
लहलही कीरति कलप बेलि बाग है।
ऊँचे मन ऊँचे कर ऊँचे ऊँचे करी दै कै
ऊँचे करे भूमि के भिखारिन के भाग हैं॥११६॥

(ललितललाम)

इस छन्द के अन्तर्गत 'झलकै ललाई मुख', 'हिए हरिचरन कमल अनुराग है', 'ऊँचे मन' और 'ऊँचे कर' पदांशों द्वारा क्रमशः व्रीड़ा, निर्वेद, आवेग और चपलता—इन चार संचारियों की व्यंजना हो रही है।

मतिराम का वीर रस वर्णन

शास्त्रीय-दृष्टि से मतिराम के वीर-काव्य की परीक्षा करने से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि इनका मन मुख्यतः दानवीर और युद्धवीर के वर्णन करने में ही अधिक रमा है—इन दोनों में भी दानवीर का वर्णन अत्यन्त विशद है। दानवीर-वर्णन में ये साधारणतः अपने आश्रयदाताओं को आश्रय बनाकर उनकी सामर्थ्य तथा

उनके द्वारा दान में दिये गये बहुमूल्य उपकरणों का वर्णन ही करते हैं—अनुभावों और संचारियों को इन वर्णनों में यदि कहीं लाते भी हैं तो उनकी व्यंजना मात्र ही करते हैं। शास्त्रीय-दृष्टि से कम से कम अनुभावों के सम्बन्ध में यह दोष कहा जा सकता है क्योंकि स्थायी-भाव को व्यक्त करने का एक मात्र स्थूल-माध्यम अनुभाव ही हुआ करते हैं। इधर संचारियों के अभाव में स्थायी-भाव रस-दशा तक ही कैसे पहुँच सकता है? किन्तु इतना होते हुए भी इनकी कविता की यह विशेषता रही है कि 'उत्साह' अपने तीव्र रूप में सहृदय के सम्मुख इस कलात्मक ढंग से आता है कि अनुभावों और संचारियों के अभाव को दोष कहते नहीं बनता। इसी प्रकार युद्धवीर-वर्णन में भी ये आश्रयदाताओं के युद्धों में वीरगाथाकालीन काव्यों के आश्रयों जैसे अनुभावों आदि को नहीं दर्शा पाये पर वहाँ भी यही विशेषता सर्वत्र विद्यमान रही है। दूसरे यदि इसमें कोई दोष है भी तो उसके लिए कवि को दोषी इसलिए नहीं ठहरा सकते क्योंकि वह चारण और भाटों के समान व्यवसायी नहीं रहा। इस पर उसकी प्रकृति इतनी संयत और गम्भीर थी कि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में भी वह सफेद झूठ का समावेश अपनी आत्मा का हनन समझता था। जो कुछ उसने देखा अथवा सुना-समझा उसको छन्द-बद्ध कर दिया—इससे अधिक वह और कर ही क्या सकता था। इसके अतिरिक्त उसके जीवन का अधिकांश भाग, जिसमें कि व्यक्ति को अपनी प्रतिभा का विकास करने का अवसर प्राप्त होता है, वह शृंगारिक रचनाओं में लग चुका था। ऐसी दशा में यह आशा कैसे की जा सकती है कि प्रौढ़ावस्था की की सीमा पर पहुँचकर हमारा आलोच्य युद्ध-वर्णनों के साथ तादात्म्य कर लेता। अस्तु, यह कहना असंगत न होगा कि इतनी असुविधाओं के रहते हुए भाव-वर्णन में रुचि रखने वाले इस कवि ने युद्धवीर-वर्णन अपने अनुभावों और संचारियों सहित जिस रूप में प्रस्तुत किया है वह रस-निष्पत्ति की दृष्टि से सामान्यतः ग्राह्य ही है।

जहाँ तक दयावीर और धर्मवीर वर्णन का प्रश्न है, इनमें से दयावीर का तो मतिराम के काव्य में कहीं आभास तक नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यही कहा जा सकता है कि वे जिन आश्रयदाताओं के यहाँ रहे उनमें से कोई ऐसा न था जिसमें दान और युद्ध करने की भावना के समान दया-भाव भी रहा हो—ऐसी कोई घटना भी न हुई हो, यह भी सम्भव है। दूसरे वे राज्याश्रित कवि होने के कारण इतना अवसर भी न प्राप्त कर सके कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में से किसी महान् पुरुष की दयावीरता का वर्णन करके अपने वीर रस-वर्णन के इस अभाव को पूर्ण बनाते। रही बात धर्मवीर की, सो तत्सम्बन्धी दो-चार छन्द अवश्य ही उनके ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाते हैं, इस कारण इनके काव्य में इसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। वैसे मनोविज्ञान और काव्यशास्त्र—दोनों की ही दृष्टि से ये धर्मवीर के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं। देखिये—

जोरदल जोरि सहजादो साहिजहाँ जंग
जुरि मुरि गई रही राव में सरम-सी।
कहै 'मतिराम' देव मंदिर बचाए जाके
बर बसुधा में बेद, श्रुति-विधि यों बसी॥

जैसो रजपूत भयो भोज को सपूत हाड़ा
ऐसो और दूसरो भयो न जग में जसी ।
गायनि कौं बकसी कसायनि की आयु सब
गायनि की आयु सो कसाइनि कौ बकसी ॥२७२॥
(ललितललाम)

इस छन्द के अन्तर्गत देवालयों, वेद-शास्त्रों, कर्म-काण्ड और गौ की रक्षा के निमित्त राव रतनेश द्वारा तलवार उठाये जाने की स्पष्ट व्यंजना है । परन्तु इससे ऐसा लगता है कि यह 'धर्मवीर' के स्थान पर 'युद्धवीर' कहा जाना चाहिए । पर बात वास्तव में ऐसी नहीं है । यहाँ 'उत्साह' को जागृत करने वाला तो धर्म ही है और इस धर्म-रक्षा के कर्म को युद्ध द्वारा सम्पन्न किया गया है । अतएव युद्ध को अनुभावों की कोटि में ही रखना उचित होगा । 'उत्साह' का यह उत्तम रूप है । कारण, मुगलशासन में हिन्दू-धर्म की रक्षा के निमित्त एक हिन्दू द्वारा ही तलवार का उठाया जाना एक प्रकार से आत्म-दान है, जो 'उत्सर्ग' का उत्कृष्टतम रूप कहा जा सकता है ।

इनके अतिरिक्त मतिराम ने कतिपय छन्द ऐसे भी लिखे हैं, जिनमें वीर रस के विभिन्न भेदों का मिश्रित रूप दृष्टिगोचर होता है । इनमें कवि एक ही आश्रय के दान, पराक्रम और धर्माचरण अथवा धर्म-रक्षा का एक साथ उल्लेख अथवा कथन कर जाता है । मनोविज्ञान की दृष्टि से एक ही व्यक्ति में कर्म के विभिन्न रूपों और क्षेत्रों से 'उत्साह' जागृत हो सकता है और व्यवहार में भी ऐसा होना असम्भव नहीं, इधर काव्य-शास्त्र में भी इस पद्धति का निषेध नहीं किया गया ; अतः यह किसी भी प्रकार से दोष तो नहीं कहा जा सकता—ऐसा करने में हमारे कवि को भी कम सफलता नहीं मिली । उदाहरण के लिए देखिए—

कोप करि संगर में खग्ग को पकरि के
बहायो बैरि-नारिन को नैन-नीर सोत है ।
कहै 'मतिराम' कीन्हो रीझ के निहाल मही—
पालनि के रूप सब गुननि को गोत है ॥
जागे जग साहिब सपूत सत्रुसाल जू को
दस हूँ दिशानि जस अमल उदोत है ।
खलनि के खंडिबे को मंगन के मंडिबे को
महाबीर भावसिंह भावसिंह होत है ॥३६०॥
(ललितललाम)

इस छन्द में एक ओर आश्रय की युद्धवीरता का और दूसरी ओर उसकी दानवीरता का वर्णन है ; दोनों ही कर्म—अर्थात् युद्ध और दान के प्रति आश्रय का 'उत्साह' 'भावसिंह भावसिंह' के द्वारा व्यंजित हो रहा है। इसमें उसके अनुभावों की भी व्यंजना है । इसी प्रकार—

महाबीर सत्रुसाल नन्द राव भावसिंह
हाथ में तिहारे खग्ग जोति को जमान है ।

परम पुरुष परमेश्वर कृपा ते आज
तिहारो सरूप रज लाल को निधान है ॥
अरिन के मुण्डन सो रावरों रिझायो हर
कीन्हौ 'मतिराम' बकसीस को बखान है ।
पायो तुम सुजस सुजस गायो कवि लोग
पायो कवि लोगनि गयंदनि को दान है ॥२६२॥

(ललितललाम)

इसमें आश्रय की क्षात्र-धर्म-रक्षा की भावना, उसके पराक्रम और कवियों को किये गये दान का उल्लेख है। वीर रस के ये तीनों रूप एक दूसरे के सहायक होकर आये हैं—एक के अभाव में दूसरे का यहाँ अस्तित्व असम्भव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तीनों का समन्वय केवल वीर रस की ही निष्पत्ति कर रहा है।

परन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की विशेषता कभी-कभी दोष का भी रूप धारण कर लेती है—विशेषतः तब, जबकि कवि अपने आश्रय के 'उत्साह' आदि की व्यंजना में लपक-झपक करने लगता है। एक स्थान पर मतिराम ने भी अपने आश्रय के गुणों के उल्लेख में ही अपने कवि-कर्म को पूर्ण समझ लिया है। देखिए—

सत्ता को सपूत राव संगर को सिंह सोहै
जंतवार जगत करेरी किरवान को ।
कहै 'मतिराम' अवलंब राजै धरम को
महोदधि मरजाद मेरु परिमान को ॥
कीरति की कोमुदी सुछाई छिति छोरनि लों
बिमल कलानिधि है कुल चहुवान को ।
दानि-कलपद्रुप सुजानमनि भावसिंह
भानु भूमितल को दिवान हिंदुवान को ॥७९॥

(ललितललाम)

यहाँ आश्रय के पराक्रम, धर्म-रक्षा-भावना, मर्यादा-पालन, उच्चवंशोद्भव, दान और ज्ञान—इन सभी कर्मों और गुणों का एक साथ उल्लेख किया गया है। छन्द के प्रथम चरण में अवश्य ही ऐसा लगता है कि कवि युद्धवीर का वर्णन कर रहा है। द्वितीय में वह धर्मवीर का वर्णन करता हुआ मिलता है जब कि तृतीय में यह वर्णन केवल गुण कथन—राजप्रशस्ति मात्र रह जाता है। अन्तिम चरण में उसने आश्रय को दानी, ज्ञानी और हिन्दू जाति का 'दीवान' कहकर, कर्म और गुण, दोनों को एक साथ ले आने का प्रयास किया है। किन्तु इन सबका समन्वित फल यह हुआ है कि छन्द के रसात्मक अंश भी अपनी प्रभावोत्पादन-क्षमता को खो बैठे हैं। कवि का यह दोष है; पर इसका कारण उसका प्रमाद नहीं, राज्याश्रय है।

उत्साह का स्वरूप

'उत्साह' की जागृति चाहे धर्म से हो और चाहे युद्ध, दान अथवा दया से, अपने मूल रूप में यह आश्रय के भीतर वह वासना ही है जिसमें जन-कल्याण अथवा सत्त्व, साहस, औचित्य और आनन्द की उमंग—इन चारों तत्वों का एक साथ सनिन्वेश रहता है। अतः भले ही इसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भिन्न हों, पर उसके सम्बन्ध में यह कहना सर्वथा असंगत होगा कि वीर रस के चारों भेदों—धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर और दयावीर—में 'उत्साह' का स्वरूप भिन्न अथवा एक-दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक अंशों में रहता है। जिस भावना में उक्त चारों तत्त्व अनिवार्यतः समान रूप से विद्यमान हैं, वह 'उत्साह' के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकती। मतिराम ने अपने ग्रन्थो के अन्तर्गत सिवाय दयावीर के, वीर रस के सभी भेदों को प्रस्तुत किया है। इनके वर्णनों में उन्होंने विविध विधाएँ अपनाई हैं, पर किसी भी प्रकार से वीर रस के इन तीनों भेदों में 'उत्साह' को एक दूसरे से न तो घटिया ही कहा जा सकता है और न वर्णन-प्रणाली-वैविध्य के आधार पर भिन्न ही। तीनों में 'उत्साह' के चारों तत्त्व विद्यमान हैं; यदि किसी भी प्रकार का अन्तर प्रतीत होता है तो वह सहृदय की अपनी रुचि का परिणाम होगा, तात्विक वैषम्य का नहीं। दानवीर के वर्णन में उन्होंने आश्रयदाताओं (आश्रय) के उत्साह-प्रदर्शन का वर्णन दान की अमूल्य वस्तुओं के उल्लेख द्वारा किया है। इसमें स्पष्टतः एक ओर सत्व और साहस है, वहाँ दूसरी ओर औचित्य और आनन्द की उमंग की व्यंजना है। उदाहरण के लिए एक छन्द लीजिये—

अंगनि उतंग जंग तंतवार जोर जिन्हें
चिक्करत चिक्करि हलत कलकत हैं।
कहै 'मतिराम' सैन सोभा के ललाम अभि—
राम जरकस भूल झांपे झलकत हैं॥
सत्ता को सपूत राव भावसिंह रीझि देत
छहूँ ऋतु छके मदजल छलकत हैं।
मंगन की कहा है मतंगनि के माँगिबे को
मनसबदारन के मन ललकत हैं॥१२२॥
(ललितललाम)

प्रस्तुत वर्णन के अन्तर्गत दान का उद्देश्य सत्वगुण-प्रधान है, क्योंकि भिक्षुकों को धन देने में आश्रय के किसी भी स्वार्थ की पूर्ति होती नहीं दिखाई देती। दूसरी ओर जरकसी भूलें डालकर अपनी सेना के ऐसे अमूल्य गज, जिन्हें प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े मनसबदार तक ललचाते हैं, उनको बिना किसी संकोच के दान में दे डालना आश्रय के साहस के परिचायक नहीं तो क्या? इधर 'रीझि' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। यह स्पष्टतः दाता के आन्तरिक हर्ष को व्यक्त कर रहा है। अतएव जब वह दान करते समय प्रसन्न है तो उसके इस व्यापार में औचित्य और आनन्द की उमंग

की व्यंजना मान ली जाय तो असंगत नहीं। दानवीर के वर्णनों में इन चारों तत्त्वों का समावेश मतिराम के कवि-कर्म की विशेषता तो है ही, किन्तु इससे भी अधिक यह है कि उन्होंने इनके साथ ऐसे किसी तत्त्व को नहीं आने दिया, जिसके कारण 'उत्साह' के स्थान पर कभी-कभी किसी इतर रस के स्थायी-भाव का आभास होने लगता है।

मतिराम के युद्धवीर-वर्णन के अन्तर्गत 'उत्साह' की अभिव्यंजना दानवीर-वर्णन की अपेक्षा स्थूल रही है। किन्तु इसमें भी उसके उक्त चारों तत्त्वों को स्पष्टतः देखा जा सकता है। उनके आश्रयों (आश्रयदाताओं) में 'उत्साह' की जागृति प्रायः अपने स्वत्व और स्वाभिमान की रक्षा के निमित्त होती है, अतएव उसमें औचित्य और इसलिए सत्वगुण का प्राधान्य स्वाभाविक ही है। इधर उनकी युद्ध-घोषणा में साहस का जहाँ स्पष्ट बोलबाला है, वहाँ उमंगपूर्ण आनन्द को भी वाच्य और व्यंग्य दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है—

एक रजपूत है दिवान भावसिंह जाको
जंग जुरें चौगुनो चढ़त चित चाव में।
सत्रुसाल-नन्द को सुजस मतिराम यातें
फैलत महीपति-समाज समुदाव में॥
दिल्ली के दिनेस के प्रचण्ड तेज आँच लागे
पानिप रह्यो न काहू भूपति तलाव में।
ऐसे सब खलक तें सकल सकिलि रही
राव में सरम जैसे सलिल दरयाव में॥४१॥
(ललितललाम)

यहाँ प्रथम चरण के 'जंग जुरे चौगुनो चढ़त चित चाव में' से स्पष्टतः आश्रय के भीतर आनन्द की उमंग का वर्णन है। औरंगजेब जैसा कठोर शासक, जिसके आगे बड़े-बड़े राजे-महाराजे अपने स्वाभिमान को दबा बैठे थे, उसके विरुद्ध अपने सम्मान की रक्षा के हेतु तलवार उठाना आश्रय—भाऊसिंह—के सत्व, साहस और औचित्य का परिचायक है। इसी प्रकार—

दारुन तेज दिलीस के बीरन काहू न बंश के बाने बजाए।
छोड़ि हथ्यारनि हाथनि जोरि तहाँ सबही मिलि मूड़ मुड़ाए॥
हाड़ा हठी रह्यों ऐंड़ किए 'मतिराम' दिगंतनि में जस छाए।
भोज के मूछनि लाज रही मुख औरनि लाज के भार नवाए॥५१५॥
(ललितललाम)

यहाँ भी अकबर की आज्ञा से जोधाबाई की मृत्यु पर अपनी दाढ़ी-मूँछें न कटाने—स्वाभिमान की रक्षा करने का दृढ़ निश्चय 'ऐंड़' शब्द द्वारा व्यक्त हो रहा है, जिसमें 'उत्साह' के उक्त सभी तत्त्वों की ध्वनि विद्यमान है।

किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि कतिपय स्थलों पर 'उत्साह' उस रूप में व्यक्त नहीं हुआ जिसमें कि दानवीर-वर्णन के अन्तर्गत उपलब्ध

होता है। इसके साथ कवि ने क्रोध, भय और जुगुप्सा उत्पन्न करने वाले तत्त्वों का समावेश कर दिया है, जिनके कारण क्रमशः रौद्र, भयानक और वीभत्स—रसों का भान होने लगता है। उदाहरण के लिए देखिये—

(१) भौजन सौं 'मतिराम' कहै कवि लोगन कौं जिमि भोज बढ़ावै ।
रोस किये रनमण्डल में खल देह की खालनि भूमि मढ़ावै ॥
रीझ हू खीझ में राव सता-सुत कीरति मैं अति जोति चढ़ावै ।
भाऊ दिवान गुरू सब भू पर भूपन दान कृपान पढ़ावै ॥३७॥

(२) महावीर सत्रुसाल नन्द राव भावसिंह
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय-से ।
कहै 'मतिराम' तेरे तेज पुंज लिए गुन
मारत और मारतण्ड मण्डल विलोय-से ॥
उड़त नवत टूटि फूटि मिटि फाटि जात
विकल सुखात बैरी दुखिन समोय-से ।
तूल-से तिनूका-से तरोवर-से तोयद-से
तारा-से तिमिरि-से तमीपति-से तोय-से ॥२६६॥
(ललितललाम)

(३) महाराज ग्यानचन्द करि करवार कर
मारे पर दल तहाँ, दैव———रचत हैं ।
सुनि-सुनि मारतण्डरीक महिमण्डल के
पुण्डरीक दिग जम ताप सौं तचत हैं ॥
कहै 'मतिराम' जुरे जंबुक कराल गिद्ध
बेसम्हार आमिष अहारन करत हैं ।
कटे सिर सूरन के परे नट खेत तहँ
संकर समेत भूत भैरव नचत हैं ॥९०॥[1]
(अलंकार पंचाशिका)

---

१. इसका पाठ मूल प्रति में इस प्रकार है—
महाराज ग्यानचन्द कर करवार कर
मारे पर दल तहा देव——रचत है ।
सुन सुन मार तण्डरीक महि मण्डल के
पुरीक दिगा जम ताप सो तचत ॥
कहै मतराम जुरे जंबुक कराल गिद्ध
वे सम्हार आमिष अहारन करत है ।
कटे सिर सूरन के अरे नर षेत तह
शंकर समेत भूत भैरव नचत है ॥३०॥

प्रथम उद्धरण के द्वितीय और तृतीय चरणों में क्रमशः 'रोष' और 'खीझ' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो रौद्र रस के स्थायी 'क्रोध' की व्यंजना करता है। इसी प्रकार द्वितीय उद्धरण के अन्तर्गत शत्रुओं के भीतर 'भय' की उत्पत्ति तथा इसके फलस्वरूप उनके अनुभावों का वर्णन है, जबकि तृतीय में स्पष्टतः जंबुकों और गिद्धों द्वारा शत्रुओं के शवों को खाने का वर्णन 'जुगुप्सा' उत्पन्न करने वाला है। अतः यहाँ वीर रस-वर्णन के प्रसंग में 'उत्साह' के साथ रौद्र आदि रसों के स्थायी-भावों का वर्णन करना दोष कहा जाय तो इसमें अनुचित क्या है ? यह ठीक है। परन्तु इसके साथ यह विस्मरण न कर देना चाहिए कि युद्धवीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स का निकट का सम्बन्ध है। युद्धवीर में तब तक प्रभाव-क्षमता नहीं आ सकती जब तक कि उसके 'उत्साह' में 'क्रोध' का मिश्रण न होगा—'क्रोध' ही उसे अपने शत्रु का नाश करने में सहायता देगा ; और जब उसमें मारक क्रोध विद्यमान है, तो निश्चय ही शत्रु उनसे भय खायेंगे तथा ऐसा कोई कार्य न करेंगे जो उसके स्वाभिमान अथवा लोक-मर्यादा के विरुद्ध हो। इसके साथ ही युद्ध-भूमि में शवों का गिद्धों आदि द्वारा खाया जाना भी उनके भीतर यह भाव उत्पन्न करेगा कि इस वीर का विरोध करने से मृत्यु के पश्चात् भी ऐसी दुर्गति होगी। इस प्रकार 'क्रोध', 'भय' और 'जुगुप्सा' अप्रत्यक्ष रूप से युद्धवीर के स्थायी 'उत्साह' की पुष्टि करते हैं ; एक प्रकार से संचारी बन जाते हैं। 'उत्साह' के साथ में जितने प्रबल होकर प्रस्तुत होते हैं, उतना ही आश्रय का व्यक्तित्व चमकता है। मतिराम ने 'उत्साह' के साथ 'भय' को अधिक दर्शाया है।

युद्धवीर-वर्णन-विषयक छन्दों में कतिपय ऐसे भी हैं, जिनसे यद्यपि पूर्ण-रूपेण रस की निष्पत्ति होती है पर उनमें प्रदर्शित 'उत्साह' के औचित्य पर सन्देह किया जा सकता है ; कारण आश्रयों के कृत्यों का विश्लेषण यदि तत्कालीन परिस्थितियों के प्रकाश में किया जाय तो वे अपने धर्म, संस्कृति और जाति के विरुद्ध पड़ते हैं। उदाहरण के लिए—

सूबनि को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चमू
सुभट समूहनि सिवा की उमहति है।
कहै 'मतिराम' ताहि रोकिबे को संगर मैं
काहू के न हिम्मति हिए में उलहति है॥
सत्रुसाल नन्द के प्रताप की लपट सब
गरबी गनीम बरगीन को दहति है।
पति पातसाह की इजति उमरावन की
राखी रैयाराव भावसिंह की रहति है॥१३१॥
(ललितललाम)

इसमें हिन्दू-राज्य की घोषणा करने वाले वीर शिवाजी के विरुद्ध भाऊसिंह (आश्रय) के युद्ध की चर्चा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अपनी जाति के कल्याण के लिए लड़ने वाले हिन्दू के विरुद्ध अन्य हिन्दू का औरंगजेब जैसे कट्टर मुसलमान

की सहायता करने में कहाँ तक औचित्य है। निःसन्देह इसमें जन-कल्याण की भावना तो नहीं हो सकती। तब यह कर्म क्या सत्व पर आधृत है ? उत्तर में सेवक-धर्म कहकर यद्यपि इसका औचित्य सिद्ध किया जा सकता है, परन्तु व्यापक दृष्टि से इसे सत्व के अन्तर्गत मानने में मन को क्लेश ही होता है।

जहाँ तक धर्मवीर-वर्णन-गत 'उत्साह' के स्वरूप का प्रश्न है, इसमें भी इसके सभी तत्त्व स्पष्टतः विद्यमान् हैं। बात यह है कि इन वर्णनों के अन्तर्गत युद्ध को धर्मवीर के अनुभाव के रूप में ग्रहण किया गया है। अतएव इसके द्वारा आश्रय के साहस, सत्व और कर्म के औचित्य पर तो किसी भी प्रकार की शंका ही नहीं की जा सकती। रही बात इसमें आनन्द की उमग के विद्यमान होने की, वह इस प्रकार के कर्मों—धर्म-रक्षादि-में विद्यमान हुआ ही करती है।

राज-विषयक-रति

मतिराम राज्याश्रित कवि थे। अतएव उनके लिए यह स्वाभाविक ही था कि प्रशस्तियाँ लिखकर अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करते। उनका समस्त वीर-काव्य एक प्रकार से राज-प्रशस्ति ही है। फिर भी जहाँ उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के महत्कर्मों का वर्णन करते समय यह प्रकट नहीं होने दिया कि इसमें कवि का उद्देश्य प्रशंसामात्र है, वहाँ पर निश्चय ही वीर रस की निष्पत्ति हुई है। परन्तु जहाँ वे अपने इस उद्देश्य का सवरण नहीं कर सके वहाँ राज-विषयक-रति की प्रधानता के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता ; कारण इसका प्रभाव रसात्मक न होकर केवल भाव-विशेष का ही बोध होता है। अस्तु, राज-विषयक-रति-सम्बन्धी रचनाएँ मतिराम के ग्रन्थों में यद्यपि अधिक नहीं किन्तु पर्याप्त सख्या में तो हैं ही। इनको मुख्यतः दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वे हैं, जिनमें कवि अपने आश्रय-दाताओं के वैभव की प्रशंसा करता है, जबकि दूसरी प्रकार की रचनाओं के अन्तर्गत उनके (आश्रयदाताओं के) गुणों एवं कीर्ति का विशद वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) बिलसत जरकस झूलनि झंपे दिग्ग
देखत सुहाये चारु चौर गजगाह के।
हरके रहत जोम जोरावर जंग जुरे
पंचम कराल काल अरिदल दाह के॥
कव के बिलंद अति रद के जलद जूह
मद के नद निकरै समुद समाह के।
अम्बर मढ़त भौंर गुंजर बढ़त मोज
कुंजर कढ़त श्री सरूप महाराज के[1] ॥११॥

(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

---

१. इस पंक्ति का पाठ मूल प्रति में यों है—
कुंजर कठ छित रूप महाराज के।

(२) जाके कोस भीतर भुवन करतार ऐसो
जाके नाभिकुण्ड में कमल विकसत है।
कहै 'मतिराम' सब थावर जंगम जग
जाकी विग्ध उदर-दरी में दरसत है।
जाके एक-एक रोम कूपनि मैं कोटिन
अनन्त ब्रह्मांण्डनि को वृंद बिलसत है।
राव भावसिंह तेरी कहाँ लौं बड़ाई करौं
ऐसो बड़ो प्रभु तेरे मन में बसत है ॥२३९॥
(ललितललाम)

प्रथम छन्द के अन्तर्गत केवल स्वरूपसिंह बुन्देला के गजों का वर्णन मात्र है, जब कि द्वितीय में राव भाऊसिंह की आस्तिक भावना की प्रशंसा की गई है।

इस प्रकार की रचनाओं में कवि की भावना के स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए, उनके मूल में विद्यमान विशिष्ट कारणों पर दृष्टिपात करना अनिवार्य होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति अन्य व्यक्ति की प्रशंसा तभी करता है, जब कि वह उससे कुछ लाभ की आशा करे, उसे समाज में अन्य व्यक्तियों का उपकार करता देखे अथवा उसके व्यक्तित्व में सात्विक गुणों की स्थिति से आकृष्ट हो। प्रथम अवस्था में अर्थात् स्वयं लाभ प्राप्त करने पर वह उसके प्रति जो सात्विक भावना रखता है, उसे 'कृतज्ञता' कहते हैं ; दूसरी स्थिति में अर्थात् दूसरों का उपकार अथवा उसके सात्विक गुणों को देखकर वह उसके प्रति अपने भीतर जो आनन्द और समादर-मिश्रित भाव रहता है, उसे 'श्रद्धा' कहा जाता है। मतिराम ने स्वयं तो अपने उदार आश्रयदाताओं से अनेक बार पुरस्कार और दान प्राप्त किये ही थे ; अन्य कवियों को भी प्राप्त करते देखा था। यही कारण है कि उनकी राज-विषयक-रति सम्बन्धी उक्त वर्गों की रचनाओं में साधारणतः श्रद्धा की भावना ही अधिक दृष्टिगोचर होती है—कृतज्ञता को सम्भवतः उन्होंने इसलिए प्रकाशित नहीं किया, क्योंकि कितना ही सतर्क रहने पर भी कवि की रचना में स्वार्थ-सिद्धि की गन्ध आ ही जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'श्रद्धा' व्यक्ति की कला, उसके शील एवं साधन-सम्पन्नता के प्रति ही हुआ करती है[1]। चूँकि मतिराम के आश्रयदाता कलाकार तो थे नहीं ; पर उनके पास शील—और अन्य सात्विक गुणों के अतिरिक्त प्रचुर वैभव भी था ; इसीलिए उनकी 'श्रद्धा' प्रायः इन्हीं दो तत्वों के प्रति दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) मौज दरियाव राव सत्रुसाल तनै जाको
जगत में सुजस सहज सतिभान है।
बिबुध-समाज सदा सेवत रहत जाहि
जाचकनि देत जो मनोरथ को दान है॥

१. दे० वही चिन्तामणि', भाग १ ('श्रद्धा और भक्ति' शीर्षक का निबन्ध)।

जाके गुन-सुमन-सुबास ते मुदित मन
साँच 'मतिराम' कवि करत बखान है।
जाकी छाँह बसत बिराजै ब्रजराज यह
भावसिंह सोई कल्पद्रुम बिवान है॥६६॥

(२) पुहुमि को पुरहूत सत्रुसाल को सपूत
संगर फतूहैं सदा जासों अनुरागतीं।[1]
दान देत रीझ में दिवान भावसिंह जू कों
धनद के धाम की तनक निधि लागती।
कहै 'मतिराम' मजलिस मैं महीपति की
कविन की बानी हाड़ा सुजस मैं पागती।
जेती और राजनि के राजनि मैं सम्पति है
तेती रोज राव के चिराकै जोति जागती॥३७८॥

(ललितललाम)

यहाँ प्रथम उद्धरण के तृतीय चरण में स्पष्टतः 'गुन-सुमन' से महाराज भाऊसिंह के सात्विक गुणों की ओर संकेत है, जिनके प्रति प्रत्येक सभ्य व्यक्ति की आदर की भावना होना स्वाभाविक है। इसके साथ ही 'मुदित मन' पद उसके साथ आनन्द का समावेश और कर रहा है। इसी प्रकार द्वितीय के अन्तिम चरण के अन्तर्गत कवि ने अपने आश्रयदाता के ऐश्वर्य का जो अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है उसमें आनन्द और सादर का आवेगपूर्ण समावेश है।

'श्रद्धा' के साथ जब 'प्रेम' का समन्वय होता है, तो इस भावना को 'भक्ति' कह दिया जाता है[2]। और यदि उसमें 'एकाग्रता' की भावना का समावेश हो जाता है तो यह 'निष्ठा' कहलाती है। मतिराम की रचनाओं में अपने आश्रयदाताओं के प्रति 'भक्ति' की भावना तो नहीं; हाँ, एक दो छन्द ऐसे अवश्य हैं, जिनमें उनके प्रति 'निष्ठा' का आभास मिलता है। उदाहरण के लिए—

सुरजन कैसी सुरजन ही में साहिबी है
भोज कैसी भोज में अकड़ बड़भाल मैं।
रतनेस कैसी रतनेस में कहत 'मति-
राम' करतूति जीति जाके करबाल मैं॥
गोपीनाथ कैसी गोपीनाथ में सपूती भई
सत्रुसाल कैसी रजपूती सत्रुसाल मैं।
भूमि सब देखी और काहू में न पेखी
भावसिंह कैसी भावसिंह महिपाल मैं॥५४॥

(ललितललाम)

---

१. इस चरण का पाठ यों भी है—
संसार की सिरी सदा जासों अनुरागती।

२. दे० वही 'चिन्तामणि', भाग १, पृ० ३२।

इसमें राव भाऊसिंह के छात्र-धर्म पर कवि अत्यन्त 'एकाग्रता' और 'गर्व' के साथ टिप्पणी करता हुआ कहता है कि संसार में इनके समान और कोई इसका आचरण करने वाला नहीं। उसके इस वाक्य में मन की चाहे 'एकाग्रता' न हो पर वाणी की अवश्य है, इसीलिए इसे 'निष्ठा' का आभास मात्र ही कहा जा सकता है।

अपने स्वामी के प्रति श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा के अतिरिक्त अपने देश और राज्य के प्रति कवि की भक्ति-भावना को भी राज विषयक-रति के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है। परन्तु मतिराम के ग्रन्थों में इन दोनों में से किसी से सम्बद्ध रचनाएँ उपलब्ध नहीं। देश-भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ तो हिन्दी-साहित्य में बहुत कुछ आधुनिक-युग की ही देन हैं। इससे पूर्व सैकड़ों वर्षों से कवियों के लिए देश अथवा राष्ट्र का अर्थ समूचे भारत से न होकर केवल उस छोटे से राज्य तक ही सीमित रह गया था, जहाँ वे रहते थे। अतएव यदि किसी प्रकार की भक्ति-भावना किसी के काव्य में हो भी सकती तो वह अपने राज्य अर्थात् शासन-तन्त्र के प्रति ही! चूँकि उस समय शासन का अर्थ प्रजातान्त्रिक शासन से न होकर शासक राजा की शासन-प्रणाली से ही था अतएव कवि लोग मन्त्रियों आदि की प्रशंसा न कर शासक की प्रशस्तियाँ लिखना ही उचित समझते थे—वैसे भी धन की प्राप्ति भी उसी से होती थी। पर जैसा कि निवेदन किया जा चुका है मतिराम ने इस प्रकार के वर्णनों को अपनी कविता का विषय नहीं बनाया—सम्भवतः इसलिए कि उन्हें अपने आश्रयदाताओं की राज्य-व्यवस्था को देखने का अवसर न प्राप्त हुआ होगा। जाने-अनजाने वे 'अलंकार पंचाशिका' के अन्तर्गत ज्ञानचन्द के राज्य के सम्बन्ध में जो छन्द लिख गए हैं, उसे यहाँ उद्धृत कर देना हम अनुचित नहीं समझते, देखिए—

महाराज ग्यानचन्द जू के राज राजत (न)
चोर और जेल चतुराई के निकेत हैं।
कहै 'मतिराम' पर दुखहु के न सुख—
करन जे अन्तहकरन सब सेत हैं॥
सोच सब अवनि विरोधी कोऊ (काहू) को न
बैरी बर जीतवे कूँ रहत सुचेत हैं।
लोभ बिन साहिब सहर बिन दारिद
दरद बिन देह में सकल सोभा देत (हैं) ॥४७॥

(अलंकार पंचाशिका)

रस-परिपाक का अभाव—जहाँ तक इन रचनाओं में वीर रस के परिपाक का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व एक बार पुनः यह निवेदन कर देना असंगत प्रतीत नहीं होता कि आश्रय-प्रधान होने के कारण यह रस मूलतः उसके कर्म-सौन्दर्य पर ही आधृत रहता है। उपर्युक्त छन्दों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें केवल कवि के आश्रयदाताओं के गुणों का उल्लेख मात्र ही है—

किसी भी गुण से उनके कर्म-सौन्दर्य का संकेत तक नहीं मिलता; और यही कारण है कि सहृदय का तादात्म्य इनमें वर्णित गुणों के साथ ही होने के फलस्वरूप उसमें उनके (आश्रयदाताओं) के प्रति श्रद्धा आदि की भावना ही जाग्रत होती है। चूँकि श्रद्धा आदि होने पर व्यक्ति अपने आपको श्रद्धा के पात्र से लघु और पृथक् समझता है, ऐसी दशा में वह रसास्वादन की उस स्थिति को पहुँच ही नहीं सकता, जिसमें वह व्यक्तिगत राग-द्वेष आदि की भावना से ऊपर उठ जाता है।

उदात्त भावना

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के अन्तर्गत उदात्त भावना के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, उसकी कसौटी पर मतिराम का वीर-काव्य खरा नहीं उतरता। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि के आश्रयदाताओं के युद्ध, दान, धर्माचार और गुण—ये सभी वर्ण्य ऐसे हैं जिनमें विराट्ता का अभाव है और इसलिए सहृदय के भीतर श्रद्धा-समन्वित-भय, आश्चर्य एवं आत्मलघुता की भावना को सहज ही जाग्रत नहीं कर पाते। हय, गज तथा अन्य वैभव की सामग्री का वर्णन भी प्रभाव की दृष्टि से ऐसा ही है।

निष्कर्ष

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मतिराम का वीर-काव्य अपने आपमें शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक—दोनों ही दृष्टियों से सफल है। शास्त्रीय दृष्टि से यद्यपि उद्दीपनों, अनुभावों तथा संचारियों का वर्णन उतना विशद नहीं किया गया जितना कि उनकी शृंगारिक कविता में उपलब्ध होता है किन्तु इसका कारण कवि की अपनी परिस्थितियाँ ही कही जायँगी। बात यह है कि जिन आश्रयदाताओं के महत्कर्मों का ही वर्णन किया गया है, उनके यहाँ यह व्यक्ति अधिक दिनों तक नहीं रहा, इस कारण घटनाएँ तो उसकी उपस्थिति में हुई नहीं थीं; अतः जो कुछ भी उनके युद्धों के विषय में सुना, उसका वर्णन कर दिया—कल्पना का भी सहारा लिया गया होगा। ऐसी स्थिति में अपने आश्रयदाताओं के साथ युद्ध-भूमि में तलवार चलाने वाले चारणों के वीरगाथाकालीन काव्यों में वर्णित उद्दीपक-सामग्री और अनुभावों के-से वर्णन की इस सरल कवि से कैसे आशा की जा सकती है; और जब अनुभावों का वर्णन ही भली भाँति नहीं हो पाया तो संचारियों की व्यंजना ही कैसे कर पाता, क्योंकि इनकी स्थिति का आधार तो अनुभाव ही हुआ करते हैं। हाँ, आश्रयदाताओं का दान-कर्म अवश्य ही इस कवि ने देखा था—स्वयं भी दान प्राप्त किया था। यही कारण है कि उसके काव्य में इसका वर्णन इतना स्वच्छ है कि किसी भी कवि के दानवीर-वर्णन के समकक्ष रखा जा सकता है। दूसरे यह व्यक्ति भाव-वर्णन का कवि है, इसलिए भी सूक्ष्मता की ओर इसका आग्रह जितना अधिक है, उतना स्थूलता की ओर नहीं। अतः अनुभावों और उद्दीपक-सामग्री के स्थूल-वर्णन की उससे आशा करना व्यर्थ है। 'उत्साह' की व्यंजना अवश्य ही इसके काव्य में अत्यन्त स्पष्ट है। इसीलिए जितने भी दोष हैं वे सब इस गुण के कारण सहज ही सहृदय के सम्मुख नहीं आ पाते।

सतप्म अध्याय

मतिराम की विचार-धारा

धर्म और नीति भारतीय चिन्तन-पद्धति की ऐसी चिरन्तन विशेषताएँ हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के समस्त क्रिया-व्यापार किसी न किसी रूप में प्रभावित रहते हैं। धर्म इस नामरूपात्मक जगत् का संचालन करने वाली रहस्यमय शक्ति के साक्षात्कार के व्याज से व्यक्ति की चित्तवृत्तियों का परिष्कार कर उसे सदाचार की ओर प्रवृत्त करता है और नीति-शास्त्र उसे अपने आचरण के सदसत् का बोध कराता है। इस प्रकार एक व्यक्ति और जगन्नियन्ता के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है और दूसरा उसके और समाज के ; तथा दोनों का समन्वित उद्देश्य उसके अपने आन्तरिक और बाह्य कल्याण (आनन्द) की ओर केन्द्रित रहता है, जो मनुष्य-जीवन का अभीष्ट है। धर्मशास्त्रकारों ने इहलोक और परलोक के सुख की प्राप्ति के लिए धर्म और नीति के पालन का आदेश[1] इसीलिए दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि निसर्गतः सुख की खोज में भटकने वाले व्यक्ति के मन पर इसका इतना प्रभाव पड़ता है कि उसके समस्त आचार-विचार अन्त में धर्म और नीति पर आकर ही रुकते हैं। अतः मतिराम की विचार-धारा का अध्ययन हम उनके धार्मिक सिद्धान्तों और उनकी नैतिक दृष्टि के आधार पर ही करेंगे।

धार्मिक सिद्धान्त—सर्वप्रथम हम धार्मिक सिद्धान्तों को ही लेते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध मुख्यतः उन व्यापारों से होता है, जिन्हें मनुष्य परलोक-सुख अथवा ईश्वर-प्राप्ति के बहाने अप्रत्यक्षतः अपने अन्तःकरण की सुख-शान्ति के लिए किया करता है। परन्तु जिस व्यक्ति का अधिकांश जीवन नायक-नायिकाओं की काम-जन्य-चेष्टाओं और भावों के विश्लेषण तथा आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ लिखने में व्यतीत हुआ हो उससे ऐसी आशा कम ही की जा सकती है कि ईश्वर का ध्यान भी उसे कभी आया होगा—विशेषतः ऐसे वातावरण में जहाँ की चहल-पहल और चमक-दमक इस प्रकार के चिन्तन के लिए अवसर ही नहीं आने देती थी। फिर भी ऐसा होना असम्भव

---

१. दे० **आचारवन्तो मनुजा लभन्ते**
आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम् ॥
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोकम्
अत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च ॥२०८॥

—'बृहत्पराशरस्मृति', षष्ठ अध्याय।

[गुरुमंडल, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'स्मृति-संदर्भ', भाग २ (प्रथम संस्करण) के अन्तर्गत प्रकाशित।]

नहीं कहा जा सकता, कम से कम भारतीय समाज में, जहाँ व्यक्ति को जन्म से ही अपना परलोक सुधारने की शिक्षा मिलने लगती है। बात यह है कि परलोक-सुधार की यह शिक्षा उसकी आत्मा पर इतने गहरे संस्कार जमा लेती है कि प्रायः वह उन सभी विषयों के प्रति विद्रोह करती रहती है जो इस शिक्षा के अनुकूल न बैठकर मन को अपनी ओर आकृष्ट करते रहे हैं। सांसारिक वस्तुओं के प्रति राग एक ऐसा ही विषय है, जिसमें मनुष्य साधारणतः अपने आपको भुला देता है, पर ज्यों ही मोक्ष-प्राप्ति की भावना उसके समक्ष आती है, उसके इस राग को विराग में परिणत होते देर नहीं लगती। अत्यधिक भोग-विलास में निमग्न व्यक्ति अवस्था के ढलने पर—जब उसे मृत्यु भी निकट आती दिखाई देती है—इस प्रवृत्ति से इसीलिए क्लान्त हो उठता है, क्योंकि उसकी आत्मा इस क्षणिक सुख के लिए परलोक के स्थायी सुख को खो बैठने की भूल पर अपने प्रति विद्रोह कर उठती है। इसी प्रकार झूठी प्रशस्तियाँ करने पर भी जब व्यक्ति को धन और सम्मान प्राप्त नहीं हो पाता, तब भी उसकी आत्मा अपने आपको इसीलिए धिक्कारती है कि इस क्षणिक सुख के लिए व्यर्थ का परिश्रम किया—यदि इतना प्रयत्न 'उस लोक' को सुधारने के लिए किया गया होता तो निश्चय ही उसका फल मिलता। दूसरे शब्दों में ऐसा व्यक्ति अपने किये हुए पर प्रायः ग्लानि का अनुभव करने लगता है। काव्य में आत्मा की इसी ग्लानिमय अभिव्यक्ति को आचार्यों ने निर्वेद[1] कहा है, जिसका पर्यवसान प्रायः ईश्वर-विषयक चिन्तन और भक्ति में हुआ करता है।

मतिराम का जीवन भी यद्यपि शृंगारिक वर्णनों तथा प्रशस्तियों द्वारा आश्रयदाताओं का मनोरंजन करने में बीता, किन्तु उनकी भक्ति-परक रचनाओं में जो निर्वेद है, वह किसी आश्रयदाता से धन-मान न मिलने के कारण अथवा अत्यधिक भोग-विलास की प्रतिक्रिया से उत्पन्न विराग से उतना प्रभावित नहीं दिखाई देता, जितना कि अपने व्यक्तिगत जीवन के प्रति असन्तोष का परिणाम प्रतीत होता है। बात वास्तव में यह है कि इस व्यक्ति का जन्म ऐसे गुणवान् पण्डितों के ब्राह्मण परिवार में हुआ था, जहाँ अध्यात्म-पोषित नैतिक दृष्टि संस्कार रूप में प्राप्त करना उसके लिए स्वाभाविक ही था। किन्तु उसके किशोर-जीवन की सहज अवस्था[2] अर्थ की समस्या के कारण इतनी दब गई थी कि उसे विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए नायक-नायिकाओं की रति-क्रीड़ाओं के साथ अपनी वृत्ति का तादात्म्य करना पड़ा। फिर भी कभी-कभी उसकी आत्मा पर पड़े हुए आध्यात्मिक संस्कार अपने दरबारी जीवन और शास्त्रोक्त कर्म के व्यतिक्रम को सहन न कर विद्रोह कर

---

१. दे० तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।

—वही 'साहित्यदर्पण', पृ० १३२।

२. 'फूलमंजरी' के अन्तर्गत 'शंखपुष्पी' और 'आक' के पुष्पों की महिमा का वर्णन किया गया है, जो कवित्व की दृष्टि से उतना उत्कृष्ट नहीं जितना कि कवि की किशोर-कालीन सहज आस्था को व्यक्त करता है।

बैठते थे और उसका फल होता था अपने कर्म के प्रति असंतोष, जो इस छन्द में देखा जा सकता है—

> **नृपति नैन कमलनि वृथा चितवत बासर जाहि।**
> **हृदय कमल मैं हेरि लै कमल मुखी कमलाहि ॥३६४॥**
> (सतसई)

यहाँ पर कवि का यह कहना कि हे मन, (इस धन के हेतु तुझे विलासी) राजाओं की ओर देखते-देखते दिन भर बीत जाता है, (यदि धन की स्वामिनी) लक्ष्मी का स्मरण करले (तो उससे तुझे धन ही नहीं मिले, सभी प्रकार से कल्याण भी हो जाय), इसी ओर संकेत करता है कि उसे अपने कर्म से कितना असंतोष था। इसी असंतोष-जन्य 'निर्वेद' का पर्यवसान यदि उसके अध्यात्म-परक छन्दों में मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। अस्तु।

संख्या की दृष्टि से मतिराम की अध्यात्म-सम्बन्धी रचनाएँ बहुत कम हैं; उन्होंने कोई ऐसा पृथक् ग्रन्थ तो लिखा नहीं, जिसमें अपने तत्त्वचिन्तन का निरूपण किया हो, थोड़े से प्रकीर्ण छन्द उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं; और उनमें भी सिद्धान्त-पक्ष की अपेक्षा भक्ति-भावना अधिक है। फिर भी इस प्रकार की सभी रचनाओं के सम्यक् अध्ययन से उनके धार्मिक सिद्धान्तों के दार्शनिक और व्यावहारिक पक्ष को सरलता के साथ समझा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके धार्मिक सिद्धान्तों का दार्शनिक-पक्ष अप्रत्यक्ष रूप से वल्लभाचार्य के 'शुद्धाद्वैत' से प्रभावित रहा है, जिसके अनुसार माया-शवलित ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है, प्रत्युत उससे रहित अर्थात् शुद्धब्रह्म ही जगत् का कारण है तथा सम्पूर्ण विश्व में उसकी सत्ता के परिणामस्वरूप ही जीव और जगत् की सत्ता है[1]। 'अद्वैत' मत के प्रतिपादन में आचार्य शंकर ने उपनिषदों के आधार पर नामरूप-उपाधि-विशिष्ट और सर्वोपाधि-विवर्जित ये दो रूप क्रमशः सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वीकार करते हुए उनमें से निर्गुण को ही श्रेष्ठ कहा है—सगुण को केवल व्यवहार में उपासना का ही विषय बताकर हीन माना है। किन्तु आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म के इन दोनों ही रूपों को सत्य माना है, क्योंकि इस प्रकार के विरुद्ध धर्मों से तो वह सदैव युक्त रहता है[2]। आचार्य

---

१. दे० **मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।**
कार्यकारणरूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम् ॥२८॥
—श्री गिरिधरदासजी-कृत 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड'
(चौखम्बा संस्कृत सिरीज द्वारा प्रकाशित—सन् १९०६ ई० का संस्करण)।

२. दे० (क) **अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।**
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम ॥
—'तत्वदीप निबन्ध'—शास्त्रार्थ प्रकरण
('अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय'—ले० डा० दीनदयालु गुप्त—प्रथम संस्करण, पृ० ३११ से उद्धृत)।

के मत में ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं—१. परब्रह्म (=पुरुषोत्तम), २. अक्षर-ब्रह्म और ३. क्षर-ब्रह्म। इनमें परब्रह्म तो वस्तुतः भगवान् कृष्ण[1] ही हैं जो अपनी अनन्त शक्तियों के साथ 'व्यापी बैकुंठ' में नित्य लीला करते रहते हैं एवं जब उनकी इच्छा होती है तो इस परिवार के साथ भू-लोक पर अवतीर्ण होकर लीला करते हैं[2]। ब्रह्म के अक्षर और क्षर स्वरूप क्रमशः जीव और जगत् ही हैं और इसका कारण माया न होकर उसकी लीला करने की इच्छा ही है[3]। इनका व्युच्चरण उसी प्रकार होता है जैसे अग्नि से स्फुलिंग ; अन्तर केवल इतना ही है कि जगत् में उसका चित् और आनन्दांश तिरोभूत रहता है और जीव में केवल आनन्दांश ही और वह भी उसके भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित रहता है[4]। इस प्रकार जीव ज्ञाता, ज्ञान-स्वरूप और अणुरूप है[5]। जगत् के सम्बन्ध में वल्लभ 'अविकृत परिणामवाद' को स्वीकार करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार कुण्डलवलयादि के बन जाने पर भी स्वर्ण में कोई परिवर्तन नहीं आता—वह अधिकृत रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म का जगत् में व्यपदेश हो जाने से ब्रह्म में कोई विकृति नहीं आती और जैसे कुण्डलवलयादि के गलाने पर वे स्वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं, ठीक वैसे ही जगत् का ब्रह्म में तिरोभाव हो जाता है[6]।

(ख) निर्दोष-पूर्ण-गुणविग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः
सर्वत्र च त्रिविध-भेद-विवर्जितात्मा ॥

—'तत्वदीप निबन्ध'

('भागवत सम्प्रदाय'—ले० श्री बलदेव उपाध्याय—प्रथम संस्करण, पृ० ३७८ से उद्धृत)।

१. दे० परंब्रह्मस्तु कृष्णोहि सच्चिदानन्दकं बृहत् ॥३॥

—'सिद्धान्त मुक्तावली'

(वही 'भागवत-सम्प्रदाय, पृ० ३९४ से उद्धृत)।

२. दे० वही 'भागवत-संप्रदाय', पृ० ३७९।

३. दे० तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतनाः
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारस्तदिच्छया ॥४॥

—'तत्वदीप निबन्ध',—शास्त्रार्थ प्रकरण

(वही 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृ० ४०१ से उद्धृत)।

४. दे० विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु संदशेन जड़ा अपि।
आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ॥३२।

—'तत्वदीप निबन्ध'—शास्त्रार्थ प्रकरण

(वही 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृ० ४०० से उद्धृत)।

५. दे० वही 'भागवत-सम्प्रदाय', पृ० ३८१।

६. दे० उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ ३।२।२७

—'अणुभाष्य'

(डिपार्टमेंट ऑव पब्लिक इंस्ट्रक्शन्स, बम्बई द्वारा प्रकाशित भाग १, सन् १९२१ ई० का संस्करण)।

परन्तु यहाँ यह संकेत कर देना अनुचित नहीं कि वल्लभ जगत् को संसार से भिन्न मानते हैं। उनके मत में पंचवर्ग अविद्या के कारण जीव कल्पना और ममता से जो पदार्थ निर्मित करता है, वही संसार है ; ज्ञान होने पर इसका तो नाश हो जाता है, किन्तु ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण जगत् का नाश नहीं होता[१]। मोक्ष-प्राप्ति के लिए आचार्य ने तीन मार्ग बताये हैं—१. प्रवाह, २. मर्यादा और ३. पुष्टि[२]। इनमें से प्रवाह मार्ग तो सर्वथा हीन है, क्योंकि इसके अनुसरण द्वारा साधक सांसारिक कर्मों में फँसा हुआ स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न करता है, उनका फल भोगने के पश्चात् उसे पुनः संसार में आना पड़ता है अर्थात् वह जन्म-मरण से मुक्त नहीं हो पाता[३]। शेष दो का अनुसरण करके यद्यपि वह संसार में नहीं आता, फिर भी इन दोनों में पुष्टि-मार्ग ही श्रेष्ठ है। बात यह है कि पुष्टि अथवा भक्ति का प्रादुर्भाव भगवान् के शरीर से हुआ है तथा उन्हीं की कृपा से[४] वह इसका अनुसरण करके अन्त में रसात्मिका प्रीति द्वारा उनके अधरामृत-पान का भागी होता है[५] ; जबकि मर्यादा अथवा ज्ञान-मार्ग पर चलकर अक्षर-ब्रह्म की वाणी से उद्भूत वेदादि के ज्ञान द्वारा भगवान् की सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य मुक्तियों में से किसी एक को प्राप्त होता है—उनकी लीला के नित्य आनन्द को प्राप्त नहीं कर पाता[६]। इस प्रकार मर्यादा-मार्ग के अनुसरण द्वारा केवल अक्षर-ब्रह्म की प्राप्ति होती है और पुष्टि-मार्ग के अनुसरण से वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। पुष्टि-मार्ग की यही विशेषता है[७]।

मतिराम ने ईश्वर, जीव और जगत् तथा मोक्ष के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों में बहुत कम प्रस्तुत किया है, किन्तु जिस प्रकार से उन्होंने उपासना की है, उससे इसी ओर संकेत प्रतीत होता है। ईश्वर के जिस स्वरूप में उनकी आस्था है, वह वस्तुतः वल्लभ के 'पुरुषोत्तम' भगवान् से दूर प्रतीत नहीं होता—

ध्यावैं सुरासुर सिद्ध समाज महेसहु आदि महामुनि ज्ञानी।
जोग मैं जन्त्र मैं मन्त्र मैं तन्त्र मैं गावैं सदा श्रुति शेष भवानी॥
संकट भाजन आनन की दुति पूरन चण्ड उदण्ड सो जानी।
ध्याय सदा पद पंकज को 'मतिराम' तबै 'रसराज' बखानी॥१॥

(रसराज)

---

१. दे० वही 'भागवत-सम्प्रदाय', पृ० ३८३।
२. दे० वही 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृ० ३६३।
३. दे० वही 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृ० ४६६।
४. दे० **कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः**

'तत्वदीप निबन्ध'—भागवतार्थ प्रकरण

(वही 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृ० ३६५ से उद्धृत)।
५. दे० वही 'भागवत-सम्प्रदाय', पृ० ३८४।
. दे० वही 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृ० ४६५-६६।
 ० **ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेनाक्षरब्रह्मप्राप्तिः, पुष्टिमार्गीयभक्तस्य तु सोऽश्नुत इत्यनेनोक्ता परप्राप्तिरिति।४।४।११।**

—वही 'अणुभाष्य'।

वह विरुद्ध-कर्मा है—उद्दण्डों को दण्ड देकर वह अपनी क्रूरता को भी दर्शाता है और पापियों को क्षमा करके तथा भक्तों को दया दिखाकर लोक कल्याणकारी अनन्त गुणों से भी युक्त रहता है। अजामिल को आखिर उसी ने क्षमा किया था[1] और गजराज की पुकार सुनकर उसे ग्राह से छुड़ाने वाला वही था[2]। इसके अतिरिक्त भी वेदों में यद्यपि उसे निर्लिप्त कहा गया है[3], किन्तु समस्त जीवों के भीतर अन्तर्यामी रूप में वर्तमान रहता है और अवतार भी लेता है—भगवान् कृष्ण उसी के अवतार हैं—

हिए बसत मुख हसत हो हमको करत निहाल।
घट-घट बासी ब्रह्म तुम प्रगट भए नँदलाल ॥३७५॥
(सतसई)

संसार के समस्त क्रिया-व्यापार उसकी अपनी इच्छा के ही परिणाम हैं। जगत् के सभी जड़ पदार्थों में उसका ही स्वरूप प्रकाशित हो रहा है और यह भी उसकी विहार अथवा लीला करने की इच्छा ही है—

छिति नीर कृसानु समीर अकास ससी रवि होत विरूप धरै।
अरु जागत सोवत हू 'मतिराम' सु आपनी जोति प्रकास करै॥
जग ईस अनादि अनन्त अपार वहै सब ठौरनि मैं बिहरै। (१६८)
(ललितललाम)

इच्छा ही नहीं, समस्त जगत् उसका ही स्वरूप है[4], किन्तु मोह में पड़े हुए प्राणी उसे ठीक वैसे ही नहीं जान पाते जैसे तिनके की ओट में कोई विशालकाय पर्वत को न देख सके[5]। ज्यों ही तिनके के समान यह अज्ञान-जनित मोह नष्ट हो जायगा, वह अनादि, अनन्त, अपार ब्रह्म दिखाई देने लगेगा।

इसके लिए मतिराम ने पतंगे के समान आत्मोत्सर्ग-युक्त निष्कपट प्रेम को ही[6] एक मात्र साधन माना है, शेष साधनों को वे प्रेम के अभाव में निष्फल मानते

---

१. दे० 'सतसई', छन्द संख्या ५३५।
२. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या १२४, १२६।
३. दे० **बरनत साँच प्रसंग कै तुमको वेद गुपाल। (३७६)**
(सतसई)
४. दे० **दीन बन्धु हरि जगत है,**··············(४५७)
(सतसई)
५. दे० **सिगरे तनु मोह में मोहि रहे तृन ओट पहार न देखि परै ॥३६८॥**
(ललितललाम)
६. दे० **राजत एक पतंग में बिना कपट को नेहु। (१६१)**
(ललितललाम)

हैं[1]। दान, व्रत आदि कर्मों के पालन के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य के समान उनका भी यही तर्क है कि इससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और वहाँ जीव तब तक सुख भोगता है, जब तक इन कर्मों का फल अर्थात् पुण्य क्षीण नहीं हो जाते; उसके पश्चात् उसे पुनः संसार में आना पड़ता है[2]। अर्थात् वह आवागमन से मुक्त नहीं हो पाता। ज्ञान और योग उनके मत में सांसारिक लोगों के लिए अत्यन्त कठिन हैं[3]। अतएव प्रेम अथवा भक्ति का मार्ग ही ऐसा रह जाता है, जिसका अनुसरण कर व्यक्ति अपनी मुक्ति की आशा कर सकता है। किन्तु यह भी उसी दशा में सम्भव है, जब भगवान् उसके ऊपर कृपा कर उसकी चित्त-वृत्तियों का परिष्कार करें। मतिराम स्पष्ट शब्दों में भगवान् राम को इस कार्य में समर्थ मानकर उनसे केवल अपने आराम-तलब चित्त में रमने की प्रार्थना करते हैं[4], जिससे उसकी शुद्धि हो।

संक्षेप में ईश्वर सर्वगुण-सम्पन्न सत्ता है, जो इस चराचर विश्व में रमण अथवा लीला करने की इच्छा से अपने आपको अनेकों रूपों में प्रकाशित कर रहा है; वह निर्लिप्त अर्थात् शुद्ध है, पर साथ ही वह अवतार भी धारण करता है। किन्तु अज्ञानवश जीव उसे नहीं पहचान पाता—यद्यपि वह घट-घट वासी भी है। इस अज्ञान को दूर करने तथा ईश्वर-साक्षात्कार के लिए यद्यपि ज्ञान, योग और कर्म भी साधन हैं, किन्तु इन सबसे श्रेष्ठ निष्कपट प्रेम अथवा भक्ति ही है और यह उसी दशा में सम्भव है जब भगवान् स्वयं कृपा कर व्यक्ति के अन्तःकरण में प्रविष्ट हों तथा उसकी शुद्धि करें। मतिराम के धार्मिक सिद्धान्तों का यही दार्शनिक पक्ष है, जिसकी संगति आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत की उपर्युक्त विशेषताओं के साथ देखी जा सकती है।

जहाँ तक मतिराम के धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों के व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है, इसमें भी वे वल्लभ से प्रभावित हैं, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने तत्कालीन भक्ति और धर्म सम्प्रदायों से प्रभाव ग्रहण करने में संकोच नहीं किया। वल्लभ सम्प्रदाय

---

१. दे० **विषयनि तें निर्वेद वर ज्ञान योग व्रत नेम।**
निफल जानिये ये बिना प्रभु पद पंकज प्रेम ॥१६०॥
(ललितललाम)

२. दे० **छीन पुण्य सुरलोक ते लेत मनुज अवतार। (८१)**
(ललितललाम)

३. दे० **ऊधो जू सूधो विचार है यों जू कछू समुझैं हम हूँ ब्रजबासी।**
मानि हैं जो अनुरूप कही 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी ॥
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला-सी ॥ (२२२)
(ललितललाम)

४. दे० **मेरी मति में राम है कवि मेरे 'मतिराम'।**
चित्त मेरो आराम में, चित्त मेरे आ राम ॥७०३॥
(सतसई)

में केवल कृष्ण और राधा ही उपास्य कहे गये हैं, अन्य देवी-देवताओं की उपासना का कोई उल्लेख नहीं किया गया। परन्तु मतिराम ने इनके अतिरिक्त विष्णु, लक्ष्मी, राम, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य, सरस्वती और कामदेव—इन सभी देवी-देवताओं की स्तुति की है। इससे कभी-कभी ऐसा लगता है कि इनकी धार्मिक दृष्टि समन्वयात्मक थी। पर बात ऐसी नहीं है। सरस्वती और कामदेव की वन्दना तो उन्होंने क्रमशः वाणी की अधिष्ठात्री[1] तथा संसार के प्राणियों को जीतने वाले वीर के रूप में की है[2]; भक्ति के क्षेत्र में इनका कोई महत्त्व नहीं। शेष देवी-देवताओं में रामानुजीय सम्प्रदाय के परब्रह्म, विष्णु और उनकी शक्ति—लक्ष्मी का लगभग वही स्वरूप है जो वल्लभ के पुरुषोत्तम कृष्ण और उनकी ल्हादिनी शक्ति—राधा का है। राम रामानन्दीय सम्प्रदाय में विष्णु के अवतार कहे ही गये हैं। ऐसी स्थिति में मतिराम की उपासना के विषय पंच-देव—विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य ही रह जाते हैं, जिनकी समान रूप से उपासना करना स्मार्त-वैष्णव-सम्प्रदाय में अनिवार्य है[3]। किन्तु इसी आधार पर मतिराम को स्मार्त-वैष्णव कहना उपयुक्त न होगा। इसमें सन्देह नहीं कि उक्त पंचदेवों की उपासना मतिराम की कविता में मिलती है, पर क्योंकि भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने वाले वल्लभ आदि आचार्यों के प्रभाव से वे सिद्धान्ततः इस सम्प्रदाय द्वारा निर्धारित[4] स्मृति-विहित कर्म-काण्डों तथा ज्ञान-योग की अपेक्षा निष्कपट प्रेम अर्थात् भक्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि वे इस मत के कट्टर अनुयायी थे? कर्म-काण्ड और ज्ञान-योग की अप्रत्यक्षतः स्वीकृति भी वस्तुतः स्मार्त-वैष्णव धर्म का प्रभाव नहीं कही जा सकती; कारण, वल्लभ ने भी इनको स्वीकार किया है, पर भक्ति से नीचा ही। दूसरे स्मार्त-वैष्णव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत उक्त पंचदेवों की उपासना समान रूप से विहित है। किन्तु मतिराम के जितने छन्द देखने को उपलब्ध होते हैं, उनके अध्ययन से विदित होता है कि सिवाय एक स्थान के[5] कहीं पर भी सूर्य का नामोल्लेख तक नहीं हुआ—विष्णु, शिव अथवा शक्ति के समान उपासना होना तो दूर की बात है।

मतिराम का उपास्य—भक्तिकाल में वैष्णव-धर्म का इतना बोलबाला रहा था कि रीतिकाल के विलासी वातावरण में भी यह निःशेष नहीं हो पाया था और

---

१. दे० .... **जै जै रानी बुद्धि बर बानी।**
(छन्दसार संग्रह—मंगलाचरण)

२. दे० **रतिनायक सायक सुमन सब जग जीतनबार।**
कुवलय दल सुकुमार तन मन कुमार जय मार॥३॥
(सतसई)

३. दे० 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' (प्रथम संस्करण), ले० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ३८।

४. दे० वही 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा', पृ० ३८।

५. दे० **गजमुख गिरिजा गिरीश रवि हरि पूजौं हर बार।**
(अलंकार पंचाशिका—मंगलाचरण)

इसीलिए यह कहा जा सकता है कि इस युग के कवि सामान्यतः वैष्णव ही थे। वैसे भी इन लोगों ने राधा-कृष्ण के शृंगार और भक्ति-परक जो छन्द लिखे हैं उनसे भी यही बात सिद्ध होती है। मतिराम भी अपने समकालीनों के समान वैष्णव ही रहे होंगे, क्योंकि राधा-कृष्ण की स्तुति सम्बन्धी पर्याप्त रचनाएँ इनके ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाती हैं। इधर जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, वे सिद्धान्त रूप से वल्लभ के मत से प्रभावित थे ही। परन्तु दूसरी ओर उनकी शिव, शक्ति और गणेश की स्तुति में जो रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनसे ऐसा आभास मिलता है कि कवि के मन में इन तीनों देवताओं के प्रति भी भक्ति-भाव था। देखिये—

शिव-स्तुति—

तेरो कह्यो सिगरो मैं कियो निसि द्योस तप्यो तिहुँ तापन ताई।
मेरो कह्यो अब तू करि जो सब दाह मिटै परिहै सियराई॥
संकर पायनि मैं परि रे मन थोरे ही बातनि सिद्धि सुहाई।
आक धतूरे के फूल चढ़ाएँ ते रीझत हैं तिहुँ लोक के साईं॥१६६॥

(ललितललाम)

शक्ति-स्तुति—

पियुष पयोधि मद्ध मनिन सौं बद्ध भूमि
रोध सौं रुचिर रुचि रोचक रवन में।
कामतरु विपिन कदम्ब उपवन सीरो
सुरभि पवन डोले मृदु सी गवन में॥
चिंतामनि मण्डप बिराजै जगदम्ब सदा
सावधान 'मतिराम' सेवक सेवन में।
लंपट लुबुध मन भव में भँवत कहा
करि भूरि भावना भवानी के भवन में॥३७६॥

(ललितललाम)

गणेश-स्तुति—

सुखद साधुगन को सदा गजमुख दानि उदार।
सेवनीय सब जगत को जग-मा-बाप-कुमार॥१॥

(ललितललाम)

इन छन्दों में स्पष्टतः शिव, शक्ति और गणेश के प्रति कवि का पर्याप्त भक्ति-भाव लक्षित होता है। वह अपने मन को 'लंपट' और 'लुबुध' कहकर 'शंकर' और 'भवानी' के चरणों में लगने के लिए फटकार ही नहीं लगाता, उनको संसार के माता-पिता अर्थात् स्रष्टा भी मानता है। इधर गणेश को भी उनने संसार के लिए सेवनीय कहा है। किन्तु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि गणेश के प्रति उनकी भक्ति सामान्यतः परम्परागत ही है—गणेश-स्तुति तो ग्रन्थारम्भ में प्रायः सभी लोग

विघ्न-विनाकन के लिए करते ही हैं। वैसे भी ये उन देवताओं में नहीं गिने जाते जिनकी नियमित रूप से उपासना की जाती है। शक्ति की उपासना अवश्य ही लोग नियमित रूप से करते हैं—शाक्त-सम्प्रदाय इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। पर मतिराम की रचनाओं में शक्ति की भक्ति-सम्बन्धी केवल उपर्युक्त छन्द ही उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर उन्हें शक्ति का अनन्य उपासक नहीं कहा जा सकता। हाँ, शिव की भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक हैं और इनमें प्रायः उनका भक्ति-भाव उतना ही निखरा हुआ है, जितना कि उन्होंने विष्णु अथवा राम और कृष्ण के प्रति व्यक्त किया है।

ऐसी दशा में यह प्रश्न उठता है कि जब वे मूलतः वल्लभ तथा अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों से प्रभावित थे तो उन्होंने विष्णु, राम और कृष्ण के समान शिव के प्रति भी भक्ति-भावना क्यों प्रदर्शित की। इसका मुख्य कारण यह दिया जा सकता है कि मतिराम सामान्यतः साम्प्रदायिक कवि नहीं थे, जो वैष्णव-सम्प्रदाय के सभी सिद्धान्तों का पालन करते। दूसरे भक्ति-काल के अन्तर्गत वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का जो झगड़ा था वह तुलसी जैसे समन्वयवादी कवियों के प्रयत्न के फलस्वरूप लगभग समाप्त-सा हो गया था तथा रीतिकाल के उस भौतिक वातावरण तक जिसमें व्यक्ति को इस प्रकार के सूक्ष्म-चिन्तन का अवसर ही नहीं था, विष्णु अथवा राम और कृष्ण तथा शिव के समान गुणों से सम्पन्न कहना इसी ओर संकेत करता है। तीसरे मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम की भक्ति रीतिकाल के मर्यादाहीन वातावरण में लगभग लुप्त हो चुकी थी, केवल राधा-कृष्ण की भक्ति का ही बोलबाला था। परन्तु इन दोनों को कवि लोग अपनी शृंगारिक रचनाओं में नायक-नायिका भी बना लेते थे। तब काम से प्रभावित मन को कैसे शान्ति मिलती ? उसके लिए तो ऐसे देवता की अपेक्षा थी जो इससे मुक्ति दिला सके ; और चूँकि परम्परा से शिवजी औढरदानी माने ही जाते रहे हैं[1] तथा उनको काम आदि शत्रुओं का नाशक भी कहा गया है[2] ; अतः कवि ने यदि काम के वशीभूत अपने मन को उनके चरणों में लगाया है तो अनुचित नहीं किया। फिर उसने कहीं पर विष्णु अथवा राम और कृष्ण को शिव से निम्न तो नहीं कहा—'रसराज' की रचना के समय वह शिव को विष्णु का उपासक मानता ही था[3]; 'सतसई' की रचना के समय भी उसने इसी प्रकार से राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति के महात्म्य की स्थापना की है ; देखिए—

---

१. दे० **औढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे॥ (६)**
—'विनय पत्रिका'—सम्पादक श्री वियोगी हरि (संवत् २००७ वि० का संस्करण)।

२. दे० **काम मद मोचनं तामरस लोचनं वामदेवं भजे भाव गम्यं॥ (१२)**
वही 'विनय पत्रिका'।

३. दे० **ध्यावैं सुरासुर सिद्ध समाज महेसहु आदि महामुनि ज्ञानी।**
जोग में जंत्र में मंत्र में तंत्र में गावैं सदा सुति सेस भवानी (१)
(रसराज)

१. मो मन तम तोमहि हरौ राधा को मुख चन्द ।
बढ़ैं जाहि लखि सिंधु लौं नंदनंदन आनंद ॥१॥
२. मुंज गुंज के हार उर मुकुट मोर पर पुंज ।
कुंज बिहारी बिहरिये मेरे ई मन कुंज ॥२॥
३. राधा मोहन लाल को जाहि न भावत नेह ।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखिनि खेह ॥४॥
४. मुरलीधर गिरिधरन प्रभु पीताम्बर घनस्याम ।
बकी बिदारन कंस अरि चीर हरन अभिराम ॥७००॥
(सतसई)

कहने का अभिप्राय यह है कि मतिराम के धार्मिक विचारों में जो सैद्धान्तिक और व्यावहारिक द्विविधा दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण उनकी सदोष विचार-धारा नहीं, प्रत्युत परिस्थितियों के अनुसार उनका मानसिक विकास तथा उनकी धर्म-सम्बन्धी उदारता ही है। वास्तव में वे कृष्ण-भक्त वैष्णव ही थे और उनकी विचार-धारा पर मुख्यतः आचार्य वल्लभ के 'शुद्धाद्वैत' का प्रभाव रहा है। पर क्योंकि उन्होंने वल्लभ-सम्प्रदाय का कट्टरता के साथ अनुसरण न कर अन्य सम्प्रदायों से भी प्रभाव ग्रहण किया है, इसीलिए यह संदेह होता है। यह बात मतिराम के लिए नई नहीं है, सनातनी हिन्दुओं में प्रायः ऐसा होता है।

नैतिक-दृष्टि—व्यक्ति के जीवन का बाह्य पक्ष उसके आचरण हैं, जिनका नियमन अपने संस्कारों में ढली हुई उसकी नैतिक-दृष्टि किया करती है। रीतिकाल भारतीय समाज के इतिहास में नैतिकता की दृष्टि से घोर अधःपतन का युग था; उस समय विलासिता 'फैशन' मात्र नहीं थी, अपितु जीवन का अनिवार्य अंग बन गई थी—सम्पूर्ण समाज भौतिक मूल्यों की ओर ही प्रवृत्त था; नारी का अस्तित्व भी योग्य वस्तु के सिवाय और कुछ नहीं रह गया था। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे भ्रष्ट वातावरण के प्रभाव से सामान्य व्यक्ति के लिए अपने चरित्र की रक्षा करना तक कठिन था; नैतिक-दृष्टि को संयत रखना तो दूसरी बात है। परन्तु आश्चर्य है कि मतिराम इस रसिकता में आचूड़ निमग्न रहने पर भी अपनी नैतिक-दृष्टि को स्थिर रख सके। उस समय बिहारी जैसे कवि केवल 'रतिरंग' में ही पर-लोक सुख निहित होने का नारा बुलन्द कर रहे थे, पर मतिराम ने स्पष्टतः यौवन के इस उच्छल प्रवाह को नाशक जंजाल कहकर[1], नागर-प्रेम की चंचलता के प्रति अरुचि प्रकट करते हुए[2], अप्रत्यक्ष रूप से जीवन में संयम और गाम्भीर्य के महत्त्व की स्थापना की है।

---

१. दे० जग आरन को जानियत जीवन में जंजाल। (६४९)
(सतसई)

२. दे० पारद सो उड़ि जायगो अलि चंचल यह प्रेम॥ (२३६)
(रसराज)

रीतिकाल के अन्तर्गत परकीया प्रेम का वर्णन सबसे अधिक हुआ है—मतिराम भी किसी से पीछे नहीं रहे ; परन्तु इस विषय में उनका यह निश्चित मत था कि जिस सुख के लिए पुरुष पर-स्त्री-गमन करता वह उसे अपने गार्हस्थिक जीवन में भी प्राप्त हो सकता है—

छोड़ि आपनो भौन तुम भौन कौन के जात ॥६६०॥
(सतसई)

इधर नारी के लिए भी उनका इसी प्रकार का सन्देश था—

कोऊ कितेक उपाय करो कहुँ होत हैं आपने पीव पराए ॥१८६॥
(रसराज)

अर्थात् पर-पुरुष किसी भी प्रकार से सुख नहीं दे सकता, क्योंकि जो रस लेने आज यहाँ आया है, कल दूसरी जगह भी जा सकता है—पर समाज में तुम्हें अपने सम्मान से हाथ धोना ही पड़ेगा।

नारी समाज की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इकाई है, कारण उसके व्यवहार से समाज का स्वरूप किसी न किसी प्रकार प्रभावित होता ही रहता है। इसीलिए उसमें कतिपय गुणों की अपेक्षा की जाय, तो अनुचित नहीं। भारतीय समाज में उसके लिए जिन गुणों का होना अनिवार्य कहा गया है उनमें से लज्जा भी एक है और यह अनेक दृष्टियों से समाज को पतन से बचा सकती है। मतिराम ने इसके ऊपर बहुत बल दिया है। उनका विचार है कि सुन्दर पुरुष को देखकर नारी का उसकी ओर आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है, परन्तु जो अपनी लज्जा को फिर भी नहीं छोड़ती और कुल-मर्यादा का पालन करती है, वास्तव में वह धन्य है—

ते धनि जे ब्रजराज लखें गृह काज करें अरु लाज सँभारें ॥१७४॥
(ललितललाम)

इतना ही नहीं उन्होंने नारी के लिए इतना तक कह डाला है कि चाहे उसका पति नपुंसक ही क्यों न हो, किन्तु उसे अपने सम्मान तक की चिन्ता न करके पति की मर्यादा की रक्षा करनी चाहिए। इस आदर्श को वे जिस ढंग से प्रस्तुत करते हैं, वह अपने आपमें द्रष्टव्य है—

गुरुजन दूजे ब्याह को प्रतिदिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखै बहू आपुन बाँझ कहाइ ॥६॥
(सतसई)

इसी प्रकार पुरुष के गुण के रूप में भी उन्होंने 'लज्जा' (=मर्यादा की रक्षा) को स्वीकार किया है—

(क) भोज की मूँछनि लाज रही मुख औरनि लाज के भार नबाए ॥२१५॥
(ललितललाम)

(ख) ऐसे सब खलक ते सकल सिकिल रही
राव में सरम जैसे सलिल दरयाव में ॥४१॥
(ललितललाम)

संयम, गाम्भीर्य और लज्जा के अतिरिक्त जिन तीन बातों के सम्बन्ध में मतिराम ने अपना मत दिया है, वे हैं—भाषण, प्रेम और उत्तरदायित्व। भाषण की मधुरता की प्रशंसा और दुष्ट-भाषण की निंदा तथा सज्जनों पर उसके प्रभाव न पड़ने की चर्चा तो सनातन-काल से चली आ रही है ; मतिराम ने भी कतिपय छन्दों में कुछ इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं[१], किन्तु वे सबसे अधिक भाषण की सरलता पर बल देते हैं। उनका कथन है कि जो भाषण अपने आपमें सरल है, वह कभी किसी को कष्ट नहीं पहुँचा सकता—कष्ट तो वह भाषण अधिक पहुँचाया करता है जो अपराध के साथ-साथ कपट से भी युक्त हो[२]। ऐसे ही प्रेम के सम्बन्ध में वे यह तो कहते ही हैं कि पतंगे के समान यह आत्मोत्सर्ग-युक्त हो, किन्तु यह सम्भव तभी हो सकता है जब दोनों के मन मैले न हों; यदि मन फटे हुए हैं तो वास्तविक प्रेम का होना सम्भव ही नहीं है[३]। बुरी संगत तथा धन के सम्बन्ध में उनके वही पुराने विचार हैं कि कुसंग से किसी को ऊँचा स्थान नहीं मिल पाता[४] तथा धन के बढ़ने से विवेक का नाश हो जाता है[५]। परन्तु उत्तरदायित्व के विषय में उन्होंने अत्यन्त विलक्षण बात कही है और बहुत-कुछ उनके व्यक्तिगत अनुभव का परिणाम प्रतीत होती है। उनका कथन है कि जो व्यक्ति दूसरों के किये हुए का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है, वह वास्तव में सुख का भागी नहीं होता[६]। इसी प्रकार जो अपना उत्तरदायित्व दूसरों के ऊपर छोड़ देता है, वह भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह व्यक्ति उसे कभी भी धोखा दे सकता है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि

---

१. दे० 'ललितललाम', छन्द संख्या १४४, २९९; 'सतसई', छन्द संख्या ६३, १६१, ६५६।

२. दे० **सरल बान जाने कहा प्रान हरन की बात।**
बंक भयंकर धनुष को गुन सिखवत उतपात ॥६३८॥
(सतसई)

३. दे० **कोटि-कोटि मतिराम कहि जतन करो सब कोइ।**
फाटे मन अरु दूध में नेह न कबहूँ होइ ॥७०॥
(सतसई)

४. दे० **निहचैं नखत निहारियत नथुनी मुकुत प्रकास।**
कैसे करि पावै कहो नीचन नाक निवास ॥३२६॥
(सतसई)

५. दे० **अद्भुत या धन को तिमिर मोपै कह्यो न जाइ।**
ज्यों-ज्यों मनिगन जगमगत त्यों-त्यों अति अधिकाइ ॥६४॥
(सतसई)

६. दे० **कियो और को सब कछू मानि आपनो लेइ।**
क्यों न लहै संताप जो भार आप सिर देइ ॥३३२॥
(सतसई)

राजा को विशेष सतर्क रहना चाहिए और मंत्रियों के ऊपर काम छोड़ना अपने राज्य को दूसरे के हाथ में देना है[1]।

कहने का अभिप्राय यह है कि मतिराम की नैतिक-दृष्टि एक ओर जहाँ प्रवृत्ति-मूलक है वहाँ दूसरी ओर उन निवृत्त-मूलक गुणों को भी नहीं त्यागती, जिनसे व्यक्ति को सुख-शान्ति मिलती हो। उनका केवल एक मत है और वह यह कि न तो ऐसा समाज-विरोधी कार्य करना चाहिए जिससे दूसरों को कष्ट प्राप्त हो और न ऐसा ही जो दूसरों के हाथों में पड़कर अपनी सत्ता ही खो बैठे—केवल ऐसा पवित्र जीवन ही अपेक्षित है जो सरल हो तथा अपने उत्तरदायित्व का जिसमें पूर्ण रीति से निर्वाह हो।

---

१. दे० मंत्रिन के बस जो नृपति सो न लहत सुख साज।
मनहिं बाँधि दृग देत हैं, मनकुमार को राज ॥३६४॥
(ललितललाम)

अष्टम अध्याय

मतिराम का प्रकृति और राज-वैभव-वर्णन

सौन्दर्य चाहे नैसर्गिक हो या मानवीय वह आकर्षण का केन्द्र अवश्य है और यही कारण है कि इसका स्थायी प्रभाव किसी न किसी रूप में द्रष्टा की अभिव्यक्ति का प्रमुख अंग बन जाता है। मतिराम का अधिकांश जीवन अपनी जन्म-भूमि बुन्देलखण्ड की रमणीक वनस्थली और आश्रयदाताओं के राजसी ठाट देखने में व्यतीत हुआ, अतएव प्रकृति और राज-वैभव का वर्णन उनके काव्य में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यदि देखने को मिलता है, तो आश्चर्य नहीं। यहाँ पर हम इन दोनों प्रकार के वर्णनों की पृथक्-पृथक् परीक्षा करेंगे।

प्रकृति-वर्णन

'प्रकृति' शब्द का अर्थ और प्रकृति-वर्णन की विधाएँ—'प्रकृति' शब्द साधारणतः तीन रूपों में ग्रहण किया जाता है। इनमें से एक तो व्यावहारिक है। इसके अन्तर्गत वे सभी दृश्यमान जड़-चेतन पदार्थ समझे जाते हैं जो मानव-सृष्टि से इतर हैं। अर्थात् जब तक इन पदार्थों के अस्तित्व में मनुष्य का हाथ नहीं रहता अथवा वे जब तक उसके भोग्य उपकरण नहीं बनते तभी तक प्रकृति कहे जा सकते हैं; इसके पश्चात् इन्हें मानव की 'कला' अथवा उसके अधिकार में होने पर उसका 'वैभव' कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। वन-खण्डों के सुन्दर निर्झर, कुटिल सरिताएँ, स्वेच्छा से विचरण करते हुए पशु-पक्षी इत्यादि सभी प्रकृति अथवा उसके अंग हैं। किन्तु यदि मनुष्य इसी प्रकार के जल-प्रपात का निर्माण करता है अथवा जल के किसी कृत्रिम प्रवाह की रचना करता है या किसी चिड़ियाघर में पशु-पक्षी एकत्र कर लेता है, तो उस दशा में इस प्रकार के दृश्य प्राकृतिक नहीं कहे जा सकते—दर्शक इन्हें अपने सजातीय की कारीगरी कहेंगे, या फिर उसके बुद्धिबल अथवा वैभव की प्रशंसा करके मौन हो जायँगे; अधिक से अधिक इतना कह सकते हैं कि 'ये भी प्राकृतिक-से लगते हैं'। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रकृति' शब्द का यह रूप अपने आपमें अत्यन्त सीमित और स्थूल है।

इसका दूसरा रूप अपेक्षाकृत व्यापक और सूक्ष्म है तथा विज्ञान के अधिक निकट पहुँचता है। इसका क्षेत्र मानवेतर सृष्टि तक ही सीमित नहीं, मानव और उसके जीवन से अभिन्न चराचर जगत् तक व्याप्त है; किन्तु इसके अन्तर्गत बाह्य आकार की अपेक्षा पदार्थों के उन धर्मों पर अधिक बल दिया जाता है जो इन्द्रियों के विषय हैं—इनके द्वारा अनुभव किये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में इसकी परिसीमाओं के बीच जड़-चेतन पदार्थों के केवल वे स्थायी और सूक्ष्म गुण अथवा धर्म आते हैं, जो

सृष्टि-सापेक्ष हैं; सृष्टि-सापेक्ष गुणों के अभाव में 'प्रकृति' शब्द का यह रूप अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। प्राणिमात्र का नैसर्गिक स्वभाव तथा जड़-वस्तुओं के अपरिवर्तनशील गुणों को वैज्ञानिक शब्दावली में इसी शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है; और ये दोनों ही—अर्थात् प्राणिमात्र का नैसर्गिक स्वभाव तथा जड़-वस्तुओं के स्थायी धर्म सृष्टि-सापेक्ष हैं।

'प्रकृति' शब्द का तीसरा रूप अध्यात्म-क्षेत्र का है। इसके अनुसार जगत् का मूल कारण तो ईश्वर ही है, परन्तु इसकी उत्पत्ति उसकी 'परा' और 'अपरा' नामक दो प्रकृतियों द्वारा होती है[1] इनमें 'परा' अर्थात् चेतन प्रकृति तो जीवरूपा है और अपने भीतर समस्त जगत् को धारण करती है[2] तथा 'अपरा' अर्थात् अचेतन प्रकृति पंचभूत (अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश), मन, बुद्धि और अहंकार के क्रम से आठ भागों में विभक्त है[3]। सांख्य दर्शन के अन्तर्गत ईश्वर जैसे तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं है—'पुरुष' (आत्मा) और 'प्रकृति' को ही स्वीकार किया गया है, जिनके संयोग से इस सृष्टि की उत्पत्ति होती है[4]; पर वास्तव में ये दोनों ही प्रकृति के उक्त परा और अपरा रूपों से पृथक् नहीं कहे जा सकते—कारण, 'प्रकृति' त्रिगुणमय, विवेक-शून्य, विषय-सामान्य (सबके उपभोग का विषय), अचेतन और प्रसवधर्मा है तथा 'पुरुष' इसके विपरीत[5]। ऐसी स्थिति में यह कहना ही पड़ता है कि ईश्वरवादी आचार्यों की 'प्रकृति' एक ओर ईश्वर-सापेक्ष और दूसरी ओर सृष्टि-सापेक्ष होने के नाते अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म ही नहीं, प्रत्युत 'प्रकृति'-विषयक उक्त दोनों व्याख्याओं को भी अपने में अन्तर्भूत कर लेती है। फिर भी इन तीनों रूपों का व्याख्या और वर्गीकरण की दृष्टि से अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व है।

इस प्रकार क्षेत्र की व्यापकता और स्वरूप की सूक्ष्मता के आधार पर 'प्रकृति' के उपर्युक्त तीनों रूप अपनी-अपनी सीमाओं में बद्ध हैं—एक केवल मानवेतर जड़-

---

१. दे० **एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।**
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥
—'गीता' (गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित)—अध्याय ७।

२. दे० **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीव भूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥
—वही 'गीता'—अध्याय ७।

३. दे० **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥
—वही 'गीता'—अध्याय ७।

४. दे० **पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥**
—'सांख्यतत्व कौमुदी' (काशी संस्कृतसिरीज द्वारा प्रकाशित—सन् १९३७ ई० का संस्करण।)

५. दे० **त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।**
व्यक्तं तथा प्रधानम् तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥
—वही 'सांख्यतत्वकौमुदी'।

चेतन समुदाय को प्रकृति कहता है, दूसरा जड़-चेतन समुदाय के परस्पर सापेक्ष गुण और स्वभाव को और तीसरा सृष्टि की उस उत्पादिका शक्ति को, ईश्वर-सापेक्ष और सृष्टि-सापेक्ष दोनों ही है। साहित्य के अन्तर्गत इन तीनों रूपों में 'प्रकृति' शब्द का व्यवहार होने के कारण किसी भी प्रकार का सीमा-बन्धन नहीं कहा जा सकता, परन्तु साहित्य-शास्त्र में जब इसे विशिष्ट वर्णन-पद्धति के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता है, तो इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित हो जाता है। उस स्थिति में समाज-सापेक्ष मानव-स्वभाव तथा उसके जीवन से अभिन्न जड़-चेतन पदार्थ प्रकृति-वर्णन में समाविष्ट नहीं हो पाते—यद्यपि साहित्य में इस प्रकार के वर्णनों का अभाव नहीं है। वैसे सामान्यतः प्रकृति-वर्णन की जो छः स्थूल विधाएँ—आलम्बन, उद्दीपन, अप्रस्तुत, मानवीकरण, उपदेश और नीति के माध्यम तथा परमतत्व के आभास-रूप में स्वीकार की गई हैं[1], वे किसी न किसी रूप में 'प्रकृति' शब्द की उपर्युक्त तीनों व्याख्याओं की परिसीमाओं के अन्तर्गत आ जाती हैं। आलम्बन-रूप में प्रकृति-वर्णन मुख्यतः कवि द्वारा मानवेतर जगत् का बिना किसी बाहरी रूप-रंग के प्रस्तुत किया गया चित्र ही है। ऐसे वर्णनों में पदार्थों का उल्लेख इस प्रकार होता है कि उनका अस्तित्व मानव-मात्र से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। सहृदय पाठक भी इसीलिए आश्रय की स्थिति में होकर इन वर्णनों द्वारा पदार्थों के वास्तविक रूप को देखने का-सा आनन्द लाभ करता है। उदाहरण के लिए—

दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर राजती थी, कमलिनी-कुल-बल्लभ की प्रभा ॥१॥
विपिन-बीच विहंगम-वृन्द का कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा-विहगावली नाचती नभ-मण्डल-मध्य थी ॥२॥

(प्रियप्रवास[2]—प्रथम सर्ग)

इन पंक्तियों में कवि जिस वातावरण का वर्णन कर रहा है, उससे वह सर्वथा पृथक् है। यद्यपि वह यत्र-तत्र उपस्थित भी होता है, पर थोड़े समय के लिए ही—वातावरण को स्पष्ट करने का उसका कार्य जैसे ही समाप्त होता है, वह अपने व्यक्तित्व को समेट लेता है। बस यही कारण है कि इस वर्णन को पढ़ने से सायंकाल के वातावरण को देखने का-सा अनुभव होता है। प्रकृति का यही आलम्बन-रूप में वर्णन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे वर्णनों में कवि वैज्ञानिक के समान पदार्थों का विश्लेषणात्मक चित्र प्रस्तुत नहीं करता; उनमें चित्रकार का-सा संश्लिष्ट चित्रण होता है, जिसमें रूप-रंग, यहाँ तक कि विशिष्ट ध्वनियाँ भी स्पष्ट हो जाती हैं।

उद्दीपन, अप्रस्तुत, मानवीकरण और उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत साधारणतः समाज-निरपेक्ष मानव-स्वभाव तथा मानवेतर पदार्थों के स्थायी गुणों का साथ-साथ अथवा अन्योन्याश्रित-रूप में वर्णन होता

---

१. दे० वही 'हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण', पृ० ३१-७६।

२. ले० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (संवत् २०१० वि० का संस्करण)।

है। अन्तर इन तीनों विधाओं में थोड़ा-सा है। उद्दीपन-रूप में मानव हृदय-गत स्थायीभावों तथा इतर पदार्थों के स्थायी गुणों का परस्पर सापेक्ष रूप से वर्णन होता है। पदार्थ अपने स्थायी गुण-विशेष के फलस्वरूप भाव जागृत करने का वातावरण उपस्थित करते हैं और वातावरण की उपस्थिति में भाव जाग्रत हो जाते हैं। इस प्रकार इन वर्णनों में एक के अभाव में दूसरे की सत्ता का कोई महत्त्व नहीं होता। देखिये—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा—
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढ़ाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीला विधौ
रेवारोधसि वेतसी तरु तले चेतः समुत्कण्ठते ॥१॥

[वही 'काव्य-प्रकाश'—प्रथम उल्लास]

यहाँ पर वसन्त की रात्रि, वसन्तकलिकाओं की सुगन्ध से युक्त पवन तथा नर्मदा नदी के तट पर अवस्थित वेत की झाड़ी जैसे मानवेतर पदार्थों का मधुर वातावरण उपस्थित करने का धर्म और उस वातावरण में नायिका के हृदय में स्थायी रूप से वर्तमान 'रति' भाव जागृत होने के स्वभाव का परस्पर सापेक्ष रूप से प्रस्तुत किया गया चित्र है। प्रकृति का यही उद्दीपन-रूप में चित्र कहलाता है। इसी प्रकार—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुँद दल बाजा ॥
धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बग पाँति दिखाए ॥
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुन्द बान बरिसै घन घोरा ॥
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई ॥
ओनै घटा आइ चहुँ फेरी। कन्त उबारु मदन हौं घेरी ॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहै न जीऊ ॥
पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा ॥

(जायसी : पद्मावत[1]—नागमती-वियोग खंड)

इसमें वर्षा ऋतु से प्रकृति-गत उत्पन्न मादक वातावरण और नागमती के हृदय में जागृत 'रति' भाव का परस्पर सापेक्ष रूप से प्रस्तुत किया गया चित्र है। प्रिय के अभाव में यह वातावरण मादक होता हुआ भी उसे कष्ट दे रहा है, क्योंकि मादकता के अनुपात में उसका यह भाव तीव्रतर होता जा रहा है।

अप्रस्तुत-रूप में प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत यद्यपि मानवेतर पदार्थों के सूक्ष्म अथवा स्थूल गुणों का परस्पर किंवा मानव-सापेक्ष भावात्मक अथवा भौतिक जगत् के साथ साम्य-वैषम्य प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इस व्यापार के मूल में मनुष्य का विरोधी अथवा समान तत्त्वों की तुलना करने का स्वभाव ही विद्यमान रहता है। बात यह है कि सृष्टि-गत समस्त पदार्थों के धर्म मानव-स्वभाव-सापेक्ष ही हुआ करते हैं, इनसे सुख-दुःख, आनन्द-कष्ट इत्यादि की प्राप्ति जिस मात्रा में

---

१. सम्पादक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (प्रथम संस्करण)।

होती है, उसकी अनुभूति वह दूसरों तक पहुँचाना चाहता है और यह तभी सम्भव है जबकि वह किसी ऐसे पदार्थ को उसकी तुलना में प्रस्तुत करे जिससे प्राप्त सुख-दुःखादि की अनुभूति उसके समान अथवा विपरीत हो। कहना न होगा कि मानवेतर पदार्थ इस दिशा में उसके लिए अत्यन्त सहायक होते हैं, क्योंकि वे स्वतन्त्र होने के नाते सभी मनुष्यों के उपभोग के विषय में होते हैं—उनसे प्राप्त सुख-दुःखादि की अनुभूति सर्वसामान्य की अनुभूति होती है। मुख को चन्द्रमा तथा दुष्ट-वचनों को को कुलिश कहने में यही सत्य निहित है कि मुख को देखने में चन्द्रमा के सर्वसामान्य द्वारा अनुभूत शीतलतादि गुणों का-सा आनन्द प्राप्त होता है और दुष्ट-वचनों को सुनने से कुलिश की कठोरता की अनुभूति होती है। ऐसे ही 'आकाश-पाताल' के सम्बन्ध के साथ जब दो पदार्थों की तुलना की जाती है तो उस दशा में वक्ता का इन दोनों के अन्तर से अभिप्राय रहता है।

प्रकृति के मानवीकरण और उसको उपदेश और नीति के माध्यम-रूप में ग्रहण करने की विधाओं में स्पष्ट रूप से मानवेतर पदार्थों और मानव-गुण-स्वभाव का साथ-साथ वर्णन होता है। अन्तर केवल इतना है कि मानवीकरण की स्थिति में कवि का इन पदार्थों के साथ सहृदयत्व का भाव रहता है, जबकि दूसरी ओर उसका उपदेश और नीति की ओर आग्रह अधिक होता है, अर्थात् वह इन पदार्थों में केवल वे गुण ही देखता है जिनका उसकी नैतिक अथवा इसी प्रकार की किसी दूसरी विचार-धारा से मेल खाता हो। दूसरे शब्दों में एक दशा में मानवेतर जगत् कवि के सहचर के रूप में चित्रित होता है और दूसरी ओर वह उसके शिक्षक के रूप में। उदाहरण के लिए कतिपय छन्द देते हैं—

१. **मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः**
स्वयं तरंगाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः
पिबत्यसौ पाययते च सिन्धुः ॥९॥
(रघुवंश[1]—त्रियोदश सर्ग)

१. **कबीर चन्दन का बिड़ा बैठ्या आक पलास।**
आप सरीखे करि लिए जे होते उन पास ॥७॥
(कबीर-ग्रन्थावली[2]—साध कौ अंग)

२. **तुलसी तृन जलकूल को निरबल निपट निकाज।**
कै राखै कै संग चलै बाँह गहे की लाज ॥५४४॥
(तुलसी : दोहावली[3])

---

१. ले० कालिदास (कालिदास ग्रन्थावली—सम्पादक, सीताराम चतुर्वेदी—संवत् २००१ वि० का संस्करण)

२. सम्पादक—डा० श्यामसुन्दरदास (संवत् २०१३ वि० का संस्करण)।

३. गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित।

यहाँ प्रथम उद्धरण में समुद्र और उसमें गिरती हुई सरिता का वर्णन है। समुद्र में हिलोर उठती है जो सरिता के मुहाने के भीतर तक जाकर उसके जल को बरबस पीछे की ओर धकेल देती है; और फिर इसकी प्रतिक्रिया होती है जिसके फलस्वरूप सरिता का जल भी इसके साथ खिचा आकर समुद्र की अनन्त जल-राशि में विलीन हो जाता है। अपना जल समर्पित करके सरिता के जल को खींच लाने के समुद्र के व्यापार को कवि ने उस प्रगल्भ नायक के क्रिया-रूप में दर्शाया है जो आग्रहपूर्वक नायिका को अपने अधर समर्पित करता है, पर ज्यों ही वह इसके लिए प्रस्तुत होती है, वह उसके अधरों का पान करना आरम्भ कर देता है। समुद्र और सरिता—दोनों ही मानव-सृष्टि से इतर हैं। इन पर क्रमशः नायक और नायिका का आरोप ही उनका मानवीकरण करना है। इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय उद्धरणों में चन्दन के वृक्ष और नदी-किनारे पर अवस्थित तिनके के ऊपर क्रमशः घृणितों को भी अपने जैसा आदरणीय बनाने तथा शरणागत-रक्षा जैसे मानवीय गुणों का आरोप किया गया है। यही कारण है कि ये पदार्थ मनुष्य के सहचर न होकर उसके लिए आदर्श अथवा शिक्षक बन गए हैं। मानवेतर पदार्थों के साथ मानव-स्वभाव के नैतिक-पक्ष का सारोप वर्णन प्रकृति को नीति और उपदेश का माध्यम बनाना ही कहलाता है।

जहाँ तक परमतत्व के आभास-रूप में प्रकृति-वर्णन का प्रश्न है, उसमें मानव-स्वभाव तथा मानवेतर पदार्थों के अतिरिक्त उस परमतत्त्व का भी आभास रूप में वर्णन होता है, जिसे दर्शनशास्त्रों में इस सृष्टि का नियामक कहा गया है। स्वभाव से जिज्ञासु मनुष्य जब पदार्थों को अपने समान ही सक्रिय देखता है, तो स्वतः उसे किसी ऐसी शक्ति का अनुभव होने लगता है, जो उससे ऊपर है। मानवेतर पदार्थों के रूप, गुण, क्रिया इत्यादि में इसी अनन्त शक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति को ही प्रकृति का परमतत्त्व के आभास-रूप में वर्णन कह दिया जाता है। ऐसे वर्णनों में कवि का मुख्य अभिप्रेत पदार्थ न होकर उस परम सत्ता के आभास का उल्लेख करना ही होता है। उदाहरण के लिए, देखिए—

देव नभ मन्दिर में बैठार्यो पुहुमि पीठ
सिगरे सलिल अह्नवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल
सहित सुगंधन चढ़ावन चहत हौं॥
अगिनि अनन्त धूप दीपक अनन्त ज्योति
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर कामना न मेरे और
आठों जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं॥[1]

इस छन्द में कवि द्वारा अनन्त आकाश, पृथ्वीमण्डल, समुद्र-सरिताओं, वायु, पृथ्वीभर के फल-फूलों तथा सभी अग्नियों—समस्त प्राकृतिक पदार्थों को क्रमशः

१. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० ११५ से उद्धृत।

अपने आराध्य राम के मन्दिर, आसन, स्नान के लिए जल, चँवर, नैवेद्य आदि आरती के लिए दीपक के रूप में प्रस्तुत करना उस परब्रह्म के विराट् रूप को प्रस्तुत करता है जो इस समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसी प्रकार—

> **विश्व देव सविता या पूषा सोम मरुत चंचल पवमान ;**
> **वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान ?**
> **महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान,**
> **ग्रह, नक्षत्र और विद्युतकण किसका करते-से संधान।**
> **छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए ;**
> **तृण वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए ?**
> ('कामायनी'[1]—'आशा' सर्ग)

यहाँ जितने भी पदार्थों के रूप, गुण और क्रिया का वर्णन है, वह कवि का मुख्य अभिप्रेत नहीं ; इनसे उसे जिस महान् शक्ति का आभास हुआ, उसी का उल्लेख करना उसका अभीष्ट है।

कहने का अभिप्राय यह है कि मानवेतर पदार्थों के स्थूल वर्णन को ही 'प्रकृति-वर्णन' कह देना अपने आपमें प्रकृति-वर्णन का संकुचित प्रयोग ही नहीं, भ्रामक भी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानवेतर पदार्थों का इस वर्णन-पद्धति में महत्त्वपूर्ण स्थान है, आलम्बन-रूप में इनका वर्णन करने की विधा भी है ; परन्तु इसके साथ ही मानव-मात्र का नैसर्गिक स्वभाव तथा इन पदार्थों के सूक्ष्म और स्थायी गुण अथवा धर्म भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनके अभाव में प्रकृति-वर्णन की शेष विधाएँ या तो प्रकृति-वर्णन के आलम्बन-रूप तक सीमित रह जायँगी अथवा उनका कोई महत्त्व न होगा। रीतिकालीन साहित्य में ऐसे अनेक स्थल उपलब्ध हो जाते हैं, जहाँ पदार्थों की गणना को ही प्रकृति-वर्णन मान लिया गया है—उनके सूक्ष्म गुणों का मानव-स्वभाव के साथ वर्णन नहीं किया गया ; यही कारण है कि ये शृंगार रस के उद्दीपन विभाव की सामग्री के स्थान पर हास्य की सामग्री बन गये हैं। कहना न होगा कि मानव-स्वभाव इस वर्णन-पद्धति में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है कि परिस्थितियों में विशेष मोड़ लेकर प्रकृति-वर्णन की नवीन प्रणाली का रूप धारण कर लेता है। इसीलिए यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति-वर्णन के कितने विधान हो सकते हैं और न यही कह सकते हैं कि अमुक कवि की रचनाओं में प्रकृति-वर्णन की उक्त सभी विधाएँ देखने को मिल सकेंगी।

हिन्दी-साहित्य में प्रकृति-वर्णन—हिन्दी साहित्य का अत्यन्त दुर्भाग्य है कि उसका जन्म और विकास ऐसी परिस्थितियों में हुआ, जिनके कारण उसमें प्रकृति को वह स्थान प्राप्त न हो सका जो संस्कृत-साहित्य में देखने को मिलता है। वीर-गाथाकाल के अनिश्चित वातावरण में कवियों को युद्ध-वर्णनों के सिवाय जीवन के किसी और पक्ष का चित्रण करने का अवसर तक न था, प्रकृति-वर्णन तो दूर की

---

१. ले० जयशंकर प्रसाद (संवत् १९९२ वि० का संस्करण)।

बात है। भक्तिकाल में अधिकांश कवि आध्यात्मिक गुत्थियों को सुलझाने में ही व्यस्त रहे—प्रकृति का वर्णन यदि उन्होंने किया भी तो उस पर दार्शनिक विचारों का बोझ इतना लाद दिया कि उसका स्वरूप ही स्पष्ट न रहा। सूर और तुलसी जैसे सगुण भक्त कवियों ने इस युग में यद्यपि प्रकृति के प्रति अपेक्षाकृत अधिक उत्साह दिखाया पर इसका अस्तित्व उनके आराध्य देवों तक ही सीमित रहा। आगे चलकर रीति-काल के अन्तर्गत विलासी आश्रयदाताओं के मनोरंजन का साधन मात्र रहने के कारण कविता केवल स्त्री-पुरुष के सौन्दर्य और उनके उच्छल प्रेम तक ही सीमित रह गई; अतः प्रकृति को शारीरिक सौन्दर्य की व्यंजना तथा भावोद्दीपन के उपकरण-रूप में ही ग्रहण किया जा सका। इधर आधुनिक काल में छायावादी कवियों का इस ओर सबसे अधिक आग्रह रहा पर जीवन की समस्याओं के संघात ने साहित्य में प्रवेश करके इस प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया।

मतिराम का प्रकृति-वर्णन

रीतिकालीन कवियों की शृंगारिक-प्रवृत्ति के अनुरूप मतिराम की अधिकांश रचनाएँ शृंगारिक हैं और इनमें भी मुख्यतः नायक-नायिकाओं के भावों तथा उनके रूप सौन्दर्य का चित्रण होने के कारण प्रकृति की स्थिति उद्दीपन और अप्रस्तुत-रूप में ही ग्रहण की गई है। किन्तु फिर भी उन्होंने इनके अतिरिक्त प्रकृति-वर्णन की अन्य विधाओं की भी उपेक्षा नहीं की—यद्यपि ये परिमाण में न्यून हैं। देखिये—

आलम्बन—रीतिकाल के अन्तर्गत आलम्बन-रूप में प्रकृति-वर्णन बहुत कम हुआ है। इसका मुख्य कारण जैसा कि शुक्लजी ने भी कहा है[1], यही है कि इस युग के कवि संस्कृत-आचार्यों के प्रभाव से प्रकृति को उद्दीपन अथवा अलंकरण-सामग्री तक ही सीमित रखते रहे। मतिराम ने भी इसी प्रवाह में प्रकृति के विभिन्न उपादानों को उद्दीपन के संभार रूप में स्वीकार किया है[2], किन्तु जब वे किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करने लगते हैं, उस समय उनकी यह मान्यता पीछे रह जाती है। उस स्थिति में वे किसी प्रकार के मानवीय भाव का आरोप न कर उस दृश्य के विशुद्ध रूप के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। कड़ाके की धूप में गाँव के आस-पास की भूमि तथा उसके ऊपर बादलों के समान छाये हुए धूल के बवण्डर चाहे किसी को सुख न पहुँचावें, पर हमारा कवि यह देखकर अपने नेत्रों को अवश्य शीतल कर लेता है—

ग्रीषम हूँ रवि तपत हूँ रहे जलद जनु झूमि।
तपो हगनि सीतल करै गाँव निकट की भूमि ॥२२६॥
(सतसई)

---

१. दे० 'रस-मीमांसा'—ले० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (प्रथम संस्करण), पृ० ११२।

२. दे० **चन्द कमल चन्दन अगर ऋतु बन बाग बिहार**
उद्दीपन शृंगार के जे उज्जल संभार ॥२८४॥
(रसराज)

इसी प्रकार वसंत ऋतु में भ्रमर और कोकिल-कुलों से लदी हुई सुरभित आम्रमंजरी उसके नेत्र और घ्राण दोनों को ही तृप्त कर देती है—

भौंर भाँवरें भरत हैं कोकिल कुल मँडरात ।
या रसाल की मंजरी सौरभ सुभ सरसात ।।५६६।।

(सतसई)

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे वर्णनों में हमारा कवि पदार्थों के संश्लिष्ट चित्रण की ओर अत्यन्त सजग रहा है, इसीलिए इनका अन्तिम प्रभाव रसात्मक है।

उद्दीपन—अपनी मनःस्थिति से प्रभावित होकर व्यक्ति का स्वभाव विशिष्ट रूप में प्रकट हुआ करता है। पीछे निवेदन किया जा चुका है कि उद्दीपन-रूप में प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत मानव-स्वभाव और मानवेतर पदार्थों के स्थायी गुणों का परस्पर सापेक्ष-रूप से चित्रण होता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि इस विधा के अन्तर्गत आश्रय की मनोदशा के अनुरूप ही प्रकृति के गुण, रूप इत्यादि प्रस्तुत किये जायँ। संस्कृताचार्यों ने श्रृंगार रस के दो पक्ष स्वीकार किये हैं—संयोग और वियोग; जिनमें से एक सुखात्मक है और दूसरा दुःखात्मक। रीतिकाल के लगभग सभी श्रृंगारी कवियों ने इन दोनों पक्षों को ध्यान में रखकर ही प्रकृति के विभिन्न उपादानों का वर्णन किया है—प्रिय के संयोग होने की दशा में अथवा भविष्य में ऐसा होने की आशा होने पर प्रकृति के सुखात्मक रूप और विपरीत दशा में उसके कष्टसाध्य रूप की अभिव्यक्ति में ही उन्होंने अपनी सफलता समझी है। मतिराम भी भाव-विश्लेषण के कवि होने के नाते संयोग-वियोग-जन्य मनोदशाओं के अनुकूल प्रकृति-वर्णन करने की दृष्टि से कम सजग नहीं रहे।

अस्तु, संयोग अर्थात् नायक-नायिका के शारीरिक और मानसिक नैकट्य की स्थिति उनमें एक विशेष प्रकार के उल्लास का संचार करती है, जिसे द्रुत करने में प्रकृति का अपना विशिष्ट योग होता है। उस समय मानवेतर पदार्थों की उपस्थिति उसके मनोनुकूल ही नहीं होती, प्रत्युत दोनों के भोग का उपकरण बन जाती है। इसीलिए सरस चाँदनी अथवा केवड़े की मादक सुगन्धि यदि उनमें मिलन की इच्छा उत्पन्न करे, तो आश्चर्य ही क्या ?—

फूल चमेली को सरस चौंसर लीये हाथ ।
सरस चाँदनी आज की मेरे रहिये नाथ ।।२।।

हाथ लिये ते केवरो मीड़े मारत काम ।
गवन करहु जनि पैंड भरि आज करो आराम ।।५।।

(फूलमंजरी)

किन्तु संयोग की अपेक्षा भविष्य में संयोग होने की आशा चित्त में और भी अधिक द्रुति उत्पन्न करती है और यदि प्रकृति ही इसके लिए प्रेमियों को आश्रय देने वाली हो, तो उन्हें जितना उल्लास इसे देखकर होगा उतना संभवतः घोर परिश्रम करने वाले कृषक को भी अपने हरे-भरे खेत देखकर न हो। अरहर और ज्वार के

लहलहाते खेत मतिराम की परकीयाओं को इसीलिए उल्लसित करते हैं कि भविष्य में ये उनके सहेट-स्थल होंगे—

> **बरषा ऋतु बीतन लगी प्रतिदिन सरद उदोति ।**
> **लहलह जोति जुवार की अरु गँवारि की होति ॥१०॥**
>
> **सूखी सुता पटेल की सूखी ऊखनि पेखि ।**
> **अब फूली-फूली फिरै फूली अरहर देखि ॥६७॥**

(सतसई)

कहना न होगा कि इस उल्लास की चरम सीमा उस समय होती है जब संयोग बहुत निकट होता है । इस अवस्था में प्रकृति के वे उपकरण जो सामान्य व्यक्ति के लिए कष्टकर होते हैं, वे भी प्रेमी के लिए सुखात्मक बन जाते हैं । दोपहर की धूप में अभिसार के लिए जाने वाली परकीया के लिए यह अवसर इसी कारण सुखमय हो जाता है क्योंकि एक ओर यह समय उसे लोक-दृष्टि से बचाता है और दूसरी ओर उसे अपने प्रिय से मिलने का उल्लास उन्मत्त बना रहा है । मतिराम ने इसका वर्णन जिस ढंग से किया है, वह अपने आपमें द्रष्टव्य है—

> **ग्रीषम ऋतु की दुपहरी चली बाल बन कुंज ।**
> **अंग लपटि तीछन लुएँ, मलय-पवन के पुंज ॥२०२॥**

(रसराज)

यह बात तो रही संयोग-पक्ष में प्रकृति के उद्दीपन-रूप में वर्णन की। जहाँ तक वियोग-पक्ष का प्रश्न है, उसमें प्रकृति का वर्णन नितान्त भिन्न होता है। बात यह है कि जीवन का संयोग-पक्ष भावात्मक है और वियोग-पक्ष अभावात्मक। प्रिय का वियोग उसके अभाव की अनुभूति-मात्र है, जिसकी तीव्रता उस समय और अधिक हो जाती है, जब उसकी उपस्थिति नितान्त आवश्यक हो जाय । प्रकृति द्वारा उपस्थित किया गया मधुर वातावरण इस अभाव को सबसे अधिक उत्कृष्ट बना देता है । वर्षारम्भ में पति के आगमन का कोई संदेह प्राप्त न होने के कारण नायिका ने जिस प्रकार से उस अभाव के भावी प्रभाव का अनुभव किया, मतिराम ने उसे अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है—

> **धुरवानि की धावनि मानो अनंग की तुंग धुजा फहरान लगी ।**
> **नभमण्डल ह्वै छितिमण्डल छ्वै छनदा की छटा छहरान लगी ॥**
> **'मतिराम' समीर लगै लतिका बिरही बनिता थहरान लगी ।**
> **परदेस मैं पीव संदेस न पायौ पयोद-घटा घहरान लगी ॥३६७॥**

(रसराज)

अभी तो केवल इतना ही है कि प्रिय के आगमन की सूचना नहीं मिली ; उसके आगमन की सूचना प्राप्त होने तथा आगमन की आशा नहीं टूटी, इसी कारण यह अभाव तीव्र नहीं हुआ । किन्तु आवश्यकता के समय जब इस अभाव-पूर्ति की आशा न रहे, तो अनुभूति और भी अधिक तीव्र हो जाती है । वर्षा ऋतु में सहेट-

स्थल के नष्ट होने पर नायिका के रोने का वर्णन मतिराम ने जिस प्रकार से किया है, वह द्रष्टव्य है—

> आई ऋतु पावस प्रकास आठौं दिसन में
> सोहत स्वरूप जलधरन की भीर को।
> 'मतिराम' सुकवि कदंबन की बास जुत
> सरस बढ़ावै रस परस समीर को॥
> भौन ते निकसि वृषभानु की कुमारि देख्यो
> ता समै सहेट को निकुंज गिर्यो तीर को।
> नागरि के नैननि तें नीर को प्रवाह बढ्यो
> निरखि प्रबाह बढ्यो जमुना के नीर को॥८६॥
>
> (रसराज)

सहेट-स्थल के जलमग्न होने पर प्रिय-मिलन का सम्भव न होना नायिका के मन में अभाव तो जागृत करेगा ही, पर अधिक नहीं, क्योंकि थोड़े समय में दूसरा स्थान बनाया जा सकता है ; परन्तु मिलनेच्छा को प्रकृति का मधुर वातावरण जब उत्कट बन रहा हो तो उसके कष्ट की अनुभूति और भी बढ़ जायगी। आगे चलकर एक वह अवस्था भी हो सकती है कि संयोग-पक्ष में जो प्रकृति अपने मधुर वातावरण द्वारा आनन्द में वृद्धि करती थी अब कष्टकर प्रतीत होने लगे। शरद् ऋतु की चाँदनी का माधुर्य प्रिय के अभाव में नायिका को कितना कष्टकर हो सकता है, वह मतिराम के इस छन्द में देखा जा सकता है—

> चली 'मतिराम' प्रान प्यारे को मिलन घात
> नेसुक निहारि के बिसारि काज घर को।
> पियरो बदन दुख हियरे समाय रह्यौ,
> कुंजन में भयो न मिलापु गिरधर को॥
> बिसरे बिलासु वे बिलाय गयो हासु, छायो
> सुन्दरि के तन में प्रताप पंचसर को।
> तीछन जुन्हाई भई ग्रीषम को घामु भयो
> ओसम पियूषभानु भानु दुपहर को॥१५१॥
>
> (रसराज)

इस कष्ट की चरम सीमा उस समय होती है जब उसके दुःखमय क्षणों में प्रकृति अपने उसी स्वरूप को लेकर प्रस्तुत हो जो उसके सुखमय क्षणों में था तथा बार-बार उस सुख का स्मरण कराए। प्रिय के मिलन की आशा न रहने पर वे निकुंज जो किसी समय सुखमय थे, अब नायिका के भावों को कितने उच्छ्वासमय बना देते हैं—

> ह्वाँ मनमोहन सौं 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँद वारी।
> तेई लता द्रुम देखत दुःख चले अँसुवा अँखियानि ते भारी॥

आवति हौं जमुना-तट कों नहिं जानि परै बिछुरे गिरधारी।
जानति हौं सखि आवन चाहत कुंजनि तें कढ़ि कुंज बिहारी ॥११८॥

(रसराज)

अतीत में प्रिय जिन कुंजों के पीछे से निकलकर नायिका के साथ प्रेमालाप करता था, वे तो अब भी ज्यों के त्यो वर्तमान हैं, पर वह सदा के लिए बिछुड़ गया, यही कारण है कि इन्हें देखकर नायिका के अन्तःपट पर अतीत के सुखमय क्षण नाचने लगते हैं। प्रकृति द्वारा उद्बुद्ध की गई यह अतीत की स्मृति प्रिय के अभाव को और भी कष्टकर बना दे तो आश्चर्य नही।

उद्दीपन-रूप में प्रकृति-वर्णन की इस मनोवैज्ञानिक परिपाटी को रीतिकालीन कवियों ने एक और प्रकार से ग्रहण किया है। इसमें नायक-नायिका की संयोग-वियोग-जन्य मनोदशा के अनुरूप प्रकृति का प्रभाव व्यक्त करने के स्थान पर प्रकृति के उद्दीपक वातावरण के चित्रण द्वारा भावी संयोग अथवा वियोग की आशा से होने वाली उनकी मनःस्थिति को बताने का प्रयास किया गया है। इस परिपाटी का मुख्य विषय वियोग-पक्ष रहा है, जिसके व्याज से लगभग सभी रीतिकालीन कवियों ने षड्ऋतु और बारहमासे का वर्णन भर-पेट किया है। मतिराम ने इस रीति का पूर्णतः निर्वाह तो नहीं किया, किन्तु अपने समकालीनों के प्रभाव से एकाध छन्द ऋतु-वर्णन विषयक लिख डाला है। वसन्त ऋतु के वर्णन का छन्द देते हैं—

मलय समीर लागौ चलन सुगन्ध सीरो
पथिकन कीने परदेसन तें आवने।
'मतिराम' सुकवि समूहनि सुमन फूले
कोकिल मधुप लागे बोलन सुहावने॥
आयो है वसन्त भए पल्लवित जलजात
तुम लागे चलिबे की चरचा चलावने।
रावरी तिया को तरवर, सरवरन के
किसलै-कमल ह्वै हैं बारक बिछावने ॥२१०॥

(रसराज)

वसन्त ऋतु में प्रकृति सबसे अधिक कामोद्दीपक होती है, और यह स्वाभाविक ही है कि उस समय प्रिय का अभाव कष्टसाध्य हो। प्रस्तुत उद्धरण के अन्तर्गत प्रकृति के कामोद्दीपक उपकरणों के उल्लेख द्वारा नायक-नायिका की भावी-मनोदशा की कल्पना की गई है। इसी प्रकार—

बेलिन सौं लपटाय रही है तमालन की अवली अति कारी।
कोकिल केकी कपोतन के कुल केलि करैं जहँ आनँद भारी॥
सोच करो जिन होहु सुखी 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी।
मंजुल बंजुल कुंजन मैं घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी ॥८६॥

(रसराज)

यहाँ पर प्रकृति के उद्दीपक वातावरण में प्रिय-मिलन से नायिका के भावी सुख की व्यंजना है।

किन्तु इस प्रकार के वर्णनों का सबसे बड़ा दोष यह है कि इनमें प्रकृति का उद्दीपक गुण व्यंग्य न होकर वाच्य ही रह जाता है ; इसीलिए कभी-कभी आलम्बन की मनोदशा का पूरा चित्र अंकित न होने से प्रकृति-वर्णन केवल वस्तु-परिगणन मात्र ही रह जाता है। इसका एक उदाहरण मतिराम की रचनाओं में भी देखने को मिल जाता है—

दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है।
छाइ रहे जहाँ द्रुम बेलनि सौं मिलि
'मतिराम' अलि-कुलन अँध्यारी अधिकाति है।।
नखत-से फूल रहे फूलन के पुंजघन
कुंजन मैं होति जहाँ दिन ही मैं राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली साथ
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ।।२६७।।

(रसराज)

यहाँ पर राहेट-स्थल का वर्णन है। वक्ता चतुर नायक माना गया है, इसीलिए उसके द्वारा किया गया प्रकृति-वर्णन उद्दीपन-रूप में ध्वनित होता है, अन्यथा इसमें कोई भी उक्ति ऐसी नही है जो नायक अथवा नायिका के रतिभाव की ओर संकेत करती हो। 'अकेली जाति है' से भय व्यक्त हो सकता है, किन्तु यहाँ पर प्रकृति का जो वर्णन है वह भयानक नहीं, अतः यह भय के उद्दीपक-रूप में भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में यह वर्णन वस्तु-परिगणन की सीमा से बाहर नहीं जा सकता।

अप्रस्तुत—प्रकृति-वर्णन की विधाओं में से मतिराम ने प्रकृति का सबसे अधिक उपयोग अप्रस्तुत-रूप में ही किया है। यों तो रीतिकाल के लगभग सभी शृंगारी कवियों ने अपनी रचनाओं को प्रभावोत्पादक बनाने के हेतु इस विधा का आश्रय लिया, किन्तु उनमें से अधिकांश का अप्रस्तुत-विधान प्रकृति से चुने हुए कतिपय परम्परागत उपमानों तक ही सीमित रह गया है। मतिराम की इस दिशा में सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपनी सफलता के लिए एक ओर जहाँ नवीन उपमानों का चयन किया है, वहाँ दूसरी ओर परम्परागत उपमानों का सर्वथा बहिष्कार न कर उन्हें नवीन ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है तथा इसके साथ ही साथ प्रभाव-साम्य की ओर भी उनका विशेष ध्यान रहा है। यही कारण है कि उनके उपमान—क्या मूर्त्त और क्या अमूर्त्त सभी प्रकार के पदार्थों, यहाँ तक कि भावों तक की वास्तविक अनुभूति कराने में समर्थ हैं।

मूर्त्त पदार्थों के लिए प्राकृतिक पदार्थों को अप्रस्तुत-रूप में प्रस्तुत करते समय

मतिराम का आग्रह मुख्यतः दोनों के स्थूल रूप, गुण, क्रिया इत्यादि में से किसी एक की दृष्टि से प्रभाव-साम्य की ओर रहा है। उदाहरण के लिए, देखिए—

सेत बसन की चाँदनी परत गुलाल सुरंग।
मानो सुर सरिता मिलति सरसुति तरल तरंग ॥४४८॥

(सतसई)

प्रस्तुत वर्णन के अन्तर्गत श्वेत वस्त्र की चाँदनी तथा उस पर गिरते हुए गुलाल के लिए क्रमशः गंगा और उससे मिलती हुई सरस्वती नदी की सम्भावना की गई है, जिसका मूलाधार प्रस्तुताप्रस्तुत का रूप-साम्य है। इसी प्रकार—

बिरह तचे तिय-कुचनि लों अँसुवा सकत न आइ।
गिरि उड़गन ज्यों गगन तें बीचहि जात बिलाइ ॥६६६॥

(सतसई)

यहाँ पर नायिका के आँसुओं (प्रस्तुत) तथा आकाश से गिरने वाले तारों (अप्रस्तुत) के बीच में ही विलीन हो जाने के गुण-साम्य का कथन है। ऐसे ही—

ज्यों-ज्यों परसत लाल तन त्यों-त्यों राखे गोय।
नवल-वधू डर लाज तें इन्द्र-वधू सी होय ॥२६॥

(रसराज)

इसमें नायिका (प्रस्तुत) और बीरबहूटी (अप्रस्तुत) का केवल गुण-साम्य ही नहीं दर्शाया गया, क्रिया-साम्य भी है। अपनी स्वतन्त्र-अवस्था में बीरबहूटी के ऊपर कुछ ऐसी नैसर्गिक आभा होती है कि उसका वर्ण अधिक लाल प्रतीत नहीं होता ; किन्तु उसका जैसे-जैसे स्पर्श करते जायँ, उसकी यह कान्ति क्षीण होने के साथ-साथ गहरे लाल रंग में परिणत होती जायगी तथा वह स्वयं भी डर के कारण अपने अंगों का संकोच करती जायगी। हमारे कवि ने नायिका की अवस्था ऐसी ही प्रदर्शित की है। उसका पति उसे जितनी बार स्पर्श करता है, वह लज्जा से आरक्त तथा डर के कारण संकुचित होती जाती है। कहना न होगा कि मतिराम के इस प्रकार के सटीक उपमान हिन्दी कविता के लिए नवीन ही नहीं अपने आपमें अत्यन्त विलक्षण भी हैं।

अमूर्त्त पदार्थों अथवा भावों के लिए भी मतिराम ने प्रकृति के मूर्त्त पदार्थों का ही चयन किया है, किन्तु इस ओर वे दोनों के रूप, गुण और क्रिया की सूक्ष्मता की ओर सजग रहे हैं। बानगी के लिए उदाहरण देते हैं—

(१) पानिप अमल की झलक झलकन लागी
काई-सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते ॥२२॥

(रसराज)

(२) हाहा कै निहोरे हूँ न हेरति हरिन नैनी।
काहे को करत हठ हारिल की लकरी ? ॥२३५॥

(रसराज)

(३) भरी भाँवरैं साँवरे रास रसिक रस आन।
उनहीं में मति भ्रमति है ह्वै बौंडर को पान ॥२३९॥

(रसराज)

इन तीनों उद्धरणों में लड़कपन, हठ और मतिभ्रम के लिए क्रमशः काई, हारिल की लकड़ी तथा बवंडर के पत्ते की अप्रस्तुत-रूप में योजना द्वारा प्रस्तुत-अप्रस्तुत के रूप, गुण और क्रिया साम्य को प्रदर्शित करने का प्रयास है। प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत केवल इतना ही दर्शाया गया है कि युवावस्था के आगमन तथा लड़कपन के चले जाने पर नायिका के शरीर में कान्ति का संचार ठीक उसी प्रकार हुआ है जैसे जल के ऊपर आवृत काई के हट जाने पर उसका स्वरूप उज्ज्वल हो जाता है। दूसरे उद्धरण में कवि का प्रयत्न यह दिखाने का है कि नायिका अनेक प्रयत्न करने पर भी अपने हठ को वैसे ही नहीं छोड़ रही जैसे कि हारिल पक्षी बैठने के लिए अपने पंजों में दबाई हुई लकड़ी को नहीं त्यागता। इसी प्रकार तीसरे उद्धरण में कृष्ण के साथ किये गये रास में नायिका की स्थिति बवंडर में चक्कर काटते हुए पत्ते के समान ही नहीं बताई गई प्रत्युत इससे उस रास की भाँवरों तथा बवंडर के भँवर की समता की ओर भी संकेत है।

अमूर्त्त पदार्थों अथवा भावों की तीव्र अनुभूति कराने के लिए एकत्र किये गये प्रस्तुतों के रूप, गुण, क्रिया इत्यादि की सूक्ष्मता की ओर हमारे कवि का आग्रह कभी-कभी इतना अधिक हो जाता है कि वह प्रकृति के सूक्ष्म पदार्थों का चयन करने का प्रयास करता है। देखिए—

पिय आयो नव बाल तन बाढ्यो हरष विलास।
प्रथम बारि बूँदन उठै ज्यौं बसुमती सुबास ॥२१८॥

(रसराज)

यहाँ पति के आगमन पर नायिका के मन में उत्पन्न उल्लास के लिए प्रथम वर्षा के समय पृथ्वी से उठने वाली सौंधी गन्ध को अप्रस्तुत-रूप में ग्रहण किया गया है, जो अपने आपमें केवल घ्राण का विषय होने के कारण अपेक्षाकृत सूक्ष्म है। इसके साथ ही साथ कल्पना का धनी हमारा कवि इस विधान के द्वारा यह और ध्वनित कर देता है कि भर जेठमास में तपने के पश्चात् वर्षा-जल के प्रथम मिलन पर पृथ्वी से उठने वाली यह सौंधी वास वस्तुतः उसके द्वारा व्यक्त किया गया अपना उल्लास ही है। ऐसी स्थिति में प्रकृति का यह वर्णन मानवीकरण की परिसीमाओं के अधिक निकट हो जाता है। जो हो।

अमूर्त्त प्रस्तुत के लिए यह आवश्यक नहीं कि अप्रस्तुत सूक्ष्मता की ओर ही केन्द्रित रहे; कभी-कभी स्थूल अप्रस्तुत भी भावों अथवा अमूर्त्त पदार्थों की अनुभूति कराने में अत्यन्त समर्थ सिद्ध होते हैं। मतिराम को जब भी ऐसा सुयोग मिला है, उसका उन्होंने पूरा लाभ उठाया है। नायिका के हास्य के लिए उन्होंने चमेली के पुष्पों की वर्षा की अप्रस्तुत-रूप में जिस प्रकार से योजना की है, वह अपने आपमें द्रष्टव्य है—

हँसत बाल के बदन में यों छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें झरत चमेली-फूल ॥२०३॥
(ललितललाम)

नायिका का सहज हास्य—उसकी दंत-पंक्ति का खिलना अवश्य ही चमेली के विकसित पुष्पों के समान है ; कवि इन पुष्पों की वर्षा के उल्लेख द्वारा यह अनुभूत करा देना चाहता है कि उसका हास्य कितना मादक है।

प्रकृति से गृहीत परम्परागत अप्रस्तुतों का जहाँ तक प्रश्न है, ये अपने प्रसिद्ध गुणों के कारण पदार्थों के वैसे ही गुणों की अनुभूति कराने में सबल हैं और इसीलिए किसी भी प्रकार के परिष्करण की अपेक्षा नहीं रखते। परन्तु इनकी पुनरावृत्ति अपने आपमें दुरूह हो जाया करती है। मतिराम ने इसी पुनरावृत्ति से अपनी रचनाओं को बचाने के हेतु इस प्रकार से अप्रस्तुतों को ग्रहण करने पर भी उन्हें अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। देखिए—

आनन पूरनचन्द लसै अरबिंद बिलास बिलोचन पेखे।
अम्बर पीत लसै चपला छवि अम्बुद मेचक अंग उरेखे ॥२७६॥
(रसराज)

इसमें कृष्ण के मुख, नेत्र, वस्त्र तथा वर्ण के लिए परम्परा से प्रचलित उपमानों का चयन है, जिनका सौन्दर्य ही इसमें निहित है कि ये एक साथ एकत्र किये गए हैं। इतना ही नहीं कभी-कभी यह कवि एक ही पदार्थ के लिए अनेकों परम्परागत उपमानों की योजना एक स्थान पर कर देता है और इस व्यापार में उसका उद्देश्य अनुभूति को तीव्र करना ही होता है। नायक की प्रतीक्षा करती हुई नायिका के नेत्रों की अवस्था उस समय कैसी है, यह जिस प्रकार से चित्रित किया गया है, वह अपने आपमें देखने योग्य है—

पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी
चहूँ ओर दीरघ दृगन करी दौर हैं।
एक ओर मीन मनो एक ओर कंज-पुंज
एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं ॥१६३॥
(रसराज)

यहाँ नेत्रों के लिए मीन, कंज, खंजन और चकोर—ये चार उपमान एक साथ दिये गए हैं। मीन अपनी दीर्घता के लिए, कमल अपने विकास और विशालता के लिए, खंजन चंचलता तथा चकोर अपनी एकाग्रता के लिए प्रसिद्ध हैं। मतिराम उक्त नायिका के नेत्रों के लिए इन सब की योजना द्वारा यह चित्र उपस्थित करना चाहते हैं कि वह समस्त दिशाओं में जिस आतुरता के साथ अपने प्रेमी को देख लेने की इच्छा कर रही है, उसी के फलस्वरूप उसके नेत्र कभी मछली के समान दीर्घ, कभी कमल के समान विस्फारित और कभी खंजन के समान चंचल हो उठते हैं तथा कभी वह एकाग्रता के साथ एक ओर ही देखने लगती है। कहना

न होगा कि इस प्रकार से परम्परागत उपमानों को प्रस्तुत करना हिन्दी-साहित्य के लिए एक नई बात है।

परम्परागत उपमानों को स्वतन्त्र रूप से उपयोग में लाने के अतिरिक्त मतिराम ने उन्हें नवीन उपमानों के साथ भी व्यवहार में ले लिया है। इन विधानों की विशेषता यह रही है कि एक ओर परम्परा का बोझ हलका हो गया है, और दूसरी ओर उनमें नवीनता का आभास मिलता है। दूसरे इनमें भावना का प्राधान्य रहा है, इसलिए ये दोनों प्रकार के अप्रस्तुत प्रायः उत्प्रेक्षाओं के रूप में ही अधिक उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए—

बेंदी ललित मसूर की लसति सलोने भाल।
मनो इन्दु के अंक में इन्दुकामिनी लाल ॥१२३॥

(सतसई)

मसूर की लाल बेंदी के लिए बीरबहूटी का उपमान कवि का अपना है; मुख के लिए चन्द्रमा का व्यवहार परम्परा से होता आया है। इन दोनों उपमानों के एक साथ प्रयोग द्वारा कवि नवीन उपमान का सृजन करता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार—

जरतारी सारी ढके नैन लसति 'मतिराम'।
मनो कनक पंजर परे खंजरीट अभिराम ॥४८०॥

(सतसई)

'खंजन' नेत्रों का परम्परागत उपमान है। प्रस्तुत दोहे के अन्तर्गत जरी की साड़ी से अवगुंठित नायिका के नेत्रों के लिए स्वर्ण-मंजूषा में खंजन पक्षियों के बन्दी होने की सम्भावना कवि की अपनी योजना है। किन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं कि इस प्रकार का अप्रस्तुत-विधान हिन्दी कविता के लिए नया नहीं है, मतिराम से बहुत पूर्व सूर के पदों में इसका प्रयोग प्रायः देखने को मिल जाता है।

प्रकृति-वर्णन की शेष विधाएँ—पीछे संकेत किया जा चुका है कि मतिराम ने मानवीकरण, परमतत्त्व के आभास तथा उपदेश और नीति के माध्यम-रूप में प्रकृति को बहुत कम ग्रहण किया है। कतिपय छन्द ही उनके ग्रन्थों में ऐसे हैं जो उद्धृत किये जा सकते हैं, किन्तु उनमें इन विधाओं का स्वच्छ निरूपण नहीं हुआ। मानवीकरण का केवल यही दोहा उनकी 'सतसई' में उपलब्ध होता है—

फूलति कली गुलाब की सखि यह रूप लखै न।
मनो बुलावति मधुप को दै चुटकी की सैन ॥६५८॥

किन्तु इसके अन्तर्गत भी मानवीय गुणों के आरोप की अपेक्षा प्रकृति में उनकी सम्भावना अधिक है। इसी प्रकार 'ललितललाम' के केवल इस छन्द के अन्तर्गत ही कवि ने मानवेतर पदार्थों में ईश्वर के आभास का उल्लेख किया है—

छिति नीर कृसानु समीर अकास ससी रवि होत निरूप धरै।
अरु जागत सोवत हू 'मतिराम' सु आपनी जोति प्रकास करै ॥

जग ईस अनादि अनन्त अपार वहै सब ठौरनि मैं बिहरै।
सिगरे तनु मोह मैं मोहि रहे तून ओट पहार न देखि परै ॥३६८॥

परन्तु यहाँ पर भी वह मुख्यतः दार्शनिक हो गया है।

उपदेश और नीति के माध्यम-रूप में प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी छन्दों की संख्या के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, किन्तु ये अपेक्षाकृत मार्मिक अधिक हैं। इसका मुख्य कारण उनका परम्परागत विषय-वस्तु का भी बिम्ब-ग्रहण कराना है। उदाहरण के लिए, देखिये—

होत जगत में सुजन को दुरजन रोकन हार।
केतक कमल गुलाब के कंटकमय परिहार ॥६५६॥
(सतसई)

यहाँ कंटकों पर दुर्जनों का तथा पुष्पों पर सज्जनों का आरोप किया गया है। इससे कवि का अभिप्राय यही है कि दुर्जनों के दुर्व्यवहार से सज्जनों का विकास ठीक उसी प्रकार नही रुकता जैसे कि कमल, केतकी और गुलाब के पुष्पों का विकास उन पर लगे हुए काँटे नही रोक सकते हैं। ऐसे ही—

दुख दीने हू सुजन जन छोड़त निज न सुदेस।
अगरु डारियत आगि में करत सुबासित केस ॥१८५॥
(सतसई)

इस दोहे के अन्तर्गत अग्नि में पड़कर भी सुगन्धि देने के अगर के स्वभाव के वर्णन द्वारा यह उपदेश दिया गया है कि अति कष्ट सहन करने पर भी सज्जनों को अपने परोपकारी स्वभाव का परित्याग न करना चाहिए। अस्तु।

संस्कृत तथा हिन्दी के आधुनिक कवियों में प्रकृति-वर्णन की एक प्रणाली और देखने को मिलती है। इसमें प्रकृति को ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत-रूप में ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार से एक ओर यह विधा प्रकृति के आलम्बन-रूप में वर्णन की कोटि में आ जाती है, और दूसरी ओर इसे प्रकृति के अप्रस्तुत-रूप में वर्णन की परिसीमाओं से बाहर नहीं रखा जा सकता। दूसरे शब्दों में यह विधा दो विधाओं के योग का ही परिणाम है। मतिराम ने इस प्रकार के छन्द अधिक तो नहीं लिखे, केवल एक छन्द ही 'सतसई' में दिया है, जिसे यहाँ उद्धृत करने का हम लोभ संवरण नहीं कर सकते—

जगै जोन्ह की जोति यों छपै जलद की छाँह।
मनो छीरनिधि की उठै लहरि-छहरि छिति माँह ॥१८७॥

'फूलमंजरी' और प्रकृति-वर्णन—'फूलमंजरी' के उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त उसमें अधिकांश छन्द ऐसे हैं, जिनको प्रकृति-वर्णन की उक्त छः विधाओं में से किसी के भी अन्तर्गत रखना कठिन है। मतिराम के अपने शब्दों में पुस्तक का उद्देश्य विभिन्न प्रकार के पुष्पों का चयन करना है[1], किन्तु यह उनके रूप-रंग इत्यादि के

---

१. दे० **फूलन की माला करी मति सों कवि मतिराम ॥६०॥**

वर्णन के स्थान पर उनके नाम का उल्लेख करना मात्र रह गया है। यह भी अपने आपमें अत्यन्त विलक्षण है। पुस्तिका-गत इस प्रकार के समस्त छन्दों में पुष्पों का अस्तित्व नायक-नायिका के हाथों तक ही सीमित है ; उनके हाथों में किसी एक पुष्प को उसके नाम द्वारा दिखाकर कवि ने पुष्प-वर्णन के कार्य को पूर्ण समझ लिया है। बानगी के लिए दो-चार छन्द देते हैं—

अलबेली लिये बेलि को देखत प्रीतम गैल ।
मेरे न आये हे सखी कित बिरमे वे छैल ॥३॥
लियें माधुरी हाथ मैं मधुरी बोले बैंन ।
पल बिछुरें ब्याकुल खरी ढिग ही मोकौं चैंन ॥६॥
नरम हिये पाडर लियें ऊँचे लेत उसास ।
पैंडो देखत रैन दिन आय गये पिय पास ॥८॥
आछो फूल सिरूप को आछे पिय के हाथ ।
चले बाम के धाम कौ मो तन चितवत जाथ ॥३३॥

ऐसी स्थिति में प्रकृति को इस प्रकार ग्रहण करने की प्रणाली को प्रकृति-वर्णन की इतर विधा मानना होगा अथवा इसे प्रकृति-वर्णन की परिधि से पृथक् कर देना उचित होगा। हिन्दी साहित्य में पुष्प, वृक्ष, पशु-पक्षी इत्यादि को ज्योतिष अथवा शकुन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर-रूप में तो ग्रहण किया गया है, किन्तु इस रूप में अभी तक मतिराम की आलोच्य रचना ही उपलब्ध है। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय देना कठिन है। वैसे हमारी धारणा है कि इस प्रकार के वर्णनों को प्रकृति-वर्णन के अन्तर्गत रखना उपयुक्त नहीं ; कारण न तो इससे मानवेतर पदार्थों के गुणों तथा मानव-स्वभाव का परस्पर सापेक्ष रूप से चित्रण हो पाता है और न उन पदार्थों का बिम्ब-ग्रहण ही।

सारांश यह है कि रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्ति के कारण मतिराम का प्रकृति-वर्णन यद्यपि उद्दीपन और अप्रस्तुत-विधान तक ही सीमित रह गया है, तथापि यह कोरा परम्परा-भुक्त नहीं। उन्होंने प्रकृति का अवलोकन बहुत निकट से किया था, जिसका चित्रण पूर्णतः उनकी कविता में उपलब्ध होता है। वास्तव में यह उन का प्रकृति-प्रेम ही है, जिसने उनकी कविता के सौन्दर्य को और भी उत्कृष्टता प्रदान की है। यदि ये अपने समकालीनों के समान लकीर न पीटते तो बहुत सम्भव था कि इनका प्रकृति-प्रेम उत्कृष्ट वर्णनों के रूप में अभिव्यक्त होता। तो भी इस ओर से इनको उस युग के किसी भी कवि से हीन नहीं कहा जा सकता।

राज-वैभव-वर्णन

'प्रकृति' शब्द की व्यावहारिक व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यक्ति के भोग्य अथवा उसकी श्री-वृद्धि करने वाले पदार्थ उसका वैभव हैं। अतएव जब 'राज-वैभव' कहा जाता है तो उसकी परिसीमाओं के अन्तर्गत प्रासादों तक सीमित रहने वाले राजा के भोग्य उपकरण ही नहीं आते, प्रत्युत बाहर के वे

समस्त जड़-चेतन पदार्थ भी समाहित हो जाते हैं, जो उसके राज्य का अभिन्न अंग हो कर उसकी श्री-वृद्धि करते हैं, हिन्दी में आचार्य केशवदास ने अलंकारों का वर्णन करते हुए, 'राज्य-श्री' नामक एक सामान्यालंकार भी स्वीकार किया है[१], जो वस्तुतः राज-वैभव का ही पर्याय है—

राजा रानो राज सुत प्रोहित दलपति दूत।
मन्त्री मन्त्र प्रयान हय गय संग्राम अभूत ॥१॥
आखेटक जल केलि पुनि बिरह स्वयम्बर जानि।
भूषित सुरतादिकनि करि राज्यश्रीहि बखानि ॥२॥
(कविप्रिया[१]—आठवां प्रभाव)

इसके अन्तर्गत आचार्य केशव ने राजा, रानी, राजपुत्र, प्रोहित, सेनापति, राजदूत, मन्त्री, मन्त्रणा, सैन्य-प्रयाण, हय, गज, युद्ध, जल-केलि, आखेट, विरह, स्वयम्बर तथा स्त्री-प्रसंग का वर्णन करना अनिवार्य कहा है। मतिराम ने न तो अपने अलंकार-ग्रन्थों—'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका'—के अन्तर्गत सामान्यालंकारों के अस्तित्व का ही उल्लेख किया है और न अपने आश्रयदाताओं—बूँदी-नरेश राव भावसिंह हाड़ा तथा कुमायूँ-अधिपति ज्ञानचन्द—के वैभव को इस प्रकार के वर्गीकरण में बद्ध किया है। किन्तु सामान्यतः उन्होंने जो वर्णन किए हैं, उनमें केशव द्वारा वर्णित राज्यश्री के अधिकांश उपांग किसी न किसी रूप में देखे जा सकते हैं।

राजा अर्थात् आश्रयदाताओं का वर्णन मतिराम ने वैसा ही किया है, जो भारतीय साहित्यशास्त्र में नायक के लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है[२]। उनके दोनों ही आश्रयदाता अर्थात् महाराज भाऊसिंह और ज्ञानचन्द उच्च कुल के, दृढ़-प्रतिज्ञ, धर्म-रक्षक, दुष्ट-दलन, क्षमाशील, दानी, कीर्तिवान, वीर और तेजस्वी हैं, देखिए—

सत्ता को सपूत भावसिंह भूमिपाल जाकी
कित्ति जोन्ह करत जगत चित चाव है।
कबिन को 'मतिराम' कामतरु ऐसो कर
अंगद को ऐसो रन में अडोल पांव है ॥

---

१. दे० सामान्यालंकार को चारि प्रकार प्रकास।
बर्ण, वर्ण्य, भू राज-श्री, भूषण 'केशवदास' ॥३॥
(कविप्रिया—पाँचवाँ प्रभाव)

१. 'प्रिया-प्रकाश' शीर्षक से ला० भगवानदीन द्वारा प्रकाशित (संवत् १६८२ वि० का संस्करण।

२. दे० त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूप योवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥३०॥
....
अबिकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः।
स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः ॥३२॥
—वही 'साहित्यदर्पण'—तृतीय परिच्छेद

चन्द कैसी जोति, चण्डकर कैसो तेज, पुर—
हूत कैसो पुहुमी में प्रकट प्रभाव है।
अरजुन पन मुनि मन धनपति धन
जगपति तन मृगपति रन राव है ॥४७॥
बिक्रम में बिक्रम धरम सुत धरम में
धुंधमार धीर में धनेस वारों धन में।
'मतिराम' कहत प्रियव्रत प्रताप में
प्रबल बल प्रथ पारथहि वारों पन में ॥
सत्रुसाल नंद रैयाराव भावसिंह आबु
मही के महीप वारों तेरे तन में।
नल वारों नैननि में बलि वारों बैननि में
भीम वारों भुजनि में करन करन में ॥६४॥
(ललितललाम)

साहस को सागर सुमेर सिरदारन को
समर को सदन मदन बनितान को।
कवि 'मतिराम' वह देव द्विज दीनन को
कंचन बरस अंस पुरुष पुरान को ॥
गंजन गनीमन को रंजन गुनीमन को
दान देनहार जग षोडस विधान को।
ज्ञानिन को गुरु ग्यान चन्द चन्द्र बंसिन को
वासव सुभटन को टीको हिंदुवान को ॥५५॥
नृपति उदोत चन्द जू के नन्द ज्ञानचन्द
पुहुमि प्रगट भयो दूजो काम तरु सो।
कहु 'मतिराम' गुनवंत अगनित गुन
जाके गनिबेको कौन गुनी धराधर सो ॥
साहस सरूप गरुवाई सीलताई प्रभु-
ताई ते सुजस मुव कहै करवर सो।
सिंध सो समर सो सुमेर सो सुरेस सो
सागर सो सूर सो सुधा सो सुधाधर सो ॥१२॥
(अलंकार पंचाशिका)

और शासक जब इतना गुणवान् है, तो स्वाभाविक ही है कि उसका शासन भी दूसरों के लिए आदर्श हो। महाराज भाऊसिंह की राजधानी, बूँदी, इसीलिए तो स्वर्ग को पराजित करती है। उसमें धर्म, संगीत और सम्पत्ति ही अपने प्रसार का अवसर नहीं पाते, प्रकृति भी विकसित होकर अपनी छटा को प्रदर्शित करती है और नर-नारी ? वे तो बस दिव्य रूप ही हैं। अतः कवि कह उठता है—

जगत विदित बूँदी नगर सुख सम्पति को धाम।
कलियुग हूँ में सत्यजुग यहाँ करत विश्राम ॥६॥

(ललितललाम)

कुमायूँपति ज्ञानचन्द का राज्य भी ऐसा ही आदर्शमय है—

महाराज ज्ञानचन्द जू के राज राजत न
चोर और जेल चतुराई के निकेत हैं।
कहैं 'मतिराम' पर दुखहू के नर सुख—
करन जे, अन्तहकरन सब सेत हैं॥
सोभैं सब अवनि विरोधी कोऊ काहू को न
बैरीवर जीतिबे कूँ रहत सुचेत हैं।
लोभ बिन साहब सहर बिन दारिद
दरद बिन देह ये सकल सोभा देत हैं ॥४७॥

(अलंकार पंचाशिका)

भारतीय राजाओं में बहु विवाह बहुत पूर्व से ही प्रचलित था, किन्तु ऐसे राजाओं की संख्या भी भारतीय इतिहास में न्यून नहीं, जिन्होंने एक पत्नी-व्रत रखा है और यह परम्परा रीतिकाल के घोर विलासी वातावरण तक में अक्षुण्ण दिखाई देती है। राव भाऊसिंह ऐसे ही शासकों में थे; यही कारण है कि मतिराम की कल्पना को उनके महलों में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु दूसरी ओर उस युग के राजाओं के प्रतीक ज्ञानचन्द जैसे नरपति भी थे, जो अपने यहाँ विवाहित और अविवाहित स्त्रियों का रखना गौरव की बात समझते थे तथा उनके आश्रित कवि इसे उनके वैभव वर्णन में सम्मिलित कर लेते थे। मतिराम के निम्नोक्त छन्द में कुमायूँ-पति के महलों में रहने वाली सुन्दरियों का स्पष्ट संकेत है।

कंचन के गहने गढ़ाइयत कौन हेत
पेखत खरत तन अतिसुकुमार के।
केसर लगानो परै समुझ सुगन्ध हीते
फूलो रहै मुघ जो कमल बीच बारि के॥
जैसी यहाँ ग्यानचन्द मन्दिर तिहारे तिय
मन्दिर न ऐसी सुरराज संजरारि के।
चोप चंपक की माल पहरावैं हिय
लाल लखि पाइयत लागत बयारि के ॥१०६॥

(अलंकार पंचाशिका)

वीरगाथाकालीन कवियों के समान लम्बे-चौड़े वर्णन करने में मतिराम की रुचि नहीं रही; वे उनके-से अत्युक्तिपूर्ण-वस्तु-परिगणन में विश्वास नहीं करते थे। यही कारण है कि आखेट, सैन्य-प्रयाण तथा युद्धों के वर्णन में, जहाँ आश्रयदाता के वैभव को दिखाने का अच्छा अवसर होता है, वे अधिक सक्रिय नहीं रहे, यदि कहीं अवसर भी मिला है तो इतना कहकर ही वे मौन हो गये हैं कि भाऊसिंह अथवा

ज्ञानचन्द की सेना जब कूच करती है तो शत्रु अपनी पत्नियों को बिलखती छोड़कर ही वनों में भाग जाते हैं, तथा युद्धों में तो उन्होंने बड़े-बड़े गढ़पतियों को तनिक इशारे में ही जीत डाला है। उदाहरण के लिए एक छन्द देखिये—

सुरुज सिकार खेलै मुहुम पहारपति
भार रह्यौ पनगढ़ ढार सौं लखढ़ि कै।
कहै 'मतिराम' नाद सुनत नगारन की
नगन के गढ़पती गढ़ तजे कढ़िकै॥
सोहे दलवृन्द मैं गयन्द पर ग्यान चन्द
बखत बिलंद रही सोभा ऐसी कढ़ि कै।
मेरे जानि मेघ के ऊपर अभारी कसि
मघवा मही को सुख लेन आयो चढ़ि कै॥१११॥
(अलंकार पंचाशिका)

कहना न होगा कि इस प्रकार के वर्णनों को तो आज का पाठक निगल सकता है किन्तु इससे अधिक लम्बे-चौड़े वर्णन उसको निरे असत्य ही प्रतीत होंगे, फलतः इनके साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकता।

जलकेलि और स्वयंवरों के चित्रण मतिराम की कविता में कहीं पर देखने को उपलब्ध नहीं होते। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे कवि को इनके देखने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ था—स्वयम्वर की प्रथा तो उस समय तक समाप्त ही हो चुकी थी तथा जलकेलि यदि उनके आश्रयदाता करते भी थे तो वह राज-प्रासादों के अन्तःपुर तक ही सीमित थी; सर्वसाधारण के तमाशे की वस्तु नहीं थी। हिन्दू राजा पतित होने पर भी इतने बेशर्म नहीं बने थे। परन्तु इसी प्रकार के जिन दृश्यों को मतिराम ने देखा है, उसका वर्णन उन्होंने जिस ढंग से किया है, वह अपने-आपमें अत्यन्त भव्य है। उदाहरण के लिए राव भाऊसिंह के भवन में होली खेलने का दृश्य देखिये—

बासव को राजै रुचि ललित बसंत खेल
खेलत दिवान बलाबन्ध सुलतान मैं।
कहै 'मतिराम' मृगमद पंक छबि
छावत फुलेल औ गुलाब आपगान मैं॥
कुंकुम गुलाल घनसार औ' अबीर उड़ि
छाय रहे सघन अवनि आसमान मैं।
मेरे जान राव भावसिंह को प्रताप जस
रूप धरे फैलि रह्यौ दसहूँ दिसान मैं॥१०३॥
(ललितललाम)

मतिराम ने सबसे अधिक वर्णन अपने आश्रयदाताओं के दान का किया है। इसमें भी गज तथा सम्पत्ति-दान का विशेष रूप से उल्लेख है। मतिराम को स्वयं इन महाराजों से इसी प्रकार का दान प्राप्त हुआ था; सम्भवतः इसी कारण उन्होंने

उक्त नरेशों के दान-वर्णन में सबसे अधिक रुचि दिखाई है—उनकी प्रशंसा में बहुत-कुछ कह गये हैं; उनके ऊपर कुबेर को बार-बार न्यौछावर किया है और जब इस परम्परागत उपमान से भी उन्हें संतोष नहीं हुआ तो पुनः देवलोक से उतरकर पृथ्वी पर उतर आये हैं—

पुहुमि को पुरहूत सत्रुसाल को सपूत
संगर फतूहैं सदा जासों अनुरागतीं।
दान देत रीझि मं दिवान भावसिंह जू कों
धनद के धाम की तनक निधि लागती॥
कहै 'मतिराम' मजलिस में महीपनि की
कविन की बानी हाड़ा सुजस में पागती।
जेती और राजनि के राजनि मैं सम्पति है
तेती रोज राव कै चिराकं जोति जागती॥३७८॥
(ललितललाम)

गजदान का वर्णन इससे भी अधिक उत्कृष्ट तथा विशद है। इसकी विशेषता यह रही है कि कवि ने दान की क्रिया का वर्णन करने के स्थान पर उन गजों का वर्णन किया है, जिन्हें उसके आश्रयदाता दान में देते हैं। इसमें कवि का मूल उद्देश्य गजदान के धार्मिक महत्त्व को दर्शाने की अपेक्षा एक ओर आश्रयदाताओं की विशाल हृदयता को बताने का रहा है तथा दूसरी ओर अप्रत्यक्ष रूप से यह अनुमान कराने का रहा है कि ऐसे गज रखने वाला नृपति कितना वैभवशाली होगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मतिराम ने इस व्याज से गजों का वर्णन जिस रूप में किया है, वह अधिक न होता हुआ भी हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है।

मतिराम ने इन वर्णनों के अन्तर्गत गजों के रूप, उनके मदजल तथा वीरता का ही वर्णन किया है। रूप-सौन्दर्य में तो वे दिग्गजों को सभी प्रकार से पराजित करते हैं—

जितैया जे रावत ऐरावत सौं जंग अंग
पुण्डरीक के गनत पुण्डरीक छद हैं।
बामन बामन मृदु कुमुद कुमुद गनैं
अंजन के जैतवार अंजन से कद हैं।
पुष्पदन्त हू के दन्त तोर्‌यो ज्यों पुहुपकर
छीन लेत सार्वभौम हू के सदा मद हैं।
प्रबल प्रतीक सुप्रतीक के जितैया रैया
राव भावसिंह तेरे दान के दुरद हैं॥३३०॥
(ललितललाम)

कवि के शब्दों में ये गज इतने ऊँचे हैं कि आकाश में उनके शरीर घिरे हुए बादलों का तथा उनकी दन्त-पंक्ति उनमें उड़ते हुए वकों का भ्रम उत्पन्न कर देती है एवं उन पर पड़ी हुई रंग-बिरंगी झूलें इन्द्र-धनुष का आभास देती हैं, फलतः कभी-

कभी वियोगिनी नायिकाएँ वर्षागमन समझकर भयभीत हो जाती हैं, क्योंकि इधर गजों के दान के समय आश्रयदाताओं के निशान मेघों का-सा गम्भीर घोष करके उनकी शंका की पुष्टि और कर देता है—

पावस भीत वियोगिनी बालनि यों समुझाय सखी सुख साजैं।
जोति जवाहर की 'मतिराम' नहीं सुरचाप छिनौ छबि छाजैं ॥
दन्त लसै बग पाँति नहीं धुनि दुंदुभी की न घने घन बाजैं।
रीझि कै भाऊ दिवान दिये कविराजनि के गजराज बिराजैं ॥६७॥

(ललितललाम)

इसी प्रकार मदजल उनके कुम्भों से इतना गिरता है कि कमल के मकरन्द से तृप्त होकर भी भ्रमर उनके चारों ओर भनभनाते रहते हैं तथा उनकी वीरता और साहस भी अपने आपमें सामान्य नहीं है—

भौंरन की भीर भननात भौंत जिन पर
दान के भिखारी प्रात पोखे मकरन्द के।
'मतिराम' धक्कन सौं धराधर धक्कत हैं
मन्द मन्द चलन बरन गति मन्द के ॥
सिंघन के बास बन बिघन बिलासी
ऐसे साहसी न देखे काहू बखत बिलन्द के।
हरिचन्द तारे मतवारे नगन तैं भारे
गाढ़े गढ़ भंजन गयंद ग्यान चन्द के ॥५७॥

(अलंकार पंचाशिका)

और जब इतने सुन्दर गज हैं तो कवि का उनके विषय में यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता—

मंगनि की कहा है मतंगनि के माँगिबे कौं
मनसबदारन के मन ललकत हैं ॥१२२॥

(ललितललाम)

सारांश यह है कि मतिराम ने यद्यपि अपने आश्रयदाताओं के राज-वैभव का वर्णन केशव आदि कवियों के समान इतना विशद नहीं किया, केवल उतना ही कह डाला है जो उनकी दृष्टि में आया ; किन्तु उत्कृष्टता की दृष्टि से उसे किसी भी कवि के राज-वैभव-वर्णन के समकक्ष कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि मतिराम की इस प्रकार की रचनाएँ परम्परा तथा धन-प्राप्ति के कारण अत्यन्त अतिशयोक्ति पूर्ण रही हैं और इस कारण उनके किसी भी आश्रयदाता के सम्बन्ध में इनसे पूरी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकती ; परन्तु फिर भी इतना निश्चित है कि इनसे हमारे कवि की रुचि का परिचय अवश्य मिल जाता है—आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में भी कतिपय तथ्यों का अनुमान लगाया जा सकता है। सामान्यतः इस प्रकार की कविता में रस का समावेश कठिनाई से हो पाता है, मतिराम की इस दिशा में सफलता का सबसे बड़ा रहस्य ही यह है कि वे अतिशयोक्तियों के पीछे रस को नहीं छोड़ बैठे हैं।

नवम अध्याय

मतिराम की कला

'कला' शब्द का अर्थ—हिन्दी में 'कला' शब्द अंग्रेजी 'आर्ट' का पर्याय है। भारत के प्राचीन नगरों में यद्यपि 'कला' की गणना उपविद्याओं में हुआ करती थी, किन्तु पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के अन्तर्गत इसका जो अर्थ प्रचलित है, उसके साथ इस भारतीय प्रयोग की संगति नहीं बैठाई जा सकती[1]। पाश्चात्य विद्वान् इसका सीधा सम्बन्ध मन की प्रक्रियाओं के साथ जोड़ते हैं। उनका मत है कि बाह्य विषयों के रंग, रूप, चेष्टा इत्यादि स्थूल गुणों तथा मानसिक प्रक्रियाओं की अनुभूति को आह्लादकारी रूप प्रदान करके मन उसकी अभिव्यक्ति जिस रूप में करता है, वही 'कला' है[2]। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'कला' का यह अर्थ अपने आपमें इतना व्यापक है कि 'कला' के समस्त रूपों को अपने भीतर अन्तर्भूत कर लेता है। बात यह है कि अभिव्यंजना-गत वस्तु-विषय का सूक्ष्म सौन्दर्य कलाकार के मन की प्रक्रिया होने के नाते अव्यक्त रहता है ; हम उसे अभिव्यंजना के माध्यम और उसके रूप-विधान से ही जानते हैं। इस प्रकार 'कला' के तीन अंग कहे जा सकते हैं—वस्तु-विषय, उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम और रूप-विधान। काव्य में अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है तथा उसका रूप छन्द में बद्ध होकर प्रकट होता है, अतएव मतिराम की 'कला' का अध्ययन हम उनके वस्तु-विषय, उनकी भाषा तथा छन्द-योजना के आधार पर ही करेंगे।

वस्तु-विषय

'कला' की दृष्टि से वस्तु-विषय के अन्तर्गत प्रायः विभाव-अनुभाव का वर्णन आता है। अतः सर्वप्रथम विभाव-अनुभाव पक्ष को ही लेते हैं। काव्य के अन्तर्गत विभाव की अनिवार्य सत्ता के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों के बीच कोई मौलिक भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। भारत के रसवादी आचार्यों ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के प्रसंग में बाह्य विषयों तथा उनकी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं इत्यादि के वर्णन में जिस अलौकिक आनन्द-सृष्टि की स्थापना की है, आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् उसी को प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं[3] बाह्य

१. दे० 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध'—ले० जयशंकर 'प्रसाद' (द्वितीय संस्करण), पृ० ४-५।

२. दे० 'द मीनिंग ऑव आर्ट'—ले० हर्बर्ट रीड—पेंगुइन बुक्स [सन् १९४९ ई० का संस्करण], पृ० २०।

३. दे० 'एस्थैटिक'—ले० क्रोचे (अनुवादक—डगलस एन्स्ली)—(द्वितीय संस्करण), पृ० ३-४।

पदार्थों के रूप, गुण इत्यादि विभाव से तथा चेष्टाएँ इत्यादि अनुभाव और उद्दीपन से दूर नहीं। किन्तु इस प्रकार की अनुभूतियों को आह्लादकारी बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि उनको सजीवता प्रदान की जाय और यह उसी दशा में सम्भव है, जबकि कवि उनके ऐसे चित्र प्रस्तुत करे, जिनमें रेखाएँ और रंग ही स्पष्ट न हों, प्रत्युत उनमें विशिष्ट ध्वनियाँ तक भी यथास्थान श्रवणगोचर होती-सी प्रतीत हों। अस्तु!

पीछे निवेदन किया जा चुका है कि मतिराम की कविता के मुख्यतः दो ही विषय हैं—शृंगार और राज-प्रशस्ति, जिनकी परिसीमाओं के अन्तर्गत उन्होंने नायक-नायिकाओं के रूप और चेष्टाओं तथा आश्रयदाताओं की वीरता और राज-वैभव का चित्रण किया है। इन चित्रों में मतिराम का मूल उद्देश्य वस्तु-वर्णन की अपेक्षा भावों को स्पष्ट करने का अधिक रहा है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में रीतिकाल के अन्य कवियों के समान वस्तुओं के स्वतन्त्र चित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं—वस्तु-वर्णन तो प्रायः भावव्यंजना को तीव्र करने के लिए ही किया गया है। किन्तु जहाँ उन्होंने ऐसे चित्र प्रस्तुत किये हैं, वहाँ पर अत्यन्त क्षीण रेखाएँ भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। अवयवों के स्वरूप के अनुसार उनका उतार-चढ़ाव बनता गया है। सर्वप्रथम एक स्थिर-चित्र का ही उदाहरण लीजिए, जिसमें अवयवों को स्पष्ट करने के लिए सभी रेखाएँ एक जैसी खींची गई हैं—

जावक लिलार ओठ अंजन की लीक सोहै
खैये न अलीक लोक लीक न बिसारिए।
कवि 'मतिराम' छाती नख-छत जगमगै
डगमगै पग सूधे मग मैं न धारिए॥
कसकै उघारत हौ पलक-पलक यातें
पलका पै पौढ़ि स्रम राति को निवारिए।
अटपटे बैन मुख बात न कहत बनै
लटपटे पेंच सिर पाग के सुधारिए॥१२५॥
(रसराज)

यहाँ, एक ओर नायक के माथे पर लगा हुआ महावर, ओठों पर लगी हलकी-सी अंजन की रेखा तथा छाती पर का नखक्षत जहाँ सूक्ष्म होते हुए भी स्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर उसका डगमगाते हुए पैर रखना, अटपटी बातें करना तथा प्रयत्न करने पर भी पलक न खोल पाना—ये सभी बातें उसके शरीर की शिथिलता का सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं। उलटी-सीधी बँधी हुई पाग भी इस वर्णन में अपना अस्तित्व पृथक् ही लिये हुए है। कहना न होगा कि ये सभी अवयव अपने आपमें सामान्यतः एक ही प्रकार की रेखाओं में अंकित किये गए हैं और यही कारण है कि अपने समन्वित रूप में ये नायक के विचित्र रूप का पूरा चित्र खीचने में समर्थ हो सके हैं। इसी प्रकार का एक और चित्र देखिये—

पीतम को धरि ध्यान घरीक करे मन ही मन काम किलोलैं ।
पातहु के खरकें 'मतिराम' अचानक ही अँखियाँ पुनि खोलैं ॥
पीतम ऐहैं अजो सजनी अँगराय जँभाय घरीक यों बोलैं ।
गावे घरीक गरे ही हरे-हरे गेह के बाग हरे-हरे डोलैं ॥१६५॥

(रसराज)

इसमें सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत ही क्रियाओं का वर्णन है । नायिका का नेत्र बन्द करके ध्यान मग्न होना, तनिक-सी आहट होते ही चौंककर आँखें खोलना, अँगड़ाई लेना, जँभाना, गुनगुनाना और घर के बाग में धीरे-धीरे टहलते फिरता— ये सभी क्रियाएँ अपनी स्वाभाविकता के कारण अत्यन्त रमणीक हैं । कवि ने इन सबको अंकित करने के लिए एक जैसी रेखा की योजना की है, इसीलिए इनका समन्वित रूप और भी रमणीक हो गया है । परन्तु संख्या की दृष्टि से मतिराम की रचनाओं में ऐसे चित्र बहुत कम है । स्थिर चित्रों में से ऐसे ही उनके ग्रन्थों में अधिक हैं, जिनमें उन्होंने एक रेखा को उभारकर अथवा उसे औरों की अपेक्षा क्षीण करके व्यंजना को तीव्र अथवा सूक्ष्म बनाने का प्रयास किया है ; शेष रेखाएँ केवल उस चित्र को पूरा करने के निमित्त ही अपना अस्तित्व लिए हुए हैं । देखिये—

आए बिदेश तें प्रान प्रिया 'मतिराम' अनन्द बढ़ाय अलेखैं ।
लोगन सों मिलि आँगन बैठि घरी-ही-घरी सिगरो घर पेखैं ॥
भीतर भौन के द्वार खरी सुकुमारि तिया तन कंप बिसेखैं ।
घूँघट को पट ओट दिएँ पट-ओट किए पिय को मुख देखैं ॥

(रसराज)

इस चित्र में नायक का परदेस से लौटना तथा नायिका को इससे अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति एवं लोगों का नायक से मिलने के लिए आगमन तथा नायिका का शीलवश घर के भीतर घुस जाने का वर्णन सामान्य रेखाओं में चित्र की रूपरेखा मात्र है । किन्तु इससे आगे एक ओर नायक का उसे देखने के लिए घर में चारों ओर दृष्टि दौड़ाना जहाँ व्यंजना की सूक्ष्मता को दर्शाता है, वहाँ दूसरी ओर किवाड़ की ओट में घूँघट निकालकर काँपते हुए नायिका का उसके मुख को टकटकी लगाये देखना व्यंजना की तीव्रता का परिचायक है । कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रथम स्थिति के चित्रण में कवि ने जहाँ अत्यन्त क्षीण रेखा का उपयोग किया है तो दूसरी में उसने इसे यथा-सम्भव उभार दिया है । यही कारण है कि सहृदय का ध्यान बरबस ही इन दोनों की ओर आकृष्ट हो जाता है ।

यह बात तो रही स्थिर चित्रों की । गतिशील-चित्रों में मतिराम ने और भी कौशल दिखाया है । इन चित्रों की रूप-रेखा प्रस्तुत करते समय वे रेखाओं को यथा-स्थान क्षीण और स्थूल बनाते हुए उन्हें ऐसा स्वरूप प्रदान कर देते हैं कि ये चित्र की गति के साथ ही गतिशील प्रतीत होती हैं । उदाहरण के लिए—

अंजन कै निकसै नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै ।
रूप-गुमान भरी मग में पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै ॥

जोबन के मद सौं मतिराम भई मतवारिनि लोग निहारं ।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकं अँचरा न सँभारं ॥८०॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम पंक्ति के अन्तर्गत नायिका के नेत्रों में अँजन तथा अंगों को सँवार कर बाहर निकलने में जिस रेखा का उपयोग किया गया है, दूसरी पंक्ति में 'रूप गुमान भरी' के द्वारा वह क्षीण कर दी गई है और पुनः 'पग ही के अँगूठा अनौट सुधारं' में उसे स्थूल कर दिया गया है। तीसरी पंक्ति में यह रेखा नायिका के चारों ओर लोगों पर दृष्टिपात करने के साथ गतिशील हो गई है, जबकि चौथी पंक्ति में तो गली में अलकावली को बिखराकर वस्त्र को न सँभालते हुए उसकी गति के साथ ही यह रेखा और अधिक उभरकर उसके कुलटापन की दुहाई दे रही है।

स्थिर चित्रों की भाँति कभी-कभी हमारा कवि सामान्य गतिशील रेखाओं का खाका खींचकर उनमें एक रेखा को उभारकर मानो उसकी द्रष्टव्य गतिशीलता पर अँगुली रख देता है। निम्नलिखित छन्द की अन्तिम पंक्ति इसी प्रकार की सूचना देती है—

चन्द मुखी सजनीन के संग हुती पिय अंगन मैं मनु फेरत ।
ताहि समं पिय प्यारे को आवन प्यारी सखी कह्यो द्वार तें टेरत ॥
आय गए 'मतिराम' जबं तबं देखत नैन अनन्द भए रत ।
भौन के भीतर भाजि गई हँसि कं हरुवं हरि को फिरि हेरत ॥२१९॥

(रसराज)

इस छन्द के प्रथम तीन चरणों की रेखाएँ अपने आपमें सामान्य ही हैं। अन्तिम चरण में एक ही रेखा को उभारकर दो-तीन स्थानों पर गतिशील बना दिया गया है—नायिका का नायक को देखकर भवन के भीतर हड़बड़ी के साथ जाना और धीरे से मुस्कराते हुए मुड़कर एक बार पुनः उस पर दृष्टिपात करना—ये सभी क्रियाएँ अपने आपमें स्पष्ट और रमणीक हैं।

जहाँ तक गुण और भाव-चित्रण का प्रश्न है, मतिराम उसके लिए अत्यन्त सूक्ष्म रेखाओं में चित्र खींचकर केवल एक रेखा को ही वहाँ गहरी कर देते हैं, जहाँ भाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है देखिये यह एक चित्र जिसमें भाव को किस सफाई के साथ अंकित किया गया है—

न्योते गए कहुँ नेह बढ्यो 'मतिराम' दुहूँ के लगे दृग गाढ़े ।
ऊँचे अटा पर काँधे सहेली के ठोढ़ी दिए चितवं दुख बाढ़े ॥
लाल चले सुनि कं ग्रह कौं तिय अंग अनंग की आगि सौं डाढ़े ।
मोहन जू मन गाढ़ो करें पग द्वंक चलें फिर होत हैं ठाढ़े ॥३८३॥

(रसराज)

यहाँ द्वितीय और तृतीय चरणों में अंकित रेखाएँ द्रष्टव्य हैं। नायिका का अपनी सखी के कंधे पर ठोढ़ी रखकर नायक की ओर देखना जहाँ उसकी दुःख और चिन्ता-समन्वित दर्शन-लालसा को मूर्त रूप प्रदान कर रहा है, वहाँ नायक का दो

कदम चलकर बार-बार रुकना उसके हृदय के द्वन्द्व को व्यक्त कर रहा है—मर्यादा उसे दावत खाने के बाद अपने घर को जाने का आदेश देती है तो वह चल पड़ता है और प्रेम-जन्य दर्शन-लालसा जब यह कहती है कि एक बार उसे (नायिका को) और देख लूँ तो वह खड़ा हो जाता है। इसी प्रकार—

इतै उतै सचकित चलै चलत डुलावत बाँह।
दीठि बचाय सखीन की छिनक निहारति छाँह ।।२३।।
(रसराज)

इसमें नायिका का इधर-उधर चकित दृष्टि से देखना, भुजाएँ हिलाकर चलना और सखियों की दृष्टि से बचाकर अपनी परछाईं को देखना—ये सभी क्रियाएँ इस बात का संकेत करती हैं कि उसके शरीर में यौवन ने प्रवेश कर लिया है।

उपर्युक्त पूर्ण चित्रों के अतिरिक्त मतिराम की रचनाओं में ऐसे खण्ड-चित्र भी संख्या की दृष्टि से कम नहीं जिनमें उनका मूल उद्देश्य चित्रण करना न होकर व्यंजना द्वारा आश्रयदाता की प्रशस्ति करना ही रहा है। इन चित्रों की अपने आपमें विशेषता इसी बात में निहित है कि उभरी हुई रेखाओं में जहाँ सौन्दर्य विद्यमान रहता है, वहाँ क्षीण रेखाओं में आश्रयदाता की प्रशस्ति-परक चमत्कारी-व्यंजना। उदाहरण के लिए देखिये—

बिलसत जरकस झूलनि झँपें दिग्ग
देखत सुहाए चारु चौंर गजगाह के।
हरके रहत जोम जोरावर जंग जुरे
पंचन कराल काल अरिदल दाह के ।।
कद के बिलन्द अति रद के जलद जूह
मद के नद निकरैं समुद समाह के।
अंबर मढ़त भौंर गुंजर बढ़त मोज
कुंजर कढ़त श्री सरूप महाराज के ।।
(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

यहाँ महाराज स्वरूपसिंह बुन्देला के निकलते हुए गजों का वर्णन है। इस छन्द के प्रथम चरण में गजों की लम्बी-चौड़ी झूलों और उनके औहदों में लगे चँवरों का तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों में उनकी ऊँचाई, दाँतों, मद और उन पर गूँजते हुए भ्रमरों का सजीव चित्र अंकित किया गया है। द्वितीय चरण में इन गजों के पराक्रम का उल्लेख किया गया है। कुल मिलाकर इस चित्रण के मूल में कवि का उद्देश्य अपने आश्रयदाता के वैभव और पराक्रम की व्यंजना करना रहा है। अंतिम चरण में स्वरूपसिंह का नाम इसीलिए दिया गया है।

रंग-वैभव

रेखाएँ यदि चित्र में कलाकार की अनुभूति को मूर्त्त रूप प्रदान करती हैं, तो रंग उसमें वैभव ले आते हैं। अब यह कलाकार की अपनी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अपने चित्रों की श्री-वृद्धि के अर्थ किस प्रकार की वर्ण-योजना करे तथा

उसमें सजीवता लाने के हेतु अपनी तूलिका को किस दिशा में मोड़ दे। रंग भरने के लिए भी वह बाध्य नहीं हुआ करता, सम्पूर्ण चित्र तक को वह केवल रेखाओं के ऊपर छोड़ सकता है। मतिराम अपने युग के ऐसे ही कवि थे, जिनके काव्य-चित्रों में कला के ये सभी कौशल दृष्टिगोचर होते हैं। भावों का चित्रण करते समय तो प्राय: वे रेखाओं का ही सहारा लेते हैं, जबकि वस्तु-चित्रण में उन्होंने यथासम्भव रेखाओं और रंग—दोनों से ही काम लिया है। किन्तु मुख्यत: उनकी रचनाओं में रेखा-चित्रों का ही बाहुल्य है। रंगों का उपयोग तो वे उसी स्थान पर करते मिलते हैं, जहाँ वे रेखाओं को अपने कार्य में पूर्णत: समर्थ नहीं पाते। उनकी चित्रण-शैली में विशेषता ही इस बात की है कि उसमें किसी रंग-विशेष के प्रति उनका मोह प्रकट नहीं होता। क्या हलके और क्या भड़कीले—सभी प्रकार के रंगों का एक अथवा अनेक करके उपयोग किया है। पहले अकेले रंग के उपयोग में उनकी सफाई देखिये—

अंगन में चन्दन चढ़ाय घनसार सेत
सारी छीर-फेन की सी आभा उफनाति है।
राजति रुचिर रुचि मोतिन के आभरन
कुसुम कलित केस सोभा सरसाति है॥
कबि 'मतिराम' प्रान प्यारे सौं मिलन जात
करिके मनोरथनि मृदु मुसकाति है।
होति न लखाई निसि-चन्द की उज्यारी मुख
चन्द की उज्यारी तन छाँहौं छिपि जाति है॥१९९॥

(रसराज)

यह चित्र शुक्लाभिसारिका नायिका का है। इसमें नायिका के शरीर पर चन्दन और घनसार का अनुलेप तथा दुग्ध-फेनाभा-सम्पन्न साड़ी ही उसे अभिसार के लिए चाँदनी में जाते समय लोक-दृष्टि से बचाने के लिए पर्याप्त है। परन्तु कवि को उसके केशों की श्यामता खटकती है, जिसके निवारणार्थ वह उन्हें श्वेत पुष्पों से सजाता है। इतना ही नहीं उसकी सूक्ष्म-दृष्टि नायिका की श्यामवर्ण परछाई पर भी पड़ती है, क्योंकि वह कोई देवांगना तो है नहीं। अत: इस दोष का परिहार वह उसके मुख की दीप्ति को बढ़ाकर कर देता है। कहना न होगा कि इस प्रकार का कौशल केवल अपने कार्य के विषय में अत्यन्त सजग रहने वाले कलाकार की कृति में ही देखने को मिल सकता है।

उपर्युक्त चित्र के अन्तर्गत केवल श्वेत रंग का ही उपयोग हुआ है, जिसमें औज्ज्वल्य अधिक है; दूसरे रंगों की-सी गहगहाहट नहीं। इसका दर्शन मतिराम की कृष्णाभिसारिका के चित्र में किया जा सकता है—

उमड़ि-घुमड़ि दिग मण्डल में मंडि रहे
झूमि-झूमि बादर कुहू की निसि कारी में।

अंगनि में कीनो मृगमद-अंगराग तैसो
आनन ओढ़ाय लीनो स्याम रंग सारी मैं ॥
'मतिराम' सुकवि मेचक रुचि राजि रही
आभरन राजी मरकत मनिवारी मैं ।
मोहन छबीले को मिलन चली ऐसी छबि
छाँह लों छबीली छबि छाजति अँध्यारी मैं ॥१६७॥

(रसराज)

अमावस्या की रात्रि एक तो वैसे ही अपने आपमें इतनी काली होती है कि हाथों-हाथ कुछ नहीं सूझता ; उस पर घुमड़ते हुए काले मेघों ने इसकी कालिमा को और भी पीन कर दिया है। इधर कस्तूरी के श्याम अंगराग ने नायिका के अंगों तथा काले रग की साड़ी ने उसके मुख की दीप्ति को पूर्णतः निःशेष कर दिया है। आभरणों में लगी हुई मरकत मणियाँ इस कालिमा की वृद्धि में और भी योग दे रही हैं। परन्तु कवि को फिर भी उसकी परछाई दिखाई देती है, जिससे उसके दृष्टि-दोष का भ्रम होता है। पर वास्तव में यही उसका कौशल है, जो देखते ही बनता है। बात यह है कि यदि कलाकार सम्पूर्ण पट्ट को ही काला कर दे तो दर्शकों को नायिका के अस्तित्व का कैसे बोध होगा ? इसके लिए उसे नायिका के स्वरूप को दर्शाने वाली रेखाओं में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कुछ हलका रग देना पड़ेगा। तभी उसकी कला का सही प्रदर्शन हो सकेगा। मतिराम ने प्रस्तुत चित्र के अन्तर्गत इसका ध्यान रखकर अपनी सूक्ष्म-दर्शिता का परिचय दिया है।

यह तो रही एक रंग के उपयोग की बात। अब एकाधिक रंगों के प्रयोग में भी मतिराम की कला देखिए। सर्वप्रथम छाया-प्रकाश का एक स्वाभाविक चित्र देते हैं—

पीछे-पीछे आवति अँधेरी सी भँवर भीर
आगे-आगे फैलत उजारी मुखचन्द की ॥२०३॥

(रसराज)

इसमें अन्धकार और प्रकाश दोनों के बीच मानो नायिका का शरीर ही व्यावर्तक रेखा बना हुआ है। अब एक ही चित्र में एक साथ अनेक रंगों का प्रयोग भी देखिए—

कुंदन के आँग माँग मोतिन सँवारी सारी
सोहत किनारीवारी केसरि के रंग की ।
कहै 'मतिराम' मनि मंजुल तरौना छोटो
नथुनी बिराजै गज मुकतन संग की ॥
कुसुम के हार हियो हरति कुसंभी आँगी
सके को बरनि आभा उरज उतंग की ।

जोबन जरब महा रूप के गरब गति
मदन के मद-मद मोकल मतंग की ॥२८०॥
(ललितललाम)

यहाँ सुवर्ण, कुसुम्भ और केसर के रंगों का तो स्पष्ट उल्लेख है ही, इनके अतिरिक्त माँग के मोतियों, तरौने की मणि, नथुनी की गजमुक्ताओं, पुष्पहार तथा साड़ी की किनारी के रंगों की ओर व्यंजना की है । इस प्रकार नायिका के स्वर्ण-वर्ण शरीर पर ये वस्त्राभरण सुनहरी धरती पर सतरंगी आभा से उसके सहज सौन्दर्य में और भी वृद्धि कर रहे हैं । चित्र से स्पष्ट है कि यहाँ रंगों के प्रयोग में किसी भी प्रकार की कृत्रिमता लाने का प्रयास नही किया गया । परन्तु जहाँ पर हमारा कवि सजावट लाने का प्रयत्न करता है, वहाँ उसके चित्र एक साथ भड़कीले हो उठते हैं । उदाहरण के लिए देखिए—

सारी जरतारी की झलक झलकति तैसी
केसरि के अंग राग कीनो सब तन मैं ।
तीखन तरनि के किरन तें दुगुन जोति
जगत जवाहर जटित आभरन मैं ॥
कवि 'मतिराम' आभा अंगनि अँगारनि की
धूप की सी छार छबि छाजति कचनि मैं ।
ग्रीषम दुपहरी मैं हरि कों मिलन जात,
जानी जात नारि न दवारि जुत बन मैं ॥२७१॥
(रसराज)

इसमें भड़कीले वस्त्राभूषणों की ही झलमलाहट है, जिसे सूर्य की किरणों तथा नायिका के अंगों की दीप्ति ने और अधिक कर दिया है । इस सज्जा में कवि का प्रयत्न स्पष्टतः परिलक्षित हो रहा है ।

रंग और रेखाओं का प्रयोग तो चित्रों में प्रायः होता ही है, इनके अतिरिक्त भी उनमें प्रत्येक कलाकार की रुचि के अनुसार एक ऐसी विशेषता विद्यमान रहती है जो दूसरों से उसे पृथक् करती है । मतिराम के चित्रों का अध्ययन करने से यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि उन्होंने रेखाओं का सहारा अधिक लिया है, रंगों के प्रति उतना मोह नहीं रखा । किन्तु इस विशेषता के अतिरिक्त भी जो बात उनके चित्रों में देखने को मिलती है, वह यह कि वे इनके ऊपर यथास्थान ऐसी 'पॉलिश' भी फेर देते हैं, जो व्यंजना के प्रकाश में स्वतः ही चमक उठती है । देखिए—

(१) अभिनव जौवन जोति सौं जगजग होत बिलास ।
तिय के तन पानिप बढ़ै पिय के नैनन प्यास ॥१६॥

(२) भार धरि भुजनि डुलावति चलति मन्द
औरें ओप उलहत उरज उतंग ते ।

(३) मुसकानि अजल कपोलन में रुचि बूंद
चमकै तर्योननि की रुचिर चुनीन के। (३१)
(४) क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै। (६०)
(रसराज)

इन उद्धरणों के अन्तर्गत 'अभिनव जोवन जोति' 'पानिप' और ओप उलहत 'रुचि' के द्वारा व्यंजित उक्त 'पॉलिश' का आभास सरलता से मिल जाता है।

संक्षेप में मतिराम के काव्य-चित्र भाव-प्रधान होने के नाते मुख्यतः रेखामय ही हैं, परन्तु इसके साथ ही उन्होंने विविध प्रकार के रंगीन चित्रों की भी उपेक्षा नहीं की। हाँ, इतना अवश्य है कि सरलता में विश्वास रखने के कारण वे इनको सूक्ष्मता की दृष्टि से असाधारण नहीं बना पाये। इसीलिए उनके अत्यन्त जागरूक रहने पर भी न तो इनमें देव का-सा-रंग-वैभव ही आ पाया है और न बिहारी की-सी नक्काशी ही, केवल स्वच्छ और सूक्ष्म रेखाएँ ही इनमें अंकित हैं, जो व्यंजना के प्रकाश में चमक उठती हैं। क्षेत्र की दृष्टि से भी इनमें व्यापकता नहीं। रीतिकाल के अन्य कवियों के समान इनका क्षेत्र केवल नायक-नायिकाओं के वर्णनों तथा आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों तक ही सीमित रहा है। अतः इनमें प्रकृति, राज्य-श्री, युद्ध इत्यादि के उन दृश्यों की उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती, जो संस्कृत-साहित्य में देखने को मिलते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि विषय-वस्तु की परिसीमाओं में बद्ध होने पर भी ये हमारे कलाकार की परिष्कृत रुचि तथा उसकी अनुभूति के आह्लादक तत्त्वों को सहज रूप में प्रकट करते हैं। मतिराम की रचनाओं की प्रभविष्णुता का एक यह भी बड़ा कारण है।

प्रसाधन

अलंकार—संस्कृत के रसवादी आचार्यों ने[1] अलंकारों की गणना काव्य के सौन्दर्य-वर्द्धक धर्मों के अन्तर्गत की है, किन्तु वे इनको उसका अनिवार्य अंग स्वीकार नहीं करते। उनके मत में 'शब्द' और 'अर्थ' के अस्थिर धर्म होने के नाते इनका अस्तित्व केवल उसी प्रकार का है, जो शरीर पर धारण किए गए आभूषणों का होता है। दूसरे शब्दों में ये आचार्य अलंकारों को केवल वाणी अर्थात् अभिव्यक्ति के प्रसाधक धर्म मानते हैं, भाव अर्थात् अनुभूति के नहीं। इसका मुख्य कारण यही हो सकता है कि ये अनुभूति को अभिव्यक्ति से सर्वथा पृथक् स्वीकार करते रहे हों। इसमें संदेह भी नहीं कि काव्य का अत्यन्त सूक्ष्म उपकरण होने के कारण अनुभूति, अभिव्यक्ति के अपेक्षाकृत स्थूल रूप से पृथक् ठहरती है, परन्तु इसके साथ ही यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इन दोनों में परस्पर का वही सम्बन्ध है, जो आत्मा का शरीर के साथ होता है। आत्मा अपनी प्रेरक शक्ति से शरीर का संचालन

---

१. दे० शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तो अलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥
—वही 'साहित्यदर्पण', दशम परिच्छेद

करता है, तो सत्काव्य के अन्तर्गत अनुभूति द्वारा अभिव्यक्ति का नियमन होता है। अतः ऐसी स्थिति में यह कह देना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि जो धर्म अभिव्यक्ति के प्रसाधक हैं, वे वास्तव में अनुभूति के ही हैं। बहुत सम्भव है कि काव्य में अलंकारों की प्रधानता मानने वाले अलंकारवादी आचार्यों की भी यही धारणा रही हो। किन्तु इस बात को पाश्चात्य विद्वान् तो स्पष्टतः स्वीकार करते हुए मिलते हैं। क्रोचे[१] का यह कथन कि अभिव्यक्ति मन की सूक्ष्म अभिव्यक्ति अर्थात् अनुभूति की अभिव्यक्ति-मात्र है, उक्त कथन की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इधर अन्य भाषाओं के प्रधान अलंकारों के लक्षणों का समान मिलना भी इसी बात को सिद्ध करता है कि इनका मौलिक सम्बन्ध अनुभूति के साथ ही है, क्योंकि अभिव्यक्ति के यदि ये प्रसाधन होते तो निश्चय ही इनमें अन्तर होता।

अलंकारों की उपयोगिता—जहाँ तक अलंकारों की उपयोगिता का प्रश्न है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि इनके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म भावों तथा पदार्थों तक की अनुभूति और भी तीव्र तथा स्पष्ट हो जाती है। बात यह है कि जिन विषयों का मन को बोध होता है, उनको ये अनुभूति के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से अथवा लोक सामान्य की अनुभूति के विषयों के साथ इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि उनकी अपनी विशेषताएँ कभी अकेली और कभी सामान्य विषय की लोक द्वारा अनुभूत विशेषताओं की सहायता प्राप्त करके मुखर हो उठती हैं। अतएव अनुभूति को मूर्त्त रूप प्रदान करने के लिए चित्र की जितनी आवश्यकता होती है चित्र को रूप-रंग देने के लिए उतनी ही अलंकारों की अपेक्षा रहती है।

रंग, रूप, गुण, क्रिया और भाव यही पाँच उपकरण हैं, जिनके ऊपर किसी भी विषय का स्वरूप अथवा सौन्दर्य आधृत रहता है। अलंकारों को स्थूलतः छः वर्गों में रखा जा सकता है। साम्य-मूलक, वैषम्य-मूलक, अतिशय-मूलक, औचित्य-मूलक, वक्रता-मूलक और चमत्कार-मूलक। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें से प्रथम पाँच वर्गों में का कोई भी अलंकार अनुभूति के अन्तर्गत जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वह वस्तुतः उक्त छः उपकरणों के साम्य, वैषम्य, विस्तार, वक्रता और औचित्य में से किसी एक की सिद्धि के लिए किए गए विशिष्ट प्रयोग का प्रतिफलन मात्र है। पंचम वर्ग के अलंकारों का उद्देश्य अनुभूति की सौन्दर्य-वृद्धि न होकर भाषागत चमत्कार की ओर ही केन्द्रित रहता है, अतएव प्रस्तुत प्रसंग में उनकी चर्चा करना हम उपयुक्त नहीं समझते। अस्तु!

साम्य-मूलक अलंकार—साम्य-मूलक अलंकार-योजना के अन्तर्गत जो सामान्य विषय गृहीत होते हैं, उन्हें अलंकार-शास्त्र की शब्दावली में प्रायः 'अप्रस्तुत' कह दिया जाता है। इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुख्य विषय के रूप, गुण, क्रिया और भाव को स्पष्ट और सुन्दर बनाने का होता है, अप्रस्तुतों का चयन यद्यपि प्रकृति और उससे इतर लोक—दोनों से ही हो सकता है, तथापि यह कवि की अपनी इच्छा पर ही निर्भर करता है कि वह मुख्य विषय के स्वरूपानुसार इन्हें

---

१. दे० वही 'ऐस्थेटिक', पृ० ११।

किस प्रकार से प्रयोग में लावे। सादृश्य, आरोप, सम्भावना इत्यादि प्रयोगों की सहायता से वह इनके द्वारा मुख्य विषय की अनुभूति को जितना तीव्र कर सकेगा, उतना ही उसे अपनी कला को निखारने में सफलता मिलेगी। मतिराम ने भी अपनी अप्रस्तुत-योजना प्रकृति और लोक—दोनों से ही की है। इनमें प्रकृति से गृहीत अप्रस्तुतों की चर्चा तो पीछे 'प्रकृति-वर्णन' के प्रसंग में की जा चुकी है, अतएव उसकी पुनरुक्ति करना संगत नहीं। जहाँ तक लोक से ग्रहण किये गए अप्रस्तुतों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उन्होंने जिस प्रकार प्रकृति के परम्परागत उपमानों को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है तथा इनके अतिरिक्त विषय के अनुसार अपने नवीन अप्रस्तुत भी प्रस्तुत किए हैं उसी प्रकार लोक से गृहीत अप्रस्तुतों का प्रयोग भी उनका अपना है, जो लक्षणा-शक्ति पर आधृत होने के कारण मुख्य विषय के रूप, गुण, क्रिया और भावों की अनुभूति कराने में उतना ही सशक्त है, जितने कि प्रकृति के अप्रस्तुत इन तत्त्वों को स्पष्ट करने में समर्थ हुए हैं। सर्वप्रथम क्रिया के मूर्त्त रूप के लिए अमूर्त्त अप्रस्तुत का एक उदाहरण देते हैं—

अली चली अबलाहि लै पिय पै साजि सिंगार।
ज्यों मतङ्ग अँड़दार को लिए जात गँड़दार ॥१६२॥

(रसराज)

यहाँ मुग्धा नायिका नायक के निकट जाने में संकोच करने के फलस्वरूप आगे बढ़ने का साहस नहीं करती, परन्तु सखी उसे बड़ी कठिनाई के साथ—सम्भवतः खींचकर अथवा धकेलकर आगे बढ़ा रही है। कवि इसी चित्र को स्पष्ट करने के हेतु नायिका पर अड़ियल हाथी का और सखी पर फ़ीलवान का आरोप करता है। कहना न होगा कि इस साम्य की स्थापना उसने लक्षणा के सहारे हाथी और नायिका की आगे न बढ़ने—अड़ जाने तथा फीलवान और सखी की कठिनाई से आगे बढ़ाने की क्रियाओं द्वारा की है। इसी प्रकार अमूर्त्त के लिए मूर्त्त अप्रस्तुत के प्रयोग द्वारा क्रिया-साम्य भी देखिए—

'जोबन मदगज मंद गति चली बाल पिय गेह।
पगनि लाज आँदू परी, चढ्यो महावत नेह ॥१६४॥

(रसराज)

लज्जा द्वारा बाधा उत्पन्न किये जाने पर भी स्नेहातिरेक-वश प्रिय-मिलन के लिए जाती हुई नायिका के लिए यहाँ उस हाथी की स्थिति को अप्रस्तुत-रूप में रखा गया है, जो पैरों में अर्गला पड़ी होने के कारण यद्यपि चल तो नहीं सकता पर महावत फिर भी उसे आगे बढ़ा देता है। लज्जा और स्नेह अमूर्त्त हैं तथा इनके अप्रस्तुत क्रमशः अर्गला और महावत मूर्त्त! साम्य दोनों ही अवस्थाओं में क्रियाओं का है, इसीलिए नायिका की मानसिक स्थिति अपने स्पष्ट रूप में प्रेषणीय हो गई है। मतिराम ऐसे मनोवैज्ञानिक चित्रों को अंकित करने में सिद्ध-हस्त हैं।

क्रियाओं की सूक्ष्म अनुभूति के समान ही मतिराम ने मुख्य विषयों के गुणों

को प्रेषणीय बनाने के हेतु भी अप्रस्तुत-चयन में लक्षणा का योग लिया है। बानगी के लिए देखिये—

नायक के नैनन में नाइए सुधा-सी सब
सौतिन के लोचनन लोन सो लगाइए ॥१८१॥
(रसराज)

यहाँ नायिका के दर्शन से नायक को नेत्रानन्द की प्राप्ति और सपत्नियों को यह देखकर हुई ईर्ष्या को स्पष्ट करने के लिए कवि ने क्रमशः नेत्रों में गिरी 'सुधा' और 'लवण' को अप्रस्तुतों के रूप में रखा है। इन दोनों शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक होने के कारण इनके गुणों का ही परिचायक है। अतः ये गुण अर्थात् माधुर्य और तिक्तता ही दर्शन-माधुर्य और ईर्ष्या की तिक्तता को प्रकट कर रहे हैं। इसी प्रकार एक और उदाहरण देते हैं, जिसमें अप्रस्तुत-योजना और भी सूक्ष्म है। देखिये—

जैसे तुम मोहन बिलोक्यो वाकी ओर तैसे
बैरी हू सों बैरी न बिलोकै बैर साधि कै ॥२९४॥
(रसराज)

पूर्व-उद्धरण के अन्तर्गत 'अमृत' और 'लवण' स्थूल पदार्थों के वाचक हैं, इसी कारण लक्ष्यार्थ तक पहुँचने में देर नहीं लगती। परन्तु यहाँ पर 'बैर साधकर देखने' का वाच्यार्थ ही अपने आपमें कम सूक्ष्म नहीं, किन्तु अत्यधिक कठोरता का संकेत करने वाला व्यंग्यार्थ तो और भी सूक्ष्म है।

चित्रण-कला के अन्तर्गत जिस प्रकार से वातावरण के सूक्ष्म-चित्रण की अपेक्षा उसमें विशिष्ट भावों को अंकित करना जितना कठिन होता है, उतना ही काव्य के अन्तर्गत क्रिया और गुणों की अपेक्षा अन्य-व्यक्ति के भाव विशेष को अनुभूति का विषय बनाना दुस्तर होता है। जो कलाकार इस प्रकार के प्रयत्न में सफल हो जाता है उसका कौशल अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ कहा जा सकता है। मतिराम ऐसे ही पहुँचे हुए कलाकार हैं, इसीलिए उनकी रचनाओं में भावों का जितना स्वच्छ चित्रण उपलब्ध होता है, उतना रीतिकाल के अन्तर्गत विरल है। इसका मुख्य कारण यही है कि वे जिन अप्रस्तुतों का उपयोग करते हैं, वे सर्वसाधारण के अनुभूत विषय होते हुए भी ऐसे हैं, जिनका उपयोग उनके पूर्ववर्ती कवियों ने प्रायः नहीं किया। एक उदाहरण देते हैं, देखिये—

प्रान पियारो मिलो सपने मैं परी जब नैसुक नींद निहोरे।
कंत को आगम त्यौं ही जगाय कह्यौ सखी बोल पियूष निचोरे॥
यौं 'मतिराम' भयो हिय में सुख बाल के बालम सौं दृग जोरे।
जैसे मिही पट में चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरे ॥२२१॥
(रसराज)

नायिका को नायक का दर्शन स्वप्न में हुआ, फिर सखी ने उसे जगाकर उसके आगमन की सूचना दी और अन्त में उसका दर्शन भी हुआ। प्रियतम के इस साक्षा-

त्कार से उसे जो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति हुई, उसकी तुलना कवि ने तीसरी बार डुबोने के कारण गहगहे रंग का हो जाने वाले झीने वस्त्र से की है। इस अप्रस्तुत से नायिका के आनन्द की चरम सीमा तक पहुँचने की ही तीव्र अनुभूति नहीं होती, प्रत्युत 'तीसरी बार' से यह भी बोध हो जाता है कि स्वप्न में हुए दर्शन से नायिका को जितना आनन्द प्राप्त हुआ वह अपेक्षाकृत उसी प्रकार हलका था, जैसे कि मिहीवस्त्र को रंग में पहली बार डुबाने से उसके ऊपर हलका रंग चढ़ता है तथा नायक के आगमन की सूचना से उसके आनन्द में उसी प्रकार वृद्धि हुई जैसे कि दूसरी बार डुबोने से उस वस्त्र के रंग में कुछ और वृद्धि हो जाती है। सूक्ष्म भावों के उतार-चढ़ाव का ऐसा क्रमिक वर्णन सम्पूर्ण रीति काल में खोजने पर ही मिल सकेगा। इसी प्रकार एक और छन्द है—

प्रथम अरध छोटी लगी पुनि अति लगी बिसाल।
बामन कैसी देह निसि भई बाल कौं लाल ॥६६४॥

(सतसई)

प्रिय-आगमन की प्रतीक्षा में रात्रि का पूर्वार्द्ध नायिका को अत्यन्त लघु प्रतीत हुआ, परन्तु ज्यों ही उसे यह विश्वास हो गया कि अब वह न आयेगा तो उतने ही मान का रात्रि का उत्तरार्द्ध उसे अनन्त प्रतीत हुआ। इन दोनों ही अवस्थाओं का सम्बन्ध नायिका की मनोदशा के साथ है, जिनको स्पष्ट करने के लिए कवि ने क्रमशः दान प्राप्त करने से पूर्व के भगवान् वामन के लघु गात तथा उसके पश्चात् उनके अनन्त स्वरूप को अप्रस्तुत रूप में रखा है।

उपर्युक्त उद्धरणों के अन्तर्गत तो अप्रस्तुत मूर्त्त हैं, कभी-कभी भावों के लिए मतिराम अमूर्त्त-अप्रस्तुत ही ले आते हैं। उस स्थिति में भाव-सौन्दर्य देखते ही बनता हैं। उदाहरण के लिए—

देखे हूँ बिन देखि हूँ लगी रहै अति आस।
कैसे हूँ न बुझाति है ज्यों सपने की प्यास ॥७५॥

(सतसई)

इसमें नायिका की दर्शन-अतृप्ति की तीव्रता दर्शाने के लिए अमूर्त्त अप्रस्तुत का चयन किया गया है। नायक को देखने पर भी नायिका के मन में बनी अतृप्ति के लिए स्वप्न में लगने वाली प्यास के साथ अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार—

छाँह बिना ज्यों जेठ रवि ज्यों बिन औषधि रोग।
ज्यों बिन पानी प्यास यों तेरो दुसह बियोग ॥६६८॥

(सतसई)

यहाँ अन्तिम दो चरणों में नायिका के असह्य वियोग के लिए प्यास को अप्रस्तुत रूप में प्रस्तुत करके कवि ने इसकी अनुभूति में जान डाल दी है।

यह बात तो रही सूक्ष्म अथवा अमूर्त्त विषयों के लिए अप्रस्तुत योजना की।

जहाँ तक विषयों के स्थूल स्वरूप के लिए अप्रस्तुत-चयन का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि मतिराम को इनमे विशेष रुचि नहीं। बहुत सम्भव है कि उनको इसका अवसर ही प्राप्त न हुआ हो, कारण उनका स्थूल वस्तुओं का वर्णन इतना स्वच्छ हुआ है कि इसके लिए किसी प्रकार के अप्रस्तुत की आवश्यकता दिखाई नहीं देती। परन्तु जहाँ उन्हें इसकी आवश्यकता दिखाई दी है, वहाँ पर चूके भी नहीं—

रह्यो हार बिपरीति में पिय नैनन में आइ।
चन्द मुखी सींचति मनो सुधा कलस कुच नाइ ॥५५६॥
(सतसई)

विपरीत-रति में कुच प्रदेश पर पड़े हुए हार पर, कलश से गिरती हुई अमृत-धार का आरोप किया गया है, जो अपने आपमें स्थूल है। इस प्रकार के वर्णनों में वह सूक्ष्म सौन्दर्य नहीं, जिसकी सृष्टि उन्होंने भाव-वर्णन में की है।

वैषम्य-मूलक अलंकार—वैषम्य-मूलक अलंकारों का मूल उद्देश्य साधारणतः रूप, रंग इत्यादि उपकरणों के वैषम्य द्वारा मुख्य विषय की अनुभूति में अद्भुत सौन्दर्य की सृष्टि करना होता है। मतिराम ने भी इनको अपनी रचनाओं के अन्तर्गत इसी उद्देश्य से ग्रहण किया है। साम्यमूलक अलंकारों के समान ही इनके उपयोग में भी कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि और परिष्कृत रुचि का दर्शन होता है, जिसकी सफलता का कारण उनकी अनुभूति की स्वच्छता तथा उसकी तीव्रता में अन्तर्निहित है। उदाहरण के लिए एक स्थूल चित्र लीजिये, जिसके अन्तर्गत 'अधिक' अलंकार की सहायता से शरीर के विविध अवयवों का वैषम्य प्रस्तुत करके नायिका का प्रभावी चित्र अंकित किया गया है—

पीन पयोधर भार यह धरे छीन कटि ऐन।
छोटे मुख में लसत हैं बड़े-बड़े ए नैन ॥१११॥
(सतसई)

आधाराधेय—अर्थात् क्षीण-कटि और पीन-पयोधर तथा छोटे परिवेश का मुख और उसमें अवस्थित विशाल नेत्रों का यह वैषम्यपूर्ण चित्र राजस्थानी-चित्र शैली का स्मरण करा देता है। इसी प्रकार—

राधा के दृग खेल में मूँदे नन्दकुमार।
करन लगी दृग कोर सो भई छेद उर पार ॥२१६॥
(सतसई)

इसमें 'असंगति' अलंकार की सहायता से कवि नायिका के अनियारे नेत्रों के पैने कटाव की अनुभूति करा देना चाहता है।

वर्ण-योजना के प्रसंग में पीछे निवेदन किया जा चुका है कि मतिराम का अपने चित्रों में रंगों के प्रति विशेष आग्रह नहीं रहा। अलंकार-योजना के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। परन्तु इतना अवश्य है कि जहाँ उन्होंने वर्ण-वैषम्य प्रस्तुत किया है, वहाँ निश्चय ही उनकी अनुभूति अपेक्षाकृत अधिक तीव्र हो गई है। देखिये—

सेत सारी ही सों सब सौतें रंगीं स्याम रंग
सेत सारी ही सों रंगे स्याम लाल रंग मैं ॥३५७॥

(रसराज)

इस छन्द में 'विषम' अलंकार की योजना की गई है। नायिका की श्वेत वर्ण साड़ी के प्रभाव में श्याम और लाल—इन दो रंगों को प्रस्तुत करके कवि ने सहज ही सपत्नियों की ईर्ष्या तथा पति के अनुराग का बोध तो करा ही दिया है, इसके साथ ही इसके पहिनने से नायिका के सौन्दर्य में वृद्धि होने की व्यंजना भी कर दी है। ऐसे ही—

ज्ञानचन्द चक्कवै तिहारे मुखचन्द जोति
सारे मुख बैरिन के कारे करि राखे हैं ॥५६॥

(अलंकार पंचाशिका)

यहाँ पर भी 'विषम' अलंकार की सहायता से आश्रयदाता के मुख की चन्द्रमा के समान धवल कान्ति का विषय-प्रभाव अर्थात् कालिमा प्रदर्शित करके क्रमशः उसकी कीर्ति तथा शत्रुओं की उदासी की अनुभूति कराने का प्रयास है।

रूप और रंग की अपेक्षा क्रमशः गुण, क्रिया और भाव का स्वरूप और भी सूक्ष्म हुआ करता है। अतएव इनके अलंकार-परक वैषम्य से काव्य में जिस सौन्दर्य की सृष्टि होगी, वह अपेक्षाकृत और भी सूक्ष्म तथा प्रभविष्णु होगा। मतिराम ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत जहाँ भी कहीं वैषम्य-मूलक अलंकारों का सहारा लिया है वहाँ पर प्रायः इन्हीं तीन उपकरणों का आधार दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए, देखिये—

(१) बेई नैन रूखे से लगत और लोगनि कों
बेई नैन लागत सनेह भरे नाह कों ॥१८२॥

(रसराज)

(२) आय कै मरत अरि चाहत अमर भयो
महावीर तेरी खग्ग-धार गंगधार में ॥२३५॥

(ललितललाम)

(३) रिस ही के आँसू रस आँसू भए आँखिन में
रोस की ललाई सो ललाई अनुराग की ॥२३२॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत कवि यह कहना चाहता है कि नायिका अपने पति के सिवाय और किसी भी व्यक्ति की ओर प्रेम भरी दृष्टि से नहीं देखती। इसी कथन की सूक्ष्म अनुभूति कराने के लिए उसने 'व्याघात' अलंकार के सहारे पति तथा अन्य लोगों के अनुसार उसके नेत्रों में क्रमशः स्नेहशीलता और रूक्षता—इन दो परस्पर-विरोधी गुणों का चयन किया है। द्वितीय उद्धरण में कवि ने अपने आश्रयदाता की तलवार से कटने के लिए शत्रु के आने की विचित्र क्रियाओं की योजना की है।

अन्तिम उद्धरण में उसने 'विशेषालंकार' द्वारा आँसुओं और लालिमा का क्रोध और अनुराग की विपरीत अवस्थाओं में दिखाकर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से यह व्यंजना की है कि परिस्थिति के बदलते ही किस प्रकार से क्रोध एक साथ ही प्रेम में परिणत हो सकता है।

अतिशय-मूलक अलंकार—इन अलंकारों का उद्देश्य भावोद्दीपन अर्थात् अनुभूति को अवेगमय बनाने का होता है। इसके लिए कवि अपनी सूक्ष्म अनुभूति को उसी प्रकार बढ़ाता जाता है, जिस प्रकार से 'फोटोग्राफ़र' छोटे चित्र को 'एनलार्ज' करके उसके स्वरूप को स्पष्ट और दर्शनीय बना देता है। परन्तु इस विस्तार की भी अपनी सीमा है, इससे आगे अनुभूति अपनी संवेदन-क्षमता खोकर कुछ वैसा ही चमत्कार मात्र रह जाती है जैसे कि पदार्थ से बड़े आकार का चित्र वास्तविकता के अभाव में कौतूहल का विषय बन जाता है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने इस तथ्य को न समझते हुए अपनी अनुभूति को जो बन्धन-रहित विस्तार दिया है, उसी के कारण उनकी कविता प्रायः तमाशा बन कर रह गई है। स्वयं मतिराम भी इस दोष से अछूते नहीं रहे ; देखिये—

चरन धरै न भूमि बिहरै जहाँई तहाँ
फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं
करत न अंगराग कुंकुम को पंक है॥
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप मलीन होत बदन-मयंक है।
कैसे वह बाल लाल बाहर बिजन आवै
बिजन बयारि लागे लचकत लंक है॥३०४॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम तीन चरणों में कवि का यह कथन कि नायिका फूलों पर ही सदैव विहार करती है शरीर पर भार के कारण अंगराग का लेप नहीं करती तथा खिड़की में आये हुए सूर्यातप से उसका मुख-चन्द्र मलीन हो जाता है, अत्युक्तिपूर्ण होता हुआ भी नायिका की सुकुमारता को किसी प्रकार से संवेदनीय बना भी सकता है, पर इससे आगे यह कहना कि पंखे की हवा लगने से उसकी कमर भी लचक जाती है, सुकुमारता-वर्णन की अति है, जिसे किसी भी युक्ति से चमत्कार की परिधि से बाहर नहीं माना जा सकता। परन्तु इस प्रकार के उद्धरण मतिराम की रचनाओं में खोज करने से ही मिल सकते हैं; कदाचित् उन्होंने अपने युग के प्रवाह में आकर ही ऐसा किया है—विशेष लगाव के कारण नहीं। वैसे साधारणतः इन अलंकारों का जहाँ भी उपयोग हुआ है वहाँ ये कवि की उत्तेजना को भली भाँति संवेदनीय बना सके हैं। उदाहरण के लिए—

जूथपति पैठ्यो पानी पोखत प्रबल मद
कलभ करेनुकनि लीने संग सुख ते।

ग्राह गह्यो गाढ़े बैर पीछले के बाढ़े भयो
बलहीन बिकल करन दीह दुख ते ।।
कहै 'मतिराम' सुमिरत ही समीप लखे
ऐसी करतूति भई साहिब सुरुख ते ।
दोऊ बातें छूटीं गजराज की बराबर ही
पाँव ग्राह मुख ते पुकार निज मुख ते ।।१२४।।
(ललितललाम)

यहाँ कवि का उद्देश्य भगवान् विष्णु की शरणागत-रक्षा-तत्परता का वर्णन करना मात्र है, जिसके लिए उसने 'अक्रमातिशयोक्ति' का सहारा लिया है। कहने की आवश्यकता नही कि इससे भगवान् के उक्त गुण में जो स्पष्टता आई है, उससे कहीं अधिक कवि के उत्तेजित भक्ति-भाव को उचित अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। इसी प्रकार एक और छन्द लीजिये, जिसमें 'सम्बन्धातिशयोक्ति' द्वारा आश्रयदाता की धर्म और दानवीरता का द्रष्टव्य वर्णन है।

सुरजनबंस राव भावसिंह सूरज तू
तोते आज जगें जग जप-तप जाग हैं ।
झलके ललाई मुख अमल कमल तेरे
हिए हरिचरन कमल अनुराग हैं ।।
सत्ता के सपूत तें जगाई 'मतिराम' कहै
लहलही कीरति कलप बेलि बाग है ।
ऊँचे मन ऊँचे कर ऊँचे-ऊँचे करी दै कै
ऊँचे करे भूमि के भिखारिन के भाग हैं ।।११९।।
(ललितललाम)

वक्रता-मूलक अलंकार—यों तो प्रत्येक आलंकारिक उक्ति अपने भीतर कुछ न कुछ वक्रता लिये रहती है, परन्तु अलंकारों के इस वर्ग की विशेषता ही इस बात में निहित है कि वाणी की व्यक्त भंगिमा द्वारा यह सहृदय में जिज्ञासा उत्पन्न करके मुख्य विषय की अनुभूति को सम्पुष्ट करता है। मतिराम अभिव्यक्ति की सरलता में विश्वास करते थे, उन्हें इसमें किसी भी प्रकार का घुमाव-फिराव पसन्द नहीं था, अतएव उनकी रचनाओं में इन अलंकारों का पर्याप्त उपयोग न हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु इतना निश्चित है कि युग के प्रभाव अथवा ध्वनि की महत्ता के कारण उनमें क्रिया अथवा वाणी-वैदग्ध्य के व्याज से जहाँ भी कहीं इनका प्रयोग हुआ है, वहाँ सौन्दर्य-वर्द्धन में ये अलंकार किसी भी इतर वर्ग के अलंकारों के समकक्ष ठहराये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए—

आई है निकट साँझ गैयाँ गईं घर माँझ
ह्वाँ सों दौरि आई मेरो कह्यो कान्ह कीजिये ।
हौं तो हौं अकेली और दूसरो न देखियत
बन की अँधेरी में अधिक भय भीजिये ।।

कवि 'मतिराम' मनमोहन सौं पुनि-पुनि
राधिका कहत बात सांची यै पतीजिये ।
कब की हौं हेरति न हेरे हरि पावति हौं
बछरा हिरानौ सो हिराय नेंक दीजिये ॥७२॥
(रसराज)

इसमें 'पर्यायोक्त' अलंकार का प्रयोग हुआ है। नायिका अपने इस कथन द्वारा कि सन्ध्या का समय है, सभी गौएँ घर को चली आई हैं (अतः वन में भी कोई न होगा), मैं अपने घर से अकेली ही आई हूँ, अकेली हूँ—कोई और नहीं दिखाई दे रहा, वन में अकेली जाने से भय लगता है अतएव तुम मेरे साथ चलकर खोये हुए बछड़े को ढुँढ़वा दो, नायक को यह संकेत कर देना चाहती है कि यही अवसर है जबकि हम वन के किसी एकान्त स्थान में रति-क्रीड़ा कर सकते हैं। कथन की यही वक्रता प्रस्तुत छन्द-गत शृंगार रस को पुष्ट कर रही है। इसी प्रकार—

मोहन लला को सुन्यो चलनि विदेस भयो
बाल मोहिनी को चित निपट उचाट मैं ।
परी तला बेली तन-मन मैं छबीली राखै
छिति पर छिनकु-छिनकु पाँव खाट मैं ॥
प्रीतम नयन कुवलयन कौ चन्द धरी
एक मैं चलैगो 'मतिराम' जिहि बाट मैं ।
नागरि नबेली रूप आगरि अकेली रीती
गागरि लै ठाढ़ी भई बाट ही के घाट मैं ॥२१२॥
(रसराज)

यहाँ भी 'पर्यायोक्त' अलंकार का प्रयोग हुआ है। नायक के परदेस जाते समय परकीया का मार्ग में रीति गागर सिर पर रखकर आ खड़ा होना, जिससे वह शकुन बिगड़ने के कारण कम से कम एक दिन के लिए और रुक जाय, क्रिया-भंगिमा का अन्यतम उदाहरण कहा जा सकता है।

औचित्य-मूलक अलंकार—विषय-वैचित्र्य में ही सौन्दर्य नहीं होता, उसकी स्वाभाविकता में भी यह देखने को मिल सकता है। अनुभूति के अन्तर्गत इस स्वाभाविकता की सृष्टि उसके विविध अवयवों को विशिष्ट क्रम में रखने से भी होती है, जिसका सम्पादन सामान्यतः औचित्य-मूलक अलंकारों द्वारा हुआ करता है। मतिराम की रचनाओं के अन्तर्गत जिस स्वाभाविकता-जन्य-सौन्दर्य का दर्शन होता है, उसका श्रेय यद्यपि उनकी सरल प्रकृति को दिया जा सकता है, तथापि इन अलंकारों का भी कम योग नहीं, देखिये—

मोचन लागी भुराई की बातनि सौतनि सोच भुरावन लागी ।
मंजन कै नित न्हाय कै अंग अंगोछि कै बार झुरावन लागी ॥
मोरि मुखै मुसकाय कै चारु चितै 'मतिराम' चुरावन लागी ।
ताहि सकोच मनो मृग लोचनि लोचन लोल दुरावन लागी ॥१०६॥
(ललितललाम)

इस छन्द के बीच दो चरणों के अन्तर्गत नायिका का नहाने के पश्चात् अंगों का अँगोछना, बालों को झुलाना तथा मुख मोड़कर मुस्कराना—इन तीनों बातों को कवि ने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार रूप-वर्णन को 'पर्याय' अलंकार की सहायता से स्वाभाविक बनाने के लिए कवि ने समस्त अवयवों को विशिष्ट क्रम में रखकर जिस स्वाभाविकता की सृष्टि की है, वह द्रष्टव्य है—

मृदु बोलत डोलत कुण्डल कानन कानन कुंजनि ते निकस्यौ ।
बन माल बनी 'मतिराम' हिए पियरो पट त्यों कटि मैं बिलस्यौ ।।
जब ते सिर मोर पखानि धरें चित चोरि चितै इत ओर हँस्यौ ।
तब तें दुरि भाजि कै लाज गई अब लालचु नैननि आनि बस्यौ ।।२६८।।

(ललितललाम)

कहने का अभिप्राय यह है कि अलंकारों के लक्षण-उदाहरण लिखने के नाते यों तो मतिराम ने किसी भी अलंकार को अपनी रचनाओं में बिना उपयोग के छोड़ा नही, पर जहाँ तक उनके प्रिय अलंकारों का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः साम्य और औचित्य की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति है। उनके ग्रन्थों में शायद ही ऐसा कोई प्रसंग मिले जहाँ इन दो वर्गों के अलंकारों का आश्रय न लिया गया हो। साम्य-मूलक अलंकारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा—ये तीन तो उनकी रचनाओं के अभिन्न अंग से लगते हैं और इनके सफल प्रयोग के लिए उन्होंने मूर्त्त-अमूर्त्त सभी प्रकार के अप्रस्तुतों को जुटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे ही निश्छल और सरल अभिव्यक्ति के फलस्वरूप उनकी रचनाओं में प्रायः 'स्वभावोक्ति'—अलंकार की छटा देखने को मिलती है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि अलंकारों का उपयोग करते समय अनुभूति को ही प्रधानता दी गई है, यही कारण है कि इनके अलंकार-ग्रन्थों तक में इन दो वर्गों से इतर वर्गों के अलंकार भी साध्य न होकर साधन मात्र ही रहे हैं।

भाषा

अनुभूति का स्थूल रूप अभिव्यक्ति है, जो काव्य में भाषा के माध्यम से ही निष्पन्न होती है, यह पीछे कहा जा चुका है। रीतिकाल के अन्तर्गत उत्तर भारत ही नहीं प्रायः सम्पूर्ण भारत की काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का ही बोलबाला रह गया था। मतिराम ने भी इसी लोक-विश्रुत भाषा में अपने ग्रन्थों की रचना की है।

साहित्य की भाषा के तीन अंग हुआ करते हैं—शब्द-भाण्डार, व्याकरण और काव्य-सौष्ठव। इनका साधारणतः वही महत्त्व है जो शरीर में क्रमशः स्वास्थ्य, गठन और कान्ति का होता है। मतिराम की भाषा-शैली का अध्ययन इन्हीं के आधार पर किया जा सकता है। परन्तु इससे पूर्व ब्रजभाषा का सामान्य अध्ययन कर लेना उचित होगा।

ब्रजभाषा का शब्द-समूह

ब्रजभाषा का शब्द-भाण्डार अत्यन्त समृद्ध है। इसका मुख्य कारण यह है कि

अन्य-आधुनिक-भारतीय-भाषाओं के समान संस्कृत का विशाल शब्द-समूह तो इसे मिला ही था जिसका इसने अपनी प्रकृति के अनुसार तत्सम और तद्भव—दोनों ही रूपों में ग्रहण किया, साथ ही शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश जैसी समृद्ध भाषाओं के साथ यह जन्म से सम्बद्ध रही। इनके अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं के जनसाधारण में प्रचलित शब्द भी इसने ग्रहण कर लिये थे। इधर ब्रजप्रदेश से इतर क्षेत्रों के कवियों ने अपनी बोलियों के शब्दों का भी इसमें स्वच्छन्दता के साथ उपयोग किया। इस प्रकार अनेक भाषाओं और बोलियों की शब्दावली के योग से यह भाषा अत्यन्त सूक्ष्म हो गई।

ब्रजभाषा का व्याकरण

ब्रजभाषा-व्याकरण की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

उच्चारण—ब्रजभाषा में स्वरों का उच्चारण यद्यपि खड़ी बोली-स्वरों के समान ही होता है, तथापि अवधी से इस दिशा में किंचित् भेद अवश्य है। अवधी के अन्तर्गत 'इ' और 'उ' के उपरान्त 'अ' की स्थिति अविकल रहती है, जबकि ब्रजभाषा में 'इ' और 'अ' तथा 'उ' और 'अ' क्रमशः 'य' और 'व' हो जाते हैं—(अव०) पिआर=(ब्रज०) प्यार; (अव०) दुआर=(ब्रज) द्वार[1]। इसी प्रकार 'इ' और 'उ' के स्थान पर क्रमशः 'य' और 'व' का प्रयोग भी ब्रज में अधिक होता है—(अव०) इह=(ब्रज०) यह; (अव०) उह=(ब्रज०) वह[2]। इसके अतिरिक्त अवधी में 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण जहाँ क्रमशः 'अई' और 'अऊ' के समान होता है, ब्रज में ऐसा केवल उस स्थिति में ही होता है, जबकि 'ऐ' और 'औ' के उपरान्त क्रमशः 'या' और 'वा' विद्यमान हों—गैया, कौवा[3]। 'ऋ' के वैदिक उच्चारण से अपरिचित होने के कारण ब्रजभाषा-भाषी अवधी-भाषियों के समान ही 'रि' का प्रयोग कर देते हैं[4]।

जहाँ तक ब्रजभाषा की व्यंजन ध्वनियों का प्रश्न है, उनका उच्चारण सामान्यतः अवधी के समान किन्तु खड़ी बोली से ईषत् भिन्न होता है। खड़ी बोली के अन्तर्गत संस्कृत-तत्सम शब्दों में ण, य, ल, व और श की स्थिति प्रायः ज्यों की त्यों रहती है, जबकि ब्रजभाषा में इनके स्थान पर क्रमशः न, ज, र, ब, और स का प्रयोग होता है—(ख० बो०) मणि=(ब्रज०) मनि (ख० बो०); यामिनी=(ब्रज०) जामिनी; (ख० बो०) वाहन=(ब्रज०) बाहन; (ख० बो०) बालिका=(ब्रज०) बारी; (ख० बो०) श्याम=(ब्रज०) स्याम[5]। इधर ब्रजभाषा की हस्तलिखित

---

१. दे० शुक्ल-कृत 'बुद्धचरित' (संवत् १९९५ वि० का संस्करण), भूमिका, पृ० २२-२३; तथा 'हिन्दी भाषा'—श्यामसुन्दरदास (सन् १९५१ ई० का संस्करण), पृ० १११।

२. दे० वही 'बुद्धचरित', भूमिका, पृ० २२; तथा वही 'हिन्दी भाषा', पृ० १११।

३. दे० वही 'बुद्धचरित', भूमिका, पृ० २३ तथा वही 'हिन्दी भाषा', पृ० ११२।

४. दे० 'ब्रजभाषा व्याकरण'—डा० धीरेन्द्र वर्मा—(सन् १९५४ ई० का संस्करण), पृ० ४३।

५. दे० वही, पृ० ५०-५१।

पुस्तकों में 'ख' के स्थान पर 'ष' तथा 'ष' के स्थान पर 'स' लिखा हुआ मिलता है, अतः यह कहना कठिन है कि इस भाषा में 'ष' का उच्चारण मूर्धन्य रहा है[१]। माहिं, नाहिं, वाहि इत्यादि शब्दों में 'ह' के स्थान पर 'य' का प्रयोग भी ब्रजभाषा में देखा गया है[२]।

संज्ञाएँ तथा विशेषण—ब्रजभाषा की एकवचन पुल्लिग संज्ञाओं तथा विशेषणों की प्रकृति सामान्यतः ओ-कारान्त होने की है, जबकि खड़ी बोली में ये आ-कारान्त तथा अवधी में प्रायः अ-कारान्त देखे जाते हैं—एक वचन पु० सं० : (ब्रज०) घोड़ो=(ख० बो०) घोड़ा=(अव०) घोड़; एकवचन पु० विशे० : (ब्रज०) छोटो=(ख० बो०) छोटा=(अव०) छोट[३]। ब्रजभाषा के कतिपय अ-कारान्त शब्द उ-कारान्त होकर भी प्रयोग में आते हैं—रामु (राम)[४]।

लिंग और वचन—हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के समान ब्रजभाषा के अन्तर्गत भी लिंग दो ही हैं—स्त्रीलिंग और पुल्लिग—जिनमें निर्जीव वस्तुओं की द्योतक संज्ञाओं को भी रखा जाता है[५]। क्योंकि जीवधारी वस्तुओं के समान निर्जीव वस्तुओं का लिंग नहीं होता, अतएव इसके निर्धारण में प्रायः समस्या उठ खड़ी होती है, जिसका समाधान केवल कोश से ही होता है—लोक-व्यवहार में काल अथवा स्थान-भेद से एक ही शब्द का दोनों लिंगों में भी प्रयोग देखा जाता है। वैसे साधारणतः विशेषण अथवा कृदन्ती क्रियाओं ' सी भी संज्ञा के लिंग का बोध हो जाता है, कारण ये दोनों ही वाक्य के अन्तर्गत संज्ञा के लिंग से प्रभावित रहते हैं[६]।

प्राणियों की द्योतक पुल्लिग संज्ञाओं के स्त्रीलिंग रूप बनाने के लिए अ-कारान्त और ई-कारान्त शब्दों के अन्त में अ और ई के स्थान पर इनि अथवा इनी तथा आ-कारान्त और ओ-कारान्त अथवा औ-कारान्त शब्दों तथा ओ अथवा औ के स्थान में ई प्रत्यय लगाया जाता है[७]—ग्वाल=ग्वालिनि; माली=मालिनि, सखा=सखी ; हरो=हरी।

जहाँ तक वचनों का प्रश्न है, ब्रजभाषा के अन्तर्गत हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के समान केवल दो ही भेद होते हैं—एकवचन और बहुवचन ; किन्तु इनका अस्तित्व कारक-विभक्तियों से पृथक् नहीं होता—ये कारक चिह्नों में ही अन्तर्भूत रहते हैं[८]।

---

१. दे० 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ५१।

२. दे० वही 'बुद्धचरित', भूमिका, पृ० २३ तथा वही 'हिन्दी भाषा', पृ० ११२।

३. दे० वही 'बुद्धचरित', भूमिका, पृ० २०-२१, तथा वही 'हिन्दी भाषा', पृ० ११०।

४. दे० 'कविवर बिहारी'—ले० 'रत्नाकर' (सन् १९५३ ई० का संस्करण), पृ० ५८।

५. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ५३।

६. दे० वही, पृ० ५३।

७. दे० वही, पृ० ५३-५४।

८. दे० वही, पृ० ५४।

कारक :—

कर्त्ता—खड़ी बोली के समान ही ब्रजभाषा में कर्त्ता-विभक्ति का चिह्न 'ने' है, जिसका प्रयोग केवल भूत-कालिक सकर्मक क्रिया के साथ ही होता है ; किन्तु ब्रज-भाषा के कवियों ने प्रायः इसकी उपेक्षा की है[१]।

कर्म और सम्प्रदान—ब्रजभाषा में इन दोनों के विभक्ति-चिह्न कों, कौं, को, कौ, कूँ, कुँ, हिं, हि, हैं, जिनमें 'को' खड़ी बोली में भी देखा जाता है[२]। 'हि' के स्थान पर इसी के 'घिसे हुए रूप' इ, 'ई' अथवा 'ऐ' का प्रयोग भी होता है[३]। बहुवचन की अवस्था में कभी-कभी विभक्तियों का प्रयोग भी नहीं होता, उस दशा में संज्ञाओं के अन्त में जुड़ा हुआ बहुवचन सूचक 'न', 'नि' अथवा 'नु' प्रत्यय ही इन विभक्तियों की सूचना दे देता है[४]।

करण और अपादान—इन दोनों कारकों के विभक्ति-चिह्न ब्रजभाषा में सामान्यतः सों, सौं, से, ते, तें, हिं, हि, ही प्रचलित हैं[५]। बहुवचन की स्थिति में कर्म और सम्प्रदान के समान इनमें भी विभक्तियों के बिना ही बहुवचन सूचक प्रत्ययों से काम चला लिया जाता है[६]। कर्म-वाच्य और भाव-वाच्य की अवस्था में करण कारक की विभक्ति पैं, पर भी हो जाती है[७]।

सम्बन्ध—ब्रजभाषा में इस कारक के विभक्ति-चिह्न को, कों, के, कें, कै, कैं, की, हिं, हि उपलब्ध होते हैं[८]। इन चिह्नों का कार्य किसी संज्ञा अथवा सर्वनाम का सम्बन्ध क्रिया के साथ प्रकट करना न होकर अपने से बाद की संज्ञा के साथ बताना होता है, यही कारण है कि खड़ी बोली के सम्बन्धकारक चिह्नों के समान लिंग-वचन के अनुसार प्रयोग में आते हैं[९]। दो कारकों के एक साथ आने की स्थिति में बाद की पुल्लिग संज्ञा के एकवचन होने पर प्रथम कारक के साथ 'के' विभक्ति ही आती है[१०]।

---

१. दे० वही 'बुद्धचरित', भूमिका, पृ० १६ तथा वही 'हिन्दी भाषा', पृ० १०६।

२. दे० 'देव और उनकी कविता'—ले० डा० नगेन्द्र (सन् १६४६ ई० का संस्करण), पृ० १६८ तथा वही 'कविवर बिहारी, पृ० ६१-६२।

३. दे० वही 'कविवर बिहारी', पृ० ६३-६५।

४. दे० वही, पृ० ६५-६६।

५. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १६८, तथा वही 'कविवर बिहारी', पृ० ६५, ६६-७७।

६. दे० वही 'कविवर बिहारी', पृ० ६५।

७. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १६८।

८. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १६८ तथा वही 'कविवर बिहारी', पृ० ६२, ६६-७७।

९. दे० वही 'हिन्दी भाषा', पृ० १५०-५१।

१०. दे० वही, पृ० १५१।

अधिकरण—इसके विभक्ति चिह्न में, मैं, माँहि, मायँ, महँ, पर, पै, हिं, हि, हैं[1]। अन्य कारकों के समान इसमें भी बहुवचन-सूचक प्रत्यय विभक्तियों का स्थान ले लेते हैं[2]।

सर्वनाम—हिन्दी की अन्य उपभाषाओं के समान ब्रजभाषा के सर्वनामों को भी मुख्यतः पाँच वर्गों में रखा जा सकता है—पुरुषवाचक, सम्बन्धवाचक, संकेतवाचक, प्रश्नवाचक और नित्यसम्बन्धी। इनमें व्यक्ति की स्थिति के अनुसार पुरुषवाचक सर्वनाम के तीन भेद हो जाते हैं—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष। ब्रजभाषा के अन्तर्गत इन सभी सर्वनामों के मूल तथा विकृत रूपों का कारक विभक्तियों के साथ दोनों ही वचनों में प्रयोग होता है, जो इस प्रकार है—

पुरुषवाचक—

उत्तम पुरुष

	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप	मैं, हौं (प्रान्त भेद से हों, हूँ, हुँ भी)	हम
विकृत रूप	मो, मौ	हम
कारक-रूपरचना कर्त्ता	मैं, हौं, मैंने (प्रान्त भेद से हों, हूँ, हुँ भी)	हम हमने
कर्म-सम्प्रदान	मोकों, मोको, मोकूँ, मोंहि, मौहि, मोहि, मोहीं, मोही इत्यादि	हमकों, हमको, हमकूँ, हमंहि, हमहि, हमैं, हमही, हमनु, हमनि, हमन, इत्यादि
करण-अपादान	मोसौं, मोसैं, मोतैं, मोंहि मोहि, मोहीं, मोही इत्यादि	हमसों, हमसैं, हमतैं, हमंहि, हमहीं, हमहि, हमही, हमनु, हमनि, हमन, हमैं, इत्यादि
सम्बन्ध	मेरौ, मेरो, मेरे, मेरी, मो, मों, मोंहि, मोहीं, मोहि, इत्यादि	हमारौ, हमारो, हमारे, हमारी, हम, हमंहि, हमहि, हमहीं, हमही, हमैं, हमनु, हमन, हमनि इत्यादि।
अधिकरण	मोमैं, मोपै, मोंहि, मोहि, मोहीं, मोही इत्यादि।	हममैं, हमपै, हमंहि, हमहि, हमहीं, हमही, हमैं, हमनु, हमनि, हमन, इत्यादि।

१. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १९८ तथा वही 'कविवर बिहारी', पृ० ६२, ६९, ७७।

२. दे० वही 'कविवर बिहारी', पृ० ६३, ६९, ७७।

३. दे० वही 'कविवर बिहारी', पृ० ८०, वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ६०, तथा वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १९८।

मध्यम पुरुष[1]

	एकवचन	बहुवचन
मूल रूप	तू, तैं, तें, हूँ	तुम
विकृत रूप	तो	तुम
कारक-रूपरचना-कर्त्ता	तू, तैं, तैंने, तूँ	तुम, तुमने
कर्म-सम्प्रदान	तोकों, तोको, तोकूँ, तोहि, तोही, तैं, इत्यादि	तुमकों, तुमकूँ, तुमहि, तुम्हैं, तुमनि, तुमन, इत्यादि
करण-उपादान	तोसों, तोसें, तोतें, तोहि, तोहीं, तोही, इत्यादि	तुमसों, तुमसें, तुमतें, तुमहीं, तुमही, तुमहिं, तुमहि, तुम्हैं, तुमनु, तुमनि इत्यादि
सम्बन्ध	तेरौ, तेरो, तेरे, तेरी, तु, तौ, तोहि, तोहिं, तोहीं, तोही, तौ, तव, इत्यादि	तुम्हारौ, तुम्हारो, तुम्हारे, तुम्हारी, तिहारौ, तिहारे, तिहारी, तुमहिं, तुमहि, तुमही, तुमनु, तुमनि, तुमन, इत्यादि
अधिकरण	तोमैं, तोपै, तोहिं, तोहीं, इत्यादि	तुममैं, तुमपै, तुमहिं, तुमहीं, तुमनु, तुमनि, तुमन, इत्यादि ।

अन्य पुरुष[2]

मूलरूप	वह	वे
विकृत रूप	वा	उन
कारक रूपरचना-कर्त्ता	वह, वो, वु, वाने, आदि	वे, उनने
कर्म-सम्प्रदान	वाको, वाकूँ, वाहि, इत्यादि	उनकों, उनकू, उनहिं, उन्हैं, इत्यादि ।
करण-अपादान	वासों, वासें, वातें, इत्यादि	उनसों, उनसें, उनतें, इत्यादि
सम्बन्ध	वाकौ, वाको, वाके, वाकी, इत्यादि	उनकौ, उनको, उनके उनकी, इत्यादि
अधिकरण	वामैं, वापै, इत्यादि	उनमैं, उनपै, इत्यादि

संकेतवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक तथा नित्यसम्बन्धी सर्वनामों के रूप अन्य पुरुष के उक्त रूपों के समान ही चलते हैं[3] । इन सर्वनामों के मूल तथा विकृत रूप नीचे दिये जाते हैं—

---

१. दे० वही 'कविवर बिहारी', पृ० ८१, वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ६६, तथा वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १६८-१६६ ।

२. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० १६६ ।

३. दे० वही, पृ० १६६ ।

संकेतवाचक[१]—

	एकवचन	बहुवचन
मूलरूप	यह, वह	ये, ए, वै, वे
विकृत रूप	या, वा	इन, उन, विन

सम्बन्धवाचक[२]—

मूलरूप	जो	जे
विकृत रूप	जा	जिन

एकवचन में जिह, जिहिं, जेहि, जिहि तथा जास रूप और हैं—

प्रश्नवाचक[३]—

मूलरूप	कौन, को	कौन, को
विकृत रूप	का	किन

एकवचन में 'काह' तथा बहुवचन में 'कौने' रूप और मिलते हैं। अचेतन पदार्थों के लिए मूलरूप 'कहा' तथा विकृतरूप 'काहे' का प्रयोग होता है।

नित्यसम्बन्धी[४]—

मूलरूप	सो	ते, से
विकृत रूप	ता	तिन

इनके अतिरिक्त सर्वनामों के अनिश्चय, आदर तथा निजवाचक रूपों का भी ब्रजभाषा के अन्तर्गत प्रयोग होता है। इन सर्वनामों के जो रूप उपलब्ध होते हैं, वे इस प्रकार हैं—

अनिश्चय[५]—	(चेतन पदार्थों के लिए)	
मूलरूप	कोऊ	कोई
विकृत रूप	काहू	—
	(अचेतन पदार्थों के लिए)	
	कछू	कछुक

आदरसूचक[६]—

मूल तथा विकृत रूप—आप, आपु, आपुन

सम्बन्ध कारक—रावरे, रावरो, रावरी, राउरे।

निज वाचक[७]—

मूल तथा विकृत रूप—आपु, आप, आपन, आपनो, आपने, आपनि, आपनो, अपने, अपनि, अपनौ, अपनों।

१. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ७०-७४।
२. दे० 'ब्रजभाषा व्याकरण' पृ० ७०-७५।
३. दे० वही, पृ० ७६-८०।
४. दे० वही, पृ० ७७।
५. दे० वही, पृ० ८२-८३।
६. दे० वही, पृ० ८६।
७. दे० वही, पृ० ८५।

क्रिया—सामान्यतः मूल क्रिया के दो भेद होते हैं—तिङन्त और कृदन्त ; जिनमें से प्राचीन ब्रजभाषा के अन्तर्गत तो 'तिङन्त के कतिपय रूप उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु अब तक आते-आते खड़ी बोली में इनकी स्थिति अपवाद के लिए ही रह गई है और प्रायः 'कृदन्त' क्रियाओं का ही प्राचुर्य देखने को मिलता है[1]। 'तिङन्त' क्रियाएँ काल, वचन और पुरुष के अनुसार होती हैं—लिंग का उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता; जबकि दूसरी ओर कृदन्त क्रियाएँ पुरुष से प्रभावित नहीं रहतीं—उनमें लिंग, वचन और काल से ही विकृति आती है, पुरुष की सूचना सहायक क्रिया से ही हो जाती है[2]। इस प्रकार क्रिया के उक्त दोनों रूपों के अतिरिक्त सहायक क्रियाओं का भी अपना महत्त्व हो जाता है।

सर्वप्रथम 'कृदन्त' क्रिया के रूपों पर ही काल के अनुसार विचार करते हैं।

वर्तमान काल[3]

ब्रजभाषा के अन्तर्गत दोनों ही लिंगों के लिए व्यंजनान्त धातुओं में 'अत' और स्वरान्त धातुओं में 'त' लगाकर वर्तमानकालिक 'कृदन्त' क्रियाओं के रूप बनाये जाते हैं—सेवत, जात। कभी-कभी पुल्लिग में 'अतु' और स्त्रीलिंग में 'अति' अथवा 'ति' लगाकर भी ये रूप बनाये जाते हैं—जानतु, कहति।

भूत काल[4]

भूतकालिक 'कृदन्त' क्रियाओं के रूपों की रचना साधारणतः निम्नलिखित प्रत्यय लगाकर होती है—

	एक वचन	**बहुवचन**
पुल्लिग	ओ, औ, यो, यौ	ए, ये, यै
स्त्रीलिंग	ई	ईं

पूर्वकालिक-कृदन्त[5]

पूर्वकालिक-कृदन्त क्रियाओं के रूप मुख्यतः इस प्रकार बनते हैं—

(क) अ-कारान्त अथवा व्यंजनान्त धातुओं में 'इ' लगाकर—निहारि, करि।

(ख) ऊ-कारान्त धातुओं में 'इ' लगाकर, जिससे 'ऊ' के स्थान पर 'व' हो जाता है—छ्वै, च्वै।

(ग) आ-कारान्त तथा ओ-कारान्त धातुओं में 'इ' के स्थान पर 'य' लगाकर—खाय, गाय।

(घ) ए-कारान्त धातुओं में 'ए' के स्थान पर 'ऐ' लगाकर—लै, दै।

'हो' सहायक-क्रिया का पूर्वकालिक-कृदन्त रूप ब्रजभाषा में ह्वै होता है ;

---

१. दे० वही 'कविवर बिहारी, पृ० ८६।
२. दे० वही, पृ० ८६।
३. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ९५-९६।
४. दे० वही, पृ० ९६-९८।
५. दे० वही, पृ० ९८-१००।

'कर' का 'करि' होना चाहिए, किन्तु प्रायः 'कै' ही होता है। कभी-कभी इन पूर्व-कालिक कृदन्तों को कै, के, कैं, कें की भी अपेक्षा रहती है।

सहायक-क्रियाएँ[1]

काल, वचन और पुरुष के अनुसार ब्रजभाषा के अन्तर्गत निम्नलिखित क्रियाएँ प्रयोग में आती हैं—

वर्तमान काल— (निश्चयार्थ)

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष	हौं, हों, हूँ	हैं
मध्यम पुरुष	है	हौ
अन्य पुरुष	है	हैं
	(सम्भावनार्थ)	
उत्तम पुरुष	हौं, हौंउ, होहूँ	होहिं
मध्यम पुरुष	—	होहु
अन्य पुरुष	होय, होई, होइ, होवै	होहिं
	(आज्ञार्थ)	
मध्यम पुरुष	—	होहु, हूजै

भूतकाल— (निश्चयार्थ)

(अस् धातु)		
पुल्लिग	हो, हौ, हुतो, हुतौ, हतो	हे, हुते, हते
	ही, हुती, हती	हीं, हुतीं
	एकवचन	**बहुवचन**
('भू' धातु)—		
पुल्लिग	भयो, भयौ, भो, भौ	भये
स्त्रीलिंग	भई	भईं
	(सम्भावनार्थ)	
पुल्लिग	होतौ, होतो	होते
स्त्रीलिंग	होती	होतीं

भविष्यत् काल— (निश्चयार्थ)

पुल्लिग उत्तम पुरुष	ह्वै हौं	ह्वै हैं, ह्वै हो
पुल्लिग मध्यम पुरुष	ह्वै है	ह्वै हौ
पुल्लिग अन्य पुरुष	ह्वै है, होइ है, होयगो, होयगौ	ह्वै हैं, होहुगे, होउगे, होयँगे
स्त्रीलिंग अन्य पुरुष	होयगी	ह्वै हैं

तिङन्त-क्रियाएँ

तिङन्त-क्रिया के रूप तीनों कालों में वचन और पुरुष के अनुसार धातु में निम्नलिखित प्रत्यय लगाने से बनते हैं—

---

१. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ८८-९५।

वर्तमान काल—	(निश्चयार्थ)[१]	
उत्तम पुरुष	औं, ऊँ, ओं	अइँ, एँहि
मध्यम पुरुष	अहि	औं, ओं, एं, एँ
अन्य पुरुष	ऐ, ए य, इ	अहु, हु, औ, ओ, उ
	(आज्ञार्थ)[२]	
मध्यम पुरुष	उ, अ, इ, हि	अहु, हु, औ, ओ, उ

भूतकाल—भूतकाल 'तिङन्त' क्रियाओं का प्रयोग ब्रजभाषा में अत्यन्त न्यून हुआ है तथा उनका स्थान प्रायः क्रिया के रूपों ने आरम्भ से ही ले रखा है[3]। यही कारण है कि इनके भूत-निश्चयार्थ के लिए 'कृदन्त'-क्रियाओं के भूत निश्चयार्थ रूपों का प्रयोग कर दिया जाता है[४] तथा भूत सम्भावनार्थ के लिए भी इनके रूप पुरुष के अनुसार न होकर 'कृदन्तों' के समान लिंग के अनुसार ही चलते हैं[५]; देखिये—

	एकवचन	**बहुवचन**
पुल्लिग	अतो, अतौ	अते
स्त्रीलिंग	अती	अतीं

भविष्यत् काल[६]—	(निश्चयार्थ)	
पुल्लिग उत्तम पुरुष	औंगो, ऊँगौ, उँगौ	एँगे
पुल्लिग मध्यम पुरुष	ऐगौ, यगौ	औगे, ओगे, हुगे
पुल्लिग अन्य पुरुष	ऐगो, एगो, एगौ, यगो	एँगे, हिगे, ऐंगे, यगे
स्त्रीलिंग उत्तम पुरुष	औंगी, ओंगी	अहिंगी
स्त्रीलिंग मध्यम पुरुष	ऐगी	अहुगी, ओगी, औगी
स्त्रीलिंग अन्य पुरुष	ऐगी, अहिगी, यगी	अहिंगी
	('इ' लगाकर बने हुए रूप)	
उत्तम पुरुष	इ हौं, इहों	इहैं
मध्यम पुरुष	इहै	इहौ
अन्य पुरुष	इहै	इहैं

संयुक्त काल—(निश्चयार्थ)[७]

वर्तमान (अपूर्ण)—वर्तमानकालिक 'कृदन्त' तथा वर्तमान की सहायक-क्रिया (निश्चयार्थ) के संयोग से बनता है—मथुरा जाति हौं।

---

१. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० १००-१०२, तथा वही 'कविवर बिहारी', पृ० ८७-९० ।

२. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० १०६–१०७।

३. दे० वही 'कविवर बिहारी', पृ० ९० ।

४. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० १०२।

५. दे० वही, पृ० १०७–१०८।

६. दे० वही, पृ० १०२-१०६ ।

७. दे० वही, पृ० १०८-११ ।

(पूर्ण)—भूतकालिक 'कृदन्त' तथा वर्तमान की सहायक-क्रिया (निश्चयार्थ) के संयोग से बनता है—आयौ हो।

भूतकाल (अपूर्ण)—वर्तमानकालिक 'कृदन्त' तथा सहायक-क्रिया (भूत-निश्चयार्थ) के संयोग से बनता है—हेरति ही।

(पूर्ण)—भूतकालिक 'कृदन्त' तथा सहायक-क्रिया (भूत-निश्चयार्थ) के संयोग से बनता है—आली हौं गई ही आजु।

वाच्य[1]—संयोगात्मक कर्मवाच्य ब्रजभाषा में 'य' लगाकर बनते हैं—कहियत है; मारियतु है। 'जानो' क्रिया के रूपों की सहायता से बने कर्मवाच्य का प्रयोग भी ब्रजभाषा में प्रचुरता से मिलता है—गनी नहिं जाति।

क्रियार्थक संज्ञा अथवा भाववाचक संज्ञा[2]—क्रियार्थक संज्ञाओं के रूप ब्रजभाषा में दो प्रकार से बनते हैं—एक तो व्यंजनान्त धातुओं में 'अनों' या 'अनौ' तथा स्वरान्त धातुओं में 'नों' अथवा 'न' प्रत्यय लगाने से और दूसरा रूप 'इबौ', 'इबो' लगाने से—रूठनों, करनौं, लेनों, बोलिवो, भरिबो। इनके विकृत रूप धातुओं में 'अनों' और 'नों' के स्थान पर क्रमशः 'अन' और 'न' तथा 'इबो' के स्थान पर 'इबै' लगाने से बनते हैं—करत, लैन, आइवे। कभी-कभी धातु में 'ए', 'एँ' लगाने से भी विकृत रूप बनते हैं—परैं, देखें, देषे।

कर्त्तृवाचक संज्ञा[3]—कर्त्तृवाचक संज्ञा 'धातु' में 'इया', 'ई', 'ऐया' लगाने से बनती है—भरिया, धारी, रखैया। क्रियार्थक संज्ञा में 'हारो', 'हारी', 'वारो', 'वारी', 'वारे' लगाने से भी यह बनती है—दिखावनहारी, देनवारी।

अस्तु, इन विशेषताओं से स्पष्ट है कि ब्रजभाषा के अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम इत्यादि के व्याकरण-रूपों में विकल्पों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक हुआ है। इधर अन्य प्रान्तीय बोलियों की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं तथा रूपों का प्रयोग भी इनमें इतना सामान्य हो गया है कि कदाचित् इनको इस भाषा की अपनी विशेषताएँ समझने का भ्रम हो सकता है। उदाहरण के लिए बुन्देली को 'ड' के स्थान पर 'र', 'यो' के स्थान पर 'ओ' तथा सर्वनामों के अनुस्वार युक्त होने की विशेषता[4]; अवधी के रावरे, जेहि, केहि, मोर, हमार, उहि, जौन इत्यादि सर्वनाम; कहँ, सन आदि कारक-विभक्तियाँ; कीन, दीन, आहि, अहै आदि क्रिया-रूप[5], राजस्थानी के थारो, म्हारो जैसे सर्वनाम तथा आ-कारान्त संज्ञाएँ (=घोड़ाँ) इसमें प्राय: देखने को मिल सकती हैं[6]। ऐसी स्थिति में यदि कोई भाषाशास्त्री यह निष्कर्ष

---

१. दे० वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० ११५।

२. दे० वही, पृ० १११-१३।

३. दे० वही, पृ० ११३-१४।

४. दे० 'ब्रजभाषा'—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा (सन् १९५४ ई० का संस्करण), पृ० ४४; वही 'ब्रजभाषा व्याकरण', पृ० १८-१९, तथा वही 'देव और उनकी कविता', पृ० २०१।

५. दे० वही 'ब्रजभाषा', पृ० ९०-११६ तथा वही 'बुद्धचरित', भूमिका, पृ० ५१-५३।

६. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० २०१-२।

निकाल बैठे कि व्याकरण की दृष्टि से ब्रजभाषा अव्यवस्थित है तो आश्चर्य नहीं। परन्तु भाषा में इस प्रकार की निरंकुशता प्रायः होती ही रहती है—विशेषतः उस स्थिति में जबकि उसका प्रयोग साहित्य और साधारण व्यवहार की भाषा के रूप में दीर्घकाल तक हुआ हो अथवा उसका क्षेत्र इतना व्यापक रहा हो कि जिसमें अनेक बोलियाँ अपनी स्वतन्त्र विशेषताओं सहित अस्तित्व रखती हों। कारण, समय के साथ परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों के अनुसार भावों में परिवर्तन होता है, जो भाषा पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। इसी प्रकार अपना व्यापक क्षेत्र बनाने वाली भाषा के लिए भी यह अनिवार्य हो जाता है कि वह अपने क्षेत्र में आने वाली बोलियों—यहाँ तक कि भाषाओं को भी अपने भीतर सँभाले—जो तभी सम्भव है जबकि इसमें उनकी विशेषताएँ बिना किसी भेद-भाव के ग्रहण की जायें। ब्रजभाषा के व्याकरण में दृष्टिगोचर होने वाली इस विविधता के मूल में ये दोनों ही बातें विद्यमान हैं। सूरदास से पहले, यह साहित्यिक भाषा के रूप में आई अथवा पीछे इस विवाद में पड़े बिना भी इतना निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि खड़ी बोली के स्थान ग्रहण करने तक इसे कम से कम ऐसी दो विपरीत प्रवृत्तियों में रहना पड़ा, जिनमें से एक विराग की थी और दूसरी थी राग (शृंगार) की। अतएव प्रथम के वातावरण में पली हुई ब्रजभाषा दूसरी के अन्त तक यदि अपने स्वरूप में परिवर्तन कर बैठी तो वह स्वाभाविक ही था, क्योंकि कवियों के विचारों से ही भाषा का स्वरूप बनता-बिगड़ता है। ऐसे ही ब्रजभाषा का क्षेत्र आरम्भिक अवस्था में चाहे मथुरा के आस-पास की भूमि रही हो, किन्तु रीतिकाल तक इसका क्षेत्र सम्पूर्ण उत्तर भारत के अतिरिक्त इधर राजस्थान और उधर कुमायूँ तक इतना फैल चुका था कि प्रायः प्रत्येक कवि इस भाषा में कविता करने में ही गौरव समझता था, अतः इस क्षेत्र के बीच के निवासी कवियों के उच्चारण, उनकी मातृभाषा के व्याकरण सम्बन्धी प्रयोगों अथवा छन्द इत्यादि के आग्रह के कारण ब्रजभाषा पर प्रभाव पड़ गया तो अस्वाभाविक नहीं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के भाषागत अनियन्त्रण का एक कारण यह भी है कि उस समय यह काव्य की ही भाषा थी, गद्य की नहीं जो इसके ऊपर नियन्त्रण रखता। सारांश यह कि ब्रजभाषा के व्याकरण में जो अनेकरूपता देखने को मिलती है, उसका कारण इसकी अपनी विशेष परिस्थितियाँ हैं, जिन्हें उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

सौष्ठव

ब्रजभाषा तीन शताब्दियों के दीर्घकाल तक इतने विस्तृत भू-खण्ड की काव्य-भाषा होकर जो विश्रुति प्राप्त कर सकी, उसका कारण इसका अपना सौष्ठव ही था, जिसके माधुर्य की ओर व्यक्ति स्वतः ही आकृष्ट हो जाता है। यह सहज गुण इसने जहाँ एक ओर प्राकृत और अपभ्रंश-परिवारों में अत्यन्त मधुर 'शौरसैनी', प्राकृत तथा अपभ्रंश से विरासत के रूप में प्राप्त किया, वहाँ दूसरी ओर भक्तिकाल के वातावरण के कारण इसमें वृद्धि हुई। बात यह है कि इस युग की कविता मुख्यतः भक्ति और वात्सल्य में ही प्रस्फुटित हुई, जिनकी सूक्ष्म और सुकुमार

अभिव्यक्ति के लिए भाषा-मार्दव की आवश्यकता थी। अतएव शब्दों में माधुर्य लाने के लिए स्वभावतः स्वरों का आश्रय लिया गया, जिनके 'आगम' से प्रायः संयुक्ताक्षर वाले संस्कृत शब्दों ने तद्भव रूप धारण कर लिया। ऐसे शब्दों की विशेषता यह रही कि इनका स्वरूप भी एक नहीं था; सुविधानुसार कवि उनको ग्रहण कर लेते थे। इधर जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से ही इसमें शब्दों को ग्रहण नहीं किया गया, इनके अतिरिक्त अरबी, फारसी जैसी विदेशी भाषाओं के शब्दों को भी स्वतन्त्रता के साथ इस ढंग से लिया गया कि वे सर्वथा इसके अपने ही हो गये तथा प्रान्तीय बोलियों के शब्दों के लिए तो किसी प्रकार का प्रतिबन्ध ही नहीं था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि शब्द-भाण्डार से इस प्रकार की समृद्ध भाषा में विशेष प्रकार का लोच आ गया, जिसके फलस्वरूप छन्द, गुण आदि के आग्रह को सरलता से निबाहा जा सका। संक्षेप में माधुर्य और लोच ही ऐसे दो गुण हैं, जिनके कारण ब्रजभाषा इतना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकी।

मतिराम की भाषा

शब्द-समूह—मतिराम की भाषा-शैली के अध्ययन सम्बन्धी प्रस्तुत प्रसंग के अन्तर्गत सर्वप्रथम उसके शब्द-समूह पर विचार करते हैं। रीतिकाल के अन्य कवियों के समान मतिराम का शब्द-भाण्डार भी काफ़ी समृद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी अभिव्यक्ति को अधिक मार्मिक और सरस बनाने के हेतु उन्होंने ब्रजभाषा के अपने शब्दों का अधिक प्रयोग किया है, परन्तु इसके साथ ही उन भाषाओं के शब्दों को भी कम संख्या में ग्रहण नहीं किया, जिनके शब्द तत्कालीन साहित्यिक ब्रजभाषा ने बिना किसी संकोच के अपना लिये थे। इसका एक कारण उनकी अपनी परिस्थितियाँ भी हैं। उनका जन्म बुन्देलखण्ड के प्रतिष्ठित पण्डित परिवार में हुआ ही था, आगे चलकर संस्कृत के रीतिग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन भी किया। इधर उनका दरबारी जीवन जहाँगीर और उसके पश्चात् भाऊसिंह जैसे हिन्दू शासकों के आश्रय में व्यतीत हुआ, जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में मुग़ल-शासन से पड़ता ही था। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि संस्कार और अर्जन के फलस्वरूप उनकी भाषा में संस्कृत, अरबी, फ़ारसी जैसी समृद्ध भाषाओं के शब्द भी आ गये। वैसे संस्कृत के तत्सम शब्द उनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक हैं। बानगी के लिए देखिये—

प्रान प्रिया मन-भावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा 'मतिराम' मनोहर केलि के पुंज हजार उघारे॥
होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम सुन्दरि के हिय में दुखभारे।
चन्द सो आनन दीप सी दीपति स्याम सरोज से नैन निहारे॥३४॥

(रसराज)

इस छन्द में समस्त रेखांकित शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द ही हैं, जो अपने सहज माधुर्य के कारण कवि की भाषा के अंग बन गये हैं। एक और उदाहरण लें—

मुकुट मोर पर पुंज मंजु सुरधनुष बिराजत।
पीत बसन छन-छन नवीन छन-छन छबि छाजत॥
बचन मधुर गम्भीर घोष बरषत प्रमोद बर।
वृन्दावन वर बाल-बेलि बृन्दन बिलासकर॥
मतिराम सकल संताप हर भावसिंह भूपाल मन।
गोविन्द नन्द नन्दन सुखद घन सुन्दर आनन्द घन॥५॥

(ललितललाम)

इसमें 'ब' के स्थान पर 'व', 'छ' के स्थान पर 'क्ष', तथा 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग किया जाय तो निश्चय ही यह छन्द संस्कृत के अधिक निकट ठहरेगा, ब्रजभाषा के नहीं। परन्तु मतिराम के ग्रन्थों में इस प्रकार की रचनाएँ संख्या की दृष्टि से बहुत कम हैं। केवल स्तुति-परक छन्दों में ही इस प्रकार की शब्दावली का उपयोग इस ओर संकेत करता है कि वे शब्दों की ध्वनि द्वारा भक्ति का पावन वातावरण उत्पन्न कर देना चाहते हैं।

संस्कृत समास-बहुला भाषा है, जबकि ब्रजभाषा इसके विपरीत व्यास-प्रधान है। ऐसी स्थिति में संस्कृत के शब्द स्वभावतः ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ते और यदि इनका प्रयोग इसमें कर भी दिया जाय, तो इसके स्वारस्य में एक प्रकार की शिथिलता आ जाती है। रीतिकाल के अन्तर्गत इस दोष का परिहार करने के लिए ही कवियों ने प्रायः ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल संस्कृत-शब्दों को ढालने का प्रयास किया। मतिराम का आग्रह यद्यपि संस्कृत-शब्दों को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने की ओर अधिक रहा है, पर भाषा-मार्दव के मूल्य पर नहीं। यही कारण है कि जहाँ उन्हें भाषा-माधुर्य का हनन होता हुआ दिखाई दिया है, वहीं पर शब्द को तद्भव-रूप में ढाल लिया है। उदाहरण के लिए देखिए निम्नोक्त उद्धरणों के रेखांकित शब्द इसी प्रकार के हैं—

(१) दरप सौं गरी वह दरपन देख्यौ जौ लौं,
तौलौं प्रान प्यारी के उरोज हरि परसै॥५६॥

(रसराज)

(२) मोर पखानि किरीट बन्यौ मुकतानि के कुण्डल सोन बिलासी।
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' सुभ्यौं बिसरै मुसकानि सुधा-सी॥३२२॥

(ललितललाम)

(१) नखतावलि नख इन्दुमुख तनु दुति दीप अनूप।
होति निसा नन्दलाल मन लखें तिहारो रूप॥१०१॥

(सतसई)

संस्कृत-शब्दों की अपेक्षा मतिराम ने अरबी-फ़ारसी-शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया है। इनके प्रयोग में उनका उद्देश्य अनुभूति के अनुरूप भाषा में नाद-सौन्दर्य उत्पन्न करने का रहा है, जिसकी पूर्ति के लिए साधारणतः वे इन्हें ब्रजभाषा के अनुसार ही ढाल लेते हैं। देखिये—

(क) 'मतिराम' कहै जाहि साहिबी फबति है ।। (३६)
(ख) ऐसे सब खलक तें सकल सकिलि रही··· (४१)
(ग) फौजके सिंगार हाथी और महिपालन के···(१४०)
(घ) साहनि सों अकसिबौ हाथिन कौ बकसिबौ···(२७३)
(ङ) जोबन जरब महारूप के गरब गति···(२८०)
(च) संगर फतूहैं सदा जासों अनुरागतीं। (३७८)
(ललितललाम)
(छ) लसत गूजरी ऊज री बिलसत लाल इजार। (६६)
(रसराज)

यहाँ 'साहिबी', 'खलक', 'फौज', 'अकसिबौ', 'जरब', 'फतूहैं' और 'इजार' शब्द क्रमशः अरबी-शब्दों—'साहिब', 'ख़लक', 'फ़ौज', 'अकस', 'ज़रब', 'फ़तूह' और 'इज़ार' के ब्रजभाषा में ढले हुए रूप हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित उद्धरणों के 'हजार', 'बजार', 'बखत', 'बिलंद', 'गरद', 'साहनि' और 'बकसिबौ' शब्द क्रमशः फ़ारसी शब्दों—'हज़ार', 'बाज़ार', 'बख़्त', 'बुलन्द', 'गर्द', 'शाह' और 'बख़्श' के रूप हैं—

(क) हियं हजारन के हरै बैठी बाल बजार ।। (६६)
(रसराज)
(ख) बखत बिलंद मुख सुन्दर सरदचन्द
देखि करि गरद गुमान-होत काम को ।।२५०।।
(ग) साहनि सों अकसिबौ हाथिन को बकसिबौ ··(२७३)
(ललितललाम)

अरबी-फारसी के विकृत रूपों के अतिरिक्त मतिराम ने उनके तत्सम रूपों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए--

(क) सौतिनि की मजलिस जुरी पौसत के से फूल। (३२)
(फूलमंजरी)
(ख) कहै 'मतिराम' और जाचक जहान सब··· (३६)
(ग) मौज के सिंगार भावसिंह महादानि के। (१४०)

(घ) देखि करि गरद गुमान होत काम को। (२५०)
(ललितललाम)

इनमें 'मजलिस' और 'मौज' अरबी के तथा 'जहान' और 'गुमान' फ़ारसी भाषा के हैं।

कभी-कभी इन शब्दों का संघट्ट हो जाता है तो इनके साथ ब्रजभाषा के अपने शब्द भी इनमें मिले हुए से लगते हैं। उस स्थिति में इनसे निश्चय ही ऐसा नाद उत्पन्न होता है जो अन्य किसी भाषा के शब्दों द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता; देखिये—

(क) दरद गरीबन को बकसौ गनीमन कों
गनीमन को गरब गरीबन को बकसौ ॥६५॥
(अलंकार पंचाशिका)

(ख) गरबी गनीम बरगीन को दहति है··· (१३१)
(ललितललाम)

किन्तु इस प्रकार के अंश उनकी रचनाओं में संख्या की दृष्टि से अधिक नहीं हैं।

अपभ्रंश और प्राकृत का ब्रजभाषा के साथ जितना निकट का सम्बन्ध है, उतना और किसी भाषा का नहीं रहा। यही कारण है कि इन भाषाओं के अनेक शब्द—अपने विकसित और मूल दोनों ही रूपों में—ब्रजभाषा में इतने घुल-मिल गये हैं कि अनायास ही उन्हें पृथक् करके नहीं रखा जा सकता, मतिराम की रचनाओं में ब्रजभाषा के अन्तर्गत इस प्रकार के प्रचलित शब्दों में से 'गोवै', 'लहिय', 'सामुहैं', 'लौन', 'हियरा', 'लोइनि' जैसे अनेक शब्दों[1] का ही प्रयोग नहीं हुआ, प्रत्युत अयान, नाह,

---

१. दे० बूझें सखीनहु सों दुख गोवै··· (१२३)
(रसराज)

दे० सुजस अमल प्रतिदिन लहिय·· (२६०)
(ललितललाम)

धरें पौन के सामुहैं (१७५)

सौतिन के लोचननि लोन सो लगाइये··· (१८१)

छाय रह्यो हियरा दुख सों··· (१४५)
(रसराज)

चंचल लोइनि हयनि परि··· (४१)
(सतसई)

साईं, नेहु, कित्ति, जस, पीउ, खग्ग, मेह, जैसे शब्द भी[1] अपने अविकृत रूप में प्रायः देखने को उपलब्ध हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रगट्टियउ, प्रगट्टत, निघट्टत, फट्टियउ, जैसे कतिपय शब्द[2] भी उन्होंने गढ़ लिये हैं जो अपभ्रंश के से लगते हैं।

जहाँ तक प्रान्तीय बोलियों के शब्दों का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मतिराम ने किसी ऐसे शब्द का तो प्रयोग किया नहीं जो स्पष्टतः ब्रजभाषा के क्षेत्र से बाहर व्यवहार में आता हो, शेष शब्द अपभ्रंश और प्राकृत के समान ही इस भाषा के ऐसे अभिन्न अंग बने हुए हैं कि उनके विषय में कोई शब्दों का विशेषज्ञ ही अनुसन्धान करके बता सकता है कि अमुक शब्द का मूलगत सम्बन्ध अमुक प्रान्त से है। इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने जो गिने-चुने शब्द गढ़े हैं वे ब्रजभाषा के लिए नये-से लगते हैं, पर वास्तव में ये प्रचलित शब्दों का विकार मात्र

---

१. दे० आयो है सयानप गयो है अयान मन (२३५)

नाह के ब्याह की चाह सुनी··· (८३)

(रसराज)

···रीझत हैं तिहुँ लोक के साईं ॥१६६॥

(ललितललाम)

सतरौंही भौंहन नहीं दुरै दुरायो नेह। (७८)

(रसराज)

कित्ति जौन्ह करत जगत चित चाव है। (४७)

(ललितललाम)

औरन के जस तेरे जस में मिलत ऐसे··· (१२)

(अलंकार पंचाशिका)

कोउ कितेक उपाय करौ कहुँ होत हैं आपुने पीउ पराए ॥१२६॥

(रसराज)

हाथ में तिहारे खग्ग जीति को जमान है। (२६२)

(ललितललाम)

कैयो घरी निसि बीति गई अरु मेह चहूँ दिसि आयो उनैहै। (१६१)

(रसराज)

२. दे० (क) 'मतिराम' एक दाता निमनि जग जस अमल प्रगट्टियउ। (२३)

(ख) तिमिर तुलित तुरकान प्रबल दिसि बिदिस प्रगट्टत।

चलत पंथ पंथनि धरम श्रुति करम निघट्टत। (३५)

(ग) 'मतिराम' सुजस दिन-प्रति बढ़त सुनत दुवन उर फट्टियउ ॥२५६॥

(ललितललाम)

रही हैं। उदाहरण के लिए सेनी, नही, सलुंभहिं शब्द[1] क्रमशः शयन, नहाई, सलुब्ध के ही यद्यपि गढ़े हुए रूप हैं, पर इनका स्वरूप ब्रजभाषा के अन्य शब्दों से भिन्न प्रतीत होता है।

संक्षेप में मतिराम ने ब्रजभाषा के अपने शब्दों के अतिरिक्त अन्य सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग इतनी स्वच्छता और संयम के साथ किया है कि बिना किसी संकोच के उन्हें ब्रजभाषा के आदर्श कवियों की कोटि में रखा जा सकता है। अंगुलियों पर गणना करने योग्य कतिपय शब्दों को छोड़कर उनकी रचनाओं में किसी भी भाषा के शब्दों का ऐसा ऊबड़-खाबड़ प्रयोग नहीं हुआ जिसके कारण उन्हें भूषण अथवा देव जैसे कवियों की श्रेणी के निकट भी लाया जा सके। साधारणतः जिन शब्दों को उन्होंने सौन्दर्य की सृष्टि के लिए विकृत भी किया है, वे भी किसी प्रकार से अर्थ की दृष्टि से दुरूह नहीं हो पाये।

व्याकरण—शब्दों के समान ही व्याकरण की दृष्टि से भी मतिराम की भाषा अत्यन्त स्वच्छ है। इसके वाक्य-विन्यास में सामान्यतः इस प्रकार का कोई व्यतिक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता, जिससे अर्थ तक पहुँचने में किसी प्रकार की बाधा पड़ती हो; अन्वय की भी कम ही आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिए एक छन्द देते हैं, देखिये—

सकल सहेलिन के पीछे-पीछे डोलति है
मंद मंद गौन आजु हिय को हरत है।
सम्मुख होत 'मतिराम' मुख होत जबै
पौन लागे घूँघट को पट उघरत है॥
कालिंदी के तट बंसीबट के निकट
नँदलाल को सकोचन तें चाह्यौ न परत है।
तनु तो तियाको बर भाँवरें भरत मनु—
साँवरे बदन पर भाँवरें भरत है॥३७८॥

साधारणतः लय और छन्द के कारण वाक्य में कर्त्ता, कर्म और क्रिया का क्रम गद्य के समान नहीं रहता, किन्तु प्रस्तुत छन्द के अन्तर्गत कवि ने इनको उसी क्रम में प्रस्तुत किया है, इसी कारण इसका प्रत्येक वाक्य लययुक्त होता हुआ भी गद्य के निकट दृष्टिगोचर हो रहा है। यहाँ तो वाक्य-विन्यास साधारण है, क्योंकि प्रायः एक ही क्रिया का उपयोग किया गया है। परन्तु मतिराम ने अनेक क्रियाओं का एक साथ प्रयोग करके भी वाक्यों में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने दी। देखिए—

---

१. दे० **आई हौ पांय दिवाय महावर कुंजन तें करिके सुख सैनी।** (७७)
ऐसी भाँति भई वह तेरे नेह सौं नही। (२८०)
(रसराज)
रतन सुतन अवलोकि लोक पति भान सलुंभहिं। (१७२)
(ललितललाम)

पाइ इकंत के बाल सो बालम जो रति रूप कला बरसावै।
नाहीं कढ़ै मुख नारि के नाह जहीं हिय सों हियरा परसावै॥
काम बढ़ो 'मतिराम' तहीं अति लाल बिलासनि कौं सरसावै।
जोवै त्रसै मन मोवै अनंद में रोवै हँसै रस को बरसावै॥२७८॥
(ललितललाम)

इस छन्द के अन्तर्गत सर्वत्र 'तिङन्त' क्रियाओं का ही उपयोग किया गया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मतिराम की भाषा दोषों से सर्वथा मुक्त है। उसमें व्याकरण सम्बन्धी ऐसे दोष अपवादस्वरूप मिल ही जाते हैं, जो रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। देखिए—

लिंग और वचन-दोष—

बारि के बिहार बरवारनि के बोरिबे कौं
बारिचर बिरचीइलाज जयकाज की। (१२६)
(ललितललाम)

यहाँ 'इलाज' शब्द स्त्रीलिंग है, जबकि साधारणतः इसका प्रयोग पुल्लिग में ही होता है। परन्तु इसके सम्बन्ध में यह तर्क दिया जा सकता है कि यह शब्द मतिराम के समय में इसी प्रकार से ग्रहण किया जाता रहा होगा। यदि यह बात मान भी लें तो भी ऐसी त्रुटियाँ उनकी रचनाओं में और भी मिल सकती हैं, यथा—

ध्याय सदा पद पंकज को 'मतिराम' तवै 'रसराज' बखानी॥१॥
(रसराज)

यहाँ 'रसराज' के लिए 'बखानी' क्रिया का प्रयोग इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि मतिराम ने 'रसराज' शब्द स्त्रीलिंग में ही ग्रहण किया है, जबकि दूसरे स्थान पर वे इसे पुल्लिग में भी ग्रहण करते हुए मिलते हैं—

रसिकन के रस को कियो नयो ग्रन्थ 'रसराज'॥४२७॥
(रसराज)

इसी प्रकार—

रंचक न ऊँचो लगो अंचल उरोजन के
अंकुरन बंक दीठि नेक-सो बिसाल भौ (१५)
(ललितललाम)

इसमें 'दीठि' शब्द पुल्लिग शब्दों की कतार में रख दिया गया है, जबकि 'सतसई' में यह स्त्रीलिंग ही है—

दीठि बचाइ सलौन की केलि भौन में जाइ॥२७२॥
(सतसई)

लिंग के समान शब्दों के वचन-निर्धारण में भी मतिराम कहीं-कहीं प्रमाद कर गये हैं—

जाके एक-एक रोम कूपनि में कोटिन
अनन्त ब्रह्मांडनि को वृन्द विलसत है। (२३६)
(ललितललाम)

इसमें एक-एक 'विशेषण' के साथ 'कूपनि' के स्थान पर 'कूप' का प्रयोग होना चाहिए। इसी प्रकार—

(१) भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि में
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है। (३०४)
(२) हेत कियो हम जो तो कहा तुम तो 'मतिराम' सबै बिसराए। (१२६)
(३) नेक परे न मनोज के ओजनि सेज सरोजनि में सियराई। (४१३)
(रसराज)

इन उद्धरणों में डर, हेत, ओज—ये तीनों ही भाववाचक संज्ञाएँ हैं और इनका एकवचन में ही प्रयोग होना चाहिए, पर मतिराम इसकी ओर से निश्चिन्त हैं, संभवत: इसलिए क्योंकि ब्रजभाषा के सभी कवि प्राय: भाववाचक संज्ञाओं को बहुवचन करके प्रयुक्त करते आये हैं।

कारक-चिह्नों की अनेकरूपता तथा विकृति—मतिराम की रचनाओं के अन्तर्गत कारक-चिह्नों की एकरूपता देखने को नहीं मिलती। में, मैं, ते, तें, तैं, कों, को[1] इत्यादि में यदि लिपिकारों की भूल मान भी ली जाय तो भी एक ही विभक्ति के लिए प्राय: कारक-विभक्तियों के पूर्वोक्त चिह्नों में से प्राय: प्रत्येक का प्रयोग उनकी रचनाओं में देखने को मिल जाता है। इतना ही नहीं कहीं-कहीं तो चिह्नों के बिना भी काम चला लिया गया है, यथा—

(१) प्रान प्रिया मनभावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे। (३४)

---

१. दे० (क) सुरजन कैसी सुरजन ही में साहिबी है
भोज कैसी भोज में अकड़ बड़ भाल में। (५४)
(ख) अंग के संग तें केसरि रंग की अम्बर सेत में जोति जगावै। (३२२)
(ग) देखत ही सबके चुरावती हो चित्तनि कों (१८३)
(ललितललाम)
(घ) जा दिन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम
तादिन ते पियराई तन छाई है। (२०६)
(रसराज)
(ङ) पिय आयो परदेस तें बहुतै द्योस बिताइ। (३०८)
पीउ न आयो नींद कों मूँदे लोचन बाल। (२६६)
(सतसई)

(२) प्रीतम आए प्रभात प्रिया-घर राति रमै रति चिह्न लिए ही।। (५३)
(रसराज)

(३) छवि कुल छीरधि तरंगनि बढ़ावत है
जगत पसारत चमेली की सुबास कौं।। (१७१)
(ललितललाम)

यहाँ प्रथम उद्धरण में 'मनभावन संग' में सम्बन्ध-विभक्ति 'के' नहीं दी गई और 'तरंगनि' तथा 'रंग' के बीच 'से' को छोड़ दिया गया है। द्वितीय में 'प्रिया-घर' में वही सम्बन्ध का चिह्न 'के' तथा 'राति रमै' में अधिकरण का चिह्न 'में' गायब है। तृतीय में 'तरंगनि बढ़ावति' में करण का चिह्न 'से' तथा 'छीरधि तरंगनि' और 'जगत पसारत' में क्रमशः सम्बन्ध चिह्न 'की' और अधिकरण-चिह्न 'में' नहीं है।

यदि तर्क के लिए यह भी मान लिया जाय कि इस प्रकार के प्रयोग तत्कालीन ब्रजभाषा में सामान्य हो गये थे, तो भी यह किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं हो सकता कि 'माँहि' के लिए 'महियाँ' और 'पाहि' के लिए 'पहियाँ' का प्रयोग भी उसमें होता था—

सोने की-सी बेलि अति सुन्दर नबेली बाल
ठाढ़ी ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ।
'मतिराम' आँखिन सुधा की बरखा सी भई
गई जब दीठि वाके मुखचन्द पहियाँ।। (२६६)
(रसराज)

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के गिने-चुने प्रयोगों का आविष्कार मतिराम ने तुक मिलाने के हेतु ही किया है।

क्रिया-रूपों में दोष—कारक-विभक्तियों के समान ही तुक मिलाने के लिए मतिराम ने कतिपय स्थानों पर क्रिया-विभक्ति का सही प्रयोग नहीं किया—कहीं-कहीं उनको विकृत तक कर डाला है। साधारणतः संयुक्त वर्तमान काल (अपूर्ण निश्चयार्थ) की दशा में 'कृदन्त' और 'सहायक'—ये दोनों ही क्रियाएँ कर्त्ता के लिंग और वचन—दोनों ही से प्रभावित रहती हैं; इस तथ्य को स्वयं मतिराम भी अपने कितने ही छन्दों में प्रमाणित कर चुके हैं। परन्तु जहाँ पर तुक का प्रश्न उठा है, वहाँ वे इस नियम का उल्लंघन कर बैठे हैं। उदाहरण के लिए—

केलि कै सकल राति प्रात उठि अँगराति
नींद भरे लोचन जुगल बिलसत है।
लाजनि तें अंगनि दुरावति है बार-बार
खैंचि करि बसन बिहारी बिहँसत है।
कवि 'मतिराम' आई आलस जँभाई मुख
ऐसी मनभावती की छवि सरसत है।

अरुन उदोत मनो सोभा के सरोवर में
सोभा मानि सोभा को सरोज बिकसत है ॥३४०॥

(रसराज)

इस छन्द के अन्तिम चरण में कर्त्ता—'सोभा को सरोज'—पुल्लिग एकवचन है और उसके लिए वर्तमान काल सूचक क्रिया का प्रयोग शुद्ध है, द्वितीय चरण में 'बिहारी' के लिए क्रिया को आदरसूचक न माना जाय तो वह भी ठीक है, पर प्रथम चरण के कर्ता—'लोचन जुगल'—(पुल्लिग बहुवचन) और द्वितीय के 'छबि' (स्त्रीलिंग एकवचन) के लिए क्रमशः 'बिलसत है' तथा 'सरसति है' के स्थान पर 'बिलसत है' तथा 'सरसत है' का प्रयोग कदापि संगत नहीं कहा जा सकता। इनको अन्तिम चरण के साथ तुक बैठाने के लिए ही इस रूप में ढाला गया है। इसी प्रकार—

ह्यां हम सौं मिलिबो ठहराय कैं सैन कहूँ अनतै ही करीजै ।
भोरहिं आय बनाय कैं बातनि चातुर ह्वै बिनती बहु कीजै ॥
ऐसोहि रीति सदा 'मतिराम' सु कैसे पियारे जु प्रेम पतीजै ।
सौंहै न खाइए जाइए ह्यांति न मानहुँ जो बन लाखन दीजै ॥१३१॥

(रसराज)

वर्तमान आज्ञार्थ में मध्यम पुरुष (बहुवचन आदर के लिए एकवचन में भी) 'करिबो' क्रिया का रूप 'कीजै' होता है तथा कर्मवाच्य में 'पतियायबो' क्रिया का रूप 'जानों' क्रिया की सहायता से 'पतियायो जाय' बनता है। परन्तु इस छन्द के अन्तर्गत हमारे कवि ने 'कीजै' को विकृत करके 'करीजै' तथा 'पतियायो जाय' को बिगाड़ कर 'पतीजै' कर दिया है, जिसका कारण द्वितीय और अंतिम चरणों की क्रमशः 'कीजै' और 'दीजै' क्रियाओं के साथ तुक भिड़ाना मात्र है। एक उदाहरण और देते हैं—

महावीर सत्रुसालनन्द राव भावसिंह
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय-से ।
कहै 'मतिराम' तेरे तेज पुंज लिए गुन
मारुत और मारतंड मंडल बिलोय-से ॥
उड़त नवत टूटि-फूटि मिटि फाटि जात
बिकल सुखात बैरी बुलिन समोय से ।
तूल-से तिनूका-से तरोवर-से तोयद-से
तारा-से तिमिर-से तमीपति-से तोय-से ॥२६६॥

(ललितललाम)

क्रियार्थक संज्ञाओं का बहुवचन सूचक रूप मूल क्रिया में 'ए' लगाकर बनाया जाता है। अतएव इसके अनुसार 'भौयबो', 'बिलोयबो' और 'समोयबो' क्रियाओं के बहुवचन सूचक रूप क्रमशः 'भोये', 'बिलोये' तथा 'समोये' होने चाहिएँ; परन्तु प्रस्तुत

छन्द के अन्तर्गत अन्तिम चरण के अन्तिम शब्द 'तोय-से' के साथ तुक मिलाने के लिए तीनों को ही ए-कारान्त नहीं रहने दिया।

वाक्य-रचना-सम्बन्धी दोष—वाक्य का मूल उद्देश्य प्रोक्ता के अभिप्राय को प्रकट करने का होता है, जिसकी पूर्ति उसका (वाक्य का) यथास्थान प्रयुक्त प्रत्येक पद करता है। यदि किसी पद के स्थान-भ्रष्ट होने, उसके अनावश्यक रूप में आ जाने अथवा चले जाने से अभिप्राय को समझने में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न होता है तो वाक्य दुष्ट बन जाता है। काव्य के अन्तर्गत इस प्रकार के दोषों का आ जाना असाधारण बात नहीं, कारण लय और छन्द का आग्रह कवि को वाक्य में पदों का अपने उचित स्थान से हेर-फेर अथवा उनका न्यूनाधिक प्रयोग करने के लिए बाध्य कर देता है। इस पर रीतिकालीन कवियों का तो कहना ही क्या ? जिनकी प्रवृत्ति भाषा संयम की अपेक्षा कला-प्रदर्शन की ओर अधिक केन्द्रित रही है। मतिराम की भाषा में वाक्य-विन्यास उनके समकालीनों की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित है, तो भी अन्वय दोष तो उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है—

छरी सपल्लव लालकर लखि तमाल की हाल।
कुम्हिलानी उर साल धरि फूल-माल ज्यों बाल ॥६३॥

(रसराज)

इसका अन्वय ऐसे होगा—"तमाल की सपल्लव छरी लालकर (में) लखि (और) उर (में) साल धरि, फूल-माल-ज्यों बाल हाल कुम्हिलानी।" इससे स्पष्ट है कि 'लखि' और 'उरसाल' दूर पड़ गये हैं, जबकि 'हाल' को उचित स्थान ही नहीं मिल सका। इसी प्रकार—

जावक दीयो पगनि में जुवती जाति सिंगार।
पुरुष प्रान प्रिय जानियत मंडन कर्‌यो लिलार ॥५११॥

(सतसई)

इसमें 'पुरुष' और 'मंडन कर्‌यो लिलार' के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह भली प्रकार नहीं हो पाया—ये दोनों दूर पड़ गये हैं।

मतिराम की भाषा बिहारी के समान समस्त नहीं है, इसी कारण उनकी रचनाओं के अन्तर्गत न्यून-पदत्व दोष बहुत कम देखने को मिलता है और वह भी कारक-विभक्तियों तक ही सीमित रहा है, उदाहरण के लिए—

चलत सुन्यो परदेस कौं हियरा रह्यो न ठौर।
लै मालिनि मीतहिं दियो नव रसाल को मौर ॥२१३॥

(रसराज)

इसमें 'लै मालिनि मीतहिं दियो' पद का अर्थ तब तक स्पष्ट नहीं होता, जब तक कि 'मालिनि' के साथ अपादानकारक-विभक्ति न लग जाय। परन्तु जहाँ तक अधिक-पदत्व दोष का प्रश्न है वह केवल लक्षणों में तो सर्वसामान्य-सी बात है ही, इसके साथ काव्य-रचनाओं में भी कम नहीं, यथा—

(१) होय नवोढ़ा के कछू प्रीतम सों परतीति।
सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रसरीति ॥२७॥
(रसराज)

(२) भूलनि रंग घने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं। (७१)
(ललितललाम)

(३) लगनि लगे लोचन लखे जासों मोहनलाल।
करि सनेह ता बाल सों सिखै सकल ब्रजबाल ॥१५॥
(सतसई)

इन उद्धरणों में से प्रथम के अन्तर्गत 'यों बरनत कवि रसरीति' वाक्य सर्वथा अनावश्यक है। द्वितीय और तृतीय उद्धरणों में क्रमशः 'प्रभा' तथा 'सिखै सकल ब्रजबाल' का अर्थ की दृष्टि से कोई महत्त्व नही।

वाक्य-गत इन दोषों के अतिरिक्त मतिराम की रचनाओं में यति-भंग-दोष भी कम नहीं है। कवियों में तो प्रायः पद का एक भाग एक यति में और दूसरा दूसरी यति में आ जाता है। बानगी के लिए उनकी अत्यन्त सरस रचना का अंश ही लीजिये—

गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे दिसरत मैन—
बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं ॥४०७॥
(रसराज)

कवित्त रचना का साधारण नियम जैसा कि 'भानु' कवि ने अपने 'छन्द-प्रभाकर' के अन्तर्गत लिखा है, यह है कि ८, ८, ८ और ७ वर्णों पर ही हो[1]; परन्तु इस अंश में १६ वर्णों पर भी पाद-पूर्ति नहीं हो पाई। कहना न होगा कि इस प्रकार की काव्यगत वाक्य-रचना अर्थ-सौन्दर्य तक पहुँचने में सबसे बड़ी बाधा होती है।

निष्कर्ष—इस प्रकार इन दोषों को देखते हुए ब्रजभाषा-व्याकरण की कसौटी पर रखकर मतिराम की भाषा को नितान्त शुद्ध नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन दोषों पर ध्यान देने से पूर्व यह न भुला देना चाहिए कि यह काव्य-भाषा है, गद्य के नियमों पर इसे कसना उचित नहीं; कवि ने व्याकरण सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन किया है तो किसी ऐसे गुण को लाने के लिए ही जिसे वह काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अनिवार्य समझता है। उपर्युक्त दोषों का कारण हम ऊपर स्पष्ट कर ही चुके हैं। दूसरे ये दोष यदि मतिराम में प्रायः मिलते तो भी यह स्वीकार किया जा सकता था कि उनकी भाषा अशुद्ध है। इसके साथ ही साथ भाषा-विज्ञान का यह साधारण नियम भी तर्क के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है कि भाषा परम्परागत सम्पत्ति है, अतएव मतिराम में जो दोष उपलब्ध होते हैं उनके लिए उनके पूर्ववर्ती कवि ही उत्तरदायी हैं। अस्तु, इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मतिराम की भाषा को शुद्ध ब्रजभाषा मान लेना अनुचित प्रतीत नहीं होता—नितान्त शुद्ध भाषा तो किसी

---

१. दे० 'छन्द प्रभाकर' (संवत् १९८८ वि० का संस्करण), पृ० २१५।

भी सत्कवि की नहीं हो सकती। वैसे यदि सम्पूर्ण ब्रजभाषा-काव्य का व्याकरण की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा कि ब्रजभाषा-व्याकरण में नियमों का जितना पालन मतिराम की रचनाओं में हुआ है, उतना दो-चार कवियों को छोड़कर किसी ने भी नहीं किया।

सौष्ठव—शब्द और व्याकरण का सम्बन्ध मुख्यतः भाषा के बाह्य स्वरूप के साथ रहता है, उसकी बाह्य और आन्तरिक सज्जा के साथ नहीं। भाषा की बाह्य-सज्जा से हमारा अभिप्राय वर्ण और शब्द-मैत्री से है, जिसका मूल उद्देश्य नाद-सौन्दर्य अथवा संगीत की सृष्टि करना होता है। इसके लिए शब्दालंकारों के अतिरिक्त 'गुण' और रीति' का उपयोग किया जाता है। आन्तरिक सज्जा का सम्बन्ध अर्थ के साथ रहता है, जिसका आधार शब्द-शक्ति और उक्ति-वैचित्र्य हैं। भाषा की सज्जा के ये दोनों रूप 'सौष्ठव' शब्द से अभिहित किये जाते हैं। मतिराम की भाषा के सौष्ठव के प्रस्तुत प्रसंग के अन्तर्गत इन्हीं बातों पर विचार किया जायगा।

अलंकार—शब्दालंकार में अनुप्रास, यमक, वीप्सा और पुनरुक्ति, ये चार अलंकार ही ऐसे हैं जो भाषा में विशेष रूप से सौन्दर्य-वृद्धि करते हैं। इनमें से 'अनुप्रास' से जहाँ भाषा के अन्तर्गत झंकार आती है, वहाँ 'यमक' इसमें चमत्कार लाता है, 'वीप्सा' और 'पुनरुक्ति' इसको गति प्रदान करते हैं। मतिराम ने अपनी रचनाओं में स्वारस्य की सृष्टि करने के लिए इन तीनों का ही आश्रय लिया है। परन्तु इनमें भी उनका सर्वाधिक लगाव 'यमक' के प्रति दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाओं में इस अलंकार की छटा भाषा को आवश्यकतानुसार गतिमय बना देती है। बानगी के लिए एक छन्द देते हैं; देखिए—

(१) कानन लौं लागे मुसकान प्रेम पागे लोने
लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग ते।
भारु धरि भुजनि डुलावति चलति मन्द
औरे ओप उलहत उरज उतंग ते॥
'मतिराम' जोबन पवन की झकोर आय
बढ़िकै सरस रस तरल तरंग ते।
पानिप अमल की झलक झलकन लागी
काई सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते॥२२॥

(२) लोचन दीजै न दीजै हमें दुख यों ही कहा रसवाद बढ़ायो। (४२)
(रसराज)

(३) बिक्रम में बिक्रम धरम सुत धरम में
....
....
नलवारौं नैननि में बलि धारौं बैननि में
भीम वारौ भुजनि में करन करन में॥६४॥

(४) कहा कहौं लाल तलबेली तलफत परयो
बाल अलबेली को बियोगी मन लाज को ॥१६३॥
(ललितललाम)

संस्कृत के आचार्यों ने यमकालंकार में भिन्नार्थक अथवा वर्ण-समूह की एक जैसे क्रम में आवृत्ति का होना कहा है[1]। मतिराम ने वर्णों में व्यंजन-समूह के साथ स्वर-समूह को भी महत्त्व दिया है, इसी कारण 'यमक' का प्रयोग उनकी रचनाओं में कोमलता-सम्पृक्त सूक्ष्म सौन्दर्य के फलस्वरूप संगीत की वीचियों-सा तरल हो जाता है। उपर्युक्त उद्धरणों के अन्तर्गत 'कानन' और 'मुसकान' में 'कान' की, 'उलहत' और 'उर' में (ल)[1] की, 'जोबन' और 'पवन' में 'बन' की, 'सरस' और 'रस' में 'रस' की, 'झलक' और 'झलकन' में 'झलक' की, 'काई' और 'लरिकाई' में 'काई' की; 'सोवन दीजै' और 'न दीजै' में 'न दीजै' की, 'विक्रम में विक्रम धरम सुत धरम मैं' में 'विक्रम' और 'धरम' की, 'नैननि' और 'बैननि' में 'ऐननि' की ; 'करन करन' में 'करन' की, 'तलबेली' और 'अलबेली' में 'लबेली' की तथा 'तलबेली' और 'तलफत' में 'तल' की आवृत्ति हुई है। इनमें सामान्यतः कवि ने अपेक्षाकृत कम स्वर-व्यंजनों को ग्रहण किया है, इसीलिए ये अपने आपमें कोमल संगीत की सृष्टि कर रहे हैं। कहीं-कहीं पर उन्होंने केवल 'यमक' की छटा का प्रदर्शन किया है, जिससे ऐसा लगता है मानो वे इस अलंकार का चमत्कार ही अपने काव्य का साध्य समझ बैठे हैं। देखिये—

(१) मृगपति जित्यो सुलंक सौं मृगलच्छन मृदुहास।
मृगमद जित्यो सुनैन सों मृग मद जित्यो सुबास ॥३४॥
(२) चौसठि कला बिलास जुत बदन कलानिधि पेखि।
दुतिया की देखें कला को दुति याकी देखि ॥३६॥
(३) तामें अनमिष नैनता किए लाल बस ऐन।
अनमिष नैन सुनैन ए निरखत अनमिष नैन ॥३८॥
(४) तुम निसदिन 'मतिराम' की मति बिसरौ मति राम ॥४५०॥
(सतसई)

यहाँ प्रथम उद्धरण के चारों चरणों में 'मृग' और अन्तिम दो में 'मृगमद' की आवृत्ति हुई है। द्वितीय के प्रथम तीन चरणों में 'कला' की और अन्तिम दो में

---

१. दे० अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ॥
यमकम्
'काव्य प्रकाश', नवम् उल्लास।

१. यमक में ज और य, ब और व तथा र और ल को भिन्न अक्षर नहीं माना जाता।
[दे० 'अलंकार-मंजरी'—ले० सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (पंचम संस्करण), पृ० ७२ का फुटनोट।]

'दुतिया की' की आवृत्ति हुई है। तृतीय में 'अनमिषनैन' की और चौथे में 'मतिराम' और 'मति' की आवृत्ति देखी जा सकती है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कह देना असंगत न होगा कि मतिराम इस प्रकार के चमत्कार-प्रदर्शन के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़े—केवल उनके कतिपय दोहों में ही यह बात देखने को मिलती है और इसके औचित्य को इसलिए उपेक्षित नहीं किया जा सकता क्योंकि दोहे जैसे छन्द में 'यमक' का चमत्कार एक प्रकार से उसकी प्रभाव-शक्ति को द्विगुणित कर देता है।

'यमक' के समान 'अनुप्रास' का प्रयोग भी मतिराम की रचनाओं में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। संस्कृताचार्यों ने साधारणतः 'अनुप्रास' के पाँच भेद कहे हैं—छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट[1]; जिनमें 'लाटानुप्रास' तो केवल शाब्दिक चमत्कार ही कहा जा सकता है—भाषा-माधुर्य में इसका विशेष योगदान नहीं होता। शेष चार का भाषा-अलंकरण के अध्ययन में अपना विशेष महत्त्व है। मतिराम ने अपनी रचनाओं में 'लाटानुप्रास' को तो बहुत कम स्थान दिया है। ऐसे दो-चार स्थल ही देखने को मिलेंगे जहाँ इसका उन्होंने उपयोग किया हो और वहाँ पर भी यह भाषा के लिए एक प्रकार से भार बन गया है, देखिए—

(१) **सरद चंद की चाँदनी को कहिए प्रतिकूल।**
सरद चंद की चाँदनी कोक हिए प्रतिकूल ॥३५१॥
(ललितललाम)

(२) **मेरी मति में राम है कवि मेरे मतिराम।**
चित मेरो आराम में चित मेरे आ राम ॥७०३॥
(सतसई)

इनमें प्रथम तो चित्र अलंकार के उदाहरण में कवि ने उद्धृत किया है अतएव इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि कवि को जान-बूझकर इसकी रचना करनी पड़ी, उसकी इसमें विशेष रुचि न रही होगी। दूसरा छन्द स्तुति-परक है। इसके अन्तिम दो चरणों में यह अलंकार जिस प्रकार से प्रयोग में लाया गया है, उससे भाव को किसी प्रकार की हानि नहीं हुई—पूर्वोक्त छन्द की अपेक्षा यह भाषा और भाव के लिए उतना भार बनकर नहीं आया।

जहाँ तक अनुप्रास के शेष चार भेदों का प्रश्न है, उनमें 'अन्त्यानुप्रास' के सम्बन्ध में तो यह कहा जा सकता है कि यह मतिराम की ही विशेषता नहीं—हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण काव्य में यह दृष्टिगत होती है, कवि ने तुक (अन्त्यानुप्रास) के महत्त्व को केवल स्वीकार ही नहीं किया वरन् अत्यन्त आग्रह के साथ इसे प्रयुक्त भी किया है। रही बात इतर तीन भेदों की, सो उनका प्रयोग उनकी रचनाओं में प्रायः देखा ही जा सकता है। कुछ उदाहरण देते हैं देखिये—

छेकानुप्रास—

(१) **वैसे ही चितै कै मेरे चित्त को चुरावती हौ**
बोलती हौ वैसे ही मधुर मृदु बानि सौं। (४७)

१. दे० वही 'साहित्यदर्पण'—दशम परिच्छेद, ३ से ७ संख्या तक की कारिकाएँ।

(२) पीरी जनावति अँगन मैं कहि पीर जनावति काहे न प्यारी। (११२)
(३) आप ही मान्यौ मनायो न काम्ह को आप ही खात न पान पियारी। (१३८)
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण में 'चितै' और 'चित्त' में च् और त् की, और 'मधुर' 'मृदु' में 'म्' की आवृत्ति हुई है। द्वितीय के 'पीरी' और 'पीर' में प् और र् की तथा तृतीय के 'मान्यो' और 'मनायो' में म्, न्, य् की और 'पान' और 'पियारी' में प् की आवृत्ति है।

वृत्त्यनुप्रास—

(१) जोग मैं जन्त्र मैं मन्त्र मैं गावैं सदाश्रुति सेस भवानी। (१)
(२) कोकिल केकी कपोतन के कुल केलि करैं जहँ आनँद भारी। (८९)
(३) सर सौ समीर लाग्यौ सूल सी सहेलीं सब
बिस सो बिनोद लाग्यो बन सो निवास री। (६२)
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत 'अन्त्र' और 'स्', द्वितीय में 'क्' की तथा तृतीय में 'स्' और 'ब्' की एक से अधिक बार आवृति हुई है। इन सब में एक विशेष प्रकार के कोमल संगीत की सृष्टि हुई है। अन्तिम दो उद्धरणों के अक्षरों में से प्रायः सभी एक उच्चारण-स्थान से उच्चारित-से प्रतीत हो रहे हैं, अतः उनमें 'श्रुत्यनुप्रास' का-सा आनन्द भी उत्पन्न हो रहा है। मतिराम ने अपनी रचनाओं में पृथक् रूप से इसका समावेश नहीं किया।

वीप्सा और पुनरुक्ति—'वीप्सा' और 'पुनरुक्ति' अलंकारों का सम्बन्ध क्रमशः भाव और वस्तु के साथ रहता है—'वीप्सा' जहाँ भाव के क्रम और आवेश को प्रकट करता है, वहाँ 'पुनरुक्ति' वस्तु के कोमल, कठोर आदि रूपों की व्यंजना कराता है। मतिराम की रचनाओं में भावों का सहज रूप में चित्रण अधिक हुआ है, अतः उसमें इसके क्रम अथवा आवेश को प्रस्तुत करने का अवसर कम ही आया है। यही कारण है कि उनमें वीप्सालंकार की छटा प्रायः कम देखने को मिलती है। जहाँ तक 'पुनरुक्ति' का प्रश्न है उसका उपयोग तो 'वीप्सा' की अपेक्षा और भी कम हुआ है और उसका मुख्य कारण यह है कि कवि ने वस्तु-परक वर्णन सामान्यतः कम ही किये हैं। जो हो, इन अलंकारों के उपयोग में मतिराम की सबसे बड़ी विशेषता यह मिलती है कि जहाँ भी समान शब्दों की आवृत्ति हुई है, वहाँ विषय-वस्तु स्थूल रूप में प्रकट न होकर ध्वनित हो गई है। उदाहरण के लिए—

(१) गावैं घरीक गरे ही गरे हरे गेह के बाग हरे-हरे डोलैं। (१६५)
(२) सेज ते बाल उठी हरुए-हरुए पट खोलि दिये खिरकी के। (१७४)
(३) हँसत-हँसत आन बात न बनाइए। (२५४)
(४) हा हा के निहोरे हूँ न हेरति हरिन नैनी··· (२३५)
(रसराज)

(५) ऊँचे मन ऊँचे कर ऊँचे-ऊँचे करी दैकै
ऊँचे करे भूमि के भिखारिन के भाग हैं ॥११६॥
(ललितललाम)

यहाँ प्रथम तीन उद्धरणों में 'गरे ही गरे', 'हरे हरे', 'हरुए हरुए' और 'हँसत हँसत' में जहाँ क्रम की व्यंजना मिलती है, वहाँ चतुर्थ के 'हा हा' के द्वारा भाव की उत्तेजना व्यक्त होती है, अन्तिम में 'ऊँचे' शब्द की आवृत्ति से भाऊसिंह की दानशीलता का परिचय मिल रहा है।

अर्थ-ध्वनन—भाषा-प्रसाधन के उपर्युक्त धर्मों के अतिरिक्त एक साधन और भी है, जिसे अंग्रेजी में 'ऑनोमोटोपिया' कहा जाता है। इसके द्वारा ऐसे स्वर-व्यंजन-समूह वाले शब्दों का चयन किया जाता है कि उनकी मिश्रित ध्वनि के अनुरूप बनकर उसके बिम्ब को और भी स्पष्ट कर देती है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्णों की इस प्रकार से आवृत्ति 'अनुप्रास' और 'यमक' अथवा 'पुनरुक्ति' और 'वीप्सा' की परिसीमाओं से बाहर नहीं पड़ती; किन्तु फिर भी इसका सम्बन्ध शब्द के बाह्य स्वरूप के साथ ही होता है, उसकी प्रतीति के साथ नहीं। मतिराम ने भी इस प्रकार के ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग करके अपनी अभिव्यक्ति को संगीत की दृष्टि से ही नहीं, अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से भी समर्थ और सशक्त बना दिया है। देखिये—

सेत सारी सोहत उजारी मुखचन्द को-सी
महलनि मन्द मुसक्यान की महमही।
अँगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप
उर 'मतिराम' माल मालती डहडही॥
माँजे मंजु मुकुर से मंजुल कपोल गोल
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय
बेला को फुलेल फूली बेलि-सी लहलही ॥१७६॥
(रसराज)

इसमें 'महमही', 'डहडही', 'गहगही' और 'लहलही' शब्दों में अन्तर्भूत स्वर-व्यंजन ध्वनियाँ तो क्रमशः मुस्कान की स्फूर्ति, मालती माला की ताजगी, गौरवर्ण की चटक तथा बेलि की बहार की अनुभूति करा ही रही हैं, इनके साथ ही 'उजारी,' 'उलही', 'ओप', 'गोल' और 'फुलेल' जैसे अपने आपमें साधारण लगने वाले शब्द भी अपने विशिष्ट अर्थों को ध्वनित कर रहे हैं। इसी प्रकार—

(१) उमड़ि घुमड़ि दिग मण्डल में मँडि रहे
झूमि-झूमि बादर कुहू की निसि कारी में। (१९७)

(२) आगमन चाहि चकचौंध रह्यो जब तक
जगर मगर आभरन के मगन भौ। (२६०)
(रसराज)

(३) अंगनि उतंग जैतवार जोर जिन्हैं
चिक्करत चिक्करि हलत कलकत हैं। (१२२)
(ललितललाम)

प्रस्तुत उद्धरणों में 'उमड़ि-घुमड़ि' और 'झूमि-झूमि' से बादलों के सभी दिशाओं से आकर सघन होने, 'चकचौंध' और 'जगरमगर' से नगों की चमक; 'चिक्करत' और 'हलत-कलकत' से भय की जो व्यंजना हो रही है उसका श्रेय इन पदों में समाविष्ट ध्वनियों को ही है।

गुण—अर्थध्वनन के समान ही गुणों का सम्बन्ध भी ध्वनियों और अर्थ के साथ रहता है। अन्तर केवल इतना है कि अर्थ-ध्वनन की दशा में पदगत ध्वनियों का उद्देश्य जहाँ अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट करके उसकी अनुभूति को तीव्र बनाने में पूर्ण होता है, वहाँ गुण की स्थिति में ये अर्थ के माधुर्य-आदि गुणों के अनुरूप चलकर इन गुणों के प्रभाव को स्थायी बनाने में सहायक होती हैं। इस प्रकार एक अवस्था में ध्वनियों को प्राथमिकता दी जाती है और दूसरी में अर्थ को। साहित्य-दर्पणकार ने गुण तीन माने हैं[१]—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इनमें 'माधुर्य' की स्थिति शृंगार, करुण और शान्त इन तीन रसों में बताते हुए इसकी व्यंजना के लिए उन्होंने ट, ठ, ड, ढ वर्णों तथा समासों का अभाव, र-कार, ण-कार और अनुस्वार-युक्त-वर्णों का प्रयोग अनिवार्य कहा है[२]। 'ओज' के लिए वे कर्कश-ध्वनियों अर्थात् ट, ठ, ड, ढ, श, ष, रेफ-युक्त अक्षर, प्रत्येक वर्ग के प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ वर्णों का संयोग एवं लम्बे समासों की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए उसकी स्थिति वीर, बीभत्स और रौद्र में मानते हैं[३]। 'प्रसाद' की स्थिति उनके विचार में किसी भी रस के अन्तर्गत हो सकती है तथा इसकी विशेषता केवल इसी में निहित है कि रचना के श्रवणमात्र से उसका प्रभाव सूखे ईंधन में व्याप्त होने

---

१. दे० गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा। (१)
—वही 'साहित्यदर्पण', अष्टम परिच्छेद।

२. दे० संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्।
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ता टठडढान्विना
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा। (२, ३, ४)
—वही 'साहित्यदर्पण', अष्टम परिच्छेद।

३. दे० वीरबीभत्स रौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफाष्टठडढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गताः
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी। (५, ६, ७)
—वही 'साहित्यदर्पण', अष्टम परिच्छेद।

वाली अग्नि के समान क्षिप्र होता है[1]। मतिराम की सभी विषयों से सम्बद्ध रचनाओं में प्रसाद गुण व्याप्त है। अब तक जितने भी उद्धरण दिये गये हैं, उनसे यह बात स्पष्ट है। वैसे साधारणतः उनके काव्य में 'शृंगार' और 'वीर' रसों का ही प्राचुर्य है, अतएव उनके अनुरूप क्रमशः 'माधुर्य' और 'ओज' गुण भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाते हैं। पीछे निवेदन किया जा चुका है कि व्रजभाषा व्यास-प्रधान भाषा है, इस कारण इसकी समास-रहित तथा छोटी शब्दावली शृंगारिक रचनाओं के अत्यन्त अनुकूल बैठती हैं। मतिराम की शृंगारिक रचनाओं में 'माधुर्य' गुण का समावेश भाषा की प्रकृति के कारण तो हुआ ही है, इसके अतिरिक्त उन्होंने भी प्रायः ऐसे शब्दों का ही चयन किया है जो इस गुण की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर खरे उतरते हैं ; उदाहरण के लिए—

बेलिन सों लपटाय रही है तमालन की अवली अतिकारी।
कोकिल केकी कपोतन के कुल केलि करें जहँ आनँद भारी॥
सोच करो जिन होहु सुखी 'मतिराम' प्रबीन सबै नर-नारी।
मंजुल बंजुल कुंजन में घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी॥८६॥

(रसराज)

इस छन्द में प्रायः जितनी भी ध्वनियों का अन्तर्भाव हुआ है, उनमें 'ट' वर्ण को छोड़कर सभी कोमल हैं जो शृंगार रस के सर्वथा अनुकूल बैठती हैं। वर्ण 'ट' का प्रयोग यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से अनुपयुक्त है, किन्तु शृंगारिक-ध्वनि की दृष्टि से इसका भी अपना महत्त्व है, क्योंकि 'लपटाय' शब्द में कसकर परिरम्भण करने की व्यंजना केवल ऐसी कठोर-ध्वनि ही कर सकती है।

वीर रस की रचनाओं के लिए व्रजभाषा 'ओज' गुण की दृष्टि से अनुकूल नहीं पड़ती और मतिराम इस गुण को जबर्दस्ती ठोकने के लिए शब्दों की तोड़-मरोड़ उपयुक्त नहीं समझते। ऐसी दशा में वे उतने सफल नहीं हो पाये जितने कि शृंगारिक रचनाओं में हुए हैं। तो भी इतना निश्चित है कि भाव के अनुरूप इन रचनाओं में 'ओज' पर्याप्त है, देखिये—

(१) एक धर्म गृह खम्भ जंभरिपु रूप अवनि पर।
एक बुद्धि गंभीर धीर बीराधिवीर बर॥
एक ओज अवतार सकल सरनागत रच्छक।
एक जासु करबाल निखिल खलकुल कहँ तच्छक॥
'मतिराम' एक दाता निमनि जग जस अमल प्रगट्टियउ।
चहुवान बंस अवतंस इमि एक राव सुरजन भयउ॥२३॥

(ललितललाम)

---

१. दे० **चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः**
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः॥ (७, ८)
—वही 'साहित्यदर्पण', अष्टम परिच्छेद

(२) फैलो जानि चन्द जसु पूरो जानि निसि दिन
उमड़ि-उमड़ि सातों सिंधु लेत लहरें।
ओज रत्न-आरकी-सरोज फूलो लेत रहै
ये हू लोन पावें मन पौन गौन सहरें॥
बिक्रम बिहद तुव पंचम सरूपसिंह
बरनत तेज कवि मति थकि थहरें।
हेरि-हेरि जग उपमान कों न पावें ताते
फेरि-फेरि रावरे भुजानि आनि ठहरें[1]॥
(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

रीति और वृत्ति—'रीति' और वृत्ति' का निकट का सम्बन्ध है, यह प्रायः संस्कृत के सभी आचार्यों ने एक न एक रूप में स्वीकार कर लिया है। परन्तु इसके साथ ही इन दोनों—अर्थात् 'रीति' और 'वृत्ति' के भेदाभेद के सम्बन्ध में रीति-सम्प्रदाय के जन्म से ही विवाद चलता आ रहा है; मम्मट जैसे आचार्यों ने तो स्पष्टतः 'रीति' के वैदर्भी, गौडी और पांचाली नामक भेदों तथा 'वृत्ति' के क्रमशः उपनागरिका, परुषा और कोमला संज्ञक भेदों को एक कर दिया है।[2] इस विवाद का मुख्य कारण आचार्यों में गुण विषयक मौलिक मतभेद है। रीति-सम्प्रदाय के उन्नायक आचार्य वामन ने गुणों को शब्द और अर्थ के धर्म माना है[3], जबकि परवर्ती आचार्य इनको रस के धर्म स्वीकार करते हैं[4]। इन आचार्यों ने वामन के

---

१. इसका मूल पाठ इस प्रकार मिलता है—
फैलो जानि चन्द जसु पूरो जानि निसुदिन
उमड़ि उमड़ि सातौ सिंधु लेत लहरें।
ओज रत्न जारको सरोज फूलो लेत
हइ जेहो लोन पावें मन पौन गौन सहरें॥
बिक्रम बिहद तुव पंचम सरूपसिंह बरनतपा
तेज कवि मति थकि थहरें।
हेरि-हेरि जग हेरि जग उपमान को न पावें
ताते फेरि फेरि रावरे भुजनि आनि ठहरें॥

२. दे० वही, 'काव्यप्रकाश', नवम उल्लास, ८१वीं कारिका की वृत्ति।

३. दे० ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्य शोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।
'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' (सम्पादक डा० नगेन्द्र—प्रथम संस्करण), तृतीय अधिकरण के प्रथम अध्याय की प्रथम सूत्र की वृत्ति।

४. दे० रसस्यांगित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा
गुणा ························· ॥१॥
—वही 'साहित्यदर्पण', अष्टम परिच्छेद।

कथनानुसार शब्द और अर्थ के धर्म गुण से युक्त पद-रचना[1] को काव्य की आत्मा तो नहीं माना, किन्तु रस-विशेषानुकूल गुण के अनुरूप पदगत वर्ण-योजना का महत्त्व अप्रत्यक्षतः स्वीकार करते हुए रीति को वृत्ति की संज्ञा दे डाली है[2]। इसमें सन्देह नहीं कि शब्द और अर्थ के काव्य-शरीर होने के नाते उनके धर्म-गुण रस का स्थान तो नहीं ले सकते, किन्तु इतना निश्चित है कि रस के प्रभाव की व्यापकता के लिए इन दोनों का समन्वित योग अनिवार्य है। कारण, गुण के अनुरूप शब्दगत वर्णों की ध्वनियों का महत्त्व अर्थ की अनुरूपकता के बिना अपने आपमें कुछ नहीं रह जाता। ऐसी स्थिति में वृत्ति को रीति का पर्याय नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह रीति का अंग अवश्य हो सकती है। किन्तु वामन ने 'रीति' के तीनों भेदों तथा दश गुणों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे केवल पदों के बाह्यस्वरूप अथवा वर्ण-योजना का ही महत्त्व दृष्टि में आता है, अर्थ का नहीं। ऐसी दशा में 'रीति' और 'वृत्ति' में भेद करना उचित प्रतीत नहीं होता। यदि 'रीति' के अन्तर्गत शब्द और अर्थ को ही समान रूप में महत्त्व प्रदान किया जाय तो यह अर्थ-ध्वनन जैसे अलंकारों की कोटि में आ जायगा।

अस्तु, 'रीति' का अर्थ 'वृत्ति' अर्थात् गुण-विशेष की व्यंजक वर्ण-योजना से लें तो मतिराम की रचनाओं के अन्तर्गत कोमल-वृत्ति का प्राधान्य मिलेगा ही, इसके साथ 'मधुरा' और 'परुषा' वृत्तियों का उपयोग भी कम नहीं हुआ; क्रमशः प्रसाद माधुर्य और ओज गुण सम्बन्धी उपर्युक्त उद्धरण इसकी पुष्टि में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार वामन के अनुसार 'रीति' का अर्थ विशिष्ट गुणों को समान रूप से व्यंजक शब्दार्थावली की परीक्षा की जाय तो उस दृष्टि से भी मतिराम पीछे नहीं ठहरते, यह अर्थ-ध्वनन के प्रसंग में उद्धृत छन्दों से स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त यदि रुद्रट के कथनानुसार केवल समास के प्रयोग के आधार पर ही रीति-भेद प्रस्तुत करके[3] मतिराम की रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो स्वतः ही उनकी रचनाओं में वैदर्भी-रीति का दर्शन होगा, कारण ब्रजभाषा समास-प्रधान भाषा ही नहीं।

शब्द-शक्ति—अभिव्यक्ति के सहज माध्यम रूप में भाषा की सफलता तभी सम्भव है जबकि इसका प्रत्येक पद अनुभूति के विविध अवयवों की सही प्रतीति करावे। चूँकि कोई भी पद एक ही अनुभूनि की विभिन्न छायाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता इसी कारण कवि को प्रायः इसके अर्थ का संकोच अथवा विस्तार

---

१. दे० **रीतिरात्मा काव्यस्य। १, २, ६।**
विशिष्टापदरचनारीतिः। १, २, ७।
विशेषो गुणात्मा। १, २, ८।

—वही 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र'।

२. दे० वही 'काव्यप्रकाश', अष्टम और नवम उल्लास।

३. दे० **नाम्नां वृत्तिर्द्वेधा भवति समासासमासभेदेन।**
वृत्तेः समासवत्यास्तत्र स्यू रीतयस्तिस्रः ॥६॥

—वही 'काव्यालंकार', द्वितीय अध्याय।

करना पड़ता है। अर्थ के अन्तर्गत इस प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता का न्याय तथा उसका नियमन शब्द-शक्ति करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मतिराम ने आवश्यकतानुसार शब्द-शक्ति के तीनों ही भेदों का आश्रय लिया है।

अभिधा—अभिधा-शक्ति का सम्बन्ध केवल शब्द के उस अर्थ के साथ ही होता है, जिसमें किसी भी प्रकार के शिल्प की अपेक्षा नहीं रहती। यह अपने मूल रूप में प्रस्तुत होकर विषय का सही रूप ग्रहण करा देता है, फलतः विषय की अनुभूति होने से पूर्व किसी भी प्रकार का मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। दूसरे कभी-कभी यह अपने आपमें इतना रमणीक होता है कि इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन अर्थात् इसे सूक्ष्मता की ओर घसीट ले जाना[1] अधिक चारुता उत्पन्न नहीं करता। काव्य-शास्त्र में वाच्यार्थ के इस रूप को 'गुणीभूत व्यंग्य' नाम से अभिहित किया जाता है[2]।

मतिराम ने शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में यद्यपि अपना कोई सैद्धान्तिक मत तो प्रस्तुत किया नहीं, किन्तु इतना निश्चित है कि अभिधा के व्यापार सम्बन्धी इन दोनों तथ्यों से वे भली भाँति परिचित थे, यही कारण है कि वे अपनी रचनाओं में वाचक शब्दों द्वारा भी उच्चकोटि के सौन्दर्य का निर्वाह कर सके हैं। उदाहरण के लिए कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) प्रान प्रिया मनभावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे। (३४)

(२) सोय रही रति अन्त रसीली अनंत बढ़ाय अनंग तरंगनि।
केसरि खौरि रची तिय के तन पीतम ओर सुबास के संगनि॥
जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावत भौंह के भंगनि॥
लाल सों बोलति नाहिन बाल सु पोंछति आँखि अँगोछति अंगनि॥१०५॥

(३) बेई नैन रूखे से लगत और लोगनि कों
बेई नैन लागत सनेह भरे नाहि कों॥८२॥

(४) सहज सुभावनि सौं भौंहनि के भावनि सौं
हरति है मन 'मतिराम' मनरौन कौ। (३५४)

(५) प्रीतम कौं मनभावती मिलति बाँह दै कण्ठ। (३७०)

(रसराज)

इन उद्धरणों में मनभावन, रसीली, पोंछति आँखि, अँगोछति अंगनि, सहज सुभावनि, भौंहनि के भावनि, मनरौन, मनभावती आदि शब्दों का वाच्यार्थ अपने सौन्दर्य सहित इतना मुखरित हो रहा है कि इसमें किसी प्रकार की सूक्ष्मता को खोजना अथवा इनके स्थान पर अन्य समानार्थक शब्द का रखना रचनाओं की तन्मयता को नष्ट कर डालेगा। इसके अतिरिक्त द्वितीय छन्द में जहाँ नायिका के अपने रूप

---

१. अर्थ की सूक्ष्मता से हमारा तात्पर्य लक्ष्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ से है।

२. दे० अपरंतुगुणीभूत व्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्ये। (१३)

—वही 'साहित्यदर्पण', चतुर्थ परिच्छेद।

पर गर्व करने, तथा तृतीय में नायिका के पतिव्रत का जो सूक्ष्म अर्थ व्यक्त हो रहा है, उसकी उपेक्षा इन भावों को व्यंजित करने वाली स्थूल क्रियाओं का वर्णन अर्थात् वाच्यार्थ कहीं अधिक रमणीय होकर आया है। इसी प्रकार और दो छन्द देते हैं—

लाल तुम्हें कहुँ और तिया की लख्यो अँगिया में लगावत चोवै।
ता छिन तें 'मतिराम' न खेलत बूझें सखीनहुँ सों दुख गोवै॥
लिखै करके नख सों पग को नख सीस नमाय कै नीचे ही जोवै।
बाल नवेली न रूसनो जानति भीतर भौन मसूसनि रोवै॥१२३॥

(रसराज)

बिपिन सरन कै चरन तकौ राव ही के
चढ़ौ गिरि पर कै तरंग परवर मैं।
राखौ परिवार कौं कि अपनी ए हठ, राज
संपत्ति दै मिलौ कै नगारे दै समर मैं॥
कहै 'मतिराम' रिपुरानी निज बाहुनि सौं
बोलैं यौं डरानी भावसिंह जू के डर मैं।
बैर तौ बढ़ायौ कह्यौ काहू कौ न मान्यौ अब
दाँतनि तिनूका कै कृपान गहौ कर मैं॥२७६॥

(ललितललाम)

यहाँ भी रेखांकित वाक्यों में वाच्यार्थ ही सुन्दर है।

लक्षणा और व्यंजना—अपनी रमणीयता के कारण वाच्यार्थ रसास्वाद में सहायक होता ही है, किन्तु यदि इसको सूक्ष्मता प्रदान की जाय तो उससे भी रस की आस्वादनीयता में वृद्धि हो जाती है। अर्थगत यह सूक्ष्मता लक्षणा और व्यंजना से आती है। अभिधा तो केवल काव्य-विषय का ग्रहण ही करा सकती है, जबकि लक्षणा उसके मूर्त्तरूप की अपेक्षा उसके गुणों के निकट ले जाती है तथा व्यंजना से इन गुणों के अन्तःक्षेत्र की झलक तक मिल जाती है। इस प्रकार रस जो विषय की अनुभूति से प्राप्त हुआ सूक्ष्म आनन्दमात्र है, उसके (रस के) आस्वादन में यदि शब्दार्थ की सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रतीति को इतना महत्त्व मिला तो आश्चर्य ही क्या? कहना न होगा कि अर्थ-बोध सम्बन्धी व्याघात से युक्त हुए भी लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के सूक्ष्मता-जन्य सौन्दर्य ने संस्कृताचार्यों को क्रमशः लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व स्वीकार करने के लिए बाध्य ही नहीं किया प्रत्युत उन्होंने व्यंग्य-प्रधान काव्य को 'ध्वनि' कहकर उसकी उत्कृष्टता की घोषणा की है[1]।

जो हो, मतिराम ने वाचक शब्दों का प्रयोग जिस सिद्धहस्तता के साथ किया है, लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों के प्रयोग में भी उतनी ही पटुता दिखाई है। उनके लाक्षणिक प्रयोगों में से कतिपय तो आलंकारिक हैं जिनके सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा

---

१. दे० वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥१॥
—वही 'साहित्यदर्पण', चतुर्थ परिच्छेद।

की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त ऐसे भी प्रयोग कम नहीं हैं, जिनसे अनुभूति को स्पष्टता ही प्राप्त नहीं हुई, प्रत्युत उनमें मार्मिक सौन्दर्य अर्थात् ध्वनि भी विद्यमान है। देखिये—

(१) तुम कहा करो कान काम तें अटकि रहे
तुमकौं न दोस सो तो आपनोई भाग है।
आय मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही तें
अति हरबरन बनाय बाँधी पाग है॥
मेरे ही बियोग रहे जागत सकल राति
गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मनहु की जानी प्रान प्यारे 'मतिराम' यहै
नैननि हूँ माहि पाइयतु अनुराग है॥३८॥
(रसराज)

(२) कोप करि संगर में खग्ग को पकरि कै
बहायो बैरि नारिन को नैन नीर सोत है।
कहै 'मतिराम' कीन्हो रीझि कै निहाल महो
पालनि के रूप सब गुननि को गोत है॥
जागे जग साहिब सपूत सत्रुसाल जू को
दस हूँ दिसानि जस अमल उदोत है।
खलनि के खंडिबे कौं मंगन के मंडिबे कौं
महाबीर भावसिंह भावसिंह होत है॥३९०॥

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत नित्यप्रति अपराध करने वाले नायक के प्रति दुःखिनी नायिका की उक्ति है। वाच्यार्थ से उसकी प्रशंसा स्पष्ट है। किन्तु इस प्रकार के पति के प्रति स्त्री प्रशंसात्मक वचन नहीं कह सकती। अतः वाच्यार्थ का बोध हुआ। तब इस वाच्यार्थ को सर्वथा त्यागकर विपरीत लक्षणा के आधार पर 'प्यार ही तें', 'मेरे ही वियोग रहे', 'परम सुहाग है' और 'नैननि हूँ माहिं पाइयतु अनुराग है' पदों का 'प्यार न होने के कारण', 'मेरा तनिक भी तुमको ध्यान न आया', 'यह मेरा दुर्भाग्य है' तथा 'तुम्हारे नेत्रों से भी स्पष्ट है कि मुझसे प्रेम नहीं करते, कारण इनकी अरुणिमा यह प्रकट कर रही है कि रात भर मुझे त्याग कर दूसरी स्त्री के यहाँ रमे हो' लक्ष्यार्थ ग्रहण होता है। इस प्रकार नायक की निंदा इसमें व्यंग्यार्थ है। चूँकि इस अर्थ द्वारा वाच्यार्थ का नितान्त तिरस्कार है, अतः इसमें अत्यन्ततिरस्कृत-अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि है। ऐसे ही द्वितीय के अंतिम चरण में 'भावसिंह' शब्द की पुनरुक्ति की गई है। प्रथम 'भावसिंह' शब्द तो कवि के आश्रयदाता का वाचक है, परन्तु द्वितीय कदापि नहीं हो सकता। अतः यहाँ वाच्यार्थ का बोध है—अनुपयुक्त होने के कारण यह ग्रहण नहीं किया जा सकता। तब फिर सम्पूर्ण छन्द के प्रसंग को देखकर इसका लक्ष्यार्थ हुआ—दान, पराक्रम, औदार्य आदि गुणों से युक्त। चूँकि

इस दूसरे अर्थ का प्रयोजन आश्रयदाता के पराक्रम और दानशीलता दर्शाने का है, अतः इसमें प्रयोजनवती उपादान लक्षणा हुई। दूसरे 'भावसिंह' शब्द का अपने वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ में संक्रमण कर जाने के कारण इस चरण के अन्तर्गत अर्थान्तर-संक्रमित अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि हुई।

लाक्षणिक शब्दों के समान व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी मतिराम ने अत्यन्त स्वच्छता से किया है। किन्तु संख्या की दृष्टि से ये अपेक्षाकृत कम हैं—यद्यपि उनकी रचनाओं में व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि का व्यापक प्रभाव देखने को मिल जाता है। वैसे यह शक्ति अपने सम्पूर्ण अवयवों के साथ इतनी प्रबल होकर आई है कि साधारणतः इसकी अर्थ-प्रेषणीयता द्रष्टव्य हो जाती है—

(१) **गुरुजन दूजे ब्याह कों प्रतिदिन कहत रिसाइ।**
पति की पति राखै बहू आपुन बाँझ कहाइ ॥६॥

(२) **बरवा ऋतु बीतन लगी प्रतिदिन सरद उदोति।**
लहलह जोति जुवारि की अरु गँवारि की होति ॥१०॥

(सतसई)

यहाँ प्रथम उद्धरण में 'पति' शब्द का 'बाँझ' शब्द के साथ प्रयोग होने से नायक की नपुंसकता की शाब्दी-व्यंजना हो रही है। अतएव इसमें शब्दशक्त्युद्भव-संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य-ध्वनि है। दूसरे में 'लहलह' शब्द से अर्थ-शक्त्युद्भवसंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि है। इसी प्रकार—

मलय समीर लागौ चलन सुगंध सीरो
पथिकन कीने परदेसन तें आवने।
मतिराम सुकबि समूहनि सुमन फूले
कोकिल मधुप लागे बोलन सुहावने॥
आयो है बसंत भए पल्लवित जलजात
तुम लागे चलिबे की चरचा चलावने।
रावरी तिया को तरवर सरवरन के
किसलै कमल ह्वै हैं बारक बिछावने ॥२१०॥

(रसराज)

यहाँ दूती की उक्तिगत आर्थी व्यंजना ही नायिका के भावी-वियोग-जन्य कष्ट का मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर रही है। क्योंकि सम्पूर्ण छन्द में उद्दीपनों का वर्णन वाच्यार्थ रूप में ही व्यक्त हुआ है, अतएव यहाँ संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य—रसध्वनि भी है।

संक्षेप में मतिराम ने शब्द की तीनों शक्तियों का यथास्थान प्रयोग किया है। वे किसी सम्प्रदाय के चक्कर में पड़कर किसी एक शक्ति के पीछे नहीं दौड़े, इसीलिए उनकी रचनाओं में जहाँ एक ओर अभिधा-शक्ति से गुणीभूत-व्यंग्य का सुन्दर निर्वाह हो सका है, वहाँ दूसरी ओर अभिधा और लक्षणा—इन दोनों शक्तियों ने उत्कृष्ट कोटि के व्यंग्य का भी समावेश किया है, क्या वस्तु, क्या अलंकार और क्या ही रस—इन तीनों का ध्वनन ही उनके काव्य की विशेषता बनकर ही प्रस्तुत हुआ

है। इसी प्रकार विशुद्ध अर्थ की दृष्टि से भी इन तीनों शक्तियों ने भी उनकी भाषा में क्रमशः भोलापन, चुस्ती और मर्मस्पर्शिता का संचार किया है।

मुहावरे और कहावतें—मुहावरे और कहावतें प्रत्येक जीवित भाषा की अपनी विशेषता हुआ करती हैं। यद्यपि इनके मूल में लक्षणा-शक्ति काम करती है, किन्तु मुहावरे जहाँ भाषा में चलतापन लाते हैं, वहाँ कहावतों से उसमें प्रभावकता आती है। मतिराम ने अपनी रचनाओं में मुहावरों का प्रयोग कितनी सफलता से किया है, देखिये—

(१) देह में नेक सँभार रह्यो न यहाँ लगि भजि मरू करि आई। (६८)
(२) आगि लैन आई हियें मेरे गई लगाय। (२५८)
(३) ता हरि सौं हित एकहि बार गँवारि तैं तोरत बार न लाई। (१४०)
(४) लोनी सलौनी के अंगनि नाह सु गौने की चूनरि टोने से कीने। (२४१)
(रसराज)

(५) ऊधो नहीं हम जानति हीं मनमोहन कूबरी हाथ बिकैहैं। (२१३)
(६) जब तैं दुरि भाजि कै लाज गई अब लालचु नैननि आनि बस्यौ। (२६८)
(७) लोनी लाजनि गड़ि गई लखे लोग मुसकात। (४४)
(८) मेरे मुख धोखे कढ़त परत गाज ब्रज गाऊँ। (१४४)
(सतसई)

यहाँ प्रथम और द्वितीय उद्धरणों के अन्तर्गत 'देह में नेक सँभार रह्यो न', से वस्त्रादि के अस्त-व्यस्त होने का तथा 'भाजि मरू करि आई' से पहुँचने में कठिनाई का संकेत है। हृदय में आग लगाने से काम के तीव्र प्रहार की, 'हित ·· तोरत बार न लाई', से प्रेम के बिना संकोच के तोड़ डालने की तथा 'हाथ बिकैहैं' से वश में रहने की अभिव्यक्ति मार्मिक है। 'टोने-से कीने', 'लालचु नैननि आनि बस्यो', 'लोनी लाजनि गड़ि गई' तथा 'परत गाज' से जिन भावों की व्यंजना हो रही है, वे केवल अनुभूति के ही विषय हैं।

सामान्यतः ये मुहावरे मतिराम की भाषा में घुल-मिलकर उसके अनिवार्य अंग बन गये हैं। उदाहरण के लिए—

(१) लोग मिलैं घर घैरु करैं अबही ते ये चेरे भए दुलही के। (१७९)
(रसराज)

(२) सोयो चाहति नींद भरि सेज अँगार बिछाय। (३०१)
(३) मैं तून सो गन्यो तीनहु लोकनि तू तून ओट पहार छपावै। (३६७)
(ललितललाम)

यहाँ 'घर घैरु करैं', 'चेरे भए दुलही के', 'अँगार बिछाय सोयो चाहति' तथा 'तून ओट पहार छपावै' अपने-अपने प्रसंगों में इतने सटीक होकर आये हैं कि इनके

निकाल देने से ही रचनाओं का आधा सौन्दर्य नष्ट हो सकता है। इसी प्रकार कहावतों का प्रयोग भी देखा जाय तो उनमें से प्रायः जो करुण-भाव फूटते हैं, उनसे कवि की संवेदनशीलता का आभास मिलता है। इसीलिए ये भाषा की अपेक्षा भाव की दृष्टि से अधिक मार्मिक बन गये हैं। देखिये—

(१) फाटे मन अरु दूध में नेह न कबहूं होय। (७०)
(२) जो पुरान सो नव सदा नव पुरान ह्वै जात। (३६४)
(सतसई)

(३) मन्त्रिन के बस जो नृपति सो न लहत सुख साज। (३१४)
(ललितललाम)

'मन से घृणा हो जाने पर स्नेह नहीं हो सकता', 'जो पुराना है वह सदैव नया रहता है और नया पुराना हो जाता है' तथा 'मन्त्रियों के वश में रहनेवाला राजा सुख प्राप्त नहीं कर सकता'—इन कहावतों में मानो निर्वेद और नीति मूर्त्त हो रहे हैं। कभी-कभी तो इन सब अर्थात् क्रिया-पदों, मुहावरों तथा कहावतों का समन्वित व्यापार अत्यन्त मार्मिक बन गया है। देखिये परकीया की यह उक्ति जिसमें भाषा के इन उपकरणों ने कितना गम्भीर वैदग्ध्य भर दिया है।

रावरे नेह को लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए।
डारि दिए गुरु लोगन को डर गाम चबाई में नाम धराए॥
हेत कियो हम जो तो कहा तुम तौ 'मतिराम' सबै बिसराए।
कोऊ कितेक उपाय करो कहुँ होत हैं आपने पीउ पराए॥१२६॥
(रसराज)

उक्ति-वैचित्र्य—'उक्ति-वैचित्र्य' उत्तम काव्य का सहज अंग है। इससे भाषा में वह धार आ जाती है जो व्यंग्य को तीखा और तीव्र बनाने में सहायता प्रदान करती है। यहाँ स्पष्ट करदें कि 'वैचित्र्य' शब्द से हमारा अभिप्राय कविभणिति-गत वैदग्ध्य-जन्य-अर्थात् कवि-कर्म-कौशल-जन्य शब्दार्थ-चारुता से है, जिसके लिए आचार्य कुन्तक ने 'वक्रता' शब्द ग्रहण किया है[1]। अतएव मतिराम के उक्ति-वैचित्र्य की परीक्षा के इस प्रसंग में 'वक्रोक्तिजीवित' के अन्तर्गत दिये गये वक्रता के छः रूपों—१. वर्ण-विन्यास-वक्रता, २. पदपूर्वार्द्ध-वक्रता, ३. पदपरार्द्ध-वक्रता, ४. वाक्य-वक्रता, ५. प्रकरण-वक्रता और ६. प्रबन्ध-वक्रता—का उपयोग करना अनुचित न होगा। अस्तु।

वर्ण-विन्यास-वक्रता—वर्ण-विन्यास-वक्रता से कुन्तक का अभिप्राय स्पष्टतः अनुप्रास-योजना[2] और इसके अतिरिक्त वर्गान्तयोगी स्पर्शों त, ल, न आदि वर्णों के

---

१. दे० 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' (सम्पादक, डा० नगेन्द्र—प्रथम संस्करण), पृ० ५१-५२ पर चतुर्थोन्मेष में १०वीं कारिका और उसकी वृत्ति तथा इन दोनों की हिन्दी व्याख्या।

२. दे० वही 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित', प्रथमोन्मेष की १९वीं कारिका की वृत्ति, पृ० ६६।

द्वित्व तथा रेफादि युक्त वर्णों की ग्रावृत्ति से रहा है[1] जिसके लिए वे विषयानुकूलता, सौन्दर्य, नवीनता तथा प्रसाद गुण आवश्यक मानते हैं[2] । 'यमक' का उन्होंने इसमें अन्तर्भाव कर दिया है[3] । मतिराम ने इन सभी तत्वों का अपनी रचनाओं में जिस कौशल के साथ निर्वाह किया है, उसके विषय में पीछे चर्चा की जा चुकी है, यहाँ तो इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि समग्र रीतिकालीन साहित्य के अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की दृष्टि से मतिराम की रचनाएँ जितनी सफल कही जा सकती हैं, उतनी सम्भवतः उस युग के किसी और कवि की नहीं ।

पदपूर्वार्ध और पदपरार्ध-वक्रता[4]—सार्थक वर्ण-समूह का ही दूसरा नाम 'पद' है । संस्कृत-व्याकरण के अनुसार इसके दो अंग हैं—प्रकृति और प्रत्यय, जिनका अपने स्थान पर विशेष महत्त्व हुआ करता है । कुन्तक ने इसीलिए इनके वैदग्ध्यपूर्ण प्रयोग को पदपूर्वार्ध-वक्रता और पदपरार्ध-वक्रता—इन दो पृथक् संज्ञाओं से अभिहित करते हुए इनके उपभेदों का सूक्ष्म-विवेचन किया है । पदपूर्वार्ध-वक्रता के ये आठ भेद उन्होंने कहे हैं—१. रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता, २. पर्याय-वक्रता, ३. उपचार-वक्रता, ४. संवृति-वक्रता, ५. विशेषण-वक्रता, ६. वृत्ति-वक्रता, ७. लिंग-वैचित्र्य-वक्रता तथा ८. क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता ! इनमें रूढ़ि-वैचित्र्य से आचार्य का आशय कोश तथा लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ के अन्तर्गत लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने से है, जब कि पर्याय-वक्रता की सफलता वे पर्यायवाची शब्दों का उनकी आत्मा के अनुसार प्रयोग करने में मानते हैं । उपचार-वक्रता जहाँ साम्यमूलक-अलंकार-व्यापार का पर्याय मात्र है, वहाँ विशेषण का वैदग्धपूर्ण प्रयोग विशेषण-प्रधान अलंकारों की कोटि में रखा जा सकता है—वैसे अलंकार के अभाव में भी विशेषण वस्तु-वर्णन को सुन्दर बना देते हैं । संवृति-वक्रता का सम्बन्ध क्रमशः संज्ञा आदि के गोपन तथा समस्त-पदावली की योजना से उत्पन्न चमत्कार से है—लिंग और क्रिया के विविध प्रयोगों से भी विशिष्ट सौन्दर्य की सृष्टि होती है । इसी प्रकार दूसरी ओर १ काल, २ कारक, ३ बचन, ४ पुरुष, ५ उपग्रह (धातुपद) सूचक प्रत्ययों तथा निपातन आदि स्वतन्त्र प्रत्ययों के कुशल प्रयोग होने से ये सभी पदपरार्ध-वक्रता के उपभेद हो जाते हैं । परन्तु यहाँ यह कह देना असंगत नहीं कि कुन्तक का यह विवेचन संस्कृत भाषा पर ही

---

१. दे० वर्गान्तयोगिनः स्पर्शा द्विरुक्तास्तलनादयः ।
शिष्टाश्च रादि संयुक्त्या प्रस्तुतौचित्य शोभिनः ॥२।२।
—वही 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'

२. दे० नातिनिर्बन्धविहिता नाप्य पेशलभूषिता ।
पूर्वावृत्त परित्यागनूतनावर्तनोज्ज्वला ।२।४
—वही 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' तथा इसकी भूमिका, पृ० ५७ ।

३. दे० वही 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'—द्वितीयोन्मेष की ६-७ कारिकाएँ तथा भूमिका, पृ० ५६ ।

४. दे० वही 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित' की भूमिका, पृ० ५८-८५ तथा इसका द्वितीयोन्मेष ।

आधृत है, ब्रजभाषा की प्रकृति संस्कृत से भिन्न होने के कारण उसमें प्रकृति और प्रत्यय की उक्त विशेषताएँ अपने अनुसार ही मिल सकती हैं।

मतिराम ब्रजभाषा-व्याकरण से भली भाँति परिचित थे, इसी कारण उनकी भाषा में इन विशेषताओं का प्रयोग जहाँ एक ओर वैज्ञानिक दृष्टि से स्वच्छ होकर आया है, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक दृष्टि से यह सौन्दर्य-दर्शक भी है। यहाँ हम प्रत्येक के पृथक्-पृथक् उद्धरण देते हैं, देखिये—

रूढ़ि-वैचित्र्य-वक्रता—

(१) सेत सारी सोहत उजारी मुख चन्द की सी
महलनि मन्द मुसक्यान की महमही।
अँगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप
उर 'मतिराम' माल मालती डहडही॥
माँजे मंजु मुकुर से मंजुल कपोल गोल
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय
बेला को फुलेल फूली बेलि सी लहलही॥१७६॥

(२) धुरवानि की धावनि मानो अनंग की तुंग धुजा फहरान लगी।
नभ मण्डल ह्वै छिति मण्डल ह्वै छनदा की छटा छहरान लगी॥
'मतिराम' समीर लगे लतिका बिरही बनिता थहरान लगी।
परदेस तें पीय संदेस न पायो पयोद घटा घहरान लगी॥३६६॥
(रसराज)

इन दोनों उद्धरणों में 'रेखांकित' शब्द अपने विशिष्ट अर्थों द्वारा अपने-अपने स्थानों पर लोकोत्तर चमत्कार की सृष्टि कर रहे हैं।

पर्याय-वक्रता—

(१) मोहनि मंत्रनि मनमोहन कियौ तें बस
बारन ज्यों बाँधि राखै तामरस ताग सौं।
कबि 'मतिराम' आली अलि सो गुबिन्द कीन्हौं
मण्डित चरन अरबिन्द के पराग सौं॥
ऐसो पति पायौ बड़े भागनि सौं प्यारी सदा
सुबरन ही कौं पघिलावत सुहाग सौं।
स्याम-स्याम कहिए सिंगार रस राच्यौ ताते
लाल-लाल कहिए रँग्यो है अनुराग सौं॥३८५॥
(ललितललाम)

यहाँ 'मोहनि' (मोहने वाली), 'आली' (भ्रमरी), 'सुबरन' (सोना), 'सुहाग' (सुहागा), 'स्याम' और 'लाल'—इन सभी शब्दों के प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थों में प्रयोग करके सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है। नायिका यदि 'मोहनी' है तो नायक 'मनमोहन' हैं, क्योंकि उसका मन उसने (नायिका ने) मोह लिया है। यदि वह 'भ्रमरी' है तो नायक 'भ्रमर' और यदि वह 'सुवर्ण' है तो नायक उसके साथ पिघलने वाला 'सुहागा'। नायक को 'स्याम' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह शृंगार-रस में निमग्न रहता है और 'लाल' उसे इसलिए, क्योंकि वह नायिका के अनुराग में रँग गया है। इसी प्रकार—

(१) दरपन रह्यौ ताते दरपनक हियत
मुकुर परत ताते मुकुर कहायो है ॥३८६॥
(ललितललाम)

(२) मान रहोई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मान मनायो ॥ (४१)
(रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत 'दरप न' (दर्प नहीं, दर्पण) और 'मुकुर' (फिर जाना, दर्पण) शब्दों के दोनों पर्यायों के प्रयोग द्वारा दर्पण का नायिका के मुख की तुलना में तिरस्कार किया गया है। द्वितीय में 'मान' शब्द का दूसरा अर्थ 'सम्मान' लेकर वक्रता उत्पन्न की गई है—जब सम्मान ही नहीं रहा तो मान (रुष्ट होना) किस बात का !

विशेषण तथा क्रियाविशेषण-वक्रता—

(१) नेक मन्द-मधुर कपोल मुसक्यान लागे
नेक मन्द गमन गयंदन की चाल भो। (१५)

(२) सकुचि न रहिए साँवरे सुनि गरबीले बोल।
चढ़त भौंह विकसत नयन बिहँसत गोल कपोल ॥३६५॥
(रसराज)

इनमें रेखांकित शब्द सभी विशेषण हैं और अपने विशेष्यों के वस्तुगत सौन्दर्य में अभिवृद्धि कर रहे हैं। उपर्युक्त उद्धरण संख्या १ में 'नेक' क्रियाविशेषण सूक्ष्म-सौन्दर्य की प्रतीति का साधक है।

संवृत्ति-वक्रता—

(१) कौन तिनें दुख है जिनके तुमसे मनभावन छैल-छबीले ॥४४॥

(२) कोऊ करो कितेक यह तजो न टेव गुपाल।
निसि औरनि के पग परो दिन औरनि के लाल ॥१२६॥
(रसराज)

इनमें सभी रेखांकित शब्द सर्वनाम हैं, जो संज्ञाओं के स्थान पर आकर विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं।

वृत्ति-वक्रता—

(१) मो मन तम तोमहि हरौ राधा को मुखचन्द ।
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नन्दनँदन आनन्द ॥१॥

(२) रतिनायक सायक सुमन सब जगजीतन बार ।
कुबलयदल सुकुमार तन मन कुमार जय मार ॥३॥

(३) नागरि नैन कमान सर करत न ऐसी पीर ।
जैसें करत गँवारि के दृग धनुहीं के तीर ॥५॥

(सतसई)

यहाँ रेखांकित पदावली समस्त है, जो अपनी इस विशेषता के कारण ही भाषा में विशेष प्रकार की कसावट लाकर अभिव्यक्ति को सुन्दर बना रही है। ब्रजभाषा की प्रकृति समास-प्रधान न होने के कारण इस प्रकार की पदावली मतिराम की रचनाओं में अधिक नहीं और यदि है तो वह साम्यमूलक अलंकारों के रूप में ही अधिक है। उक्त दोहों से यह बात स्पष्ट है।

पदपरार्द्ध-वक्रता—

(१) निपट निकट ह्वै कै कपट छुवाय अंग
लाय की सी लपटि लपेटि मनु लै गई ॥२५७॥

(२) गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत मैन
बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं ॥४०७॥

(३) क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै । (६०)

(४) प्रीतम आए प्रभात प्रिया मुसकाय उठी दृग सों दृग जोरे ।(१२७)

(५) तुम कहा करो कान काम तें अटकि रहें
तुमकों न दोस सो तो आपनोई भाग है ॥ (३८)

(६) नैनन हूँ अरु बैनन हूँ तन हूँ मन हूँ कों तुही अति प्यारी ॥२४५॥

(रसराज)

यहाँ प्रथम दो उद्धरणों के 'लै गई' और 'ह्वै गड़े हैं' में काल-वक्रता; तृतीय और चतुर्थ के रेखांकित 'सों' में कारक-वक्रता तथा अंतिम दो के 'सो', 'तो', 'ई', 'हूँ' और 'ही' प्रत्ययों में निपात-वक्रता देखी जा सकती है।

जहाँ तक वचन, पुरुष और धातुपद सम्बन्धी वक्रताओं का प्रश्न है, वे मतिराम की रचनाओं में इसलिए नहीं मिल सकतीं क्योंकि ब्रजभाषा में इनका प्रयोग संस्कृत के समान नहीं होता। रही बात उपचार-वक्रता और वाक्य-वक्रता की, तो इनका सम्बन्ध क्रमशः साम्यमूलक तथा इतर अलंकार-वर्गों के साथ है, जिस पर इसी

अध्याय में वस्तु-विषय के प्रसाधनों के उपशीर्षक के अन्तर्गत पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है ।

निष्कर्ष

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि व्याकरण और सौष्ठव, दोनों की ही दृष्टि से मतिराम की भाषा आदर्श है । व्याकरण और शब्दों का जितना स्वच्छ प्रयोग इन्होंने किया है, उतना ब्रजभाषा-साहित्य में रसखान, घनानन्द जैसे दो-चार कवियों को छोड़कर और किसी ने नहीं किया । इसका मुख्य कारण यह है कि विरासत में इन्हें अनेक भाषा और बोलियों का शब्द-भाण्डार मिला ही था, इसके साथ ही साथ प्रत्येक शब्द की आत्मा और व्याकरण-रूपों के प्रयोगों के औचित्य से भी ये भलीभाँति परिचित थे । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सबके समंजित योग से इनकी रचनाओं में इतना निखार आ गया है कि सहज ही सहृदय का तादात्म्य हो जाता है । वास्तव में मतिराम की कला में स्वारस्य, गुण, अलंकरण, व्यंजना-शक्ति और वक्रता आदि से उत्पन्न जो अद्भुत सौन्दर्य भरा पड़ा है, उसके स्तवन में केवल कवि के अपने शब्दों को ही उद्धृत किया जा सकता है—

ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई ॥६॥

(रसराज)

छन्द-योजना

कला की दृष्टि से काव्य के अन्तर्गत छन्द-विधान अपना विशेष महत्त्व रखता है । वस्तुतः यह वह साधन है जो पद्य को गद्य से पृथक् ही नहीं करता, प्रत्युत लय की सृष्टि कर अभिव्यक्ति (भाषा) को संगीतमय बनाने में कवि की सहायता करता है । कविवर पन्त ने इसीलिए छन्द और कविता के सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में कहा है कि "...कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कंपन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है[1] ।"

भारतीय आर्य भाषाओं का ध्वनि-समूह दो प्रकार का है—१. स्वर, जिनका सम्बन्ध मात्राओं अथवा उच्चारण में लगने वाले समय से है, और २. व्यंजन, जो आधारभूत स्वतन्त्र ध्वनियाँ ही हैं । आचार्यों ने इन्हीं दो को दृष्टि में रखते हुए छन्दों के दो वर्ग किए हैं—१. मात्रिक और वर्णिक । इनमें मात्रिक छन्दों का सम्बन्ध मूलतः मात्राओं अथवा स्वरों से रहता है, जबकि वर्णिक छन्दों का सम्बन्ध वर्णों अर्थात् स्वर और व्यंजन, दोनों से । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों वर्गों का प्रयोग उक्त भाषाओं में से प्रत्येक के अन्तर्गत थोड़ा-बहुत हुआ ही है, पर जो जिस भाषा की प्रकृति के अनुकूल बैठा है, उसी का प्रचलन उस भाषा में अधिक रहा है । उदाहरण के लिए संस्कृत समास-प्रधान भाषा है, जिससे उसमें प्रायः वर्णों की शृंखला बँध जाती है, यही कारण है कि संस्कृत के कवियों में वर्णिक छन्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है । इसके विपरीत हिन्दी की प्रकृति व्यास-प्रधान है,

---

१. दे० 'पल्लव' (पाँचवाँ संस्करण)—प्रवेश, पृ० २१ ।

जिससे इसमें वर्णों का वैसा क्रम नहीं बँध पाता, इसीलिए वर्णिक छन्दों की अपेक्षा इसमें मात्रिक छन्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। फिर भी 'कवित्त' और 'सवैया' ये दो वर्णिक छन्द ऐसे हैं जो मात्रिक छन्दों के समान ही इसकी प्रकृति के अनुकूल बैठे हैं और भक्तिकाल से लेकर अब तक इनका पर्याप्त प्रयोग होता आया है। रीतिकाल में तो इन छन्दों का ही प्राधान्य रहा।

परन्तु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि हिन्दी ने ये दोनों छन्द संस्कृत से उधार नहीं लिए। इनमें 'कवित्त' तो बहुत बाद का प्रतीत होता है, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' में यह संज्ञा उस मात्रिक छन्द को दी गई है जिसे आज 'छप्पय' कहा जाता है। सूर ने 'ध्रुपद' राग में गाने के लिए जो पद लिखे हैं उनमें अवश्य ही कुछ ऐसे हैं जिन पर इस वर्णिक छन्द का लक्षण घट जाता है। अतएव कहा जा सकता है कि 'सूरसागर' की रचना के आस-पास ही लोक (चारण)-कवियों ने इस छन्द का आविष्कार कर लिया होगा, पर इसका नाम 'कवित्त' कैसे पड़ा, यह अज्ञात है। जहाँ तक 'सवैया' का प्रश्न है यह 'कवित्त' की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। 'प्राकृत पैंगलम्' में इसके जिन दो भेदों—'किरीट' और 'दुर्मिल' का लक्षण[1] देखने को मिलता है उसके आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि संवत् १४०० वि० से पूर्व ही इसका आविष्कार हो चुका था। परन्तु 'कवित्त' के समान इसका भी नाम—अर्थात् 'सवैया'—रहस्यमय बना हुआ है। डा० नगेन्द्र ने इसके सम्बन्ध में यद्यपि यह कहा है कि भाट लोग इस छन्द की अन्तिम पंक्ति को दो बार पढ़ते थे, इसलिए इसका नाम 'सपादिका' पड़ गया होगा और बाद में इससे बिगड़-कर 'सवैया' बन गया होगा[3]; पर जब तक इस प्रकार का कोई प्रमाण न मिल जाय तब तक उनके इस कथन को एक दम मान लेने में संकोच होता है।

अस्तु, जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, रीतिकाल में 'कवित्त' और 'सवैया' का पर्याप्त प्रयोग हुआ। मतिराम ने यों तो पिंगल सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने के कारण अनेक प्रचलित और अप्रचलित सभी प्रकार के वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है पर उन्होंने भी अपने समकालीनों के समान 'कवित्त' और 'सवैया' को ही प्रमुख स्थान दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'दोहा'—मात्रिक छन्द—का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। यहाँ हम पृथक् रूप से देखेंगे कि उनकी कला के उत्कर्ष में ये तीनों छन्द कहाँ तक सहायक हुए हैं।

कवित्त—ओजपूर्ण छन्दों में कवित्त अपना विशेष स्थान रखता है। राज-प्रशस्तियों और युद्ध आदि के वर्णनों के अनुकूल जितना यह बैठता है, उतना 'छप्पय' को छोड़ अन्य कोई छन्द नहीं। सम्भव है आरम्भ में जब इसका आविष्कार हुआ हो

---

१. दे० 'प्राकृतपैंगलम्' (सन् १९०२ ई० का संस्करण)—सम्पादक श्री चन्द्रमोहन घोष, छन्द संख्या २०८, २१०।

२. श्री चन्द्रमोहन घोष ने 'प्राकृत पैंगलम्' (वही संस्करण) की भूमिका में 'प्राकृत पैंगलम्' का रचना-काल सम्वत् १४०० वि० के आस-पास माना है।

३. दे० वही, 'देव और उनकी कविता', पृ० २३६।

कवियों ने 'छप्पय' की-सी विशेषता देखकर इसे ही 'कवित्त' संज्ञा दे दी हो। किन्तु फिर भी 'छप्पय' की अपेक्षा इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। 'छप्पय' एक तो मात्राओं के अधीन होने से अधिक स्वतन्त्र नहीं दूसरे उसमें लय भी केवल एक ही प्रकार की होती है। 'कवित्त' में इसके विपरीत किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं—यह ३१ वर्णों का ही नहीं ३२—यहाँ तक कि ३३ वर्णों तक का भी हो जाता है, लघु-गुरु का भी अपने आपमें विशेष नियम नहीं। कवि अपनी इच्छा के अनुसार इसकी लय में विशेष लचक अथवा आरोह-अवरोह लाने के लिए इन वर्णों का प्रयोग कर लेता है। इसीलिए विषय के अनुकूल बैठने में इसे देर नहीं लगती। हिन्दी में गंग, तुलसी आदि से लेकर पद्माकर तक इसके विभिन्न भेदों का आविष्कार ही नहीं—प्रत्येक कवि के अनुसार विशेष लय और लगभग सभी रसों में इसका प्रयोग इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त है।

मतिराम से पूर्व हिन्दी में इसका अधिक विकास दृष्टिगत नहीं होता। तुलसी, गंग आदि ने तो इसका सफल प्रयोग केवल ओज-पूर्ण वर्णनों अथवा प्रशस्तियों में ही किया है। शृंगार आदि के वर्णनों में सामान्यत: उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इनके उपरान्त भी केशव, रहीम आदि ने इसे शृंगारिक वर्णनों के अनुकूल ढालने का यथासम्भव प्रयत्न किया, पर इसमें विषय के अनुकूल लचक न आ सकी। इस दृष्टि से सबसे पहला सफल प्रयत्न मतिराम का ही माना जा सकता है। उन्होंने इसका प्रयोग एक साथ शृंगारिक और ओज-पूर्ण रचनाओं के अतिरिक्त कहीं-कहीं भक्ति-परक रचनाओं में भी सफलतापूर्वक किया है। उदाहरण के लिए—

(१) कानन लौं लागे मुसकान प्रेम पागे लोने
लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग ते।
भारु धरि भुजनि डुलावति चलति मंद
औरै ओप उलहत उरज उतंग ते॥
'मतिराम' जोबन पवन की झकोर आय
बढ़िकै सरस रस तरल तरंग ते।
पानिप अमल की झलक झलकन लागी
काई सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते॥२२॥
(रसराज)

(२) अंगनि उतंग जंग जैतवार जोर जिन्हैं
चिक्करत दिक्करि हलत कलकत हैं।
कहै 'मतिराम' सैन सोभा के ललाम अभि-
राम जरकस झूल झांपे झलकत हैं॥
सत्ता को सपूत राव भावसिंह रीझि देत
छहूँ ऋतु छके मदजल छलकत हैं।
मंगन को कहा है मतंगनि के मांगिबे को
मनसबदारन के मन ललकत हैं॥१२२॥

(३) पियुष पयोधि मद्ध मनिन सौं बद्ध भूमि
रोध सौं रुचिर रुचि रोचक रचन में।
कामतरु विपिन कदंब उपवन सीरो
सुरभि पवन डोलै मृदु सी गवन मैं ॥
चिंतामनि मंडप बिराजै जगदंब सदा
सावधान 'मतिराम' सेवक सेवन में।
लंपट लुबुध मन भव मैं भँवत कहा
करि भूरि भावना भवानी के भवन मैं ॥३७१॥

(ललितललाम)

यहाँ प्रथम छन्द के प्रत्येक चरण में जहाँ 'छेकानुप्रास' की छटा है वहाँ द्वितीय और तृतीय में इसके साथ वृत्यनुप्रास भी है। इसके अतिरिक्त इन तीनों में सामान्यतः यथास्थान और यथाविषय तीनों गुणों का समावेश भी कर दिया गया है। इस प्रकार ये छन्द विषयानुकूल बन गए हैं।

'कवित्त' के अनेक भेद हैं—वर्णों को घटाने-बढ़ाने तथा लघु-गुरु का क्रम निर्धारित करने से इसके कितने ही भेद किये जा सकते हैं ; पर सामान्यतः इसके ये दो भेद ही हिन्दी में अधिक लोक-प्रिय रहे हैं—१. मनहर (घनाक्षरी) और २. रूप-घनाक्षरी। इनमें प्रथम के अन्तर्गत ३१ वर्ण होते हैं और अन्त में गुरु रहता है, जबकि द्वितीय में ३२ वर्ण तथा अन्त में लघु होता है[1]। जैसा कि निवेदन किया जा चुका है, इस छन्द का मुख्य आधार लय है, जो केवल वर्णों के प्रयोग पर ही आश्रित नहीं, बहुत कुछ यति के नियम पर भी अवलम्बित रहती है। 'घनाक्षरी' में 'भानु' जी ने ८, ८, ८ और ७ वर्णों पर और 'रूपघनाक्षरी' में प्रति ८ वर्ण के पश्चात् यति की स्थिति मानी है[2] ; साथ में यह भी कह दिया है कि १६, १५ और १६, १६ पर यति हो तो भी कोई हर्ज नहीं[3]। मतिराम ने अपनी रचनाओं में सामान्यतः 'घना-क्षरी' का ही प्रयोग किया है—रूपघनाक्षरी का प्रयोग तो उनके ग्रन्थों में दो-चार स्थलों पर ही देखने को मिलता है। इनमें भी उन्होंने यति का क्रम १६, १५ और १६, १६ का ही रखा है ; देखिये—

(१) बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ
आय तहाँ प्रीतम सुधा समूह बरसै।
कबि 'मतिराम' ढिग बैठे मनभावन जू
दुहुँन के होय अरबिंद मोद सरसै ॥
आरसी दै एक सों कह्यो यों निज मुख देखो
जामें बिधु बारिज बिलास बर बरसै।

१. दे० वही 'छन्द प्रभाकर', पृ० १८८, १९१।
२. दे० वही, पृ० १८८, १९१।
३. वही, 'छन्द प्रभाकर', पृ० १८९, १९१।

दरप सों भरी वह दरपन देख्यो जौ लौं
तौलौं प्रानप्यारी के उरोज हरि परसे ॥५६॥

(२) जा दिन तें देखे 'मतिराम' तुम ता दिन तें
बढ़ी रहै मुसकानि वाके जियराई पर।
भावत न भोजन बनावत न आभरन
हेतु न करत सुधानिधि सियराई पर।
चलो उठि देखौ बड़े भाग हैं तिहारे अब
राखौ धरि राधिकै कन्हाई हियराई पर।
दूनी दुति छाई देह आई दुबराई पिय
राई लौनु वारिए तिया की पियराई पर ॥३०१॥

(रसराज)

इनमें प्रथम 'घनाक्षरी' है और दूसरा 'रूपघनाक्षरी'। दोनों में ही ८ की यति के बन्धन की अस्वीकृति स्पष्ट है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि चार यति के नियम का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। जहाँ उन्हें अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ इसका पूरा-पूरा उपयोग किया गया है, जिससे छन्द की लय में भी अपेक्षाकृत अधिक लोच आ गया है; देखिये—

केसरि कनक कहा, चंपक बनक कहा,
दामिनी यों दुरि जात, देह की दमक तें
कवि 'मतिराम' लौने, लोचन लपेट लाज,
अरुन कपोल काम, तेज की तमक तें॥
पग के धरत बल, किंकिनी नूपुर बजे,
बिछिया झनक उठै, एक ही झमक तें।
नाह मुख चाहि चित, औचक हँसति चौंक,
परै चंदमुखी निज, चौका की चमक तें ॥१७०॥

(रसराज)

इसमें प्रत्येक चरण के अन्तर्गत ८ की यति के नियम का पालन हुआ है।

सवैया—'सवैया' का रचना-विधान 'कवित्त' की अपेक्षा भिन्न है। कवित्त में जहाँ केवल वर्ण-साम्य ही होता है—लघु-गुरु का कोई निश्चित क्रम नहीं होता, वहाँ 'सवैया' में इसके विपरीत लघु-गुरु निश्चित संख्या और निश्चित क्रम में रहते हैं। यही कारण है कि कवित्त की लय जहाँ ऊबड़-खाबड़ खादरों में से बहने वाले जल से उत्पन्न खर-नाद जैसी होती है, वहाँ इसकी गति में समतल प्रदेश पर प्रवाहित होने वाली जलधारा के समान तरलता विद्यमान रहती है। दूसरे शब्दों में एक का संगीत ओजपूर्ण होता है और दूसरे का मधुर। कदाचित् इसीलिए शृंगार आदि मधुर और कोमल रसों के उपयुक्त समझकर ही कवियों ने इस छन्द को अधिक अपनाया है।

'सवैया' २२ से २६ वर्णों तक का वर्णिक छन्द है। इसकी विशेषता सामान्यतः यह होती है कि इसमें किसी एक गण की ही बार-बार आवृत्ति होती है, जिससे

स्वर-विधान एक प्रकार से निश्चित-सा हो जाता है। अंत में यदि लघु-गुरु का क्रम निश्चित कर दिया जाता है तो लय में लपेट आ जाने से एक क्षण के लिए स्वर में वैचित्र्य का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार आठ गणों और लघु-गुरु के हिसाब से इस छन्द के अनेक भेद किये जा सकते हैं, पर सामान्यतः भगण, जगण और सगण की लय के आश्रित 'सवैये' ही हिन्दी कवियों में अधिक लोकप्रिय रहे हैं। मतिराम ने इनमें केवल भगण और सगण के आश्रित सवैयों को ही अपनाया है। इनमें भी भगण के आश्रित 'मत्तगयंद' (सात भगण और अंत में दो गुरु) को उन्होंने समकालीनों के समान ही अपनी रचनाओं में विशेष रूप से स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त आठ भगण के 'किरीट' और आठ सगण के 'दुर्मिल' में भी उन्होंने रचनाएँ की हैं, पर दोनों को मिलाकर इनकी कुल संख्या एक दर्जन तक भी नहीं पहुँच पाती। फिर भी प्रयोग में उन्होंने किसी भी प्रकार की शिथिलता नहीं आने दी—दोनों की लय में उसी प्रकार का नियमित आरोह-अवरोह दृष्टिगत होता है; जैसा कि 'मत्तगयंद' की लय में प्राय: देखने को मिलता है। देखिये—

मत्तगयंद (सात भगण और दो गुरु)—

प्रा न प्रि या मन भा व न सं ग अ नं ग त रं ग नि रं ग प सा रे।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S S

भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण गु गु

किरीट (आठ भगण)—

सा थ स खी के न ई दु ल ही को भ यो ह रि को हि यो हे रि हि मं च ल।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I

भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण भगण

दुर्मिल (आठ सगण)—

गहि हा थ सों हा थ स हे ली के सा थ मैं आ व ति ही वृ ष भा न ल ली।

I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S

सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण

कवित्त के समान इनकी सफलता का मूल कारण भी सुकोमल आनुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग ही रहा है; देखिये—

(१) अंजन दै निकसे नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै ।
रूप गुमान भरी मग मैं पगही के अँगूठा अनौट सुधारै ।।
जोबन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै ।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सँभारै ।।८०।।

(२) सोय रही रति अन्त रसीली अनन्त बढ़ाय अनंग तरंगनि ।
केसरि खौरि रची तिय के तन प्रीतम और सुबास के संगनि ।।
जागि परी 'मतिराम' सरूप गुमान जनावत भौंह के भंगनि ।
लालसौं बोलति नाहिन बाल सु पोंछति आँखि अँगोछति अंगनि ।।१०५।।

(३) नँदलाल गयो तितही चलिकै जित खेलत बाल अलीगन मैं ।
तहाँ आपुही मूँदे सलोनी के लोचन चोर मिहीचनि खेलन मैं ।।
बुरिबे को गईं सिगरीं सखियाँ 'मतिराम' कहै इतने छिन मैं ।
मुसकाय कैं राधिका कण्ठ लगाय छिप्यो कहूँ जाय निकुंजन मैं ।।२७०।।

(रसराज)

यह बात तो शृंगारिक रचनाओं की है, राज-प्रशस्तियों में भी उन्होंने 'सवैया' 'मत्तगयंद'—का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। इसमें सन्देह नहीं कि मधुर छन्द होने के कारण इसमें 'कवित्त' का-सा ओज नहीं आ पाता, पर मतिराम ने इसकी सफलता के लिए यथासम्भव इस गुण के व्यंजक—अपेक्षाकृत कठोर शब्दों का प्रयोग करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया। उदाहरण के लिए—

मंदर बिंध्य सुमेर कलिंद गिरिंदन कों हिम सैलहि साजै ।
देव नदी सम तीनहु लोक पवित्र करै सब जीव समाजै ।।
छाय रही 'मतिराम' कहै छिति छोरनि छीरधि की छवि छाजै ।
पूरब पच्छिम उत्तर दच्छिन भाऊ दिवान की कीरति राजै ।।२४८।।

(ललितललाम)

सवैया में कवित्त के समान यति-सम्बन्धी कोई नियम नहीं होता। पर चूँकि इसका कलेवर काफी लम्बा होता है, इसलिए स्वतः ही इसमें यति आ जाती है। मतिराम के सवैयों में यह बात प्रायः सर्वत्र देखी जा सकती है—

लेन गई हुती बागन फूल, अँध्यारी लखें डर बढ़्यो महाई ।
रोम उठे तन कम्प छुटे, 'मतिराम' भई श्रम की सरसाई ।।
बेलिन में उरझी अँगिया, छतियाँ अति कंटक के छत छाई ।
देह में नेक सँभार रह्यो न, यहाँ लगि भाजि भरू करि आई ।।६८।।

(रसराज)

इसके प्रथम और अन्तिम चरणों में ११ वर्णों पर और द्वितीय और तृतीय में १० वर्णों पर यति आई है। वस्तुतः यति तो ११ पर ही होनी चाहिए थी पर यह अन्तर इसलिए हो गया है क्योंकि वर्णों की मात्राएँ भिन्न हैं—द्वितीय और तृतीय में जहाँ

गुरु अधिक हैं वहाँ प्रथम और चतुर्थ में अपेक्षाकृत लघु का आधिक्य है। भावाभिव्यक्ति में प्रायः इस प्रकार का अन्तर हो ही जाता है—क्योंकि कवि यदि यति के पीछे दौड़ता फिरे तो उसकी रचना के सौन्दर्य को नष्ट होने में देर न लगेगी।

दोहा—'कवित्त' और 'सवैया' की अपेक्षा 'दोहा' अधिक प्राचीन छन्द है। 'पृथ्वीराज रासो' में ही इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग नहीं हुआ उससे कई-सौ वर्ष-पूर्व अपभ्रंश के कवियों ने अपनी सूक्तियाँ इसी छन्द में लिखी हैं। इस छन्द की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह किसी भी विषय के अनुकूल अपने आप ही बैठ जाता है, जिसका मुख्य कारण यह है कि मात्राओं के बन्धन में बँधा होने पर भी यह बहुत-कुछ स्वतन्त्र है—चार चरणों की ४८ मात्राओं के घेरे में लघु-गुरु को घटाने-बढ़ाने से इसकी लय में पर्याप्त परिवर्तन किया जा सकता है। आचार्यों ने गुरु-लघु की संख्या के आधार पर इस छन्द के जो २३ भेद किये हैं[1], उनके मूल में मुख्यतः लय सम्बन्धी यही तथ्य विद्यमान है। मतिराम ने यद्यपि वीर, राजप्रशस्ति, शृंगार और भक्तिसम्बन्धी अनेक रचनाएँ दोहों में की हैं, परन्तु वे 'दोहा' के सभी भेदों का उपयोग नहीं कर पाये—जो उनकी रुचि और विषय के अधिक अनुकूल बैठे हैं उन्हीं को प्रायः ग्रहण किया है। वैसे इतना अवश्य है कि गृहीत भेदों का प्रयोग यति, लय इत्यादि की दृष्टि से अत्यन्त स्वच्छ है। इसके लिए उन्हें सामान्यतः 'अनुप्रास' की अपेक्षा 'यमक' की अधिक सहायता लेनी पड़ी है; और यही कारण है कि दोहों में चमत्कार का विशेष स्थान बन गया है। उदाहरण के लिए प्रत्येक विषय का एक-एक दोहा देते हैं—

(१) जलधर छोड़ि गुमान कौं, हौं ही जीवन दानि।
तो सों ही पानिप भर्‌यो भावसिंह को पानि ॥६२॥
(ललितललाम)

(२) कामिनि दामिनि दमक सी बरनि कौन पै जाइ।
डीठि नहीं ठहराइयै डीठिन ही ठहराय ॥२०५॥

(३) स्याम रूप अभिराम अति सकल बिमल गुन धाम।
तुम निसिदिन 'मतिराम' की मति बिसरौ मति राम ॥४५०॥
(सतसई)

---

१. दे० वही 'छन्द प्रभाकर', पृ० ६७।

दशम अध्याय

मतिराम का आचार्यत्व

'आचार्य' शब्द से अभिप्राय—संस्कृत में 'आचार्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'चर' और 'चिन्'—इन दो धातुओं से की गई है ; इसीलिए इसके दो विशिष्ट अर्थ उपलब्ध होते हैं—१. जो स्वयं आचरण करता हो और अपने शिष्यों से कराता हो तथा २. जो शास्त्रार्थ का संग्रह करे[1] । कहने की आवश्यकता नहीं कि धर्म में दीक्षा देने वाले गुरु अथवा शिक्षक (अध्यापक) के लिए 'आचार्य' शब्द का प्रयोग जो अब तक प्रचलित है, वह इसके उक्त प्रथम अर्थ का ही किसी न किसी प्रकार से परिवर्तित रूप है। जहाँ तक इसके द्वितीय अर्थ का प्रश्न है, वह यद्यपि शब्द-कोश तक ही सीमित प्रतीत होता है, तथापि इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं कि 'आचार्य' का सम्बन्ध शास्त्र के साथ भी है एवं किसी भी शास्त्र के विद्वान् अथवा पण्डित को इस शब्द द्वारा अभिहित किया जा सकता है। अतएव साहित्य के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग काव्य-शास्त्र के किसी सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय के प्रवर्तक ; काव्य-शास्त्र के भाष्याकार; अथवा काव्य-शास्त्र के विद्वान् का वाचक होगा। 'आचार्य' शब्द को हम भी यहाँ इसी अर्थ में ग्रहण कर रहे हैं।

मतिराम का विवेचन-क्षेत्र—मतिराम के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी चार ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—१. रसराज, २. ललितललाम, ३. अलंकार पंचाशिका और ४. छन्दसार संग्रह। इनके अतिरिक्त नायिका-भेद और विभाव-अनुभाव विवेचन पर क्रमशः 'साहित्यसार' और 'लक्षण शृंगार' नामक दो कृशकाय पुस्तिकाओं का नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में और उल्लेख मिलता है, पर ये अप्राप्य हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में 'रसराज' रस का ग्रन्थ है। इसमें केवल शृंगार रस और उसके अंग नायक-नायिका-भेद का वर्णन अथवा विवेचन सविस्तर किया गया है। 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका' का प्रतिपाद्य विषय एक ही है—अलंकार ! 'अलंकार पंचाशिका' के शीर्षक से जैसा कि स्पष्ट है कि इसमें केवल पचास अलंकारों का ही वर्णन है। 'ललितललाम' इसकी अपेक्षा सभी दृष्टियों से बड़ा ग्रन्थ है। 'छन्दसार संग्रह' के अन्तर्गत छन्दः शास्त्र अथवा पिंगल और उसके अंगों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

---

१. दे० (क) स्वयमाचरतेशिष्यानाचारेस्थापयत्यपि ।
(ख) आचिनोतिहिशास्त्रार्थमाचार्यस्तेनेकथ्यते ।
(शब्दार्थचिन्तामणि)

इस प्रकार मतिराम के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी विवेचन का क्षेत्र इन चार विषयों तक ही सीमित है—

१. शृंगार रस
२. नायक-नायिका-भेद
३. अलंकार
४. पिंगल।

इन चारों पर पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा।

शृंगार रस विवेचन

महत्त्व और विवेचन के काल-क्रम, दोनों की ही दृष्टि से मतिराम का शृंगार रस-विवेचन प्रथम आता है; अतः सर्वप्रथम इसी पर विचार करते हैं।

विवेचन का आधार—संस्कृत-काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत शृंगार रस का शास्त्रीय विवेचन सर्वप्रथम भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में उपलब्ध होता है, जहाँ उन्होंने नाटक को ही दृष्टि में रखते हुए इसे अपने भेदों सहित प्रस्तुत किया है। भरत के पश्चात् यद्यपि रस की स्थिति श्रव्य-काव्य में भी स्वीकार की गई, किन्तु इससे 'नाट्य-शास्त्र' में निरूपित शृंगार रस के स्वरूप पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि अब रसवादी आचार्यों में प्रायः सभी ने इसकी मार्मिकता से प्रभावित होकर अन्य काव्य-रसों की अपेक्षा इसके विवेचन पर अधिक ध्यान दिया। भोज आदि ने तो इसके अतिरिक्त किसी अन्य रस की पृथक् सत्ता ही स्वीकार नहीं की। विश्वनाथ के समय तक आते-आते शृंगार रस के सभी अंगों की इतनी छानबीन हो चुकी थी कि किसी भी प्रकार की मौलिक उद्भावना के लिए स्थान तक न रहा। अब यदि इसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का कार्य शेष था तो यही कि इसे सुबोध और सरस ढंग से प्रस्तुत किया जाय। यह बात साहित्यदर्पणकार ने बहुत कुछ पूरी कर दी थी, आगे भानुदत्त ने अपनी 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' में इसका विशेष रूप से ध्यान रखते हुए स्वरचित उदाहरणों का समावेश कर बस पिष्टपेषण के लिए ही स्थान छोड़ा। रीतिकालीन कवियों को शृंगार रस-विवेचन की यही विशद और प्राचीन परम्परा विरासत में मिली थी, पर उन्होंने साधारणतः 'साहित्यदर्पण', 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' का ही अपने शृंगार रस-विवेचन में उपयोग किया। इसका मुख्य कारण यही कहा जा सकता है कि इन संस्कृत-ग्रन्थों की सुबोधता ने इन लोगों को आकृष्ट किया होगा। मतिराम ने भी अपने समकालीनों के समान ही उक्त तीनों संस्कृत-ग्रन्थों को अपने रसराज-गत शृंगार रस-विवेचन का आधार बनाया है और इसके मूल में भी सुबोधता का उक्त कारण विद्यमान कहा जा सकता है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि उन्होंने इन ग्रन्थों का उपयोग कहाँ, कैसे और किस लिए किया है तथा शृंगार रस के विभिन्न अंगों के विषय में उनकी अपनी मान्यताएँ क्या हैं!

शृंगार रस की परिभाषा

शृंगार रस का लक्षण देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के अन्तर्गत

लिखा है कि उत्तमप्रकृति-युक्त उस रस का नाम 'शृंगार' है, जो 'शृंग' अर्थात् काम के उद्रेक का कारण होता है[1]। यहाँ, 'उत्तमप्रकृति' शब्द द्रष्टव्य है, क्योंकि शृंगार रस का विशेषण होने के नाते यह उसके स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होगा। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व यह कह देना असंगत न होगा कि उक्त लक्षण में आचार्य ने काम के उद्भव का कारण शृंगार रस को ही माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि विभावादिक के रूप में कवि जिस प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति अपने काव्य में करता है वही काम का उद्रेक करती है। चूँकि काव्य-शास्त्र के प्रसंग में किसी भी भाव के उद्रेक का क्षेत्र केवल सहृदय ही होता है, कारण वह (सहृदय) जिस भी रस का आस्वादन करता है वह (रस) उसके भीतर वासना-रूप में विद्यमान भाव-विशेष ही होता है जो अभिव्यक्तिगत भाव द्वारा जागृत होकर उसे (सहृदय को) अपना आस्वादन कराता है; अतएव यह स्पष्ट ही है कि 'उत्तमप्रकृति' विशेषण का प्रयोग सहृदय-सापेक्ष है। इस प्रकार 'शृंगार रस की उत्तमप्रकृति' का अर्थ हुआ **कवि की अभिव्यक्तिगत वह विशेषता जो काम-भावना की जागृति के समय सहृदय की प्रकृति को उत्तम रहने दे अर्थात् इसमें ऐसा कोई तत्त्व न आने दे जो रस के आस्वादन में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न करता हो**। यह रसास्वादन सम्बन्धी व्याघात सामान्यतः दो रूपों में हो सकता है—१. अभिव्यक्ति का अनौचित्य और २. इसकी स्थूलता। इनमें अनौचित्य की अवस्था में सहृदय के नैतिक संस्कार कवि की अभिव्यक्ति को तिरस्कृत कर डालते हैं—जैसा कि पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनियों अथवा वेश्या की रति के वर्णन में प्रायः होता है। द्वितीय अर्थात् अभिव्यक्ति की स्थूलता के परिणामस्वरूप सहृदय में काम-भाव के स्थान पर भोग की इच्छा अथवा वासना जागृत हो जाती है और इस प्रकार रस अलौकिक आनन्द से भ्रष्ट हो जाता है। अतः इन दोनों बातों को दृष्टि में रखते हुए साहित्यदर्पणकार के उपर्युक्त लक्षण को स्पष्ट रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—**उत्तम (वासना और अनौचित्य-रहित) काम-भावना की अभिव्यक्ति का नाम शृंगार रस है।**

मतिराम ने शृंगार रस का लक्षण इस प्रकार दिया है—

जो बरनत तिय-पुरुष को कबि कोबिद रति भाव।
तासों रीझत हैं सुकबि सो सिंगार रस राव ॥३४२॥

(रसराज)

अर्थात् स्त्री-पुरुष की काम-भावना (रति भाव) की उस अभिव्यक्ति का नाम शृंगार रस है, जिससे काव्य-मर्मज्ञ-सहृदय (सुकवि) आनन्द प्राप्त करें (रीझत)। स्पष्ट है कि मतिराम ने प्रस्तुत लक्षण में सहृदय के आनन्द की स्थापना द्वारा शृंगार रस को जहाँ सहृदय-सापेक्ष कहते हुए इसे वासना की अभिव्यक्ति से रहित घोषित किया है वहाँ दूसरी ओर स्त्री-पुरुष की काम-भावना का उल्लेख कर इसमें पशु-पक्षी

---

१. दे० **शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।**
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥१८३॥
—वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद।

आदि तिर्यक् योनियों के काम के अनुचित समावेश की सम्भावना तक के लिए स्थान नहीं रहने दिया। किन्तु यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि क्या 'परकीया' और 'सामान्या' के काम की अभिव्यक्ति भी इनके विचार में शृंगार रस है, क्योंकि स्त्रियाँ तो ये भी हैं। यदि ऐसा है तो शृंगार रस को उत्तमप्रकृति कैसे कहा जा सकता है? इसमें सन्देह नहीं कि स्त्री-पुरुष के प्रेम के उल्लेख मात्र से शृंगार रस को उत्तमप्रकृति-युक्त नहीं कहा जा सकता—विशेषत: उस दशा में जबकि लक्षणकार 'परकीया' और 'सामान्या' के प्रेम का विस्तार के साथ वर्णन कर रहा हो। पर इससे पूर्व कि हम उक्त लक्षण को सदोष ठहराएँ, यह देख लेना उचित होगा कि क्या यहाँ 'रीझत' शब्द शुद्ध एवं अलौकिक आनन्द की ओर संकेत तो नहीं कर रहा? काव्य-मर्मज्ञ-सहृदय नैतिक-संस्कार-सम्पन्न व्यक्ति ही होते हैं, अत: उनसे यह आशा कैसे की जा सकती है कि इस प्रकार के अनैतिक वर्णनों से उन्हें आनन्द प्राप्त होगा—अवश्य वे इसे हेय समझेंगे। फिर 'परकीया' और 'सामान्या' के काम का वर्णन उत्तमप्रकृति का नही तो निकृष्ट कोटि का शृंगार तो है ही। पशु-पक्षियों के काम की अभिव्यक्ति से इसकी अभिव्यक्ति कहीं अधिक उत्तम है—मन में 'जुगुप्सा' तो उत्पन्न नहीं करती! सम्भवत: इसी बात को दृष्टि में रखकर अर्थात् निकृष्ट कोटि के शृंगार को भी अपने लक्षणों में स्थान देने के हेतु मतिराम ने शृंगार रस का यह सामान्य लक्षण दिया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यहाँ उन्होंने किसी प्रकार की मौलिक उद्भावना की है। यह तो वास्तव में भानुदत्त की 'रसतरंगिणी'[1] के शृंगार रस के इस लक्षण का अनुवादमात्र है—'यूनो: परस्परं परिपूर्ण: प्रमोद: सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृंगार:' (षष्ठतरंग:)। ऐसी दशा में उन्हें केवल इस बात के लिए ही दाद दी जा सकती है कि उन्होंने शृंगार के विषय में अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण अपनाया है। ऐसा करते भी क्यों नहीं? न करने से उनकी रचनाओं का अधिकांश भाग शृंगार की कोटि से अवस्खलित हो जाता और साथ ही व्यापकता के अभाव में शृंगार का रसराजत्व भी समाप्त हो जाता, जिसकी कि उन्होंने इसके लक्षण में ही उद्घोषणा की है।

शृंगार रस की सामग्री

रस की सामान्य सामग्री—अर्थात् इसके स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव—पर वीर रस के स्वरूप-वर्णन में पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है, अवएव यहाँ केवल शृंगार रस के विभावादि पर ही संक्षेप में विचार करेंगे।

स्थायी-भाव—शृंगार का स्थायी-भाव है—'रति'। रति शब्द का सामान्य अर्थ है—प्रिय वस्तु के प्रति मन का आग्रहपूर्वक लगाव। रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनस:प्रवणायितम्[2]। निसर्गत: स्त्री-पुरुष में परस्पर का आकर्षण विद्यमान रहता है। काव्य-शास्त्र में यही आकर्षण अथवा मन का लगाव 'रति' है, जो अनुकूल अवसर के आते ही जागृत हो जाता है।

---

१. दे० वही 'साहित्यदर्पण' तृतीय परिच्छेद, १७६वीं कारिका।
२. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित, संवत् १९७१ वि० का संस्करण।

मतिराम ने अपने विवेचन के अन्तर्गत कहीं पर भी 'रति' का पृथक् लक्षण नहीं दिया। इसका मुख्य कारण यही कहा जा सकता है कि उन्होंने 'रति' स्थायी-भाव का निरूपण अनावश्यक समझा हो, विशेषतः उस दशा में जबकि भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी'—दोनों में से किसी में भी इसका लक्षण नहीं दिया। वैसे शृंगार रस के उपर्युक्त लक्षण से यह स्पष्ट संकेत मिल ही जाता है कि स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम का नाम 'रति' है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने साहित्य-दर्पणकार के लक्षण का अनुवाद प्रस्तुत करके पुनरुक्ति करना उचित नहीं समझा।

विभाव—अन्य काव्य-रसों के समान शृंगार रस के भी तीन अंग हैं—आलम्बन आश्रय, और उद्दीपन। किन्तु विशेषता इसमें यह है कि जहाँ औरों में आलम्बन और आश्रय की सत्ता स्पष्ट रूप से पृथक् रहती है, वहाँ इसमें नहीं रहती—ये प्रायः एक दूसरे के आलम्बन और आश्रय रहते हैं। यदि ऐसा नहीं होता अर्थात् आलम्बन यदि आश्रय का आश्रय नहीं बनता तो दोनों की पारस्परिक रति के अभाव में इस रस का आस्वादन नहीं हो सकता। मतिराम इस बात से पूर्णतः परिचित थे, इसी लिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्त्री-पुरुष (नायक-नायिका)—दोनों को ही शृंगार रस का आलम्बन कहा है—

होत नायका-नायकहि आलम्बित शृंगार। (४)

(रसराज)

स्त्री-पुरुष की पारस्परिक रति यद्यपि नैसर्गिक है, तथापि स्थायी होकर यह रस-दशा तक तभी पहुँच सकती है, जबकि आश्रय को आलम्बन के रूप, गुण आदि का कुछ परिचय हो। यह दो प्रकार से ही सम्भव हो सकता है—१. आलम्बन के रूप, गुण आदि के श्रवण द्वारा और २. उसके दर्शन से। इनमें प्रथम अर्थात् आलम्बन के रूप, गुण आदि के श्रवण द्वारा आश्रय अपने इष्ट (आलम्बन) का काल्पनिक चित्र अपने मन के भीतर अंकित करता रहता है, जबकि द्वितीय अर्थात् दर्शन करने से उसके अन्तःपट पर आलम्बन का सही चित्र स्थापित हो जाता है। अन्तर दोनों में इतना ही है कि प्रथम दशा में जहाँ यह चित्र परिवर्तित होता रहता है, वहाँ द्वितीय में यह स्थिर रहता है। साहित्यदर्पणकार ने दर्शन के—१. इन्द्रजाल, २. स्वप्न, ३. चित्र और ४. साक्षात्—ये चार भेद धनंजय से ग्रहण किये हैं[1]। किन्तु भानु मिश्र ने अपनी 'रसमंजरी' में इन्द्रजाल को ग्रहण नहीं किया[2]। इसका कारण क्या है, यह तो उन्होंने नहीं बताया ; हाँ, अनुमान से यह कहा जा सकता है कि इन्द्रजाल में

---

१. दे० **इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥१८६॥**

—वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद।

दे० **साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम्।**

—'दशरूपक', सम्पादक डॉ० भोलाशंकर व्यास (प्रथम संस्करण)।

२. दे० **स्वप्नचित्रसाक्षाद्भेदेन दर्शनं त्रिधा।**

['रसमंजरी' (सुरभिभूषिता टीका)—श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवन, काशी से प्रकाशित (द्वितीय संस्करण)।

हुए दर्शन को 'रति' भाव के उद्रेक में असमर्थ समझते होंगे। बात यह है कि इन्द्रजाल में प्रिय का दर्शन चेतन और अवचेतन—मन के इन दोनों भेदों से नितान्त भिन्न ऐसी अवस्था में होता है, जिसके हटते ही द्रष्टा को इस स्थिति में घटित बातों का स्मरण तक नहीं रहता और जब वस्तु का स्मरण नहीं तो उसके प्रति अनुराग ही कैसे स्थायी रह सकता है ? दूसरे यह मान भी लें कि इन्द्रजाल में देखी गई इष्ट वस्तु का इसके (इन्द्रजाल के) हटने पर भी स्मरण रहता है, तो वह स्वप्न-दर्शन से भिन्न न होगा, कारण, दोनों ही अवस्थाओं में चेतन मन की जागृति नहीं होती—अवचेतन मन ही कार्य करता है, इस प्रकार से एक ओर दर्शन के इन तीन भेदों को और दूसरी ओर से रूप, गुण आदि के श्रवण को ही ग्रहण करके रीतिकालीन कवियों ने दर्शन के चार भेद बना लिये, जिनका प्रयोग सर्वप्रथम केशव को 'रसिक-प्रिया' में दृष्टिगोचर होता है—

> ये दोऊ दरदर्शं बश होहिं सकाम शरीर ।
> दर्शन चारि प्रकार को वर्णत हैं मतिधीर ॥१॥
> एक जनो को देखिए दूजो दर्शन चित्र ।
> तीजो सपनो जानिये चौथो श्रवण सुमित्र ॥२॥
>
> ('रसिक प्रिया'[1]—चौथा प्रकाश)

मतिराम ने भी केशव द्वारा निरूपित दर्शन के उक्त चारों भेदों की परम्परा का उल्लंघन नहीं किया—

> दरसन आलम्बनहिं में कवि 'मतिराम' सुजान ।
> स्रवन स्वप्न अरु चित्र त्यौं पुनि प्रत्यक्ष बखान ॥२७५॥
>
> (रसराज)

किन्तु इससे आगे उन्होंने इनके पृथक् रूप से लक्षण नहीं दिये, संभवतः इसलिए कि ये चारों अपने नामों से ही इतने स्पष्ट हैं कि पृथक् व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखते। इस पर इनके उदाहरण भी इतने स्पष्ट हैं कि किसी शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता। इसके साथ ही साथ यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने अत्यन्त चातुरी से नायक-नायिका—दोनों को ही आश्रय रूप में प्रस्तुत कर इनमें आलम्बनत्व की स्थापना कर दी है।

आलम्बन और आश्रय के पश्चात् विभाव का दूसरा अंग आता है—उद्दीपन। इसकी परिसीमा के अन्तर्गत एक ओर मानवेतर जड़-पदार्थ तथा दूसरी ओर सखी और दूती को रखा जाता है। इनमें जड़-पदार्थ तो आश्रय के चित्त में विकार उत्पन्न कर—अर्थात् स्नायुमण्डल को प्रभावित कर और सखी और दूती अपनी उक्तियों अथवा कर्म के द्वारा उसकी 'रति' को उभारती हैं। काव्य-शास्त्र में सखी के कर्म—मंडन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास तथा दूती का कर्म आश्रय के संदेश को आलम्बन तक पहुँचाना कहा गया है। मतिराम ने इन सबका वर्णन भानुदत्त की

---

१. सम्पादक—श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी—सन् १९५४ ई० में प्रकाशित।

'रसमंजरी' से ग्रहण कर[1] अत्यन्त मनोयोग और विस्तार से किया है तथा उदाहरण भी ऐसे दिये हैं जो विवेचन की दृष्टि से किसी प्रकार सदोष नहीं कहे जा सकते। पर 'उद्दीपन' का लक्षण अवश्य ही ऐसा है, जिसके औचित्य पर शंका की जा सकती है। देखिये—

> चन्द कमल चन्दन अगर ऋतु बन बाग बिहार ।
> उद्दीपन शृंगार के जे उज्जल संभार ॥२८४॥
>
> (रसराज)

इसमें चन्दन आदि कतिपय पदार्थों को शृंगार रस के उद्दीपन कहा गया है। उद्दीपन क्या हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जा सकता है कि पाठक को इसके सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान है, यह मानकर मतिराम चले हैं, इसीलिए शृंगार रस के अन्तर्गत आनेवाली उद्दीपन-सामग्री का उन्होंने उल्लेख किया है। तब प्रश्न उठता है कि क्या इतने उपकरण ही शृंगार रस के उद्दीपन हैं, इनके अतिरिक्त और नहीं ? इसका उत्तर यद्यपि यह होगा कि अन्य पदार्थ भी हो सकते हैं पर मतिराम इसका क्या उत्तर देते यह नहीं कहा जा सकता। उनका यह लक्षण न तो रसतरंगिणीकार के इस लक्षण का—

> ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
> उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति ॥२॥
>
> —वही 'रसतरंगिणी', द्वितीय तरंग ।

अनुवाद मात्र है और न किसी अन्य स्थान से ही ग्रहण किया गया है। सम्भवतः उन्होंने ऐसा कविसमय के आधार पर कर दिया है। ऐसे ही उद्दीपन-भेद सम्बन्धी एक लक्षण और है—

> सखी दूतिका जानिये उद्दीपन के भेद ।
> नायक अरु नायका को हरैं बिरह को खेद ॥२८७॥
>
> (रसराज)

---

१. तुलना के लिए देखिए—

> जा तिय सौं नहिं नायका कछू छिपावे बात ।
> तासौं बरनत कहृ सखी सब कवि मति अवदात ॥२८८॥
> मंडन अरु शिक्षा करन उपालम्भ परिहास ।
> काज सखी के जानियो औरो बुद्धि-बिलास ॥२८९॥
> निपुन दूतता में सदा दूती ताहि बखान । (२९९)
>
> (रसराज)

दे० विश्वासविश्रामकारिणी पार्श्वचारिणी सखी । अस्या मण्डनोपालम्भ शिक्षापरिहासप्रभृतीनि कर्माणि । दूत्यव्यापारपारंगमा दूती ॥

—वही 'रसमंजरी', पृ० १६२-६७ ।

यहाँ सखी और दूती को उद्दीपन के भेद कहा गया है, जो शास्त्रीय दृष्टि से सर्वथा उचित है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि चन्दनादि पदार्थों के साथ ही उपर्युक्त दोहे में इनका उल्लेख क्यों नहीं किया गया और उद्दीपन के भेद बताते समय इन पदार्थों को सखी और दूती के साथ क्यों विस्मृत कर डाला ? यह ठीक है कि जड़-पदार्थों तथा सखी और दूती को एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता, पर इसका उल्लेख तो उद्दीपन संभारों में होना ही चाहिए था।

साहित्यदर्पणकार ने औचित्यभेद से दूती के तीन भेद माने हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा[1]। इनका वर्णन भानुदत्त ने न तो 'रसमंजरी' में किया है और न 'रसतरंगिणी' में ही ; किन्तु मतिराम ने इन तीनों भेदों को अत्यन्त आग्रह के साथ ग्रहण किया है तथा साहित्यदर्पणकार के 'औचित्य' शब्द का अर्थ वचनों तक सीमित मानते हुए लक्षण-उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—

मोहै जो मृदु बोलि कैं मधुर बचन अभिराम।
ताहि कहत कबिराज हैं उत्तम दूती नाम ॥३००॥

जा दिन तें देखे 'मतिराम' तुम ता दिन तें
बढ़ी रहै मुसकानि वाके जियराई पर।
भावत न भोजन बनावत न आभरन
हेतु न करत सुधानिधि सियराई पर॥
चलो उठि देखो बड़े भाग हैं तिहारे अब
राखो धरि राधिकै कन्हाई हियराई पर।
दूनी दुति छाई देह आई दुबराई पिय
राई लौनु वारिए तिया की पियराई पर ॥३०१॥

कछू बचन हित के कहै बोलै अहित कछूक।
मध्यम दूती कहत हैं तासों सुकबि अचूक ॥३०३॥

चरन धरैं न भूमि बिहरैं तहाँई जहाँ
फूले-फूले फूलनि बिछायौ परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है॥
कबि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयौ
आतप मलीन होत बदन मयंक है।
कैसैं वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै
बिजन बयारि लागैं लचकत लंक है ॥३०४॥

अधमा दूती जानिये बचन कहत सतराय।
ग्रन्थन को मत देखि कैं बरनत सब कबिराय ॥३०६॥

---

१. दे० एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥१३०॥
—वही 'साहित्यदर्पण,' तृतीय परिच्छेद।

आनत कछू न पै कहावत रसिकराय
स्याउ-ल्याउ अबहीं तिहारे यह टेक है।
कूरन की रीति है जु डेल ऐसो डारि देत
'मतिराम' चतुराई चतुर लिए कहै॥
बोली ना नवेली कछु बोल सतराय वह
मनसिज ओज को सुहानों कछु सेक है।
बातन सुनत अँगरात अलसात गात
सोहैं करि नैन बिहसौं हैं भई नेक है॥३०७॥
(रसराज)

इन छन्दों से स्पष्ट है कि रसराजकार ने किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं की—लक्षणों के अनुसार ही उदाहरण दिये हैं। उनकी 'औचित्य' सम्बन्धी उद्भावना के सम्बन्ध में चाहे मतभेद हो किन्तु जिस रूप में उन्होंने इसे प्रस्तुत किया है उसकी सराहना के लिए बाध्य होना ही पड़ता है।

अनुभाव—शृंगार रस के अन्तर्गत आश्रय की वे सभी चेष्टाएँ अनुभाव कहलाती हैं, जो उसके भीतर उद्बुद्ध 'रति' भाव को प्रकट करें। कटाक्ष, भ्रूविक्षेप, स्मिति, आनंद आदि इनके अनेक भेद किये जा सकते हैं। मतिराम ने भी अनुभाव का यही लक्षण दिया है—

जिनते चित्त रति भाव को आछो अनुभव होय।
रस सिंगार अनुभाव तिहि बरनत कवि सब कोय॥३०९॥
लोचन बचन प्रसाद मृदु हास भाव धृति मोद।
इनते प्रगटत भाव रति बरनहिं सुकबि बिनोद॥३१०॥
(रसराज)

यहाँ अनुभावों के नाम न देकर उन शरीरावयवों का उल्लेख किया गया है, जिनके संचालन से अनुभावों को देखा जा सकता है। इसके साथ ही 'धृति' और 'मोद' जैसे भावों का भी कथन है—'स्मिति' को विशेष स्थान दिया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'रति' को व्यक्त करने वाली आश्रय की प्रायः सभी चेष्टाएँ इस लक्षण में समाविष्ट हो जाती हैं। किन्तु इसके लिए मतिराम को केवल इतना ही श्रेय दिया जा सकता है कि उन्होंने 'रसतरंगिणी' के—'नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचनप्रमोदैश्च'—लक्षण का सही अनुवाद कर दिया है।

कभी-कभी आश्रय जब किसी कारणवश अपने में उद्बुद्ध 'रति' भाव को शारीरिक चेष्टाओं द्वारा व्यक्त नहीं करता तो स्वभावतः उसके स्नायुमंडल पर इसका प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाता है, जिसके फलस्वरूप स्वेद आदि के रूप में उसके शरीर पर विभिन्न प्रकार की आन्तरिक प्रक्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। आचार्यों ने इनको सात्विक भाव कहा है तथा इनकी गणना भी अनुभावों में ही की है[1]। मतिराम

१. दे० सत्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः। (१३५)
—वही 'साहित्यदर्पण' ततीय परिच्छेद।

ने भी इनको अनुभाव स्वीकार करते हुए अनुभावों की उपरिलिखित सूची में समाविष्ट किया है—

ते अनुभाव जानियो जे हैं सात्विक भाव।
रसग्रंथनि अवलोकि के बरनत सब कविराव ॥३१३॥
स्तंभ स्वेद रोमांच सुर-भंग कंप वैवर्ण।
आँसू औरो प्रलय कहि आठौं ग्रंथनि बर्ण ॥३१४॥

(रसराज)

'रसराज' में इन आठों सात्त्विक भावों का वर्णन विस्तार और मनोयोग के साथ किया गया है। किन्तु 'साहित्यदर्पण' के आधार पर होने के कारण इनके लक्षणों में 'रति' भाव के अतिरिक्त अन्य स्थायी-भावों का भी समावेश है—यद्यपि उदाहरण विशुद्ध शृंगारिक ही हैं। उदाहरण के लिए 'कम्प' का लक्षण और उसका उदाहरण ही देखिये—

क्रोध हर्ष भय आदि तें थरथराति जो देह।
ताहि कंप यों कहत हैं कबि कोबिद मति गेह ॥३२७॥
चन्दमुखी अरविन्द की मालनि गूँदत रूप अनूप सुधार्यो।
काम सरूप तहाँ 'मतिराम' अनंद सौं नंदकुमार पधार्यो ॥
देखत कंप छुट्यो तिय के तन यों चतुराई को बोल उचार्यो।
सीरे सरोज लगे सजनी कर काँपतु जातु न हार सँवार्यो ॥३२८॥

(रसराज)

यहाँ कम्प का कारण क्रोध, हर्ष, भय आदि को कहा गया है—'रति' का स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ, पर 'हर्ष' और 'आदि' शब्दों से इसका आभास मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि सभी रसों में यही सात्त्विक भाव हुआ करते हैं; फिर भी शृंगार रस-विवेचन करते समय लक्षणकार को उसी के आधार पर देना चाहिए था। शास्त्रीय दृष्टि से इन लक्षणों में चाहे दोष न हों, पर विषय-विवेचन की दृष्टि से तो मानना ही होगा।

संचारी—शृंगार रस में संचारी-भाव स्थायी-भाव—'रति'—को पुष्ट करते हैं। इनकी संख्या ३३ है। सात्त्विक-भावों के समान ही इनमें से किसी के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक रस में कौनसा संचारी नहीं आ सकता। वीर रस के शास्त्रीय-विवेचन के प्रसंग में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। ऐसी दशा में यह कहना असंगत नहीं कि शृंगार रस में ये सभी संचारी भाव आ सकते हैं। संस्कृत-काव्य-शास्त्र में इनके विवेचन को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। पर रसराजकार ने इनका लक्षण तक नहीं दिया; विवेचन करना दूर की बात है। इसका कारण तो मतिराम ही बता सकते थे; पर उनके विवेचन के आधार-ग्रंथों में से 'रसमंजरी' को देखने पर ज्ञात होता है कि इसमें संचारियों का उल्लेख नहीं हुआ और यह इसलिए क्योंकि इसके लेखक ने 'रसतरंगिणी' में इनका विस्तृत वर्णन कर दिया है। मतिराम ने संभवतः इसीलिए इनका वर्णन करना व्यर्थ समझा हो। किन्तु

फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि जहाँ वे अनेक स्थलों पर 'साहित्यदर्पण' और 'रसतरंगिणी' का सहारा लेते रहे हैं, वहाँ इस प्रसंग में 'रसमंजरी' तक ही उन्होंने अपनी दृष्टि सीमित क्यों रखी ?

शृंगार रस के भेद

शृंगार रस के दो भेद हैं—एक संभोग अथवा संयोग और दूसरा विप्रलंभ अथवा वियोग। संभोग-शृंगार में आलम्बन और आश्रय—दोनों ही पारस्परिक नैकट्य से आनन्द की प्राप्ति करते हैं, जबकि विप्रलंभ में दोनों में से एक अथवा दोनों ही मन के अनुकूल न होने पर (चाहे वे शरीर से निकट ही हों) एक विशेष प्रकार के अभाव-जन्य कष्ट का अनुभव करते हैं। मतिराम ने 'रसतरंगिणी' के समान ही[1] इन दोनों के लक्षणों में क्रमशः आनन्द की स्थिति और उसके अभाव का उल्लेख किया है, जो वस्तुतः काव्य-शास्त्र के अनुकूल ही है; देखिये—

प्रमुदित नायक नायका जिहिं मिलाप मैं होत।
सो संयोग सिंगार कहि बरनत सुमति उदोत ॥३४४॥

प्यारी पीव मिलाप बिनु होत नहीं आनन्द ॥
सो वियोग शृंगार कहि बरनत सब कबि वृन्द ॥३८०॥

(रसराज)

शृंगार रस के इन भेदों के भी आगे उपभेद किये गये हैं। संयोग-शृंगार के स्पर्शन, चुम्बन, रति-क्रीड़ा आदि अनेक भेद हैं। पर आचार्यों ने इनका विवेचन नहीं किया। मतिराम ने भी इसलिए इसके विवेचन को चलता कर दिया है, यद्यपि जो दो उदाहरण—एक रति-क्रीड़ा का और दूसरा स्पर्शन का[2]—इन्होंने दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट ही है कि संयोग-शृंगार के सभी भेदों के विषय में ये परिचित अवश्य थे।

निवेदन किया जा चुका है कि स्त्री-पुरुष में निसर्गतः पारस्परिक आकर्षण हुआ करता है। यही कारण है कि जब ये मिलते हैं तो इनमें स्वभावतः काम का भाव जागृत हो जाता है। काव्य-शास्त्र में इसी का वर्णन 'भाव' कहलाता है। इस भाव के जागृत होते ही शरीर में जब कतिपय स्वाभाविक चेष्टाएँ आरम्भ हो जाती हैं तो उन्हें 'हाव' कह दिया जाता है, एवं जब ये अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रकट होती हैं तो 'हेला' कहलाती हैं। किन्तु यहाँ यह कह देना असंगत नहीं कि इन तीनों में 'हाव'

---

१. दे० संयोग—तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्परसंयोगेनोत्पद्यमान आनंदो वा संयोगः।

विप्रलंभ—यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलम्भः।

—वही 'रसतरंगिणी'—षष्ठ तरंग।

२. दे० 'रसराज', छन्द संख्या ३४५-४६।

का ही अधिक महत्त्व होता है । बात यह है कि 'भाव' हृदय-प्रदेश तक सीमित होने के कारण आकर्षण की वस्तु नहीं हो पाता—इसका वर्णन भी अधिक चमत्कारक नहीं होता ; जबकि 'हेला' को अनुभावों की सीमा से पृथक् करना कठिन हो जाता है । 'हाव' अपने आपमें इतने सहज-सुन्दर होते हैं कि संयोग-शृंगार में प्रायः उद्दीपन का कार्य करते हैं । स्त्रियों में इनका होना और भी चमत्कारक होता है । सम्भवतः मतिराम ने इसीलिए केवल इनको ही अपने विवेचन के आधार-ग्रन्थों से ग्रहण किया है ।

आचार्यों ने हावों की संख्या दश स्वीकार की है—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहित । अपने प्रिय के वचन, गमन आदि का अनुकरण (नकल) करना 'लीला' हाव है । वाणी, नेत्र आदि में वैशिष्ट्य का आगमन 'विलास' हाव तथा वस्त्राभरणों की न्यूनता होने पर भी सौन्दर्य में वृद्धि होना 'विच्छित्ति' हाव है । हड़बड़ी के कारण वस्त्राभूषणों को उपयुक्त स्थानों पर न पहनना 'विभ्रम' हाव और एक साथ हर्ष, क्रोध, गर्व, अभिलाषा, श्रम आदि को प्रकट करना 'किलकिंचित' हाव कहलाता है । 'मोट्टायित' हाव में मिलन अथवा दर्शन की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है, पर यह दूसरों पर प्रकट नहीं हो पाती । भीतर सुख प्राप्त करते हुए भी बाहर से दुःख प्रकट करना 'कुट्टमित' हाव तथा अपने इष्ट का गर्व आदि के कारण अनादर करना 'विब्बोक' हाव कहलाता है । 'ललित' हाव वहाँ होता है जहाँ कोमल तथा स्निग्ध प्रकार से अंगों का विन्यास किया गया हो, जबकि 'विहृत' हाव में निकट होने पर भी लज्जा आदि के कारण उसके संस्पर्श की इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती । मतिराम ने अपने 'रसराज' में 'हाव' का लक्षण तथा इसके दश प्रकारों का विवेचन 'साहित्यदर्पण' और 'रसतरंगिणी' के अनुकूल ही किया है । किसी भी लक्षण अथवा उदाहरण में त्रुटि नहीं—सिवाय 'कुट्टमित' हाव के लक्षण के जिसमें वे सुख और दुःख को एक धरातल पर ले आये हैं । देखिये—

ईहा दुख अरु सुख की प्रकट करे जहँ बाम ।
परम ललित यह भाव है होत कुट्टमित नाम ।।३६८।।

(रसराज)

इसमें उन्हें कहना तो यह चाहिए था कि सुख-प्राप्ति होते हुए भी उसमें दुःख की अभिव्यक्ति का नाम 'कुट्टमित' हाव है[1], पर कह गये हैं यह कि इसमें सुख और दुःख दोनों (एक साथ) प्रकट होते हैं । वास्तव में इसमें दुःख ही प्रकट होता है, सुख तो वह भीतर से अनुभव करती है । इस दोष का प्रक्षालन वैसे इसके उदाहरण से हो जाता है, क्योंकि वह अपने आपमें अत्यन्त स्पष्ट है । साधारणतः इस प्रकार की त्रुटियाँ भाषा के कारण हो जाती हैं, कवि के भ्रम के कारण नहीं ।

जहाँ तक विप्रलम्भ-शृंगार का सम्बन्ध है, 'साहित्यदर्पण' के अन्तर्गत इसके चार भेद स्वीकार किये गए हैं । ये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण । इनमें

---

१. दे० सुखे दुःखचेष्टा कुट्टमितम् ।
—वही 'रसतरंगिणी'—षष्ठ तरंग ।

आलम्बन के सौन्दर्य आदि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से उसके प्रति अनुरक्त आश्रय की दशा का नाम 'पूर्वराग' है, जो मिलन पूर्व होती है। 'मान' उस दशा का नाम है जब आलम्बन और आश्रय में से एक अथवा दोनों ही एक दूसरे पर कोप कर रहे हों। किसी कारणवश आलम्बन के अन्य देश में चले जाने से आश्रय की स्थिति को प्रवास-विप्रलम्भ कहते हैं। आलम्बन के नाश के फलस्वरूप जब आश्रय शोक-विह्वल हो, पर मिलन की आशा बनी रहे, तब उसकी इस दशा को 'करुण'-विप्रलम्भ कहा जाता है। मतिराम ने इन चारों में से केवल तीन को ही स्वीकार किया है—

कहि पूरब अनुराग अरु मान प्रबास बिचारि।
रस सिंगार बियोग के तीन भेद निरधारि ॥३८१॥

(रसराज)

करुण-विप्रलम्भ को उन्होंने ग्रहण नहीं किया। इसका कारण तो वे नहीं देते, अतः अनुमान से यही कहा जा सकता है कि वे इसे करुण रस से पृथक् न मानते होंगे, क्योंकि आपाततः दोनों में ही इष्ट का नाश तथा आश्रय में उसके प्रति 'रति' भाव तो रहता ही है। यह भी हो सकता है कि उन्होंने इस मान्यता द्वारा अपनी मौलिकता दर्शाने का प्रयास किया हो।

अस्तु, विप्रलम्भ-शृंगार के शेष तीन भेदों में केवल 'पूर्वराग' और 'प्रवास' के लक्षण ही मतिराम ने ऐसे दिये हैं जो काव्य-शास्त्र की दृष्टि से संगत हैं। 'मान' का इन्होंने लक्षण नहीं दिया ; जबकि 'रसमंजरी' में स्पष्टतः इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि अपने प्रिय को उसके अपराध का बोध कराने वाली नायिका की चेष्टा 'मान' कहलाती है[1]। सम्भवतः इन्होंने इसका (मान का) लक्षण पृथक् रूप से देना इसलिए उचित नहीं समझा क्योंकि आगे इसके भेदों से सब बात स्पष्ट हो जाती है। 'मान' के इन्होंने तीन भेद—लघु, मध्यम और गुरु स्वीकार किये हैं :

मान कहत हैं तीनि बिधि लघु मध्यम गुरु नाम।
तिनके भेद बनाय कैं बरने कबि 'मतिराम' ॥३८५॥

(रसराज)

इन तीनों के लक्षण इन्होंने 'रसमंजरी' के आधार पर ही दिये हैं, देखिये—

और बाल कौं लखत जहँ लखै कंत कौं बाल।
बरनत हैं लघुमान सो छूटत तनकहिं ख्याल ॥३८६॥

पिय मुख औरहिं नारि को सुनै नाँव जब नारि।
होत मान मध्यम तहाँ बरनत सुकबि बिचारि ॥३८६॥

---

१. दे० प्रियापराधसूचिका चेष्टा मानः।
—वही 'रसमंजरी', पृ० ८३।

बोलत और तियान सों पिय कों देखे बाम ।
होत तहाँ गुरु मान सो बरनत कवि 'मतिराम' ॥३९२॥

(रसराज)

अपरस्त्रीदर्शनादिजन्मा लघुः, गोत्रस्खलनादिजन्मा मध्यमः, अपरस्त्रीसंगजन्मा गुरुः ।

—वही 'रसमंजरी', पृ० ८४ ।

साहित्यदर्पणकार ने 'मान' के दो भेद कहे हैं—प्रणयमान और ईर्ष्यामान । इनमें बिना किसी कारण के कुपित होना 'प्रणयमान' कहलाता है[1] । स्वप्न में अन्य-स्त्री के सम्बन्ध में बड़बड़ाने अथवा नायक के शरीर पर अन्य-स्त्री के साथ की गई रति के चिह्न देखने या अनजाने ही उसके मुख से किसी अन्य-स्त्री का नामोच्चारण हो जाने से 'ईर्ष्यामान' होता है[2] । यह स्त्रियों को ही होता है—पुरुषों को नहीं । उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट ही है कि मतिराम ने केवल 'ईर्ष्यामान' को ही ग्रहण किया है । प्रश्न उठता है कि उन्होंने 'प्रणयमान' को क्यों नहीं ग्रहण किया ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भानुदत्त ने इसका उल्लेख अपने उक्त दोनों ग्रन्थों में से किसी में भी नहीं किया है, जो कि इनके विवेचन के मूल आधार हैं । दूसरे, बिना किसी कारण के कुपित होना एक प्रकार की चुहलबाज़ी है, जिसे गम्भीर प्रकृति के इस व्यक्ति ने किसी प्रकार स्वीकार न किया होगा । 'ईर्ष्यामान' का स्पष्ट कारण होता है, इसीलिए उन्होंने इसे मनोयोगपूर्वक ग्रहण किया है ।

आचार्यों ने विप्रलम्भ-शृंगार की दस काम-दशाओं का वर्णन किया है । ये हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण । प्रिय से मिलन की इच्छा का नाम 'अभिलाष' है और इसकी पूर्ति के उपायों की खोज करना 'चिन्ता' कहलाता है । 'स्मृति' और 'गुणकथन' क्रमशः प्रिय के क्रिया-व्यापारों आदि का स्मरण तथा उसके रूपादि गुणों का कथन करना है । 'उद्वेग' में आश्रय को कुछ भी अच्छा नहीं लगता, जबकि जड़-चेतन के विवेक न रहने को 'उन्माद' कहते हैं । चित्त-विक्षेप के कारण अटपटी बातें करने को 'प्रलाप' कहा जाता है । दीर्घश्वास, पाण्डुता आदि 'व्याधि' तथा अंगों की चेष्टा-शून्यता 'जड़ता' कहलाती है । आश्रय की मृत्यु को 'मरण' की संज्ञा दी जाती है । मतिराम ने इनमें से केवल नौ दशाओं को ही स्वीकार किया है—

होत बियोग सिंगार में प्रकटदशा नव जानि ।
प्रथम कहे अभिलाष पुनि चिंता स्मृति बखानि ॥३९८॥

---

१. दे० द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ (१९८)
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना । (१९९)

—वही, 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद ।

२. दे० पत्युरन्यप्रियासंगे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥१९९॥
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायित भोगांकगोत्रस्खलनसंभवा ॥२००॥

—वही, 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद ।

गुन बर्नन उदबेग पुनि कहि प्रलाप उन्माद ।
ब्याधि बहुरि जड़ता कहत कबि कोबिद अबिबाद ॥३६६॥

(रसराज)

इससे स्पष्ट है कि उन्होंने 'मरण' नामक दशम दशा को ग्रहण नहीं किया । यह उनका अपनी मौलिकता दर्शाने का प्रयास कहा जा सकता है क्योंकि इस दशा का औचित्य किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता । वैसे यहाँ 'कहत कवि कोबिद अबिबाद' से यह निष्कर्ष निकाल लेना कठिन नहीं कि उनके समकालीनों में 'मरण' के विषय में मतभेद रहा होगा (यद्यपि इस प्रकार का मत अभी तक उपलब्ध रीति-ग्रन्थों में देखने को नहीं आया), क्योंकि इन लोगों के विचार में मृत्यु की दशा को प्राप्त होने पर आश्रय में 'रति' भाव का अभाव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप शृंगार रस का परिपाक नहीं हो पाता ; अतएव इन्होंने इस प्रकार के किसी विवाद में पड़ना उचित न समझकर सर्वमान्य नव-दशाओं का उल्लेख करना ही ठीक समझा होगा ।

जहाँ तक इन नव-कामदशाओं के विवेचन का प्रश्न है, मतिराम ने इनमें सभी के लक्षण रसमंजरीकार से ही ग्रहण किए हैं और प्रायः ये सभी शुद्ध कहे जा सकते हैं—केवल 'चिन्ता' का लक्षण मूल संस्कृत लक्षण का स्वच्छ अनुवाद न हो सकने के कारण थोड़ा सा अस्पष्ट हो गया है, देखिए—

दरसन सुख की भावना करे चित्त की चाह ।
चिंता तासौं कहत हैं जे प्रबीन रस-नाह ॥४०३॥

सराज)

सन्दर्शनसन्तोषयोः प्रकारजिज्ञासा चिन्ता ।

—वही, 'रसमंजरी', पृ० २०२ ।

इन दोनों लक्षणों से स्पष्ट है कि रसमंजरीकार आश्रय की उस अवस्था को 'चिन्ता' मानते हैं जबकि वह अपने इष्ट के अवलोकन से सुख प्राप्त करने के लिए विशेष उपाय करे और मतिराम 'अभिलाषा' के उपरान्त उसके चित्त में अपने प्रिय के दर्शन-सुख की चिन्तना को 'चिन्ता' कहते हैं । कहना न होगा कि मतिराम के लक्षणगत 'भावना' शब्द का प्रयोग ही अपने आपमें इसे अस्पष्ट बना रहा है, अन्यथा वह 'रसमंजरी' के उक्त लक्षण से पृथक् नहीं । हो सकता है कि यह मूल संस्कृत लक्षण के 'जिज्ञासा' शब्द (खोज करना) का ही अनुवाद हो, क्योंकि इस दशा के उदाहरणस्वरूप जो दो छन्द उन्होंने उद्धृत किए हैं, उनमें भानुदत्त का उक्त लक्षण ही घटता है, देखिये—

जैये अकेली महावन बीच तहाँ 'मतिराम' अकेलोई आवै ।
आपने आनन चन्द की चाँदनी सो पहिलैं तन ताप बुझावै ॥
कूल कलिंदी के कुंजन मंजुल मीठे अमोल वै बोल सुनावै ।
ज्यों हँसि हेरि लियो हियरो हरि त्यौं हँसि कै हियरे हरि लावै ॥४०४॥

काहु कहा कुलकानि सौं लोक लाज किन जाय।
कुंज बिहारी कुंज में कहूँ मिलैं मुसकाय ।।४०५।।
(रसराज)

इन दोनों ही छन्दों में नायिका का अपने प्रिय से मिलने के उपाय का वर्णन है। वह समाजिक बन्धनों के कारण अपने घर पर तो उससे मिल नहीं सकती, अतएव यमुना के एकान्त कुंजों में जबकि वह अकेला ही आता हो, उससे मिलने की युक्ति सोचती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि युक्ति अपने आपमें इतनी स्पष्ट है कि उपर्युक्त लक्षणगत 'भावना' शब्द का अर्थ भानुदत्त के 'जिज्ञासा' शब्द का अनुवाद मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

इस प्रकार की स्वच्छता मतिराम के शृंगार रस-विवेचन सम्बन्धी उद्धरणों में प्रायः देखने को मिलती है और यही कारण है कि जहाँ उनके लक्षण अस्पष्ट हैं, वहाँ उनके दोष का प्रक्षालन उनके उदाहरणों ने कर दिया है। परन्तु इसके अपवाद भी इस प्रसंग में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'अभिलाष' और 'प्रलाप'—इन दो काम दशाओं के लक्षण अपने आपमें शुद्ध एवं स्वच्छ हैं, पर उनके उदाहरणों में यह बात नहीं आ पाई। देखिये—

(१) अभिलाष—

ताहि कहत अभिलाष हैं जो मिलाप की चाह।
प्रेम कथन तें जानिए बरनत सब कबिनाह ।।४००।।

मोर पखा 'मतिराम' किरीट, मनोहर मूरति सौं मनु लंगो।
कुंडल डोलनि गोल कपोलनि बोल सनेह के बीज से बंगो ।।
लाल बिलोचनि कौलनि सौं मुसकाइ इतै अरुझाइ चितैगो।
एक घरी घन से तन सौं अँखियान घनों घनसार सो दैगो ।।४०१।।

मो मन सुक लौं उड़ि गयो अब क्यों हूँ न पत्याय।
बसि मोहन बन माल में रहो बनाउ बनाय ।।४०२।।
(रसराज)

लक्षण के कथनानुसार इष्ट से मिलने की इच्छा का नाम 'अभिलाष' है, जिसका बोध आश्रय द्वारा अपने प्रेम-कथन से होता है। परन्तु इसके दोनों उदाहरणों में न तो स्पष्टतः नायिका नायक के प्रति अपने प्रेम का कथन ही कर रही है और न इससे उसके साथ उसकी मिलन की इच्छा ही व्यक्त हो रही है। इसी प्रकार—

(२) प्रलाप—

उतकंठा ते कहत हैं जहाँ मोहमय बैन।
बरनत तहाँ प्रलाप हैं जे प्रबीन रस ऐन ।।४१५।।

कहियो सँदेसो प्रानप्यारी को गमन कीनो
बिक्रम बिलास जे वे आपने परस के।

चन्द कर-बरछीन छेदि-छेदि हार्‌यो, तीर
तीछन मनोज के कछुक करि न सके ।।
कबि 'मतिराम' ये कुलिस-कैसे घाय क्यों हू
गनत न कोकिल की कूकन के कसके ।
कैसे दरकतु मेरो उर सदा सहि रह्यो
तेरे कुच निपट कठोरनि के मसके ।।४१६।।
बिकल लाल कों बाल तू क्यों न बिलोकति आनि।
बोल कोकिलनि सों कहै बोल तिहारे जानि ।।४१७।।
(रसराज)

यहाँ लक्षण में प्रिय-मिलन की उत्कंठा के फलस्वरूप (चित्त में विक्षेप आ जाने से) मोहमय वाक्य कहने को प्रलाप कहा गया है । परन्तु उदाहरणों में से एक भी इसके अनुकूल बैठता दृष्टिगत नहीं होता । प्रथम छन्द में नायक का यह कथन कि मेरा हृदय नायिका के कठोर कुचों से टकराने के कारण इतना कठोर हो गया है कि चन्द्रकिरणों रूपी बरछियाँ तथा कोयलों की कूक रूपी वज्र की अनेक चोटों को भी सहन कर गया, साधारण बोलचाल में प्रलाप चाहे कहा जाय पर काव्य की भाषा में नहीं, क्योंकि इस प्रकार की आलंकारिक विचित्र उक्तियाँ इसमें प्रायः हुआ ही करती हैं । ऐसे ही द्वितीय छन्द में नायक का चित्त-विक्षेप के कारण कोयल की कूक को ही अपनी प्रेयसी के बोल समझना और उससे बातें करना, उसकी 'उन्माद' दशा को अधिक प्रकट करता है—'प्रलाप' को नहीं । 'उन्माद' में आश्रय को जड़-चेतन का विवेक नहीं रहता । इसमें भी नायक की यही दशा है—वह कोयल की कूक और अपनी प्रेयसी की वाणी में विवेक नहीं कर पा रहा, तभी तो उससे बातें करने लगता है ।

शृंगार का रसराजत्व

संस्कृत-काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत शृंगार रस की श्रेष्ठता किसी विशेषण द्वारा व्यक्त नहीं की गई, यद्यपि इसकी उन विशेषताओं का उल्लेख प्रायः भरत के समय से ही होता चला आ रहा है, जो अप्रत्यक्ष रूप से इसे अन्य काव्य-रसों की अपेक्षा उच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर देती हैं । स्वयं नाट्यशास्त्रकार ने यह कहकर कि इस संसार में जो कुछ पवित्र और दर्शनीय है, उसकी उपमा शृंगार से दी जाती है[1], स्पष्टतः इसकी सर्वाधिक प्रभावोत्पादकता की स्थापना कर दी है । इसी प्रकार रुद्रट का यह कथन कि शृंगार रस में आबाल-वृद्ध—सभी मानव ओत-प्रोत होने के कारण,

---

१. दे० यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते ।
यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृंगारवानित्युच्यते ।
—वही 'नाटयशास्त्र', छठवाँ अध्याय, की ४५वीं कारिका की वृत्ति ।

इसकी-सी रस्यता अन्य काव्य-रसों में नहीं[१], इसके प्रभाव-क्षेत्र की व्यापकता की घोषणा करता है। आनन्दवर्धन ने भी इसे सर्वाधिक मधुर और आह्लादक कहकर[२] अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के कथन का समर्थन ही किया है। इधर केशव ने हिन्दी रीति काव्य में शृंगार को समस्त रसों का नायक कहा है[३]। मतिराम ने इन्हीं परम्परागत विशेषताओं के आधार पर शृंगार को स्पष्ट शब्दों में 'रसराज' कहा है, देखिये—

तासौं रीझत हैं सुकवि सो सिंगार रसराव।

(रसराज)

इसमें 'रीझत' शब्द शृंगार रस की प्रभविष्णुता का ही द्योतक है। ऐसी दशा में इनकी शृंगार रस-विषयक उक्ति को उद्भावना तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसका आधार मौलिक नहीं है, पर शृंगार को सर्वथा स्पष्ट रूप से 'रसराज' घोषित करने का श्रेय इन्हें अवश्य ही मिलना चाहिए।

मूल्यांकन

संक्षेप में मतिराम का शृंगार रस-सम्बन्धी विवेचन अपने आपमें इतना विस्तृत नहीं जितना कि केवल एक रस का ही विवेचन करने वाले आचार्य से अपेक्षित होता है। रस के स्थायी-भाव आदि का वर्णन किये बिना किसी विशेष रस का विवेचन आरम्भ करना वस्तुतः विषय को उलझा देता है। इस पर उनके विवेचन में शृंगार रस के भी कतिपय अंगों को छोड़ दिया गया है, जैसे 'रति' का लक्षण, संचारी, करुण-विप्रलम्भ और 'मरण' नामक काम-दशा। इनमें से अन्तिम दो को तो उन्होंने स्पष्टतः स्वीकार नहीं किया जबकि प्रथम दो के विषय में वे मौन हो गये हैं। यदि उनकी ये मान्यताएँ ही थीं तो तर्क द्वारा इनकी स्थापना करते ; पर ऐसा भी उन्होंने नहीं किया। इससे इनके सम्बन्ध में केवल अनुमान से ही काम चलाया जा सकता है, तथ्य क्या है, कुछ नहीं कह सकते। विवेचक का यह दोष होता है।

जहाँ तक मौलिक उद्भावनाओं का सम्बन्ध है ; यों तो शृंगार रस के उक्त अंगों का बहिष्कार भी तर्क के अभाव में मौलिक उद्भावना ही कहा जायगा ; किन्तु इसके साथ दूती के भेदों का वर्णन ऐसा है जो मौलिकता की दृष्टि से परीक्षा के

---

१. दे० **सर्वरसेभ्यः शृंगारस्य प्राधान्यं प्रचिकटयिषुराह—**
अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्। (३८)
—वही 'काव्यालंकार,' चौदहवाँ अध्याय

२. दे० **शृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः। २।७**
—'ध्वन्यालोक' (आचार्य विश्वेश्वर की 'आलोक दीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित)—प्रथम संस्करण।

३. दे० **सबको केशवदास हरि नायक है शृंगार ॥१६॥**
(वही 'रसिक प्रिया'—प्रथम प्रकाश)

योग्य है। दूती के तीनों भेदों का संकेत केवल साहित्यदर्पणकार ने किया है और इनका आधार औचित्य बताया है। मतिराम ने 'औचित्य' का जो अर्थ लगाया है वह उनकी अपनी उद्भावना ही है। वैसे इस अर्थ को उन्होंने नायिका के गुणानुसार भेदों—उत्तमा, मध्यमा और अधमा—के प्रकाश में ही ग्रहण किया है। अतएव इस उद्भावना के लिए—यद्यपि इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है—उन्हें श्रेय तो मिलना ही चाहिए।

रही बात विवेचन-शैली की ; तो इसकी स्वच्छता के विषय में किसी प्रकार का संदेह न होना चाहिए। यद्यपि एकाध लक्षण में संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद करते समय दोष आ गया है, पर यह न तो उनका भ्रम है और न प्रमाद ही। वास्तव में यह दो भाषाओं—संस्कृत और ब्रज—की प्रकृति भिन्नता के कारण है। संस्कृत समास-प्रधान भाषा है और ब्रजभाषा व्यास-प्रधान। इसलिए ऐसे दोष स्वाभाविक ही हैं। फिर भी उन्होंने अपने लक्षणों में अत्यन्त सतर्कता से काम लिया है। यदि फिर भी इनमें अभाव रह गया है, तो उसे इनके उदाहरणों ने पूरा कर दिया है। वास्तव में ये रस-सिद्ध कवि पहले थे—लक्षणकार बाद में ; यही कारण है कि उदाहरण अपने आपमें इतने स्वच्छ बन पड़े हैं कि विवेचन में किसी प्रकार का दोष दृष्टिगोचर नहीं होता।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि चाहे मतिराम ने शृंगार रस का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत नहीं किया, पर जो कुछ किया है वह स्वच्छ है। इनकी उद्भावनाएँ ऐसी नहीं हैं जिन्हें विशेष महत्त्व दिया जा सके। परन्तु, उनका यह प्रयास विद्वानों की दृष्टि में चाहे नगण्य हो ; पर शृंगार रस के विद्यार्थी के लिए अपने आपमें सुबोध और स्वच्छ होने के कारण महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत-ग्रन्थों से संकलित कर सुबोध ब्रजभाषा में इस विषय को प्रस्तुत कर देना क्या कम श्रेय की बात है ? इसके साथ उदाहरणों की सरसता उनके विवेचन का एक अतिरिक्त गुण हो जाती है।

नायक-नायिका-भेद-विवेचन

नायक-नायिका यद्यपि शृंगार रस के विभाव-पक्ष के अन्तर्गत ही आ जाते हैं, पर क्योंकि रीतिकाल के अन्य कवियों के समान मतिराम ने भी इनका वर्णन विस्तार और मनोयोगपूर्वक किया है, अतएव उनके शृंगार रस-विवेचन से पृथक् ही इन पर विचार करना उपयुक्त होगा।

विवेचन का आधार

संस्कृत के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद-विवेचन यद्यपि भरत के 'नाट्यशास्त्र' और इसके पश्चात् धनंजय के 'दशरूपक' में अत्यन्त विशद रूप से हुआ है ; तथापि यह इतना समृद्ध नहीं जितना कि काव्य-शास्त्र के इतर अंगों का है। इसका मुख्य कारण यह है कि इस विषय से सम्बद्ध कोई पृथक् सम्प्रदाय नहीं चला। आरम्भ में तो आचार्य इसे केवल नाटक का अंग ही स्वीकार करते रहे ; पर जब काव्य में रस—और इसमें भी शृंगार के महत्त्व की स्थापना होने लगी तो स्वभावतः इनमें से कतिपय का ध्यान शृंगार रस के विभाव-पक्ष के इस अंग की ओर भी आकृष्ट हुआ।

इन आचार्यों में रुद्रभट्ट का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने सर्वप्रथम अपने 'शृंगार तिलक' में इस विषय को व्यवस्था और विधान दिया है। बाद में क्षेमेन्द्र, केशवमित्र, विश्वनाथ आदि ने भी इसमें रुचि दिखाई किन्तु इन सबके विवेचन का आधार मुख्यतः नाट्यशास्त्र के उपर्युक्त दो ग्रन्थ ही रहे हैं—विश्वनाथ ने नायिका-भेद का किंचित् विस्तार भी किया है। विश्वनाथ के पश्चात् शृंगार रस के संक्षिप्त विवेचन के व्याज से नायक-नायिका-भेद के विस्तृत विवेचन की स्वतन्त्र परिपाटी भी दृष्टिगोचर होती है, जिसमें भानुदत्त का स्थान महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। इन्होंने इस विषय में मौलिकता तो नहीं दर्शायी, पर अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के नायक-नायिका-भेद को ग्रहण करते हुए उसे अपनी 'रसमंजरी' में विस्तार, व्यवस्था और स्वच्छता के साथ प्रस्तुत किया है। हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के नायक-नायिका-भेद-विवेचन का आधार यही ग्रन्थ रहा है—मतिराम का नायक-नायिका-भेद विवेचन भी मुख्यतः इसी ग्रन्थ पर आधृत है। किन्तु इसके साथ ही अपने शृंगार रस-विवेचन के समान विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का उपयोग करने में उन्होंने संकोच नहीं किया।

पहले उनके नायिका-भेद-विवेचन पर विचार करते हैं, क्योंकि 'रसराज' का प्रथम विषय यही है।

नायिका की परिभाषा

पीछे निवेदन किया जा चुका है कि स्त्री-पुरुष का पारस्परिक आकर्षण नैसर्गिक हुआ करता है। अतः यदि किसी भी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति अनुराग हो जाना स्वाभाविक ही है। शृंगार रस के प्रसंग में यही नारी नायिका कहलाती है। मतिराम ने भी नायिका का लक्षण ऐसा ही दिया है—

उपजत जाहि बिलोकि कै चित्त-बीच रति-भाव।
ताहि बखानत नायका जे प्रबीन कबिराव ॥५॥

(रसराज)

किन्तु यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि 'रति-भाव' की जागृति कौनसे व्यक्ति में होती है—आश्रय में अथवा सहृदय में? इसका उत्तर मतिराम ने यद्यपि नहीं दिया, किन्तु उक्त लक्षण से पूर्व जो उन्होंने यह कहा है कि 'होत नायका नायकहि आलम्बित सिंगार' (छन्द ४) उससे यह निष्कर्ष निकाल लेना सहज ही है कि इनका अभिप्राय आश्रय से ही रहा है—और यह संगत भी है, कारण, सहृदय में तो आश्रय के माध्यम से ही 'रति' भाव जागृत होता है—आलम्बन को देखने मात्र से नहीं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रसराजकार का नायिका सम्बन्धी लक्षण असंगत नहीं। इस लक्षण के लिए इन्हें इसलिए भी श्रेय मिलना चाहिये, क्योंकि इन्होंने यह किसी संस्कृत-ग्रन्थ के आधार पर न देकर स्वतन्त्र रूप से इसकी उद्भावना की है—संस्कृत में तो नायिका के सम्बन्ध में इस प्रकार का लक्षण देखने को नहीं मिलता, यद्यपि आचार्यों का अभिप्राय प्रायः वही रहा है, जो कि उक्त लक्षण में व्यक्त है।

नायिका-भेद

भानुदत्त मिश्र ने 'रसमंजरी' के अन्तर्गत अपने नायिका-भेद-वर्णन के आधार के सम्बन्ध में यद्यपि किसी प्रकार का उल्लेख नहीं किया तथापि इस विषय के विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि स्थूलतः उन्होंने स्त्री के जीवन से सम्बद्ध विशिष्ट कारणों को दृष्टि में अवश्य रखा है। ये कारण हैं—कर्म, वय, मान, पति-प्रेम, दशा, अवस्था और प्रकृति। 'कर्म' के आधार पर उन्होंने नायिकाओं के तीन भेद किये हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि 'कर्म' से उनका अभिप्राय व्यवसाय से न होकर स्त्री के समाज-धर्म से रहा है। जो स्त्री समाज की समस्त मर्यादाओं का पालन करती हुई, अपने साथ विधिपूर्वक विवाहित एक पुरुष से ही प्रेम करती है वह 'स्वकीया', जो समाज की मर्यादाओं का उल्लंघन करके पर-पुरुष से प्रेम करती है वह 'परकीया' और जो केवल धन के लिए किसी भी पुरुष के साथ प्रेम कर सकती है वह 'सामान्या' कहलाती है।

'वय' के आधार पर उन्होंने स्वकीया के तीन भेद किये हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा (प्रगल्भा)। मुग्धा वह स्त्री है जिसके शरीर में यौवन और काम के संचार का आरम्भ ही होता है। मध्या में काम अपेक्षाकृत अधिक होता है, पर साथ में उतनी लज्जा भी होती है। एवं प्रौढ़ा में लज्जा की अपेक्षा काम की मात्रा अधिक होती है—वह समस्त काम-कलाओं में (केवल अपने पति के साथ ही) पारंगत होती है। आगे इन तीनों के भी अवान्तर भेद हैं। अपने यौवन के आगमन का बोध होने पर मुग्धा 'ज्ञात यौवना' और न होने पर 'अज्ञात यौवना' कहलाती ही है, साथ में यदि वह अपने पति से भय खाती है तो 'नवोढ़ा' और यदि उसे उसके प्रति किंचित् विश्वास होने लगता है तो 'विश्रब्धनवोढ़ा' कही जाती है। इसी प्रकार 'मान' के आधार पर मध्या और प्रौढ़ा—दोनों के तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। पति के अपराध पर अपने कोप को 'मध्या-धीरा' व्यंग्य द्वारा; 'मध्या-अधीरा' कठोर वचनों तथा 'मध्या-धीराधीरा' वचन और अश्रुपात—दोनों द्वारा प्रकट करती है। ऐसे ही 'प्रौढ़ा-धीरा' अपने क्रोध को प्रकट न करके रति से उदास रहती है, 'प्रौढ़ा-अधीरा' पति का तर्जन-ताड़न करती है जबकि 'प्रौढ़ा-धीराधीरा' रति से उदास रहने के साथ-साथ उसका तर्जन-ताड़न करके अपने कोप को प्रकाशित करती है। आगे इन तीनों के पति-प्रेम के आधार पर दो-दो भेद और हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। जिस पर पति का प्रेम अधिक हो वह 'ज्येष्ठा' और जिस पर अपेक्षा-कृत कम हो वह 'कनिष्ठा' कहलाती है।

परकीया के भेद उन्होंने दो प्रकार से किये हैं—प्रथम के आधार पर इसके दो भेद हैं—(१) परोढ़ा अर्थात् पति के अधीन और (२) कन्यका अर्थात् माता-पिता आदि गुरुजनों के अधीन। दूसरे प्रकार के अनुसार इसके छः भेद हैं—(१) गुप्ता, (२) विदग्धा, (३) लक्षिता, (४) कुलटा, (५) अनुशयाना और (६) मुदिता। इनमें 'गुप्ता' पर-पुरुष के साथ अपनी रति को गुप्त रखती है। यह तीन प्रकार की होती है—(१) वृत्तसुरतगोपना अर्थात् जो की हुई रति को गुप्त रखे; (२) वर्त्तिष्यमाण-

सुरतगोपना अर्थात् जो संभावित रति को गुप्त रखे और (३) वृत्तवर्तिष्यमाण-सुरतगोपना अर्थात् जो पूर्वोक्त दोनों प्रकार की रति को गुप्त रखे। 'विदग्धा' अपनी रति को चातुरी से प्रकट करती है। यह दो प्रकार की होती है—(१) वचन-विदग्धा और (२) क्रिया-विदग्धा। 'वचन-विदग्धा' विशेष प्रकार के वचनों द्वारा और 'क्रिया-विदग्धा' अपनी विशिष्ट शारीरिक चेष्टाओं द्वारा रति को प्रकट करती है। 'लक्षिता' का प्रेम केवल सखियाँ ही जानती हैं जबकि 'कुलटा' वह स्त्री है जो अनेक पुरुषों के साथ अपनी रति की इच्छा दर्शाती है।' 'अनुशयाना' सहेटस्थल के नाश अथवा भविष्य में इसके नाश की आशंका या फिर किसी कारण से यह जानकर कि उसका प्रेमी वहाँ गया और मैं न गई, दुःख का अनुभव करती है। मनचाही बात की पूर्ति होने पर हृदय में प्रसन्न होने वाली स्त्री को 'मुदिता' कहते हैं।

दशा के अनुसार रसमंजरीकार ने नायिकाओं के तीन भेद कहे हैं—(१) अन्य संभोगदुःखिता, (२) वक्रोक्तिगर्विता और (३) मानवती। 'अन्यसंभोगदुःखिता' वह स्त्री है जो अपने पति के रति-चिह्न किसी अन्य स्त्री के शरीर पर देखकर दुःखी हो। 'वक्रोक्तिगर्विता' दो प्रकार की होती है—एक प्रेमगर्विता और दूसरी सौंदर्यगर्विता। जिस स्त्री को अपने प्रति अपने पति के अतिशय प्रेम का गर्व हो वह 'प्रेमगर्विता' और जो अपने रूप-लावण्य का गर्व करे वह 'सौंदर्यगर्विता' कहलाती है। 'मानवती' अपने पति के अपराध पर मान अर्थात् कोप किया करती है।

अवस्था के अनुसार मिश्र ने स्वकीया, परकीया और सामान्या के आठ-आठ भेद किये हैं—प्रोषितपतिका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्का, वासक-सज्जा, स्वाधीनपतिका और अभिसारिका। दूसरे देश में गये पति के लिए सन्तापव्याकुलास्त्री को 'प्रोषितपतिका' कहते हैं। नायक के शरीर पर अन्य स्त्री के रतिचिन्ह देखकर दुःखी होने वाली स्त्री 'खंडिता' तथा नायक का अनादर करने के पश्चात् स्वयं ही अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करनेवाली स्त्री 'कलहान्तरिता' कहलाती है। संकेत-स्थल पर प्रिय को न देखकर जो स्त्री दुःखी हो उसे 'विप्रलब्धा' और जो संकेत-स्थल पर पहुँचकर अपने प्रिय के आगमन के विषय में चिन्ता करे उसे 'उत्का' कहते हैं। आज प्रिय आयेगा, ऐसा निश्चित समझकर जो स्त्री साज-सिंगार करे वह 'वासकसज्जा' कहलाती है। नायक जिसके सदा अधीन रहे—जिसका सदैव कहना माने—वह 'स्वाधीनपतिका' तथा जो स्वयं मिलने के लिए जाय अथवा नायक को इस हेतु बुलावे वह 'अभिसारिका' है। अंधकार, ज्योत्स्ना और दिवस में मिलने के क्रम से 'अभिसारिका' तीन प्रकार की कहलाती है—तमिस्राभिसारिका, ज्योत्स्नाभिसारिका और दिवसाभिसारिका। इन आठों भेदों के अतिरिक्त नायकों के आधार पर उन्होंने दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या—इन तीन भेदों के साथ जाति के आधार पर भी नायिकाओं के असंख्य भेदों का संकेत किया है।

गुण के अनुसार उन्होंने नायिकाओं के तीन भेद बताये हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। जो स्त्री प्रिय के हित अथवा अहित करने पर भी उसका हित ही करती है वह 'उत्तमा', जो हित के बदले हित और अहित के बदले उसका अहित

करे वह 'मध्यमा' एवं जो उसके द्वारा हित किये जाने पर भी अहित ही करती है वह 'अधमा' कहलाती है ।

मतिराम ने भानुदत्त के इस नायिका-भेद-वर्णन को थोड़े से परिवर्तन के साथ ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है । उनके नायिका-भेद में द्रष्टव्य बात यह है कि जाति और नायकों के आधार पर नायिकाओं के तीन भेदों को सर्वथा निरसित कर दिया गया है । 'गुप्ता' के तीन भेदों में से उन्होंने केवल 'वृत्तसुरतगोपना' का ही वर्णन किया है—शेष दो का नाम तक नहीं लिया । इसी प्रकार धीरादिके ज्येष्ठा-कनिष्ठा—इन छः अवान्तर भेदों का भी उन्होंने वर्णन नहीं किया; स्वतन्त्र रूप से ज्येष्ठा-कनिष्ठा का लक्षण देकर इनके वर्णन को चलता कर दिया है । इसका मुख्य कारण यही कहा जा सकता है कि वे इन सब भेदों को साधारण पाठक के लिए आवश्यक न समझते होंगे । जिनको उन्होंने आवश्यक समझा उनका वर्णन 'रसराज' में मनोयोगपूर्वक मिलता है और यही कारण है कि जहाँ केशव आदि पूर्ववर्ती हिन्दी-कवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्रकारों द्वारा उल्लिखित नायिकाओं के अवस्थानुसार आठ भेदों का ही वर्णन किया है, वहाँ मतिराम ने इनमें 'प्रवत्स्यतप्रेयसी' और 'आगतपतिका'—इन दो नायिकाओं को और जोड़कर दस तक संख्या पहुँचा दी है । इन दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

होनहार पिय के बिरह बिकल होय जो बाल ।
ताहि प्रवच्छति प्रेयसी बरनत बुद्धि-बिसाल ।।२०५।।
जा तिय को परदेस तें आयो प्यो 'मतिराम' ।
ताहि कहत कवि लोग हैं आगतपतिका बाम ।।२१६।।

(रसराज)

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हिन्दी-काव्य-शास्त्र में इन दोनों का वर्णन मतिराम ने ही सर्वप्रथम किया है । 'प्रवत्स्यतप्रेयसी' का संकेत तो भानुदत्त ने 'रस-मंजरी' में स्पष्टतः किया ही है[1], हिन्दी में नन्ददास की 'रसमंजरी' के अन्तर्गत भी इसका वर्णन 'पतिगमनी' के नाम से मिलता है[2] । रही बात 'आगतपतिका' की, यह अवश्य ही हिन्दी-काव्य-शास्त्रकारों की अपनी उद्भावना है । पर 'रसराज' में इसका वर्णन सर्वप्रथम हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता । कारण रहीम कृत 'बरवैनायिका-भेद' के अन्तर्गत ऐसे पाँच बरवै छन्द हैं जो इस नायिका के मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा, परकीया और सामान्या—इन पाँच रूपों को दृष्टि में रखकर रचे गये हैं[3] । अतः यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि मतिराम के समय तक 'आगतपतिका' की उद्-भावना अवश्य ही की जा चुकी होगी । इसी प्रकार नायिकाओं के दशानुसार तीन

---

१. दे० **इत्यादिप्राचीनग्रन्थलेखनादग्रिभक्षणे देशान्तरनिश्चतगमने**
प्रेयसि प्रवत्स्यत्पतिकाऽपि नवमी नायिका भवितुमर्हति ।।

—वही 'रसमंजरी', पृ० १५१ ।

२. दे० नन्ददास ग्रन्थावली—सम्पादक श्री ब्रजरत्नदास (प्रथम संस्करण), पृ० १५८ ।

३. दे० वही 'रहीम रत्नावली' ।

भेदों के स्थान पर चार का कथन भी इनकी मौलिक उद्भावना नहीं—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता, वक्रोक्तिगर्विता के दो अवान्तर भेदों को उन्होंने पृथक्-पृथक् मान लिया है। संक्षेप में मतिराम का नायिका-भेद-वर्णन मौलिकता की दृष्टि से महत्त्व-हीन है।

विवेचन

लक्षण—नायिका-भेद और उसके क्रम के समान विभिन्न नायिकाओं के लक्षणों के लिए भी मतिराम यद्यपि भानुदत्त के ही ऋणी हैं, तथापि दोनों की पद्धतियों में असमानता अवश्य है। भानुदत्त ने जहाँ अपने लक्षण संस्कृत-गद्य में दिये हैं, वहाँ मतिराम ने ब्रजभाषा-गद्य के अभाव में पद्य का ही उपयोग किया है। इसी प्रकार भानुदत्त जहाँ इस विषय को सुबोध और सुगम्य बनाने के लिए लक्षणों के पश्चात् प्रत्येक नायिका की विशिष्ट चेष्टाओं का उल्लेख करते हुए उनके (नायिकाओं के) पारस्परिक अन्तर को भी स्पष्ट करते जाते हैं, वहाँ मतिराम का इस ओर किसी भी प्रकार का प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यद्यपि यह दिया जा सकता है कि मतिराम ने ये लक्षण प्रायः उस रसिक-समुदाय के लिए लिखे हैं जिसकी रुचि काव्य-शास्त्र की सूक्ष्मताओं की अपेक्षा उसका साधारण ज्ञान प्राप्त करने में होती है। किन्तु फिर भी विवेचनगत यह अभाव अपने आपमें खटकता ही है। वैसे इतना अवश्य है कि जिस उद्देश्य से उन्होंने ये लक्षण 'रसराज' के अन्तर्गत प्रस्तुत किये हैं, उसकी पूर्ति में साधारणतः किसी प्रकार का दोष नहीं रहा।

मतिराम के नायिका-भेद सम्बन्धी लक्षणों को मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। इनमें प्रथम वर्ग उनका है, जो भानुदत्त की 'रसमंजरी' के लक्षणों अथवा इनकी व्याख्या के अनुवाद हैं। इनके अन्तर्गत प्रायः रसराजकार का यही प्रयास रहा है कि संस्कृत-शब्दावली का यथासम्भव अनुवाद हो जाय। उदाहरण के लिए देखिये—

(१) **अभिनव यौवन आगमन जाके तन मैं होय।**
तासौं मुग्धा कहत हैं कबि कोबिद सब कोय ॥१४॥
(रसराज)

तत्रांकुरितयौवना मुग्धा।
—वही 'रसमंजरी', पृ० ७।

(२) **होय नवोढ़ा कै कछू प्रीतम सौं परतीति।**
सो बिस्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कबि रसरीति ॥२७॥
(रसराज)

सैव क्रमशः सप्रश्रया विश्रब्धनवोढा।
— वही 'रसमंजरी', पृ० ८।

(३) **जाके तन मैं होत है लाज मनोज समान।**
ताकों मध्या कहत हैं कबि 'मतिराम' सुजान ॥३०॥
(रसराज)

समानलज्जामदना मध्या ।

—वही 'रसमंजरी,' पृ० १६ ।

(४) केलि करै जहँ कंत सों सो थल मिट्यो निहारि ।
कहि अनुसयना तासु सों सोच करे बरनारि ।।८५।।

होन हार संकेत को जहँ अभाव उर आनि ।
अनुसयना कहिए यहौ हिए दुखनि की खानि ।।८८।।

प्रीतम गए सहेट कों जानै हेतुहि पाय ।
तृतिया अनुसयना कही हौं न गई पछिताय ।।६१।।

(रसराज)

वर्तमानस्थानविघटनेन भाविस्थानाभावशंकया स्वानधिष्ठितसंकेतस्थलं प्रति भर्तुगंमनानुमानेन चानुशयाना त्रिधा ।

—वही 'रसमंजरी', पृ० ८५ ।

यहाँ प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत मतिराम ने 'अंकुरित यौवन' के लिए 'अभिनव यौवन आगमन' पद का प्रयोग किया है, जो यौवन के प्रस्फुटित होने जैसी सूक्ष्मता को तो व्यक्त नहीं करता पर बहुत कुछ इसके तात्पर्य तक पहुँचा देता है। दूसरे 'अभिनव यौवन' की ध्वनि को रसिक-समुदाय जितनी तत्परता से ग्रहण कर 'मुग्धा' की सही स्थिति तक पहुँच सकता है, उतना अन्य किसी शब्द द्वारा नहीं। इसलिए भी मतिराम ने इस पद का प्रयोग किया है। ऐसे ही द्वितीय उद्धरण को 'रसमंजरी' के इस लक्षण के प्रकाश में देखा जा सकता है—'सैव क्रमशः सप्रश्रया विश्रब्धनवोढा' (पृ० ८)। रसमंजरीकार 'नवोढा' का वर्णन करने के पश्चात् वह बताना चाहते हैं कि धीरे-धीरे (क्रमशः) जब यह (सैव) पति पर विश्वास करने लगती है तब 'विश्रब्ध नवोढा' कहलाती है। मतिराम ने 'सैव' के स्थान पर तो स्पष्टतः 'नवोढा' का प्रयोग कर दिया है और 'क्रमशः सप्रश्रया' के लिए 'कछू परतीति' ले आये हैं। चूँकि 'कछू' शब्द इस प्रसंग में काल-क्रम का परिचायक है, इससे 'विश्रब्ध-नवोढा' के लक्षण में वही सूक्ष्मता आ गई है जो कि भानुदत्त 'क्रमशः सप्रश्रया' द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं। आगे तृतीय उद्धरण में 'समान लज्जामदना मध्या' की शब्दावली का अनुवाद करने में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई प्रतीत होती। 'मदन' का पर्यायवाची 'मनोज' ग्रहण कर लिया गया है। किन्तु 'लज्जा' और 'काम' की स्थिति नायिका के मन में होती है, अथवा शरीर में, इस बात को भानुदत्त ने स्पष्ट नहीं किया। पर मतिराम 'तन' शब्द को इसके साथ अपनी ओर से जोड़कर 'मध्या' के लक्षण को स्पष्ट कर देना चाहते हैं। इसी प्रकार रसमंजरीकार के इस लक्षण में—'वर्तमानस्थानविघटनेन भाविस्थानाभावाशंकया स्वानधिष्ठितसंकेतस्थलं प्रति भर्तुगंमनानुमानेन चानुशयाना त्रिधा' (पृ० ६५)—परकीया-अनुशयना की तीन अवस्थाओं का तो वर्णन हुआ है, पर उसकी मानसिक-स्थिति का नहीं। मतिराम

ने इन तीनों अवस्थाओं को चतुर्थ उद्धरण में एक-एक कर प्रस्तुत करने के साथ उसके मानसिक खेद का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। कहना न होगा कि नायिकाओं की चेष्टाओं का उल्लेख न होने पर भी उनके (नायिकाओं के) इस प्रकार के सभी लक्षण इसीलिए सुबोध बन सके हैं, क्योंकि इनका रचयिता संस्कृत-लक्षणों का आश्रय लेते समय अत्यन्त सजग रहा है। परन्तु जहाँ उसे इन संस्कृत लक्षणों का अनुवाद करने में अधिक कठिनाई हुई है, अथवा उसने इन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति में अपर्याप्त समझा है, वहाँ इनके स्थान पर व्याख्या को ग्रहण करना श्रेयस्कर समझा है। यही कारण है कि लक्षण उसी प्रकार सुबोध होते चले गये हैं। उदाहरण के लिए देखिये—

> **बचननि की रचनानि सौं पियहि जनावत कोप।**
> **मध्या धीरा कहत हैं ताहि सुमति रस चोप ॥३७॥**
>
> **मध्या कही अधीर तिय बोलै बोल कठोर।**
> **पियहि जनावति कोप सो बरनत कबि सिर मोर ॥४०॥**
>
> **मध्या धीराधीर तिय ताहि कहत सब कोय।**
> **पिय सौं कहि के बचन कछु रोस जतावै रोय ॥४३॥**
>
> (रसराज)

मध्या-धीरा, मध्या-अधीरा तथा मध्या-धीराधीरा—इन तीनों नायिकाओं के लक्षण 'रसमंजरी' में क्रमशः इस प्रकार हैं—'व्यंग्यकोपप्रकाशाधीरा'। "अव्यंग्यकोपप्रकाशाऽधीरा"। "व्यंग्याव्यंग्यकोपप्रकाशाधीराधीरा" (पृ० २८)। मतिराम ने इन तीनों को ग्रहण न कर इनकी इस व्याख्या—"मध्याया धीरायाः कोपस्य गीर्व्यंजिका"। "अधीरायाः परुषवाक्"। "धीराधीरायाश्च वचनरुदिते कोपस्य प्रकाशके" (पृ० २९) का अनुवाद किया है। इसमें भी 'गीर्व्यंजिका' के लिए जब उन्हें ब्रजभाषा में कोई पर्यायवाची शब्द नहीं मिला तो 'वचननि की रचनानि' द्वारा अपने आशय को प्रकट किया है। इतना ही नहीं आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने लक्षण और नायिका की विशिष्ट चेष्टाओं के उल्लेख—दोनों से काम चलाया है। देखिये अधमा का लक्षण—

> **पिय सौं हित हू के किए करे मान जो बाल।**
> **तासौं अधमा कहत हैं कबि 'मतिराम' रसाल ॥२३४॥**
>
> (रसराज)

रसमंजरीकार ने इसका लक्षण यों दिया है—"हितकारिण्यपि प्रियतमेऽहितकारिण्यधमा" (पृ० १६०)। मतिराम ने इसके 'हितकारिण्यपि प्रियतमे' का अनुवाद उक्त दोहे के प्रथम चरण में कर दिया है। दूसरे चरण में इसके 'अहित' शब्द के लिए 'मान' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसे उन्होंने 'अधमा' की चेष्टा सम्बन्धी वृत्ति—"अस्या निष्कारणकोपत्वादधमैव चेष्टा" (पृ० १६०) से ग्रहण किया है। 'मध्यमा'

के लक्षण में भी 'अहित' के लिए 'मान' का प्रयोग[1] 'अधमा'—नायिका की चेष्टा सम्बन्धी उक्त वृत्ति के प्रकाश में ही किया गया है। इसी प्रकार 'स्वकीया' के लक्षण में जब उनका काम रसमंजरीकार के इस नायिका के लक्षण तथा उसकी चेष्टा सम्बन्धी वृत्ति से भी नहीं चला तो उन्होंने विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' से 'स्वकीया' के उदाहरण का भी कुछ अंश ग्रहण कर लेना अनुचित नहीं समझा; देखिये—

लाजवती निसि दिन पगी निज पति के अनुराग।
कहत स्वकीया सीलमय ताको पति बड़भाग ॥१०॥

(रसराज)

लज्जापज्जत्तपसाहणाइँ परभत्तिणिप्पिवासाइं।
अविणअदुम्मेधाइँ धण्णाणं घरे कलत्ताइं[2] ॥

— वही 'साहित्यदर्पण', तृतीय परिच्छेद, ५७वीं कारिका का उदाहरण।

तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया।
अस्याश्चेष्टा—भर्तुः शुश्रूषा शीलसंरक्षणमार्जवं क्षमा चेति।

—वही 'रसमंजरी', पृ० ५।

यहाँ मतिराम का लक्षण 'साहित्यदर्पण' के उक्त प्राकृत-पद्य का अनुवाद मात्र ही है, पर इसमें 'अविनय' के स्थान पर 'शील' का प्रयोग 'रसमंजरी' से लेकर किया गया है। 'रसमंजरी' के 'स्वामिन्येवानुरक्ता' तथा 'साहित्यदर्पण' के 'परभत्तिणिप्पि-वासाइं' का अर्थ प्राकारन्तर से एक ही है, पर इनमें से पूर्वोक्त पद का अनुवाद करना ही उन्होंने उचित समझा है।

संस्कृत समास-प्रधान भाषा है और ब्रजभाषा व्यास-प्रधान। इस प्रकार इन दोनों भाषाओं की प्रकृतियाँ अपने आपमें भिन्न होने के फलस्वरूप एक से दूसरी में अनुवाद-कार्य कठिन हुआ करता है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट ही है कि मति-राम इसमें प्रायः सफल रहे हैं किन्तु फिर भी उनके लक्षणों के अन्तर्गत रसमंजरीकार के लक्षणों के सभी शब्दों का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं हो पाया। उदाहरण के लिए 'नवोढा' का यह लक्षण देखिये—

---

१. दे० **पिय सों हित तें हित करे अनहित कीने मान।**
ताहि मध्यमा कहत हैं कबि 'मतिराम' सुजान ॥२३१॥

हिताहितकारिणि प्रियतमे हिताहितचेष्टावती मध्यमा।

—वही 'रसमंजरी', पृ० १५६।

२. दे० **लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि।**
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥

'लज्जा ही जिनका पर्याप्त भूषण है, जो पर-पुरुष की तृष्णा से शून्य हैं, अविनय करना जिन्हें आता ही नहीं ऐसी सौभाग्यवती रमणी किन्हीं धन्य पुरुषों के घर में ही होती हैं।'

—वही 'साहित्यदर्पण'।

मुग्धा जो भय लाज युत रति न चहै पति संग।
ताहि नवौढ़ा कहत हैं जे प्रवीन रस रंग ॥२४॥

(रसराज)

'रसमंजरी' में इसका लक्षण यों दिया गया है—

सैव क्रमशो लज्जाभयपराधीन रतिर्नवोढा ॥

—वही रसमंजरी, पृ० ८।

इसमें 'क्रमशः' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका मतिराम के उक्त दोहे में किसी भी प्रकार का दर्शन नहीं होता। दूसरे शब्दों में वे इसे अपने लक्षण में स्थान नहीं दे पाये। फलतः इसमें मुग्धा के काल-क्रम से 'नवौढ़ा' बनने की बात का निरूपण न हो पाने से यह स्वतः पूर्ण नहीं बन सका, इसी प्रकार परकीया का लक्षण इसकी अपेक्षा और भी सदोष प्रतीत होता है।

प्रेम करै पर पुरुष सौं परकीया सो जान। (५८)

(रसराज)

इधर रसमंजरीकार ने इसका लक्षण ऐसे दिया है—

अप्रकट परपुरुषानुरागा परकीया।

—वही रसमंजरी, पृ० ४०।

स्पष्ट ही है कि रसमंजरीकार उस स्त्री को परकीया कहते हैं जो पर-पुरुष के साथ गुप्त रूप से (अप्रकट) प्रेम करती है। पर मतिराम कहते हैं—पर-पुरुष से प्रेम करने वाली स्त्री 'परकीया' है। तब 'सामान्या' को इससे किस आधार पर पृथक् किया जाय, क्योंकि पर-पुरुष से वह भी तो प्रेम करती है ? इसके उत्तर में यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'सामान्या' धन के लिए ही प्रेम करती है, पर इससे समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो पाता। कारण, यह—अर्थात् 'सामान्या' धन के आधार पर परकीयत्व की अगली सीढ़ी नहीं कही जा सकती। वास्तव में दोनों की रति का स्वरूप गोपन और प्रकाश के आधार पर भी निर्धारित करना चाहिए। 'परकीया' का प्रेम गुप्त होने के कारण कभी भी 'सामान्या' के प्रेम के समान सस्ता नहीं होता—इसमें विशेष प्रकार का गाम्भीर्य और औत्कट्य रहता है, जो 'सामान्या' के प्रेम में नहीं मिल सकता। अतः कहा जा सकता है कि उन्होंने अवश्य ही इस लक्षण में त्रुटि की है। वैसे इस सम्बन्ध में यह भी अनुमान से कहा जा सकता है कि मतिराम ने जान-बूझकर इस शब्द को इसलिए ग्रहण न किया होगा, क्योंकि 'लक्षिता-परकीया' का प्रेम उसकी सखियों को ज्ञात होने से गुप्त (अप्रकट) नहीं होता। पर यह मान्यता भी—यदि सत्य है तो भी—निर्दोष नहीं कही जा सकती। 'अप्रकट' से आचार्यों का अभिप्राय जन-साधारण के ज्ञान से बाहर होने से है—अन्तरंगिणी सखियों के ज्ञात होने से नहीं।

यदि इन त्रुटियों को साधारण कह कर टाल भी दें, तो भी यह दोष यहीं तक सीमित नहीं। 'स्वाधीनपतिका' और 'कलहान्तरिता' के लक्षणों में तो उनका भ्रम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, जहाँ वे रसमंजरीकार के लक्षणों के कतिपय शब्दों को ही नहीं समझ पाये। देखिये—

(१) कह्यो न माने कंत को पुनि पीछे पछिताय ।
कलहंतरिता नायका ताहि कहत कबिराय ॥१३३॥
(रसराज)

पतिमवमत्य पश्चात्परितप्ता कलहान्तरिता ।
—वही 'रसमंजरी', पृ० १.०८ ।

(२) सदा रूप गुन रीझि पिय जाके रहै अधीन ।
स्वाधीनै पतिका तियै बरनत कबि परबीन ॥१७८॥
(रसराज)

सदा साऽऽकूताज्ञाकर प्रियतमा स्वाधीनपतिका ।
—वही 'रसमंजरी,' पृ०१३४ ।

'अवमत्य' का अर्थ होता है—'तिरस्कृत कर' और 'आकूत' का अर्थ है—"इच्छानुरूप'। मतिराम ने इन दोनों के स्थान पर क्रमशः लिखा है—'आज्ञा न मानना' तथा 'रूप-गुण पर मुग्ध होना'। इसमें सन्देह नहीं कि उनके इन अर्थों से उक्त दोनों नायिकाओं-सम्बन्धी बातें समझ में आ जाती हैं, पर इन शब्दों के परिवर्तन से उनके लक्षणों में वह स्वच्छता नहीं आ पाई जो भानुदत्त के लक्षणों में दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार 'सामान्या' का भी लक्षण देखिए, जहाँ उन्होंने भानुदत्त के लक्षण का अभिप्राय मात्र लेकर उसका अनुवाद करते समय कर्त्ता के स्थान पर कर्म और कर्म के स्थान पर कर्ता लगाकर उसके आधार-भूत सिद्धान्त को ही परिवर्तित कर डाला हैं—

धन दै जाके संग में रमें पुरुष सब कोइ ।
ग्रंथन को मत देखि के गणिका जानहु सोइ ॥६४॥
(रसराज)

वित्तमात्रोपाधिकसकल पुरुषानुरागा सामान्यवनिता ।
—वही 'रसमंजरी', पृ० ७३ ।

यहाँ मतिराम का लक्षण इस ओर संकेत करता है कि 'सामान्या' की रति को कोई भी पुरुष धन द्वारा क्रय कर सकता है, जबकि रसमंजरीकार का कथन है कि जो स्त्री धन के लिए किसी भी पुरुष से प्रेम कर सकती है वह 'सामान्या' है। तात्पर्य दोनों का एक ही है। पर भानुदत्त जहाँ अपने लक्षण के अन्तर्गत नारी की रति पर बल देकर धन के प्रसग में उसके स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ रसराज-कार के लक्षण से उनका बल पुरुष की रति पर अधिक प्रतीत होता है। चूँकि नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार विभिन्न अवस्थाओं में नारी की रति का स्वरूप ही रहा करता है, पुरुष की रति का नहीं, अतः कहा जा सकता है कि मतिराम इस मूलभूत बात को नहीं समझ पाए। उनका यह लक्षण यदि 'वैशिक नायक' के लिए होता तो अधिक उपयुक्त था। किन्तु इस प्रकार की त्रुटियाँ उनके इस वर्ग के नायिका-भेद सम्बन्धी लक्षणों में केवल इतनी ही हैं।

जहाँ तक दूसरे वर्ग के लक्षणों का प्रश्न है, वे मतिराम के अपने कहे जा

सकते हैं—ये अनूदित नहीं हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने इनकी मौलिक सृष्टि अथवा आविष्कार किया है। बात यह है कि संस्कृत में भानुदत्त आदि ने कतिपय नायिकाओं के नाम गिनाकर ही छोड़ दिए हैं, उनके लक्षण नहीं दिए और वह इसलिए क्योंकि ये संज्ञाएँ (नायिकाओं के अभिधान) अपने आपमें इतनी स्पष्ट हैं कि किसी प्रकार की व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखतीं। परन्तु ब्रजभाषा के इस कवि के लिए इनका लक्षण न देना असम्भव था, कारण वह नायिका-भेद विवेचन उन व्यक्तियों के लिए कर रहा था, जो संस्कृत का अल्पज्ञान रखते थे। साधारणतः इस प्रकार के लक्षणों में त्रुटि होना अपेक्षाकृत अधिक सम्भव है, कारण लक्षणकार के सम्मुख लक्षण के मान नहीं होते। पर मतिराम के लक्षण अपने आपमें उसी प्रकार सुबोध और संक्षिप्त हैं—

(१) ब्याही औरं पुरुष सौं औरं सौं रसलीन।
ऊढ़ा तासों कहत हैं कबि पंडित परबीन ॥५६॥

(२) जाकें अपने रूप को अति ही होय गुमान।
रूप गरबिता कहत हैं, तासों परम सुजान ॥१०४॥

(रसराज)

अनूढ़ा, गुप्ता, विदग्धा, कुलटा, मुदिता, लक्षिता, अन्यसम्भोगदुःखिता, प्रेम-गर्विता, मानवती और आगतपतिका के लक्षण भी ऐसे हैं।

उदाहरण—कवि-स्वभाव निसर्गतः उच्छृंखल होता है और इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता—वह विषय-वस्तु की जिस रूप में अनुभूति करता है उसे वैसे ही अभिव्यक्त कर देता है। यदि किसी कारण इस पर अंकुश लगाया जाता है—अर्थात् उसकी अनुभूति को विशिष्ट नियमों की सीमा में बद्ध किया जाता है, तो उसके काव्य में शैथिल्य आ जाने पर आश्चर्य न करना चाहिए। काव्य-शास्त्र-विवेचन में कवि-कर्म और भी कठिन हो जाता है, कारण विवेचक को लक्षणों की रचना करने के पश्चात् उन्हीं के अनुरूप उदाहरणों की भी रचना करनी पड़ती है, दूसरे शब्दों में उसे अपनी अनुभूति को शास्त्रीय नियमों में ढालना पड़ता है। इस पर मतिराम रससिद्ध कवि पहले थे और लक्षणकार बाद में। ऐसी दशा में उनके लिए विभिन्न प्रकार की नायिकाओं सम्बन्धी उदाहरणों की रचना करना और भी कठिन था। परन्तु उन्होंने अपनी ओर से प्रायः सभी नायिकाओं के उदाहरणों में विरसता नहीं आने दी। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) संचि बिरंचि निकाई मनोहर लाजति मूरतिवंत बनाई।
ता पर तो पर भाग बड़े 'मतिराम' लसे पति-प्रीति सवाई॥
तेरे सुसील सुभाव भट्ट कुल नारिन को कुल कानि सिखाई।
तैं ही जनो पति देवत के गुन गौरि सबै गुनगौरि पढ़ाई ॥११॥

(२) तुम कहा करो कान काम तैं अटकि रहे
तुमकों न दोस सो तौ आपनोई भाग है।

आय मेरे भौन बड़े भोर उठि प्यार ही ते
　　　　　　अति हरबरन बनाय बाँधी पाग है ।।
मेरे ही बियोग रहे जागत सकल राति
　　　　　　गात अलसात मेरो परम सुहाग है।
मनहु की जानी प्रान प्यारे 'मतिराम' यहै
　　　　　　नैननि हूँ माँहि पाइयतु अनुराग है ।।३८।।
　　　　　　　　　　　　　　　　(रसराज)

यह प्रथम उद्धरण के अन्तर्गत लज्जा, पतिव्रत-धर्म और शील का वर्णन गया है, जिससे स्वतः यह स्पष्ट होता है कि नायिका 'स्वकीया' है। ऐसे ही द्वितीय में नायिका की समस्त व्यंग्योक्तियाँ उसके 'धीरा' होने का प्रमाण दे रही हैं। इसी प्रकार—

(१) अंजन दै निकसै नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनौट सुधारै।।
जोबन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकैं अँचरा न सँभारै ।।८०।।

(२) जमुना के तीर बहै सीतल समीर तहाँ
　　　　　　मधुकर करत मधुर मंद रोर हैं।
कबि 'मतिराम' तहाँ छबि सौं छबीली बैठी
　　　　　　अंगनि ते फैलत सुगंध के झकोर हैं।।
पीतम बिहारी की निहारिबे को बाट ऐसी
　　　　　　चहूँ ओर दीरघ दृगन करी दौर हैं।
एक ओर मीन मनो एक ओर कंज पुंज
　　　　　　एक ओर खंजन चकोर एक ओर हैं ।।१६३।।
　　　　　　　　　　　　　　　　(रसराज)

यहाँ भी प्रथम उद्धरण में नायिका का अपना शृंगार करके गली के बीच नारी-मर्यादा का तनिक भी विचार न करते हुए लोगों की ओर दृष्टिपात करना, उसमें अधिक लोगों के प्रति रति-भाव दर्शाने से उसके 'कुलटा' होने का द्योतक है। द्वितीय में यमुना-तट पर पहुँचकर नायिका का अपने प्रिय को देखने के लिए चारों ओर दृष्टि दौड़ाना उसके 'परकीया-उत्कंठिता' होने की ओर संकेत कर रहा है।

नायिका-भेद सम्बन्धी इन उद्धरणों में मतिराम की इस सफलता का मूल रहस्य एक तो यह है कि उनका मन इस विषय में अधिक रमा है। राव भाऊसिंह की 'रीझि' के लिए लिखे गये 'ललितललाम' जैसे अलंकार ग्रन्थ में अधिकांश शृंगारिक उदाहरणों का होना इसी बात की पुष्टि करता है। दूसरे उन्होंने लक्षण की अपेक्षा अपना ध्यान उदाहरणों पर अधिक केन्द्रित किया है। यही कारण है कि 'ऊढ़ा' के उदाहरण में इस नायिका सम्बन्धी विशेषता—ऊढ़त्व—को नहीं दर्शा पाये हैं, जिसका कि उनके लक्षण में उल्लेख हुआ है, देखिये—

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेक निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहौ कैसे कै जीजै॥
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल गले लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस लीजै॥६०॥

(रसराज)

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, मतिराम इसके लक्षण में कहते हैं— विवाहिता-स्त्री जब अपने पति से इतर पुरुष के साथ प्रेम करती है तो वह 'ऊढ़ा-परकीया' कहलाती है। इसमें नायक से उसकी मिलन की अभिलाषा, उसके परकीयत्व का तो द्योतन कर रही है, पर उसके 'ऊढ़त्व' का नहीं— कहीं पर भी ऐसा संकेत नहीं जिससे यह आभास मिल जाय कि वह विवाहिता है। कहना न होगा कि उदाहरणों को सँवारने की उनकी धुन इतनी पक्की है कि 'प्रौढ़ा-अधीरा' का लक्षण ही इसके उदाहरण की छाया में गढ़ा गया है, वहाँ वे यह भूल गये हैं कि इसका लक्षण वे 'रसमंजरी' के इस लक्षण—'प्रगल्भा अधीरायास्तर्जनताडनादि' (पृ० २९)—का ब्रज-भाषा में अनुवाद करके दे रहे हैं, देखिये—

डर दैकै प्रिय को प्रिया देय सुमन की मार।
प्रौढ़ अधीरा कहत हैं ताहि सुकवि मति चार॥४९॥

उदाहरण

जाके अंग अंग की निकाई निरखत आली
बारने अनंग की निकाई कीजियतु है।
कवि 'मतिराम' जाकी चाह ब्रजनारिन की
देह अँसुवान के प्रवाह भीजियतु है॥
जाके बिन देखे न परत कल तुम हूँ कों
जाके बैन सुनत सुधा सी पीजियतु है।
ऐसे सुकुमार प्रिय नन्द के कुमार को यों
फूलन के मालन की मार दीजियतु है॥५०॥

(रसराज)

यहाँ मतिराम ने संस्कृत के 'तर्जन' शब्द का 'डर' अनुवाद तो ठीक किया है, पर 'ताड़न' के लिए 'सुमन की मार देना' प्रयोग समझ में नहीं आ सकता। इधर यह उक्त-कवित्त के अन्तिम चरण से स्पष्ट ही है कि उन्होंने अपने लक्षण की रचना इसे (कवित्त के अन्तिम चरण को) दृष्टि में रखकर की है, न कि लक्षण के आधार पर उदाहरण की; कारण, यदि वे ऐसा करते तो ताड़न के लिए कोई अन्य शब्द लाते। 'प्रौढ़ा-धीराधीरा' के लक्षण में तो इस शब्द के लिए पुष्पों की मार जैसा कोई पर्याय न करना भी हमारे कथन की पुष्टि करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने इस प्रकार की गड़बड़ प्रायः की हो—उनके समस्त नायिका-भेद-विवेचन में इस प्रकार का सदोष उदाहरण केवल यही है। वैसे साधारणतः यदि एक उदाहरण कुछ निर्बल रहा है तो उससे अगले उदाहरण ने विषय को स्पष्ट करने में सहायता की है।

इस प्रसंग में यह कह देना असंगत न होगा कि इस श्लाघनीय सफलता के लिए मतिराम बहुत-कुछ अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-आचार्यों और कवियों के ऋणी रहे हैं। इनमें रहीम का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनके 'बरवैनायिका भेद' के अनेक बरवै-छन्दों का उनके नायिका-भेद-विवेचन सम्बन्धी छन्दों पर प्रभाव रहा है। इनमें से कतिपय तो इन बरवै-छन्दों के रूपान्तर तक प्रतीत होते हैं। तुलना के लिए देखिये—

(१) बिछुरत रोवत दुहुन को सखि यह रूप लखै न।
दुख अँसुवा पिय नैन हैं सुख अँसुवा तिय नैन ॥८४॥

(रसराज)

जैहों कान्ह नेवतवा, भो दुख दून।
बहू करे सुखबरिया, है घर सून ॥२६॥

—वही 'बरवै नायिका भेद'

(२) याही कौं पठाई भलो काम करि आई बड़ी
तेरी ये बड़ाई लखे लोचन लजीले सौं।
साँची क्यों न कहै कछु मोकों किधौं आपहि कों
पाइ बकसीस लाई बसन छबीले सौं॥
'मतिराम' सुकबि सँदेसा अनुमानियत
तेरे नख सिख अंग हरष कटीले सौं।
तू तौ है रसीली रसबातन बनाय जानै
मेरे जान आई रस राखि कै रसीले सौं ॥९६॥

(रसराज)

मैं पठई जेहि कजवा आइसि साधि।
छुटि गो सीस जुरवना विठि करि बाँधि ॥३४॥

—वही 'बरवै नायिका भेद'

(३) कहत तिहारो रूप यह सखी पैंड़ को खेद।
ऊँची लेत उसास है कलित सफल तन-स्वेद ॥१००॥

(रसराज)

मोहित हरबर आवत भो पथ खेद।
रहि-रहि लेत उससवा औ तन स्वेद ॥

—वही 'बरवै नायिका भेद'

(४) कैयौ घरी निसि बीति गई अरु मेह चहूँ दिसि आयो उनैहै।
अंग सिगार कै बैठी है साँवरे रावरी बाट बिलोकति ह्वै है॥
बैठे कहा 'मतिराम' रसाल हो राति मनावत ही पुनि जैहै।
जाहु न बेगि तिहारी पियारी सु बोसु बिहारी हमैं पुनि दैहै ॥१६१॥

(रसराज)

पिय पथ हेरति गोरिया भो भिनुसार ।
चलहु न करहि तिरिअवा तौ इतवार ॥६३॥

—वही 'बरवै नायिका भेद'

(५) साँझ ही तें करि राखे सबै करिबे के जे काज हुते रजनी के ।
पौढ़ि रही उमगी अति ही 'मतिराम' अनन्द अमात न जी के ॥
सोवत जानि के लोग सबै अधिकाने मिलाप मनोरथ पी के ।
सेज ते बाल उठी हरुए-हरुए पट खोलि दिये खिरकी के ॥१७४॥

(रसराज)

सोवत सब गुरु लोगवा जानेउ बाल ।
दीन्हेसि खोलि खिरकिया उठके हाल ॥

—वही 'बरवै नायिका भेद'

नायक-भेद-विवेचन

विवेचन का आधार—नायिका के पश्चात् शृंगार रस का दूसरा आलम्बन है—नायक । संस्कृत में नायिका-भेद के समान इसके भेदों का वर्णन भी भरतमुनि ने सर्वप्रथम किया है । उनके 'नाट्यशास्त्र' में प्रकृति के आधार पर यह तीन प्रकार का—उत्तम, मध्य और अधम ; शील के आधार पर—धीरोदात्त, धीरललित, धीर-प्रशान्त और धीरोद्धत तथा नारी के प्रति अपने व्यवहार और रति के आधार पर पाँच प्रकार का—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और सम्प्रवृद्ध कहा गया है । इनके पश्चात् भामह तक तो काव्य-शास्त्र-विषयक कोई ग्रन्थ उपलब्ध ही नहीं ; और भामह से रुद्रट तक इस विषय—अर्थात् नायक-भेद पर इसलिए कुछ न लिखा जा सका, क्योंकि इन आचार्यों का क्षेत्र ही अत्यन्त संकुचित था । इस प्रकार भरत के पश्चात् नायक-भेद-विवेचन करने वाला प्रथम आचार्य रुद्रट ही आता है, जिसने शृंगार रस का निरूपण करते हुए नायिका-भेद के साथ नायक के चार भेदों—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट का वर्णन किया । परवर्ती आचार्यों में धीरोदात्त आदि नायक के चार प्रचलित भेदों का वर्णन प्रायः उन सभी आचार्यों ने किया है, जिन्होंने 'नाट्यशास्त्र' अथवा नायिका-भेद पर कुछ लिखा है । विवेचन की दृष्टि से इन आचार्यों को दो वर्गों में रखा जा सकता है । इनमें प्रथम वर्ग उनका है जिन्होंने भरत-सम्मत धीरोदात्त आदि भेदों के साथ रुद्रट-सम्मत अनुकूल आदि नायक के भेदों का वर्णन किया है । इनमें धनंजय, भोजराज, विश्वनाथ आदि आते हैं । दूसरा वर्ग प्रायः उन लोगों का आता है, जिन्होंने रुद्रट का अनुसरण करते हुए केवल अनुकूल आदि का ही वर्णन किया है । इनमें भेद-विस्तार और व्यवस्था की दृष्टि से भानुदत्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में से अधिकांश ने इनको ही अपने नायिका-भेद-वर्णन के समान नायक-भेद-वर्णन के लिए आदर्श बनाया है । मतिराम ने भी इसीलिए प्रस्तुत विषय पर इन्हीं का अनुसरण किया है, पर उतना ही जितना उचित समझा है ।

नायक का लक्षण—यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि गुणों की ओर सभी आकृष्ट हुआ करते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने इसीलिए नाटक अथवा महाकाव्य के नायक में विशिष्ट गुणों का होना अनिवार्य कहा है, जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए आकर्षण का केन्द्र बन सके। मतिराम ने भी सम्भवतः यही बात दृष्टि में रखते हुए—अर्थात् यह मानकर कि शृंगार रस में पुरुष के गुण ही स्त्री को उसकी ओर आकृष्ट कर देते हैं, नायक के लक्षण में उसके गुणों का ही उल्लेख किया है—

तरुन सुघर सुन्दर सकल कामकलानि प्रबीन।
नायक सो 'मतिराम' कहि कबित गीत रसलीन ॥२३७॥

(रसराज)

किन्तु यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यौवन, सौन्दर्य, सुगठित शरीर, काम-कलाओं में प्रवीणता एवं कला-प्रियता ये पाँच गुण ही नायक में होते हैं? अधिक नहीं? निःसन्देह और भी गुण हो सकते हैं, पर मतिराम ने उनका वर्णन इसलिए नहीं किया क्योंकि वे यहाँ साधारण रूप से यह कह देना चाहते हैं कि यही गुण ऐसे हैं जो किसी भी नारी में पुरुष के प्रति रति-भाव जागृत कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ठीक भी है। कारण, कोई भी नारी पुरुष के प्रति या तो उसके रूप और यौवन की ओर आकृष्ट होगी अथवा उसकी कला या गुण होने के कारण। इसके अतिरिक्त वह पुरुष के चतुर व्यवहार से भी उसमें अनुरक्त हो जाती है। मतिराम ने नायक के इस गुण को उसकी काम-कलाओं में प्रवीणता कहकर व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार शास्त्रीय दृष्टि से भी आचार्यों ने शृंगारिक नायक के जो गुण कहे हैं[1], मतिराम का उक्त लक्षण उनकी परिसीमा से बाहर नहीं।

नायक-भेद

भानुदत्त ने अपनी 'रसमंजरी' के अन्तर्गत नायक के तीन सामान्य भेदों का उल्लेख किया है—१. पति, २. उपपति और ३. वैशिक। इन भेदों का आधार क्या है, यह तो उन्होंने नहीं बताया, पर साधारणतः यह कहा जा सकता है कि नायिका के स्वकीया आदि भेदों के समान नायक के इन भेदों का आधार भी स्थुलतः स्त्री-पुरुष का सामाजिक सम्बन्ध रहा है। स्त्री के साथ विधिवत् विवाहित पुरुष 'पति', उसके आचार की हानि का कारण अर्थात् उसे समाज की मर्यादा से भ्रष्ट कर अपने प्रेम में फँसाने वाला 'उपपति'; एवं अनेक वेश्याओं से प्रेम करने वाला 'वैशिक'

---

१. दे० शृंगारश्च नायकाश्रय इति तस्य गुणानाह—

रत्युपचारे चतुरस्तुंगकुलो रूपवानरुङ्मानी।
अग्राम्योज्ज्वलवेषोऽनुल्बणचेष्टः स्थिरप्रकृतिः ॥७॥
सुभगः कलासु कुशलस्तरुणस्त्यागी प्रियंवदो दक्षः।
गम्यासु च विस्रम्भी तत्र स्यान्नायकः ख्यातः ॥८॥

—रुद्रट 'काव्यालंकार', बारहवाँ अध्या.।

कहलाता है। आगे स्वभाव के आधार पर उन्होंने 'पति' के ये चार भेद किये हैं— अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। सदैव एक ही स्त्री से प्रेम करने वाला 'अनुकूल'; सभी स्त्रियों के साथ समान और सहज अनुराग रखने वाला 'दक्षिण'; स्त्रियों से कपट द्वारा प्रेम करने में पटु 'शठ' और बार-बार रोकने पर भी निःशंक होकर अपराध करने वाला 'धृष्ट' होता है। रसमंजरीकार के मत में 'उपपति' के भी स्वभावानुसार यही चार भेद होते हैं पर उसमें शठत्व विशेष प्रकार से हुआ करता है, शेष तीन बातें उसके स्वभाव में स्थायी नही होती। इनके अतिरिक्त 'शठ' के ये दो भेद और होते हैं—मानी और चतुर। मान करने वाला 'मानी' और समागम सम्बन्धी अपनी चेष्टाओं में पटु 'चतुर' कहलाता है। ऐसे ही उन्होंने 'वैशिक' के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। नायिका द्वारा कोप किये जाने पर भी उसके उपचार में परायण 'उत्तम', उसके अनुराग अथवा कोप को प्रकट न कर चेष्टाओं द्वारा मनोभावों को ग्रहण करने वाला 'मध्यम' एवं भय-लज्जा आदि से शून्य तथा काम-क्रीड़ा में करने और न करने योग्य— सभी बातों का विचार न करने वाला 'अधम' होता है। देशान्तर में होने से ये तीनों प्रकार के नायक—अर्थात् पति, उपपति और वैशिक—'प्रोषित' कहलाते हैं। स्त्रियों के काम-सम्बन्धी संकेतों से अनभिज्ञ पुरुष भानुदत्त के मत में 'नायक' न होकर उसका 'आभास' मात्र होता है।

नायक के साथ भानुदत्त ने उसके सहायकों का भी वर्णन किया है। ये हैं— पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक। कुपित स्त्री का प्रसादन करने वाला 'पीठमर्द', कामकलाओं में कुशल 'विट', सन्धान-अर्थात् नायक-नायिका को मिलाने में चतुर 'चेट' एवं अंगादि की विकृति द्वारा हँसाने वाला 'विदूषक' कहलाता है।

मतिराम ने अपने नायक-भेद-विवेचन के अन्तर्गत वैशिक के तीनों भेदों, नायकाभास और नायक के सहायकों को ग्रहण नहीं किया। सम्भवतः इसलिए कि वे इन सबको शृंगार रस में अनावश्यक और असंगत समझते होंगे वास्तव में 'नायकाभास' तो संकेतज्ञान से शून्य होने के कारण न तो शृंगार का आश्रय ही हो सकता है और न आलम्बन ही, अतः उसका अपने आपमें महत्त्व नहीं। नायक के सहायक स्वयं रसमंजरीकार की दृष्टि में नायक नहीं—उद्दीपन-सामग्री में भले आ सकते हैं। रही बात 'वैशिक' नायक के भेदों की, सो ये इसलिए असंगत हैं, क्योंकि धन देकर रति करने वाला पुरुष नायिका के कोप अथवा अनुराग का क्या ध्यान रखेगा—आज एक वेश्या के यहाँ है तो कल दूसरी के यहाँ होगा। जहाँ तक नायक के शेष भेदों का प्रश्न है, उनमें इन्होंने सिवाय चतुर नायक के इन दो भेदों—क्रिया चतुर और वचन चतुर—को दो पृथक् भेद मान लेने के और कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। नायक का 'प्रोषित' रूप पृथक् रूप से प्रस्तुत कर अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने यह कह दिया है कि पति, उप-पति और वैशिक ये तीनों ही प्रोषित हो सकते हैं; कारण ये तीनों ही नायक के सामान्य भेद हैं।

विवेचन

लक्षण—नायिका-भेद के समान ही मतिराम के विभिन्न नायकों के लक्षण

भी दो प्रकार के हैं—१. अनूदित, और २. स्व-रचित। इनमें प्रथम वर्ग मुख्यतः 'रसमंजरी' के लक्षणों का ब्रजभाषा-गत रूपान्तर मात्र है। इनकी विशेषता यह है कि ये अपने आपमें स्वच्छ हैं। उदाहरण के लिए देखिये—

(१) **बिधि सौं ब्याह्यो पति कह्यो कबि 'मतिराम' सुजान ॥२४०॥**
(रसराज)

विधिवत्पाणिग्राहकः पतिः।
—वही 'रसमंजरी', पृ० १७१।

(२) **सदा अपनी नारि सौं राखै अति ही प्रीति।**
परनारी तें बिमुख जो सो अनुकूल सुरीति ॥२४४॥
(रसराज)

सार्वकालिकपरांगनापरांगमुखत्वे सति सर्वकालमनुरक्तोऽनुकूलः।
—वही 'रसमंजरी', पृ० १७३।

किन्तु एक लक्षण में वे शब्दों का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं कर पाये। देखिये 'दक्षिण' नायक का लक्षण—

एक भाँति सब तियन सौं जाको होय सनेह।
सो दच्छिन 'मतिराम' कहि बरनत हैं मतिगेह ॥२४७॥
(रसराज)

सकल नायिका विषयकसमसहजानुरागो दक्षिणः।
—वही 'रसमंजरी', पृ० १७४।

यहाँ 'रसमंजरी' के लक्षण-गत 'सहज' शब्द को रसराजकार स्थान नहीं दे पाये। 'सहज' शब्द अनुराग की स्वाभाविकता—अकृत्रिमता का वाचक होने के कारण 'दक्षिण' नायक में विशेष गुण का समावेश कर रहा है।

दूसरे वर्ग—अर्थात् मतिराम के स्व-रचित लक्षणों में रसमंजरीकार का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यह है कि 'मानी' और 'प्रोषित' के लक्षण तो भानुदत्त ने सरल समझकर नहीं दिये और शेष—अर्थात् शठ, धृष्ट और उपपति के लक्षण अपने आपमें इतने अस्पष्ट हैं कि साधारण व्यक्ति उनके अनुवाद से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मतिराम ने इसीलिए जो कुछ स्वयं समझा उनका लक्षण कर दिया। देखिये—

करत नायका सौं कछु नायक मन अभिमान।
तासौं मानी कहत हैं कबि 'मतिराम' सुजान ॥२६३॥
(रसराज)

इस लक्षण में नायिका से अभिमान करने वाला नायक मानी कहा गया है। 'अभिमान' शब्द का संकेत उन्होंने 'रसमंजरी' से तो ग्रहण किया नहीं। इसके लिए वे 'रहीम' के ऋणी प्रतीत होते हैं, कारण उनके 'बरवै नायिका भेद' में 'मानी' के उदाहरण में इस शब्द का स्पष्ट प्रयोग हुआ है—

अब न जनम भर सखिया ताकों बोहि ।
ऐंठत गो अभिमनवा तजि के मोहि ।।१०६।।

सम्भव है रहीम ने इसके लक्षण में भी अभिमान का प्रयोग किया हो, जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार—

(१) डरै करत अपराध नहिं करै कपट की प्रीति ।
वचन क्रिया में अतिचतुर सठ नायक की रीति ।।२५०।।

(२) करै दोष निरसंक जो डरे न तिय के मान ।
लाज धरै मन में नहीं नायक धृष्ट निदान ।।२५३।।

(३) जो परनारिन को रसिक उपपति ताहि बखान । (२५६)

(रसराज)

इनमें प्रथम लक्षण तो भानुदत्त के इस लक्षण—कामिनीविषयककपटपटुः शठः (वही 'रसमंजरी', पृ० १७६)—से थोड़ा-सा मेल खाता है; परन्तु बाद के दो लक्षण तो सर्वथा स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं। 'रसमंजरी' में 'धृष्ट' और 'उपपति' के लक्षण क्रमशः इस प्रकार दिये गए हैं—

भूयो निश्शंककृतदोषो ऽपि भूयो निवारितो ऽपि भूयः प्रश्रय परायणो धृष्टः ।

—वही 'रसमंजरी' पृ० १७५ ।

आचारहानिहेतुः उपपतिः ।

—वही 'रसमंजरी', पृ० १७७ ।

इनसे स्पष्ट नहीं हो पाता—विशेषतः 'उपपति' के लक्षण से—कि इन नायकों में क्या विशेषताएँ होती हैं। मतिराम ने इस दिशा में जो प्रयत्न किया है वह श्लाघनीय है, क्योंकि उनके लक्षण इन दोनों ही नायकों की विशेषताएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। वैसे भी साधारण समझ के व्यक्ति के लिए भी ये लक्षण अपने आपमें उपयुक्त कहे जा सकते हैं और इसका एकमात्र कारण है उनकी स्वच्छता और बोधगम्यता ! सम्भव है इनके लिए भी मतिराम रहीम के ऋणी हों, पर प्रमाण के अभाव में इस कथन को पुष्ट नहीं किया जा सकता।

उदाहरण—मतिराम के नायक-भेद सम्बन्धी लक्षणों के समान उनके इस विषय के उदाहरण भी अत्यन्त स्वच्छ और सुबोध हैं। कोई ऐसा छन्द नहीं जो लक्षण के अनुकूल न बैठता हो तथा नायक-विशेष का पूर्ण परिचय प्रस्तुत न करता हो। उदाहरण के लिए देखिए—

साँझ समय ललना मिलि आईं खरो जहाँ नन्दलाल अलबेलो ।
खेलन कौं निसि चाँदनी माँहि बनै न मतो 'मतिराम' सुहेलो ।।
आपनि-आपनि पौरि बताय कैं बोलि कह्यो सिगरीन नबेलो ।
त्यौं हँसि कैं ब्रजराज कह्यो अब आज हमारिहि पौरि में खेलो ।।२४७।।

(रसराज)

सभी नायिकाएँ नायक को चाँदनी रात्रि के समय अपने-अपने कक्षों में बुलाना

चाहती हैं, पर वह किस-किस के यहाँ जाय। अतः सबको अपने ही कक्ष में बुलाने का उसका प्रस्ताव सबके प्रति समान अनुराग का द्योतक है और इसीलिए वह 'दक्षिण' कहा जायगा। इसी प्रकार—

दूसरे की बात सुनि परत न ऐसी जहाँ
कोकिल कपोतन की धुनि सरसाति है।
छाई रहे जहाँ द्रुम बेलिन सों मिलि
'मतिराम' अलि-कुलन अँध्यारी अधिकाति है।
नखत से फूल रहे फूलन के पुंज घन
कुंजन में होति जहाँ दिन ही में राति है।
ता बन की बाट कोऊ संग न सहेली साथ
कैसे तू अकेली दधि बेचन को जाति है ॥२६७॥

(रसराज)

इसमें नायक वचन-चतुर है। उसके नायिका के प्रति वाक्य आपाततः तो ऐसे लग रहे हैं कि मानो वह नायिका को ऐसे सघन वन में जाने से रोक रहा हो; पर वास्तव में उसका ऐसे एकान्त स्थल में आने का निमन्त्रण है। यही उसका चातुर्य है।

किन्तु इसके साथ यह कह देना असंगत न होगा कि नायिका-भेद के समान नायकों के उदाहरणों के लिए प्रायः रहीम कृत 'बरवै नायिका भेद' पर आश्रित रहे हैं। तुलना के लिए कुछ छन्द देते हैं, देखिए—

(१) **लोचन पानिप ढिग सजी लट बंसी परबीन।**
मो मन बारिबिलासिनी फाँसि लियो जनु मीन ॥२६१॥

(रसराज)

लटकी नील झुलुफिया बनसी भाइ।
मोमन बार बधुइआ मीन बझाइ ॥१०४॥

—वही 'बरवै नायिका भेद'

(२) **सपने हूँ मन भावतो करत नहीं अपराध।**
मेरे मन ही में रही सखी मान की साध ॥२४६॥

(रसराज)

करत नहीं अपराधवा सपनेहुँ पीव।
मान करै की सधवा रहि गइ जीव ॥६६॥

—'वही बरवै नायिका भेद'

मूल्यांकन

संक्षेप में मतिराम का नायक-नायिका-भेद भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर ही है। किन्तु इस संस्कृत-ग्रन्थ का उन्होंने अन्धानुकरण नहीं किया। जिन भेदों को असंगत अथवा साधारण पाठक के लिए अनावश्यक समझा है, उनको अपने

विवेचन में स्थान नहीं दिया। दूसरी ओर नायिका-भेद के अन्तर्गत 'आगतपतिका' का महत्त्व समझकर उसका वर्णन मनोयोग से किया है—यद्यपि भानुदत्त तो क्या 'संस्कृत-काव्य-शास्त्र' के किसी भी आचार्य ने इस नायिका का नामोल्लेख तक नहीं किया। पर इसके आविष्कर्त्ता मतिराम ही हैं, यह तब तक निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता जब तक कि उनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों के विषय में सिद्ध न हो जाय कि इन्होंने इसका लक्षण नहीं दिया। इस प्रकार मौलिक उद्भावना की दृष्टि से मतिराम का नायक-नायिका-भेद नगण्य है।

जहाँ तक उनकी विवेचन-शैली का प्रश्न है, उसका अपने आपमें महत्त्व अवश्य है। लक्षण यद्यपि 'रसमंजरी' के अधिकांश लक्षणों के अनुवाद है, तथापि यदि उन्हें कोई नहीं जँचा अथवा इस संस्कृत-ग्रन्थ में नहीं मिला तो साहित्यदर्पणकार और सम्भवतः अपने पूर्ववर्तियों का आश्रय लेकर लक्षणों को सुबोध तथा विवेचन को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। संस्कृत और ब्रजभाषा की प्रकृति-भिन्नता के कारण कतिपय संस्कृत-लक्षणों के शब्दों का पूर्णरूप से निर्वाह नही कर पाये, पर इससे लक्षण भ्रामक हो गये हैं, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, एक-दो स्थानों पर संस्कृत-लक्षणों का अर्थ न समझ पाने से नायिकाओं के वे लक्षण भ्रामक अवश्य हो गये हैं, पर अधिकांश लक्षणों की स्वच्छता की तुलना में इनकी उपेक्षा करना उचित होगा।

लक्षणों की अपेक्षा उदाहरण और भी स्वच्छ और सुबोध हैं। वस्तुतः यदि किसी भी प्रकार का अभाव यदि लक्षणों में रह गया है तो उसे उदाहरणों ने ही पूरा किया है। प्रत्येक लक्षण का स्वारस्य और उसकी सटीकता किसी भी पाठक को आकृष्ट किये बिना नहीं रहती।

अलंकार-विवेचन

विवेचन का आधार—शृंगार रस और नायिका-भेद-विवेचन के समान अलंकार-विवेचन भी भरत के 'नाट्यशास्त्र' से ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है, जहाँ केवल चार अलंकारों—उपमा, रूपक, दीपक और यमक—का वर्णन है। भरत के पश्चात् भामह तक यद्यपि साहित्यशास्त्र का कोई ग्रन्थ प्राप्य नही, पर इतना अवश्य है कि अलंकार भी इस काल के आचार्यों के विवेचन का विषय रहा होगा क्योंकि भामह ने उक्त चार अलंकारों के अतिरिक्त अन्य १२ अलंकारों का उल्लेख करते हुए इनके सम्बन्ध का संकेत मेधावी आदि आचार्यों की ओर किया है। इस प्रकार संस्कृत-अलंकार-शास्त्र का क्रमबद्ध विकास तो भरत से ही आरम्भ हो जाता है, किन्तु इसकी अविच्छिन्न परम्परा भामह से आगे ही मिलती है। भामह ने स्वयं अपने 'काव्यालंकार' के अन्तर्गत २३ नवीन अलंकारों का आविष्कार किया है। इनके पश्चात् दण्डी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट आदि सभी आचार्यों ने इस विषय में अपना-अपना योगदान किया, यहाँ तक कि अप्पय दीक्षित के समय तक अलंकारों की संख्या १५० तक पहुँच गई। किन्तु इन सभी अलंकारों को सब आचार्यों ने ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं किया; किसी ने कुछ को तिरस्कृत किया और किसी ने निरसित। यही कारण है कि मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में केवल ६८ अलंकारों का, विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'

में ८६ का तथा अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' में १२३ का वर्णन उपलब्ध होता है। फिर भी इन तीनों ग्रन्थों में विशेषतः 'कुवलयानन्द' में--पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उद्‌भावित प्रसिद्ध अलंकारों में से लगभग सभी का सरस और सुबोध वर्णन है। रीतिकालीन कवियों का उद्देश्य उन सभी सर्व-स्वीकृत अलंकारों को संस्कृत से ब्रज-भाषा के अन्तर्गत सुबोध और संक्षिप्त रूप लाने का था। चूँकि इन दोनों दृष्टियों से 'कुवलयानन्द' अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त था तथा अलंकारों की संख्या भी इसमें सर्वाधिक थी, यही कारण है कि इन लोगों ने अपने अलंकार-विवेचन का मूल आधार इस ग्रन्थ को ही बनाया है। मतिराम ने भी अपने समकालीनों के समान अपने अलंकार-विवेचन का आधार 'कुवलयानन्द' ही बनाया, पर अप्पय दीक्षित का उन्होंने अन्धानुकरण नहीं किया; जहाँ इनकी कोई बात नहीं जँची, वहाँ संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थों 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण'—का भी आश्रय लिया है।

अलंकार की परिभाषा—'अलंकार' का शाब्दिक अर्थ है—जो शोभा बढ़ावे। अलंकरोतीति अलंकारः। संस्कृत में इसी अर्थ को ग्रहण करते हुए प्रायः सभी आचार्यों ने अलंकारों का निरूपण करने से पूर्व इन्हें काव्य के शोभा-वर्द्धक धर्म कहा है। परन्तु आश्चर्य की बात है कि मतिराम ने अलंकार का लक्षण नहीं दिया, विशेषतः उस दशा में जबकि वे इसके भेदोपभेदों का वर्णन अत्यन्त विस्तार और मनोयोग के साथ कर रहे हैं। वास्तव में विवेचनगत यह अभाव उनका दोष ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि अलंकार की परिभाषा के विना इसके भेदों का वर्णन पाठक की बुद्धि के लिए सरलता से ग्राह्य नहीं हो सकता। इस बात को यद्यपि यह कहकर टाला जा सकता है कि उनके अलंकार-विवेचन के आधार-ग्रन्थ—'कुवलयानन्द'—में अलंकार का लक्षण नहीं दिया गया, पर यह तर्क इसलिए मान्य नहीं हो सकता क्योंकि जब अलंकारों के भेदों और लक्षणों के सम्बन्ध में वे अप्पय दीक्षित के पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों—मम्मट और विश्वनाथ का आश्रय ले सकते थे तो अलंकार के लक्षण के लिए उन्हें संकोच क्यों हुआ? दूसरे यह उनका अपनी मौलिकता दर्शाने का प्रयास भी नहीं कहा जा सकता—अलंकार-विवेचन में वे संस्कृत-ग्रन्थों के आधार को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं—

संस्कृत को अर्थ लै भाषा सुद्ध बिचार।
उदाहरण क्रम ए किए लीजो सुकबि सुधार ॥१०॥

(अलंकार पंचाशिका)

तब इसका क्या कारण है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वे मूलतः रसवादी ही थे और अलंकार की परिभाषा की जितनी अपेक्षा थी, वह उन्होंने पृथक् रूप से न देकर कवि-निवेदन के अन्तर्गत संकेत रूप में दे दी है—

भावसिंह की रीझ कौं कविता भूषन धाम ॥
ग्रन्थ सुकबि 'मतिराम' यह कीनौं 'ललितललाम' ॥३८॥

(ललितललाम)

यहाँ 'कविता भूषण' से स्पष्ट ही है कि वे अलंकारों को वाणी के आभूषण

मात्र मानते हैं। चूँकि शरीर के लिए धर्म की अपेक्षा आभूषण कम महत्त्वपूर्ण होते हैं, अतएव उनके 'भूषण' शब्द के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाल लेना भी अपने आपमें सहज ही है कि मम्मट के समान ये भी अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं समझते।

मतिराम के अलंकार-विषयक-ग्रन्थ—मतिराम के अलंकार-निरूपण सम्बन्धी दो ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं—'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका'। इनमें 'ललितललाम' विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें सामान्य रूप से सभी प्रसिद्ध अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। 'अलंकार पंचाशिका' कलेवर की दृष्टि से अपेक्षाकृत संकुचित है। जैसा कि 'पंचाशिका' शब्द से ही स्पष्ट है, इसमें कवि का अभीष्ट केवल ५० अलंकारों के वर्णन का रहा होगा। किन्तु इस ग्रन्थ की प्रति खंडित होने के कारण सम्प्रति ४० अलंकारों का वर्णन ही मिलता है—भेदोपभेद मिलाकर भी ४८ ही बैठते हैं[1]। दूसरे जिन अलंकारों का इसमें वर्णन हुआ है उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो अधिक प्रसिद्ध नहीं। वैसे इतना अवश्य है कि इनमें से ऐसा कोई अलंकार नहीं जिसका 'ललितललाम' में निरूपण न हुआ हो। वस्तुतः इस कृशकाय पुस्तिका की रचना कवि ने अलंकार-निरूपण अथवा आचार्यत्व की दृष्टि से नहीं की, प्रत्युत अपने आश्रयदाता पर स्वतन्त्र रूप से लिखे छन्दों में अलंकार-विशेष देखकर उन्हें तत्सम्बन्धी लक्षण-सहित प्रस्तुत कर पुस्तक का रूप दे दिया है। ऐसी दशा में मतिराम के अलंकार-निरूपण की परीक्षा, 'ललितललाम' के आधार पर करना ही समीचीन होगा।

विवेच्य अलंकार

ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि मतिराम के अलंकार-विवेचन का मुख्य आधार-ग्रन्थ अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द' है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत क्रमशः इन १२३ अलंकारों का वर्णन किया गया है—१. उपमा (पूर्ण और लुप्त), २. अनन्वय, ३. उपमेयोपमा, ४. पंच-विध प्रतीप, ५. रूपक (१. अभेद—अधिक, हीन और अनुभय, २. ताद्रूप्य—अभेद, हीन और अनुभय), ६. परिणाम, ७. द्विविध उल्लेख, ८-९-१०. स्मृति-भ्रान्ति-सन्देह, ११. अपह्नुति (शुद्ध, हेतु, पर्यस्त, भ्रान्ति, छेक और कैतव), १२. उत्प्रेक्षा (१. वस्तु—उक्तविषया और अनुक्तविषया, २. हेतु—सिद्धविषया और असिद्धविषया, ३. फल—सिद्धविषया और असिद्धविषया), १३. अतिशयोक्ति (रूपका, सापह्नवा, भेदका, सम्बन्धा, असम्बन्धा, चपला, अक्रमा और अत्यन्ता), १४. तुल्ययोगिता, १५. दीपक, १६. आवृत्ति दीपक, १७. प्रतिवस्तूपमा, १८. दृष्टान्त, १९. निदर्शना, २०. व्यतिरेक, २१. सहोक्ति, २२. विनोक्ति, २३. समासोक्ति, २४. परिकर, २५. परिकरांकुर, २६. श्लेष (वर्ण्यानेक विषय, अवर्ण्यानेक विषय और वर्ण्यावर्ण्यानेक विषय), २७. अप्रस्तुतप्रशंसा, २८. प्रस्तुतांकुर, २९. पर्यायोक्त, ३०. व्याजस्तुति, ३१. व्याजनिन्दा, ३२. त्रिविध आक्षेप, ३३. विरोधाभास, ३४. षष्ठ-विध विभावना, ३५. विशेषोक्ति, ३६. असम्भव, ३७. त्रि-विध असंगति,

---

१. इनकी सूची तृतीय अध्याय के अन्तर्गत 'अलंकार पंचाशिका' के प्रसंग में देखिये।

३८. त्रिविध विषम, ३९. त्रिविध सम, ४०. विचित्र, ४१. द्विविध अधिक, ४२. अल्प, ४३. अन्योन्य, ४४. त्रिविध विशेष, ४५. द्विविध व्याघात, ४६. कारणमाला, ४७. एकावली, ४८. मालादीपक, ४९. सार, ५०. यथासंख्य, ५१. द्विविध पर्याय, ५२. परिवृत्ति, ५३. परिसंख्या, ५४. विकल्प, ५५. द्विविध सम्मुच्चय, ५६. कारक दीपक, ५७. समाधि, ५८. प्रत्यनीक, ५९. अर्थापत्ति, ६०. काव्यलिंग, ६१. अर्थान्तर-न्यास, ६२. विकस्वर, ६३. प्रौढ़ोक्ति, ६४. संभावन, ६५. मिथ्याध्यवसित, ६६. ललित, ६७. त्रिविध प्रहर्षण, ६८. विषादन, ६९. त्रिविध उल्लास, ७०. अवज्ञा, ७१. अनुज्ञा, ७२. लेश, ७३. मुद्रा, ७४. रत्नावली, ७५. तद्गुण, ७६. द्विविध पूर्वरूप, ७७. अतद्-गुण, ७८. अनुगुण, ७९. मीलित, ८०. सामान्य, ८१-८२, उन्मीलित-विशेष, ८३. द्विविध उत्तर, ८४. सूक्ष्म, ८५. पिहित, ८६. व्याजोक्ति, ८७. गूढ़ोक्ति, ८८. विवृतोक्ति, ८९. युक्ति, ९०. लोकोक्ति, ९१. छेकोक्ति, ९२. वक्रोक्ति (श्लेष और काकु), ९३. स्वभावोक्ति, ९४. भाविक, ९५. उदात्त, ९६. अत्युक्ति, ९७. निरुक्ति, ९८. प्रतिबन्ध, ९९. विधि, १००. हेतु, १०१. रसवत्, १०२. प्रेयस्, १०३. ऊर्ज्वस्वि, १०४. समाहित, १०५. भावोदय, १०६. भावसन्धि, १०७. भावशबला, १०८ प्रत्यक्ष, १०९. अनुमान, ११०. उपमान, १११. शब्दप्रमाण, ११२. स्मृति, ११३. श्रुति, ११४. अर्थापत्ति, ११५. अनुपलब्धि, ११६. सम्भव, ११७. ऐतिह्य, ११८, अलंकार संसृष्टि, ११९ अंगांगिभावसंकर, १२०. समप्राधान्य संकर, १२१. सन्देहसंकर, १२२. एकवचनानुप्रवेश संकर, १२३. संकरसंकर। मतिराम ने इनमें से प्रथम १०० अलंकारों को थोड़े हेर-फेर के साथ ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। एक ओर 'मालोपमा' और 'रशनोपमा' नामक उपमा के दो भेदों को स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में इनके बीच समाविष्ट किया है, वहाँ दूसरी ओर 'काव्यलिंग' का 'हेतु' में तथा 'असम्बन्धातिशयोक्ति' का 'सम्बन्धातिशयोक्ति' में अन्तर्भाव कर दिया है। 'उत्तर' अलंकार के प्रथम भेद को 'गूढ़ोत्तर' तथा इसके द्वितीय भेद को 'चित्र' नामक पृथक् अलंकार बना दिया है। किन्तु यह उनकी मौलिक उद्भावना नहीं। 'मालोपमा' और 'रशनोपमा' तो साहित्यदर्पणकार से ली गई हैं। 'काव्यलिंग' का 'हेतु' में अन्तर्भाव उन्होंने मम्मट से संकेत ग्रहण करते हुए किया है। 'काव्यप्रकाश' में 'हेतु' नामक अलंकार नहीं माना गया, इसे 'काव्यलिंग' में अन्तर्भूत कर दिया गया है। मतिराम ने इसके विपरीत 'काव्यलिंग' के स्थान पर 'हेतु' को ग्रहण करते हुए उसे इसका भेद बता दिया है। इसी प्रकार 'असम्बन्धातिशयोक्ति' 'सम्बन्धातिशयोक्ति' का अवर भेद भी उन्होंने विश्वनाथ से संकेत ग्रहण करके ही बनाया है। 'साहित्यदर्पण' की कारिका के इस अंश—'सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्यया'[1] का स्पष्टतः दोनों के ऐक्य की ओर संकेत

१. दे० दशम परिच्छेद, ४७वीं कारिका।

है। ऐसे ही 'उत्तर' अलंकार के प्रथम भेद को 'गूढ़ोत्तर' तथा द्वितीय को 'चित्रोत्तर' नाम स्वयं कुवलयानन्दकार ने ही दिया है[1]। अस्तु !

जहाँ तक शेष २३ अलंकारों का प्रश्न है, मतिराम ने इनमें से किसी को भी ग्रहण नहीं किया। 'रसवत्', प्रेयस, ऊर्ज्वस्वि, समाहित, भावोदय, भावसंधि और भावशबला—इन सात अलंकारों के निरसन का कारण तो अपने आपमें स्पष्ट ही है। जैसा कि निवेदन किया जा चुका है मतिराम रसवादी थे और चूंकि ये सातों अलंकार अपने मूलरूप में रस की कोटि में ही आते हैं, अतएव अलंकार को काव्य-शरीर के भूषण मानने वाले इस व्यक्ति को यह कैसे स्वीकार्य होता कि काव्य की आत्मा उसके शरीर का आभूषण है। रही बात इतर १६ अलंकारों की, उनमें प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, अपमान, शब्द, स्मृति, श्रुति, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य—इन १० भेदों के आधार पर अलंकारों का वर्णन करना उन्हें न जँचा होगा, कारण ये सभी भेद अर्थ के बुद्धि-पक्ष को चाहे आनन्द दे सकते हों, पर हृदय-पक्ष को नहीं। अतः ये रस के उत्कर्ष में ही कैसे सहायक हो सकते हैं। इसी प्रकार 'संसृष्टि' और 'संकर' के भेदों का वर्णन उन्होंने इसलिए करना उचित न समझा होगा क्योंकि ये पूर्वोक्त १०० अलंकारों में से किन्ही का मिश्रण मात्र होते हैं, अतः इनकी पुनरुक्ति कर विवेचन को विस्तृत करने से कोई लाभ नहीं। दूसरे प्रत्येक काव्योक्ति में प्रायः एक से अधिक अलंकारों का होना भी स्वाभाविक ही है—यह सामाजिक की अपनी योग्यता पर निर्भर करता है कि उसे उसमें कौन-कौनसे अलंकार सूझते हैं।

शब्दालंकारों की उपेक्षा—अन्त में मतिराम के विवेच्य-अलंकारों के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न रह जाता है और वह यह कि इन्होंने अलंकार-विवेचन में शब्दालंकारों की उपेक्षा क्यों की है—विशेषतः उस दशा में जबकि अपनी कविता में इन सभी अलंकारों का अत्यन्त स्वच्छ प्रयोग किया है। इस प्रश्न का समाधान यद्यपि यह कहकर किया जा सकता है कि उन्होंने अप्पय दीक्षित का ही इस विषय में अनुसरण किया है, तथापि इस सम्बन्ध में यह प्रश्न पुनः उठ खड़ा होता है कि जब वे 'मालोपमा' आदि अर्थालंकारों में दीक्षित की मान्यताओं का उल्लंघन कर मम्मट और विश्वनाथ का आश्रय ले सकते थे तो इन अलंकारों के लिए उन्हें क्या आपत्ति थी ? कहना न होगा कि हमारे पास इस तर्क का कोई समाधान-कारक उत्तर नहीं है; फिर भी अनुमान से इतना ही कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि में सम्भवतः अर्थहीन शब्द का महत्त्व नहीं रहा, इसीलिए अर्थालंकारों को काव्योत्कर्ष का विधायक मानकर इन्हीं का वर्णन करना इन्होंने उपयुक्त समझा है।

---

१. दे० (क) किंचिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्। (१४९)
(ख) प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते। (१५०)

—'कुवलयानन्द'

[डा० भोलाशंकर व्यास की 'अलंकारसुरभि' हिन्दी व्याख्या सहित—सन् १९५६ ई० में प्रकाशित]

विवेचन

लक्षण—शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद-विवेचन के समान मतिराम ने अपने अलंकार-विवेचन के अन्तर्गत समस्त लक्षण दोहों में (एक लक्षण सोरठे में भी है) ही दिये हैं—अन्तर केवल इतना है कि जहाँ पूर्वोक्त विषयों के लक्षण प्रायः 'रसमंजरी' के संस्कृत-गद्य से रूपान्तरित किये गये हैं, वहाँ प्रस्तुत विषय के लक्षण संस्कृत-ग्रन्थों—'कुवलयानन्द' और 'साहित्यदर्पण' की कारिकाओं के अनुवाद हैं। चूँकि गद्य की अपेक्षा पद्य में संक्षिप्तता अधिक रहती है और इस पर कुवलयानन्दकार ने लक्षण और उदाहरण एक ही कारिका में देकर इस विषय को और भी संक्षिप्त बनाने का प्रयास किया है, अतएव संस्कृत के मूल लक्षणों और ब्रजभाषा-गत उनके अनुवाद में विषय-प्रतिपादन का संकोच होना स्वाभाविक ही है। वैसे यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि मतिराम को अपने लक्षणों में विषय-प्रतिपादन के लिए विस्तार की अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता थी; कारण वे एक दोहे में एक लक्षण तो दे ही सकते थे, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया उनके इन दोहों में से अधिकांश अन्तिम दो चरण अलंकार के नाम, कवि के नाम तथा कतिपय भरती के शब्दों से भरे पड़े हैं, जिनका अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं। इसका कारण संस्कृत के संक्षिप्त लक्षणों के संक्षिप्त अनुवाद के अतिरिक्त संकोच की ओर उनकी अपनी प्रवृत्ति भी है, जिसका दर्शन उन सभी दोहों में सरलता से किया जा सकता है, जहाँ दो-दो अलंकारों के लक्षण एक साथ ही रख दिये गये हैं। उदाहरण के लिए—

(१) साभिप्राय विशेषननि सो परिकर 'मतिराम'।
साभिप्राय विशेष्य तें परिकर अंकुर नाम ॥१६४॥
(२) जहँ कहनावति अनुकरन लोक उक्ति 'मतिराम'।
और अर्थ लीन्हे सु जो छेक उक्ति अभिराम ॥३६६॥
(ललितललाम)

अप्पयदीक्षित ने इन चारों अलंकारों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हैं।

सुकंठ होने की दृष्टि से संक्षिप्त लक्षण किसी भी शास्त्रीय विवेचन का गुण कहा जा सकता है, पर तभी तक जब तक कि कोई लेखक इसमें किसी भी प्रकार का दोष न आने दे। मतिराम संक्षिप्तता के पीछे इतने पड़े हैं कि 'पूर्णोपमा' और 'अत्युक्ति' के लक्षणों में संस्कृत-लक्षणों के क्रमशः 'वाच्य' और 'अद्भुत' शब्दों का ही निर्वाह नहीं कर पाये। देखिये—

(१) वाचक अरु उपमेय जहँ साधारन उपमान।
पूरन उपमा कहत हैं तहँ 'मतिराम' सुजान ॥४३॥
(ललितललाम)

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम् ॥ (१५)

—वही 'साहित्यदर्पण', दशम परिच्छेद।

(२) जो सुन्दरतादिकनि की अधिक झुठाई होय ।
ताहि कहत अत्युक्ति हैं कबि पंडित सब कोय ।।३८१।।

(ललितललाम)

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यादार्याविवर्णनम् । (१६३)

—वही 'कुवलयानन्द' ।

'उपमा' में यदि उपमेयादि वाच्य न हों तो वह 'रूपक' अलंकार बन जाती है । अतः इसके लक्षण में 'वाच्य' शब्द के महत्त्व को समझा जा सकता है, जिसे वे छोड़ गये हैं । इसी प्रकार कुवलयानन्दकार के 'शौर्योदार्यादि' पद के स्थान पर 'सुन्दरतादिकनि' का प्रयोग अपने आपमें दोष प्रतीत होता है, पर इसका कारण और ही है । बात यह है कि यदि वे अपने लक्षण में 'शौर्योदार्य' का प्रयोग करते तो उसके उदाहरण स्वरूप भाऊसिंह के शौर्य के सम्बन्ध में छन्द प्रस्तुत करना पड़ता और यह उन्हीं के शब्दों में (लक्षण में) 'असत्य' (झुठाई) होने के कारण आश्रयदाता के प्रति अश्रद्धा का परिचायक होता । यहाँ पर उन्होंने मूल लक्षण के 'आदि' शब्द का लाभ उठाकर 'शौर्यौदार्य' के स्थान पर 'सुन्दरता' का प्रयोग करके उदाहरण उसी के अनुरूप दिया है । इससे एक ओर उनकी सजगता का प्रमाण मिलता है, परन्तु दूसरी ओर 'अद्भुत' शब्द को कैसे छोड़ गये हैं, यह समझ में नहीं आ पाता । आखिर, सौन्दर्य भी तो द्रष्टा में 'आश्चर्य' उत्पन्न करता है । इतना ही नहीं इस संक्षिप्तता की प्रवृत्ति के कारण उनके कतिपय लक्षण तक अस्पष्ट हो गये हैं । उदाहरण के लिए—

(१) **प्रतिवस्तूपमा**—दो वाक्यार्थों में जहाँ दो पृथक् शब्दों द्वारा साधारण धर्म का कथन करके उनमें (वाक्यार्थों में) सादृश्य की प्रतीति कराई जाय, वहाँ 'प्रतिवस्तूपमालंकार' होता है[1] । मतिराम ने अपने लक्षण में इन सभी बातों का समावेश कर दिया है, पर वाक्य में क्रिया को स्थान न मिल पाने से यह स्पष्ट नहीं हो पाता—

पद समूह जुग धर्म जहँ भिन्न पदनि सों एक ।
परगट प्रतिवस्तूपमा तहँ कबि कहत अनेक ।।१४०।।

(ललितललाम)

(२) **तृतीय प्रतीप**—जहाँ अवर्ण्य-विषय (उपमान) को वर्ण्य-विषय सा बनाकर उसके उपमेयत्व का अनादर किया जाय, वहाँ पर यह अलंकार होता है[2] । मतिराम का लक्षण इस बात को प्रस्तुत नहीं कर पाता—

---

१. दे० प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ।
एको ऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।।५०।।

—वही 'साहित्यदर्पण', दशम परिच्छेद ।

२. दे० वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादरः । (१४)

—वही 'कुवलयानन्द ।

जहाँ अनादर आन को उपावर्न्य उपमेय ।
बरनत तहाँ प्रतीप हैं कोऊ सुकवि अजेय ॥६१॥

(ललितललाम)

(३) **तृतीय आक्षेप**—यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ विधि के प्रयोग द्वारा (स्व-अभीष्ट) निषेध को छिपाया गया हो[1]। परन्तु इसके लक्षण से बात स्पष्ट नहीं हो पाती—

जहँ बिधि प्रगट बखानिए छप्यो निषेध प्रकास ।
तहँ औरो आछेप कहि बरनत बुद्धि बिलास ॥१६१॥

(ललितललाम)

(४) **कारक दीपक**—जब एक कारकगत अनेक क्रियाओं का वर्णन क्रम से होता है, तब वहाँ यह अलंकार होता है[2]। मतिराम ने कुवलयानन्दकार के लक्षण को ज्यों का त्यों अनूदित तो कर दिया है, पर 'कारक' और 'क्रिया' जैसे महत्त्वपूर्ण शब्दों की ओर संकेत नहीं किया—

एकहि में क्रम सौं भए तिनको गुम्फ जु होय ।
सो कारक दीपक कह्यो कबिन ग्रन्थ मत जोय ॥२८१॥

(ललितललाम)

जो हो, इस प्रकार के लक्षणों की संख्या मतिराम के अलंकार-विवेचन में इतनी अधिक नहीं है, जिसके आधार पर उनके ऊपर किसी प्रकार का आक्षेप लगाया जा सके। अधिकांश के लक्षण मूल-संस्कृत-लक्षणों के स्वच्छ एवं सुबोध अनुवाद कहे जा सकते हैं। तुलना के लिए कुछ लक्षण देते हैं, देखिये—

(१) परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना । (२१)

—वही 'कुवलयानन्द'।

विषयी विषय अभेद सों जहाँ करत कछु काज ।
बरनत तहँ परिनाम हैं कबि कोबिद सिरताज ॥७५॥

(ललितललाम)

(२) वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः । (४८)

—वही 'कुवलयानन्द'।

बर्न्य अबर्यनि को जहाँ धरम होत है एक ।
बरनत हैं दीपक तहाँ कबि करि बिमल बिबेक ॥१३५॥

(ललितललाम)

---

१. दे० आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते । (७५)

—वही 'कुवलयानन्द'।

२. दे० क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम् । (११७)

—वही 'कुवलयानन्द'।

(३) किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम् । (१२७)

—वही 'कुवलयानन्द' ।

एक झुठाई सिद्धि कों झूँठो बरनत और ।
तहँ मिथ्याध्यवसाय कों कहत सुमति मति दौर ॥२९८॥

(ललितललाम)

(४) कथिता रशनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥२५॥

--वही 'साहित्यदर्पण,' दशम परिच्छेद ।

जहाँ प्रथम उपमेय सो होत जात उपमान ।
तहाँ कहत रसनोपमा कबि 'मतिराम' सुजान ॥५१॥

(ललितललाम)

(५) उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥२६॥

— वही 'साहित्यदर्पण,' दशम परिच्छेद ।

जहाँ एक ही बात कों उपमेयो उपमान ।
तहाँ अनन्वय कहत हैं कबि 'मतिराम' सुजान ॥५३॥

(ललितललाम)

इन लक्षणों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि यथासम्भव मूल लक्षण-गत संस्कृत-शब्दों के ब्रजभाषा-पर्याय देने का प्रयास किया गया है, देखिए—

(१) वर्ण्येनान्यस्योपमाया अनिष्पत्तिवचश्च तत् । (१५)
प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते । (१६)

— वही 'कुवलयानन्द'

जहाँ बर्न्य सों और को उपमा बचन न होय । (६३)
कहा कछु न उपमान को यों जहँ करत बखान । (६५)

(ललितललाम)

(२) समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् । (६१)

—वही 'कुवलयानन्द'

जहँ प्रस्तुत में होत है अप्रस्तुत को ज्ञान । (१६२)

(ललितललाम)

(३) आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते । (७६)

—वही 'कुवलयानन्द'

जहँ बिरोध सो लगत है होत न साँच बिरोध । (१९४)

(ललितललाम)

(४) हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता । (७८)

—वही 'कुवलयानन्द'

थोरे हेतुनि सों जहाँ प्रकट होत है काज । (१९८)

(ललितललाम)

यहाँ संस्कृत के 'अनिष्पत्ति', 'कैमर्थ्यम्', 'परिस्फूर्ति', 'आभासत्वे' और 'असमग्रत्वे' शब्दों के लिए क्रमशः 'न होय', 'कहा कछु न', 'ज्ञान', 'सौ लगत' और 'थोरे' शब्दों का पर्याय रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्रजभाषा के ये शब्द संस्कृत के उक्त शब्दों के समान उतने व्यंजक नहीं, पर विषय को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ कहे जा सकते हैं। जहाँ ऐसे पर्यायवाची शब्द नहीं सूझे वहाँ पर संस्कृत के ब्रजभाषा में अप्रचलित शब्दों को भी ग्रहण कर लिया है ! आखिर करते भी क्या ? देखिए—

(१) चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्ति जे । (४२)

—वही 'कुवलयानन्द'

बरनत हेतु प्रसक्ति ते उपजत है जहँ काज । (१२५)

(ललितललाम)

(२) सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी । (१०३)

—वही 'कुवलयानन्द'

जहाँ क्रिया की सुकरता बरनत काज बिरोध । (२५३)

(ललितललाम)

(३) प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् । (१६५)

—वही 'कुवलयानन्द'

जहाँ प्रसिद्ध निषेध को अनुकीरतन प्रकास । (३८७)

(ललितललाम)

(४) हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते । (१६७)

—वही 'कुवलयानन्द'

जहाँ हेतुमत साथ ही कीजे साथ बखान । (३९१)

(ललितललाम)

प्रस्तुत उद्धरणों में 'प्रसक्ति', 'सौकर्य' (सुकरता), 'अनुकीर्त्तन', और 'हेतुमत' शब्दों को संस्कृत लक्षणों से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

अलंकार-विवेचन में भी मतिराम की यह विशेषता रही है कि उन्होंने संस्कृत के मूल लक्षणों का सही अनुवाद करने के अतिरिक्त इस विषय को अपने आपमें पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। और यही कारण है कि इस विषय के लिए 'कुवलयानन्द' को मुख्य आधार बना लेने पर भी वे अन्य आचार्यों का आश्रय लेते रहे हैं। पूर्णोपमा, मालोपमा, रशनोपमा, उपमेयोपमा, प्रथम प्रतीप, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा

(गुप्तोत्प्रेक्षा), प्रतिवस्तूपमा और पर्याय के लक्षणों में जब उन्होंने 'कुवलयानन्द' को अपूर्ण समझा है तो विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लिया है। इन अलंकारों में से कतिपय के लक्षण ऊपर उद्धृत किये जा चुके हैं। 'अनन्वय' और 'सहोक्ति' के लक्षणों में उन्होंने इन दोनों संस्कृत ग्रन्थों का आश्रय लिया है, यह लक्षणों से स्पष्ट ही है, देखिये—

(१) **जहाँ एक ही बात कौं उपमेयो उपमान।**
तहाँ अनन्वय कहत हैं कवि 'मतिराम' सुजान ॥५३॥
(ललितललाम)

उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वस्तुनः। (१०)
—वही 'कुवलयानन्द'

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥२६॥
—वही 'साहित्यदर्पण,' दशम परिच्छेद।

(यहाँ 'कुवलयानन्द' के लक्षण से 'वस्तुनः' शब्द को उन्होंने अपने लक्षण से इसीलिए निकाल दिया है, क्योंकि 'साहित्यदर्पण' में इसका प्रयोग नहीं हुआ।)

(२) **काज हेतु कौं छोड़ जहँ औरनि के सह भाव।**
बरनत तहाँ सहोक्ति हैं कविजन बुद्धि प्रभाव ॥१५७॥
(ललितललाम)

सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरंजनः। (५८)
—वही 'कुवलयानन्द'

यहाँ मतिराम ने 'काज हेतु कौं छोड़' पद को 'कुवलयानन्द' के लक्षण के साथ 'साहित्यदर्पण' की वृत्ति—'कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा'[१]—से संकेत ग्रहण कर जोड़ दिया है। इसी प्रकार 'दृष्टान्त' के लक्षण में वे कुवलयानन्दकार की अपेक्षा मम्मट से अधिक प्रभावित रहे हैं, देखिये—

पद समूह जुग धर्म जहँ जिमि बिम्बहि प्रतिबिम्ब।
सुकबि कहत दृष्टान्त हैं जेमन दर्पन बिम्ब ॥१४५॥
(ललितललाम)

चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। (५२)
—वही 'कुवलयानन्द'

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥१०२॥
—वही 'काव्यप्रकाश', दशम उल्लास

यहाँ दो पद समूहों के 'दो धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बत्व का कथन काव्य-प्रकाशकार से ही गृहीत है। एवं 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार में उन्होंने संस्कृत के किसी आचार्य का आश्रय न लेकर जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण' के लक्षण को ग्रहण करना उचित समझा है; देखिये—

---

१. दे० वही 'साहित्यदर्पण', दशम परिच्छेद, ५५वीं कारिका की वृत्ति।

जहँ केवल उपमान ते प्रगट होत उपमेय ।
रूपकातिशयउक्ति तहँ बरनत सुकवि अजेय ॥१११॥
(ललितललाम)

अतिशयोक्ति-रूपक जहाँ केवल ही उपमान । (७०)
(भाषा भूषण[1])

ऐसी दशा में यह कहने के लिए बाध्य होना ही पड़ता है कि उन्होंने अलंकारों के लक्षणों को स्वतः पूर्ण एवं सुबोध बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी । परन्तु आश्चर्य यहाँ इस बात का होता है कि 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार का वे सही लक्षण नहीं दे पाये । 'कुवलयानन्द' के अनुसार यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना हो[2] । किन्तु उनका लक्षण इससे सर्वथा भिन्न है—

अप्रस्तुतं प्रसंसिए प्रस्तुत लीने नाम ।
तहँ अप्रस्तुत परसंस को बरनत है 'मतिराम' ॥१७३॥
(ललितललाम)

इससे स्पष्ट ही है कि उन्होंने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का अर्थ अप्रस्तुत के वर्णन के स्थान पर इसकी प्रशंसा (स्तुति) लगा लिया है । इस भ्रामक अर्थ के दो कारण कहे जा सकते हैं : एक तो यह कि अप्पय दीक्षित ने इस अलंकार का जो लक्षण दिया है वह अपने आपमें इतना संक्षिप्त है कि जब तक इस अलंकार का लक्षण न आता हो तब तक कोई भी व्यक्ति दीक्षित की उक्त कारिका का सही अर्थ बताने में असमर्थ रहेगा । इधर साहित्यदर्पणकार ने इसका जो लक्षण दिया है वह स्पष्ट होता हुआ भी अपने आपमें इतना विस्तृत है[3] कि संक्षिप्तता की ओर प्रवृत्त इस व्यक्ति को उसे ग्रहण करने का सम्भवतः साहस नहीं हो पाया; और मम्मट का लक्षण लगभग वैसा ही है[4] जैसा कि 'कुवलयानन्द' में दिया है । दूसरे दीक्षित ने इस लक्षण के साथ जो उदाहरण दिया है, वह भी लक्षण को समझने में पूरी सहायता नहीं करता—

एकः कृती शकुन्तेषु योऽन्यं शक्रान्न याचते ॥

इससे ऐसा लगता है कि चातक की प्रशंसा की जा रही है । अभिमानी याचक की अपेक्षाकृत कम व्यंजना हो रही है । मतिराम ने अपना उदाहरण इसी के अनुरूप दिया है, देखिये –

---

१. सम्पादक श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र—तृतीय संस्करण ।

२. दे० अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् सा यत्र प्रस्तुताश्रया ।
—वही 'कुवलयानन्द', ६६वीं कारिका ।

३. वही 'साहित्यदर्पण', दशम परिच्छेद ५८, ५९ और ६०वीं कारिकाएँ ।

४. दे० अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥९८॥
—वही 'काव्य प्रकाश' दशम उल्लास ।

आननचन्द निहारि-निहारि नहीं तनु औ धन जीवन वारें।
चारु चितौनि चुभी 'मतिराम' हिए मति कों गहि ताहि निकारें॥
क्यों करि धौं मुरली मनि कुण्डल मोर-पखा बनमाल बिसारें।
ते धनि जे ब्रजराज लखें गृह-काज करें अरु लाज सँभारें॥१७४॥
(ललितललाम)

प्रस्तुत छन्द का अन्तिम चरण उक्त संस्कृत-उद्धरण से तुलना करके देखा जा सकता है। इसमें गोपियों की अप्रत्यक्ष रूप से प्रशंसा की गई है। अतएव कहा जा सकता है कि मतिराम इस भ्रामक अर्थ के लिए उतने दोषी नहीं। अस्तु !

उदाहरण—नायक-नायिका-भेद-विवेचन-सम्बन्धी उदाहरणों के समान मतिराम ने अपने अलंकारों के उदाहरण प्रायः कवित्त, सवैयों और दोहों में दिये हैं। इनकी विशेषता प्रायः यह रही है कि जिन अलंकारों के विवेचन में कवि का मन अधिक रमा है, उनके उदाहरण-स्वरूप कवित्त-सवैयों—और इनमें भी एक-साथ दो-दो को उद्धृत किया है, और जिनमें उसका मन नहीं रम पाया अथवा कम रमा है, वहाँ दोहों की रचना करके विषय को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है। किन्तु इन दोहों की रचना में कवि के मन के न रमने का परिणाम यह नहीं हुआ कि ये अपने आप में शिथिल अथवा भ्रामक हो गये हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इनमें वह स्वारस्य नहीं आ सका जो कवित्त और सवैयों में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी कतिपय दोहे अपने आपमें इतने स्पष्ट और कवित्वपूर्ण हैं कि उनमें से कुछ को उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं हो पाता—

(१) बाल रही इकटक निरखि ललित लाल मुख इन्दु।
रीझ भार अँखियाँ थकीं झलके श्रमजल बिन्दु॥११०॥

(२) औरे कछु चितवन चलनि औरै मृदु मुसकानि।
औरै कछु सुख देति है सकै न बैन बखानि॥११७॥

(३) चंचल निस उदबस रहैं करत प्रात बसि राज।
अरबिंदन में इन्दिरा सुन्दरि नैननि लाज॥१३६॥

(४) प्यौ राख्यौ परदेस तें अति अद्भुत बरसाय।
कनक कलस पानिप भरे सगुन उरोज दिखाय॥२११॥
(ललितललाम)

ये चारों दोहे क्रमशः प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, भेदकातिशयोक्ति, दीपक और विशेषोक्ति इन चार अलंकारों के उदाहरण हैं। प्रथम दोहे में नायक को देखने के कारण नायिका के शरीर पर 'स्वेद' सात्त्विक भाव की जागृति के कारण में 'रीझ' के भार की संभावना की गई है—अधिक भार से प्रायः शरीर पर पसीना आ ही जाता है। दूसरे में नायिका की चितवन और मुस्कान तथा उससे प्राप्त सुख में पूर्व और वर्तमान के भेद की व्यंजना की गई है। तीसरे में नेत्र (प्रस्तुत) और कमल (अप्रस्तुत) में एक ही धर्म—श्री (शोभा) बताया गया है, जिसका (दोनों में) रात्रि के समय ह्रास और प्रातःकाल में अभिवृद्धि होती है। अन्तिम दोहे में पानी-रूप (जल) से युक्त

कुचकुम्भों को सामने से देखकर—रति का आह्वान पाकर (कारण के होते हुए भी) नायक का परदेस-यात्रा से रुक जाने (कार्य के न होने) का वर्णन है।

अलंकार वस्तुतः ऐसी काव्योक्ति है, जिसमें शब्दार्थ का विशिष्ट प्रयोग हुआ करता है। अतएव यह अनिवार्य नहीं कि किसी भी पद्य के सम्पूर्ण भाग में कोई अलंकार विद्यमान रहे—यह उसके किसी भी अंश में रह सकता है। फिर भी इस विषय के विवेचन में विवेचक से यह आशा की ही जा सकती है कि वह ऐसी उक्ति की रचना करे जिसके प्रत्येक अंश में विवेच्य अलंकार घटता हो, क्योंकि ऐसा होने से साधारण पाठक विषय तक भली भाँति पहुँच जाता है। कहना न होगा कि इस दिशा में मतिराम का प्रयत्न अत्यन्त स्तुत्य रहा है। उनके दोहों में ही नहीं कवित्त और सवैयों जैसे अपेक्षाकृत बड़े छन्दों तक में भी आदि से अन्त तक एक ही अलंकार का चमत्कार देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए देखिये—

(१) देखत ही सबके चुरावती हैं चित्तनि कों
फेरि कं न देती यों अनीति उमड़ाई है।
कबि 'मतिराम' काम तीर हू तें तीछन।
कटाछनि की कोरें छेवि छाती में गड़ाई है।
खंजरीट कंज मीन मृगनि के नैननि की
छीनि-छीनि लेती छबि ऐसी तें लड़ाई है।
तेरी अँखियान में बिलोकी यह बड़ी बात
इते पर बड़ी-बड़ी पावती बड़ाई है ॥१८३॥

(२) मोहन को मुखचन्द अली निज नैन चकोरन को दरसावै।
लोचन भौंर गुपाल के आपने आनन बारिज बीच बसावै ॥
तोतें लहै 'मतिराम' महा छबि प्रान पियारे तें तू छबि पावै।
तौ सजनी सबके मन भावै जु सोन-से अंगनि लाल मिलावै ॥२२६॥

(ललितललाम)

ये दोनों छन्द क्रमशः 'व्याजस्तुति' और 'प्रथम सम'—अलंकारों के उदाहरण हैं। प्रथम उदाहरण के प्रथम तीन चरणों के अन्तर्गत नायिका के नेत्रों को अन्य लोगों के चित्त को चुराने और फिर न लौटने की बात, उनका अत्यन्त तीखापन एवं खंजन, कमल और मीन तथा हरिणी के नेत्रों की शोभा को लड़कर—बलात् छीनने की आदत का कथन हुआ है और अंतिम चरण में इन निन्दनीय बातों (अर्थात् चोरी करना, तीखापन और बलात् छीनना) के समाहार द्वारा उनके बड़प्पन की निन्दा की गई है। दूसरे उद्धरण के चारों चरणों में क्रमशः 'मुखचन्द' और 'नैन-चकोरों', 'लोचन-भ्रमरों' और 'आनन-सरोज', प्रियतम और प्रेयसी की पारस्परिक छबि-प्राप्ति तथा स्वर्ण (जैसे अंगों) और लाल (कृष्ण, रत्न) का अनुरूप वर्णन है। कवि चाहता तो इन दोनों ही छन्दों के एक-एक चरण में एक-एक बात का उल्लेख करके अपने कर्म को समाप्त कर देता; पर यहाँ उसने इनके किसी भी चरण को व्यर्थ नहीं जाने

दिया और प्रत्येक में विवेच्य-अलंकार का निरूपण किया है। इसी प्रकार क्रमशः 'अनन्वय' और 'तद्गुण' के उदाहरणों को भी देखा जा सकता है—

(१) सुरजन कैसी सुरजन ही में साहिबी है
भोज कैसी भोज में अकड़ अड़ भाल में।
रतनेस कैसी रतनेस में कहत 'मति'—
—राम' करतूति जोति जाके करवाल में॥
गोपीनाथ कैसी गोपीनाथ में सपूती भई,
सत्रुसाल कैसी रजपूती सत्रुसाल में।
भूमि सब देखी और काहू में न पेखी
भावसिंह कैसी भावसिंह भूमिपाल में॥५४॥

(२) हीरनि मोतिन के अवतंसनि सोने के भूषन की छवि छावै।
हार चमेली के फूलन के तिनमें रुचि चंपक की सरसावै॥
अंग के संग तें केसरि रंग की अम्बर सेत में जोति जगावै।
बाल छबीली छपाएँ छपै नहिं लाल कहो अब क्यों करि आवै॥३३२॥
(ललितललाम)

यहाँ प्रथम उद्धरण के प्रत्येक चरण में 'अनन्वय' अलंकार का एक-एक बार (प्रथम और तृतीय में दो-दो बार) निरूपण हुआ है, तथा द्वितीय के प्रथम तीन चरणों के अन्तर्गत हीरे-मोतियों, चमेली के पुष्पों और श्वेतवस्त्र का नायिका के गौर-वर्ण को ग्रहण करने के कारण उनके क्रमशः सोने के आभूषणों, चम्पा के पुष्पों तथा केसर रंग में रँगे वस्त्र के समान हो जाने के वर्णन द्वारा तीन बार 'तद्गुण 'अलंकार का स्पष्ट निरूपण किया गया है। अन्तिम चरण में कवि ने इन तीनों बातों का 'बाल छबीली छपाएँ छपै नहिं' वाक्य द्वारा समीकरण कर इसी अलंकार के प्रभाव को स्थिर बनाये रखा है।

परन्तु जैसा कि पीछे निवेदन किया जा चुका है, वे रससिद्ध कवि पहले हैं और आचार्य बाद में, इसीलिए अपने सभी उद्धरणों में वे इस विशेषता का निर्वाह नहीं कर पाये। जहाँ पर उन्हें सम्पूर्ण छन्द में अलंकार-विशेष का निरूपण करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ वहाँ अपने समकालीनों के समान छन्द के अंतिम चरण में ही उसे प्रस्तुत कर दिया है—शेष चरण अपनी प्रसंग-योजना द्वारा उसके कवित्व की अभिवृद्धि के लिए ही अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। उदाहरण के लिए—

(१) बाजत नगारे जहाँ गाजत गयन्द तहाँ
सिंह-सम कीन्हों बीर संगर बिहार हैं।
कहै 'मतिराम' कवि लोगन कों रीझि करि
दीने ते दुरद जे चुवत मद धार हैं॥
सत्रुसाल नन्द राव भावसिंह तेग त्याग
तोसे और अोनितल आज न उदार हैं।

हाथिन बिदारिबे कों हाथ है हथ्यार तेरे
बारिद बिदारिबे कों हाथिए हथ्यार हैं ॥७६॥

(२) जूथपति पैठ्यो पानी पोषत प्रबल मद
कलभ करेनु-कनि लीने संग सुख ते ।
ग्राह गह्यौ गाढ़े बैर पीछले के गाढ़े भयो
बलहीन बिकल करन दीह दुख ते ॥
कहै 'मतिराम' सुमिरत ही समीप लखे
ऐसी करतूति भई साहिब सुरुख ते ।
दोऊ बातें छूटीं गजराज की बराबर ही
पांव ग्राह-मुख ते पुकार निज मुख ते ॥१२४॥

(ललितललाम)

इन दोनों कवित्तों में क्रमशः 'परिणाम' और 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकारों का निरूपण हुआ है। दोनों के अन्तिम चरण ही चमत्कार पूर्ण हैं और उन्हीं में ये अलंकार पृथक्-पृथक् रूप से स्पष्ट हैं। पहले में जहाँ हाथों पर हथियारों के तथा हाथियों पर हथियारों के आरोप द्वारा क्रमशः हाथियों और दारिद्रय को नष्ट करने की उनमें क्षमता दिखाई गई है, वहाँ दूसरे में गज की पुकार (कारण) और ग्राह के मुख से उसके पैर के छूटने का (कार्य) एक साथ उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार—

(१) दोऊ जुरे सहजादनि के दल जानत है सगरो जग साखी ।
मारू बजै रसबीर छके बर बीरनि कित्ति बड़ी अभिलाखी ॥
नाथ-सनै करतूति करी जस जोति जगी 'मतिराम' सुभाखी ।
श्रोनित बैरिन को बरसायके राव सतारन मैं रज राखी ॥१६५॥

(२) यों दुख दै ब्रजबासिन कों ब्रज कों तजि कै मथुरा सुख पैहैं ।
वे रसकेलि बिलासनि कों बन कुंजनि की बतियाँ बिसरैहैं ॥
जोग सिखावन कों हम कों बहुर्यो तुम-से उठि धावन ऐहैं ।
ऊधो नहीं हम जानत ही मनमोहन कूबरी हाथ बिकैहैं ॥२१३॥

(ललितललाम)

यहाँ प्रथम सवैये के प्रथम तीन चरण केवल प्रसंग का निर्देश कर रहे हैं— केवल अन्तिम चरण में शत्रुओं के रक्त से रज (धूल-राजपूत धर्म) की रक्षा के कथन द्वारा 'विरोधाभास' अलंकार का चमत्कार है। दूसरे प्रथम तीन चरणों में गोपियों की पूर्व-स्मृतियों और उद्धव पर कटाक्ष हैं—जिनमें विशेष चमत्कार नहीं। केवल इसका अन्तिम चरण 'ऊधो नहीं हम जानत ही' वाक्य द्वारा 'असम्भव' अलंकार का चमत्कार प्रस्तुत करता है।

यहाँ तक तो विवेचन की दृष्टि से कुछ भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर इससे आगे कवित्व के मोह के फलस्वरूप कतिपय छन्दों में विवेच्य अलंकार के साथ दूसरा अलंकार आ गया है और उसने चमत्कार की दृष्टि से अपना प्रमुख स्थान बनाकर उदाहरण को भ्रामक बना दिया है। देखिये—

चरन धरै न भूमि बिहरै तहाँई जहाँ
फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं
करत न अंगराग कुंकुम को पंक है॥
कहै 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप मलीन होत बदन मयंक है।
कैसें वह बाल लाल बाहर बिजन आवै
बिजन-बयारि लागे लचकत लंक है॥१२१॥
(ललितललाम)

यह छन्द 'सम्बन्धातिशयोक्ति' के दूसरे भेद (असम्बन्धातिशयोक्ति—योग्य को अयोग्य कहना) के उदाहरण-रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि सुकुमारता के कारण नायिका को अयोग्य ठहराया गया है, परन्तु इस छन्द के सभी चरणों में मुख्य चमत्कार अत्युक्ति का ही है। अन्तिम चरण में इसके साथ 'बिजन' शब्द के कारण 'यमक' का भी अपना चमत्कार हो गया है। इसी प्रकार—

कोऊ नहीं बरजै 'मतिराम' रहौ तित ही जित ही मन भायो।
काहे को सौंहैं हजार करो तुम तो कबहूँ अपराध न ठायो॥
सोवन दीजै न दीजै महा दुख यौं ही कहा रसवाद बढ़ायो।
मान रह्यौई नहीं मनमोहन मानिनी होय सो मानै मनायो॥२३३॥
(ललितललाम)

यह 'तृतीयसम' अलंकार का उदाहरण है। जिस कार्य के लिए उद्यम किया जाय, वह बिना अनिष्ट के ही सिद्ध हो जाय, तब यह अलंकार होता है। नायक नायिका के मान-मोचन का प्रयत्न कर रहा है। नायिका का उत्तर है—मैं मानिनी नहीं, आप प्रयत्न व्यर्थ कर रहे हैं। इस प्रकार आपाततः कार्य की सिद्धि (बिना कष्ट के) हो गई है। परन्तु इस छन्द में मुख्य चमत्कार 'श्लेष वक्रोक्ति' का है। कारण, नायिका मानिनी है, पर दुःखी होकर नायक पर व्यंग्य कसती हुई कह रही है कि यदि मेरा मान होता (आप मेरा सम्मान करते) तो फिर काहे का रोना था—जिसका सम्मान हो वही 'मान' करेगी और उसे ही मनाना चाहिए।

इतना ही नहीं दो-चार उदाहरणों में तो विवेच्य अलंकार की वे विशेषताएँ ही नहीं आ पाईं जिनका उसके लक्षण में उल्लेख हुआ है। फलतः उदाहरण अपने आपमें अस्पष्ट तक हो गया है, देखिये—

(१) जहँ विधि प्रगट बखानिए छप्यो निषेध प्रकास।
तहँ औरौं आक्षेप कहि बरनत बुद्धि बिलास॥१६१॥

(२) जा दिन ते चलिबे की चरचा चलाई तुम
ता दिन ते वाके पियराई तन छाई है।
कवि 'मतिराम' छोड़े भूषन बसन पान
सखिन सौं खेलनि हँसनि बिसराई है॥

आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीति वाके चित
ऐसे में चलौ तौ लाल रावरी बड़ाई है ।
सोवति न रैन दिन रोवति रहति बाल
बूझें तें कहत सुधि मायके की आई है ।।१६२।।
(ललितललाम)

यह 'तृतीय' आक्षेप अलंकार का उदाहरण है। जहाँ ऐसी विधि का वर्णन हो, जिससे निषेध को छिपाया गया हो, वहाँ पर यह अलंकार होता है। नायक के परदेस-गमन का समाचार सुनकर नायिका को कष्ट होना स्वाभाविक है। परन्तु अपने रोने आदि का कारण 'मायके की सुधि का आना' बताना अपने आपमें अस्पष्ट है, क्योंकि उसके इस कथन में नायक को रोकने की भावना का तनिक भी आभास नहीं मिलता। इसी प्रकार—

जाकी खीझ भूपति भिखारी से निहारे होत ।
भूप से भिखारी जाकी रीझ पै सराह की ।
नृपति को थप्पन उथप्पन समर्थ सत्रु-
साल सुत करै करतूति चित चाह की ।
कहै 'मतिराम' फैली चहूँ चक्क आन
चहुवान कुल भानु भावसिंह नरनाह की ।
राव सरिवर उमराव कैसे पावैं पात
साह सरि पावैं बलाबन्ध पातसाह की ।।५८।।
(ललितललाम)

इसके अन्तिम चरण में 'प्रथम प्रतीप' अलंकार का निरूपण हुआ है। यह अलंकार वहाँ होता है, जहाँ प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के समान कहा जाय। मतिराम ने 'बादशाह' को उपमान मानकर राव भावसिंह के समकक्ष कहा है। पर 'बादशाह' प्रसिद्ध उपमान नहीं हो सकता—कवि परम्परा में यह कभी स्वीकार नहीं किया गया।

किन्तु इस प्रकार के दुष्ट उदाहरण उनके अलंकार-विवेचन में कुल मिलाकर डेढ़ दर्जन से अधिक नहीं हैं। साधारणतः उदाहरण अपने आपमें स्वच्छ, सरस एवं सुबोध हैं। यही कारण है कि लक्षणों में जो कुछ अभाव रह गया है, उसको इन्होंने पूरा ही नहीं किया, प्रत्युत उसे अपनी विशेषताओं के प्रकाश में छिपा भी लिया है।

मूल्यांकन

संक्षेप में मतिराम का अलंकार-विवेचन मौलिक उद्भावना की दृष्टि से अपने आपमें महत्त्व नहीं रखता। साधारणतः उन्होंने उन सभी अलंकारों का विवेचन किया है जो अप्पय दीक्षित ने अपने 'कुवलयानन्द' में ग्रहण किये हैं। इनके अतिरिक्त 'मालोपमा', 'रशनोपमा' और 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' अलंकार उन्होंने विश्वनाथ के

'साहित्यदर्पण' से लिये हैं। 'अतिशयोक्ति' के 'सम्बन्ध' और 'असम्बन्ध' नामक भेदों का 'सम्बन्ध' में अन्तर्भाव भी विश्वनाथ के आधार पर है। 'काव्यलिंग' को 'हेतु' का तीसरा भेद उन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से संकेत ग्रहण कर उसके विपरीत अपनी मौलिकता दर्शाने के लिए किया है, जबकि 'उत्तर' को 'गूढ़ोत्तर' और 'चित्र' नामक अलंकारों में 'कुवलयानन्द' से संकेत ग्रहण कर विभाजित किया है।

लक्षणों में प्रायः 'कुवलयानन्द' के लक्षणों का ही उन्होंने अनुवाद किया है। यदि उन्हें इसका कोई लक्षण नहीं जँचा तो 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाश' की सहायता ले ली है। यद्यपि संस्कृत और व्रजभाषा की प्रकृतियों में भिन्नता होने के कारण मूल-संस्कृत लक्षणों की-सी स्वच्छता और कसावट इन लक्षणों में नहीं आ पाई, पर दो-चार को छोड़ ये सभी अपने आपमें सुबोध हैं। 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के लक्षण में अवश्य ही भ्रामक तत्त्व विद्यमान है, किन्तु इसका कारण कुवलयानन्दकार का ही अस्पष्ट विवेचन है।

जहाँ तक उदाहरणों का प्रश्न है, मतिराम लक्षणों की अपेक्षा इनकी रचना में अधिक सफल हुए हैं। प्रायः उनका यह प्रयत्न रहा है कि सम्पूर्ण छन्द में विवेच्य अलंकार का ही निरूपण हो, पर यदि कहीं काव्य के स्वारस्य और कला की दृष्टि से आवश्यकता हुई है तो छन्द के अन्तिम चरण में ही उस अलंकार का निरूपण कर दिया गया है। सामान्यतः सभी उदाहरण अपने आपमें अत्यन्त स्पष्ट और सुबोध हैं। एकाध दर्जन छन्द अवश्य ऐसे हैं जो अस्पष्ट कहे जा सकते हैं, पर इनसे विशेष अन्तर इसलिए नहीं आता, क्योंकि किसी विशेष अलंकार के विवेचन में भ्रान्ति नहीं हुई। या तो इसके साथ के किसी अन्य उदाहरण ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है, या फिर यह इतना भ्रामक ही नहीं है जो विवेचन को दुष्ट कर दे ! यदि खोजकर ऐसे दो-चार छन्द प्रस्तुत भी कर दें तो कवि मतिराम पर दोष लगाना अनुचित होगा, कारण इतने विशद विवेचन में सामान्य अस्पष्टता बड़ी बात नहीं।

पिंगल-विवेचन

विवेचन का आधार—पीछे निवेदन किया जा चुका है कि लय और संगीत का जनक होने के कारण छन्द मूलतः अभिव्यक्ति के बाह्य रूप अर्थात् भाषा के साथ ही अधिक सम्बद्ध रहता है—अनुभूति के साथ इतना नहीं। संभवतः इसीलिए काव्य-शास्त्र के अनुभूति-सम्बन्धी अंगों के विवेचक आचार्यों ने इस विषय को ग्रहण नहीं किया। फिर भी इसका विवेचन उन अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन है। रस, अलंकार आदि का विवेचन जहाँ भरत के 'नाट्यशास्त्र' से—और वह भी अपूर्ण—उपलब्ध होता है, वहाँ छन्द के विभिन्न भेदों का वर्णन इनसे कहीं अधिक पूर्व पिंगलाचार्य ने अत्यन्त मनोयोग और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है[1]। ऐसी दशा में विवेचन-विस्तार के आधार पर यह कहना असंगत प्रतीत नहीं होता कि पिंगल से पूर्व भी छन्द पर कार्य हुआ होगा। परम्परा से शेषनाग को छन्दःशास्त्र का आदि

१. दे० डा० जानकीनाथसिंह 'मनोज' का अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध—'द कंट्रीब्यूशन ऑव हिन्दी पोइट्स टू प्रोसोडी'—प्रथम अध्याय।

आता कहा जाना[1] इस ओर स्पष्ट संकेत करता है, साथ में 'सांख्यायन श्रौत-सूत्र', 'निदान सूत्र' और कात्यायन की 'अनुक्रमणिकाओं' में इनके रचयिताओं का इस ओर प्रयास[2] भी उक्त संभावना की पुष्टि करता है। 'नाट्यशास्त्र' के १५वें अध्याय में नाटक के लिए उपयुक्त छन्दों की उद्भावना[3] इस विषय के विकास में भरत का योगदान कही जा सकती है। भरत के पश्चात् भामह तक तो काव्य-शास्त्र के किसी भी विषय के सम्बन्ध में कुछ उपलब्ध नहीं है और उनके बाद आचार्य लोग प्रायः काव्य-सम्प्रदायों के फेर में पड़े रहे। अतएव इस विषय पर पर्याप्त समय तक किसी भी प्रकार की प्रगति न हो सकी। वैसे कालिदास का 'श्रुतबोध' नामक छन्द-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ कहा जाता है, किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं कि यह प्रसिद्ध कालिदास का ही है, दूसरे इसका सम्बन्ध वररुचि के साथ भी जोड़ा जाता है[4]। संस्कृत साहित्य के मध्यकाल से अवश्य ही इस विषय का पुनरुत्थान हुआ और इसके फलस्वरूप संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें से 'जयदेव छन्दः' (जयदेव), 'वृत्तसमुच्चय' (विहाणक), 'रत्नमंजूषा' (अज्ञात जैन लेखक), 'सुवृत्ततिलक' (क्षेमेन्द्र), 'छन्दोनुशासन' (जयकीर्ति), 'वृत्तरत्नाकर' (केदार भट्ट), 'छन्दोनुशासन' (हेमचन्द्र) 'प्राकृतपैंगलम्', 'छन्दःकौस्तुभ', 'मंदारमरंद चम्पू' (अज्ञात लेखक), 'छन्दोमंजरी' (गंगादास) तथा 'वाणीभूषण' (दामोदर मिश्र) आज उपलब्ध हैं[5]। इन ग्रन्थों का मूल आधार यद्यपि पिंगलाचार्य का उक्त ग्रन्थ ही रहा है, किन्तु विवेचन-शैली, प्रस्तार-रीति से नवीन छन्दों की उद्भावना तथा नवीन नामों की दृष्टि से इन सबका अपना महत्त्व है। 'वृत्तरत्नाकर', 'प्राकृतपैंगलम्' और 'छन्दोनुशासन' (हेमचन्द्र), ये तीन ग्रन्थ आगे चलकर अत्यन्त प्रसिद्ध रहे। 'वृत्तरत्नाकर' पर तो मतिराम के समय तक त्रिविक्रम (संवत् १२२१ वि०), सुल्हण (संवत् १२४६ वि०), सोमचन्द्र (संवत् १३२९ वि०), रामचन्द्र बिबुध (१६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध), समयसुन्दर (संवत् १६९४ वि०), भास्कर (संवत् १७३२ वि०) और नारायण भट्ट (संवत् १७३७ वि०) की टीकाएँ लिपिबद्ध भी हो चुकी थीं[6]।

हिन्दी में रीतिकाल के अन्तर्गत ही छन्द-विवेचन पर गिने-चुने ग्रन्थ लिखे गये और इनका आधार भी किसी न किसी रूप में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

---

१. दे० डा० 'मनोज' का वही अप्रकाशित थीसिस, प्रथम अध्याय।

२. दे० 'ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर'—ले० कीथ—सन् १९५३ ई० में प्रकाशित—पृ० ४१५।

३. दे० इतिच्छन्दांसि यानीह मयोक्तानि द्विजोत्तमाः।
वृत्तान्येतेषु नाट्येऽस्मिन्प्रयोज्यानि निबोधत ॥१॥
—वही 'नाट्यशास्त्र', १५वाँ अध्याय।

४. दे० वही, 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर', पृ० ४१६।

५. दे० हरितोषमाला का 'जयदामन' (सम्पादक प्रो० एच० डी० वेलंकर)—सन् १९४९ ई० में प्रकाशित, पृ० ११५-१६।

६. दे० वही 'जयदामन', पृ० ४१-४३।

के उक्त ग्रन्थ ही रहे हैं। मतिराम से पूर्व चिन्तामणि त्रिपाठी का 'छन्द विचार' और सुखदेव मिश्र का 'वृत्त विचार'—ये दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें चिन्तामणि का ग्रन्थ अपने आपमें सामान्य है—इसमें किसी प्रकार का गम्भीर विवेचन दृष्टिगोचर नहीं होता, पुस्तक छन्द का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त लिखी गई है[1]। सुखदेव का ग्रन्थ अवश्य ही इस दृष्टि से अत्यन्त विस्तृत है तथा उसमें प्रायः छन्द के सभी अंगों पर विचार किया गया है। किन्तु इसका मूल आधार 'प्राकृत पिंगल' ही रहा है[2]। मतिराम ने अपने पूर्ववर्ती इन दो आचार्यों की अपेक्षा अधिक ग्रन्थों का आश्रय लेकर विषय को अधिक गम्भीरता के साथ ग्रहण ही नहीं किया, प्रत्युत अपनी आलोचक-दृष्टि का पर्याप्त परिचय दिया है। उसके 'छन्दसार संग्रह' का मुख्य आधार तो 'वृत्तरत्नाकर' और उसकी टीकाएँ ही कही जा सकती हैं, किन्तु इसके साथ 'प्राकृत-पैंगलम्' और 'वाणीभूषण' के अतिरिक्त 'छन्दोमंजरी' आदि अन्य ग्रन्थों का प्रभाव भी अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

छन्द की परिभाषा—छन्द वस्तुतः वर्णों अथवा मात्राओं की वह विशेष योजना है, जिसमें लय हो ! संस्कृत के अन्तर्गत छन्द के विभिन्न भेदों का अत्यन्त स्वच्छ और वैज्ञानिक विवेचन हुआ है, पर किसी भी आचार्य का ध्यान इसके लक्षण की ओर नहीं गया। इसका कारण यद्यपि अज्ञात है फिर भी शब्दकोश के आधार पर[3] यह कहा जा सकता है कि 'छन्द' शब्द को ही वे वर्णों अथवा मात्राओं के विशिष्ट विधान का द्योतक मानकर चलते होंगे। हिन्दी में भी आज दिन इस शब्द का प्रयोग इसी बात को दृष्टि में रखकर किया जाता है[4]। मतिराम ने भी सम्भवतः इसी कारण, 'छन्द' का लक्षण देना अनावश्यक समझा है।

छन्दःशास्त्र के विवेच्य अंग

'छन्दसार संग्रह' अथवा 'वृत्तकौमुदी' के पाँच प्रकाश हैं, जिनमें मतिराम ने क्रमशः गण इत्यादि, वर्णिक छन्द, मात्रिक छन्द, प्रत्यय और दण्डक छन्दों का विवेचन किया है। नीचे इन पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं।

---

१. दे० डा० जानकीनाथसिंह का वही अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, द्वितीय अध्याय।

२. दे० डा० जानकीनाथसिंह का वही अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, द्वितीय अध्याय।

३. दे० नियताक्षरपादरूपेगायत्र्यनुष्टुबादौ।

पद्यस्य लक्षणं यथा—

पद्यंचतुष्पदी तच्च वृत्तंजातिरितिद्विधा।
वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृताभवेत्।
—शब्दार्थ चिन्तामणि

४. दे० मात्रा को वा वर्ण को नियम चरन प्रति होय।
समता होय तुकान्त में छन्द कहावत सोय॥
—बिहारी भट्ट-कृत 'साहित्यसागर' (प्रथमावृत्ति), द्वितीय तरंग।

"मात्रा, वर्ण की रचना, विराम, गति का नियम और चरणान्त में समता जिस कविता में पाई जाती है, उसे 'छन्द' कहते हैं।" —वही 'छन्द प्रभाकर', पृ० १।

गण इत्यादि—गणों का वर्णन करने से पूर्व मतिराम ने सर्वप्रथम लघु-गुरु का स्वरूप और इन दोनों से सम्बद्ध नियम बताये हैं। इसके पश्चात् वे आठ गणों के क्रम, उनके स्वरूप, देवता, फल, ग्रह, गुण, पिता, जाति (वर्ण), रस, रंग, देश, पुरुषार्थ, दिशामुख, नेत्र, वाहन और प्रकृति का वर्णन करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि छन्द-विवेचन की दृष्टि से इन सब बातों का वर्णन अपने आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं, किन्तु फिर भी परम्परा से गृहीत गण-सम्बन्धी इन आस्थाओं से इस कवि के सहज विश्वास का बोध अवश्य ही हो जाता है। पृष्ठ ३१४ की सारिणी में इन सबको सरिणीगत प्रस्तुत कर दिया गया है। अस्तु !

इनमें गण-क्रम, और गण-स्वरूप तो 'वृत्तरत्नाकरकार' ने किया है, गण-देवता, गण-फल और गण-प्रकृति का वर्णन नारायण भट्ट की टीका में है। शेष का वर्णन उपलब्ध-संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के ग्रन्थों में से किसी में नहीं है। सम्भव है मतिराम ने इन्हें 'वृत्तरत्नाकर' की किसी ऐसी टीका से ग्रहण किया हो, जो आज उपलब्ध नहीं। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि उन्होंने स्वयं ही इनमें से कतिपय की उद्भावना की हो—'भानु' कवि ने कहा भी है कि इस सम्बन्ध में प्राचीन कवि एक मत नहीं हैं[1]।

गण-वर्णन के पश्चात् मतिराम ने वर्ण-फल, वर्ण-शुभाशुभज्ञान तथा उनके लिंग का वर्णन किया है। बाद में वर्णिक गणों की प्रकृति के अनुसार उनके संयोग के फल तथा मात्रिक गणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अन्त में गुरु-लघु के विभिन्न नाम भी उन्होंने दिये हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वे यथास्थान यह उल्लेख करते गए हैं कि यह वर्णन वे 'वृत्तरत्नाकर' के आधार पर कर रहे हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) करता वृत्तसमुद्र को कहिगो बरन बिचार।
ताकी मति पहिचानि इमि करो सुकबि निरधार॥
(२) वृत्तमहोदधि को मत देखि कै ये सिगरे तिय जाति बखाने॥
(३) वृत्तमहोदधि ग्रन्थ में कहे लोय निराधार॥

(छन्दसार संग्रह—प्रथम प्रकाश)[2]

किन्तु 'वृत्तरत्नाकर' के रचयिता ने इस प्रकार का कोई वर्णन नहीं किया। हाँ, नारायण भट्ट की टीका में अवश्य ही ये सब बातें उपलब्ध हो जाती हैं। अतएव कहा जा सकता है कि मतिराम 'वृत्तरत्नाकर' और उसकी किसी टीका (नारायण

---

१. दे० वही 'छन्द प्रभाकर', पृ० १०६।

२. 'वृत्तमहोदधि' और 'वृत्तसमुद्र', 'वृत्तरत्नाकर' के अनुवाद हैं। ऐसा उन्होंने इसलिए किया है, क्योंकि 'वृत्तरत्नाकर' शब्द कविता की भाषा में खप नहीं पाता

गण-क्रम	मगण	यगण	रगण	सगण	तगण	जगण	भगण	नगण
स्वरूप	SSS	ISS	SIS	IIS	SSI	ISI	SII	III
देवता	पृथ्वी	जल	अग्नि	वायु	गगन	सूर्य	चन्द्र	स्वर्ग
फल	कुशल	कंचन	भय	भ्रमण	धननाश	रोग	यश	धनवृद्धि
ग्रह	कुज	कवि (शुक्र)	शनि	बुध	राहु	रवि	चन्द्र	बृहस्पति
गुण	छन्दसार संग्रह की दोनों ही प्रतियों में दोहा पढ़ा नहीं जाता ।							
पिता	कश्यप	अत्रि	?	कौशिक	वशिष्ठ	?	गौतम	परशुराम*
रस	रौद्र	करुण	शृंगार	भयानक	?	वीर	?	?*
रंग	पीत	गौर	लाल	स्याह	पीत	लाल	गौर	सकल रंग लीन
देश	दोनों ही प्रतियों में यह छप्पय भी नहीं पढ़ा जाता ।							
पुरुषार्थ	क्लीव	स्त्री	क्लीव	पुरुष	पुरुष	पुरुष	स्त्री	स्त्री
दिशामुख	पूर्व	पूर्व	दक्षिण	पश्चिम	उत्तर	पूर्व	पश्चिम	सर्वदिशा
वाहन	कमठ	मकर	भेड़	हरिण	बैल	खरी	खरगोश	गज
नेत्र	तीन	दो	एक	दो	दो	दो	तीन	तीन
जाति	शूद्र	द्विज	द्विज	शूद्र	शद्र	क्षत्रिय	वैश्य	द्विज
प्रकृति	मित्र	दास	नीच	नीच	उदासीन	उदासीन	दास	मित्र

सूचना—यहाँ तुकान्त का उल्लेख उक्त लक्षणकारों ने इसलिए कर दिया है क्योंकि हिन्दी में प्रायः इसका दर्शन हो जाता है, अन्यथा इसे अनिवार्य नहीं कहा जा सकता । संस्कृत में तुक बहुत कम देखने को मिलती है ।

* (?) संकेत इस बात का द्योतक है कि प्रतियों में मतिराम का कथन पढ़ा नहीं जाता ।

भट्ट की टीका भी हो सकती है) को ही वे 'वृत्तरत्नाकर' की संज्ञा देते रहे हैं। इस बात से वर्णिक गणों के सम्बन्ध में हमारी उक्त सम्भावना को बल मिलता है और इसलिए कहा जा सकता है कि गण इत्यादि के वर्णन में उनकी कोई मौलिक उद्-भावना नहीं है।

वर्णिक छन्द—वर्णिक छन्दों का वर्णन मतिराम ने अत्यन्त विस्तार और मनोयोग के साथ किया है। 'छन्दसार संग्रह' की उपलब्ध दो खण्डिय प्रतियों के आधार पर इनकी कुल संख्या १४७ है। एक अक्षर से २६ अक्षरों तक के सम वर्णिक छन्द ही इनकी परिसीमा के अन्तर्गत आते हैं—अर्धसम और विषम वर्णिक छन्दों को सम्भवतः हिन्दी में अव्यावहारिक समझकर उन्होंने इनका वर्णन नहीं किया। उनके विवेच्य छन्दों में से अधिकांश का आधार 'वृत्तरत्नाकर' और उसकी किसी टीका[1] के अतिरिक्त 'प्राकृतपैंगलम्'—तथा अन्य ग्रन्थ रहे हैं, जिनमें से लक्षण ज्यों के त्यों अथवा शब्दों के नाम बदलकर रख दिये गए हैं। शेष छन्द उनका अपना आविष्कार (?) प्रतीत होते हैं। किन्तु इनमें से आधे दर्जन के लगभग छन्दों के लक्षण लिपि-कारों के अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण लेख के कारण अस्पष्ट हैं। निम्नलिखित सारिणी में मतिराम द्वारा निरूपित समस्त वर्णिक छन्दों, उनके लक्षणों, आधार-ग्रन्थों तथा परिवर्तित नामों के (सम्मुख) संस्कृत आदि ग्रन्थों में प्रचलित नाम प्रस्तुत करते हैं, देखिए—

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण[2]	आधार-ग्रन्थ[3]
१	१	श्री	गु	वृ० र० ३/१
२	२	तिय	२ गु	,, ,, ३/२ में यह 'स्त्री' है। मतिराम ने इसका अनुवाद कर दिया है।
३	३	नारी	म	,, ,, ३/३
४	३	मृगी	र	,, ,, ३/४
५	३	विनय	स	प्रा० पैं० में यह 'रमण' और छन्दो० (हेम०) में 'मदन' कहा गया है।
६	४	कन्या	म गु	वृ० र० ३/५

१. प्रो० वेलंकर ने 'जयदामन' में यह स्पष्ट कर दिया है कि कौन-कौनसे छन्द 'वृत्त-रत्नाकर' के टीकाकारों ने ग्रहण किए है अथवा छोड़ दिये हैं। हम उन सबको 'वृत्तरत्नाकर' के मानकर चले हैं, क्योंकि सम्भव है कि मतिराम के सम्मुख ऐसी कोई टीका रही हो जिसमें ये सब हों। सारिणी में इसका यथास्थान संकेत कर दिया गया है।

२. लक्षणों में हम गणों के लिए प्रत्येक के आदि का अक्षर तथा गुरु के 'गु' और लघु के लिए 'ल' का प्रयोग कर रहे हैं।

३. विभिन्न ग्रन्थों के लिए यहाँ जो वर्ण-संकेत ग्रहण किये किए हैं, वे ये हैं—

वृ० र०=वृत्तरत्नाकर; प्रा० पैं०=प्राकृत पैंगलम्; छन्दो० (हेम)=हेमचन्द्र का 'छन्दोनु-शासन'; छन्दो०=छन्दोमंजरी; प्रा० पिं० सू०=प्राकृत पिंगल सूत्राणि; वृ० र० (ना० टी०)=वृत्तरत्नाकर (नारायणी टीका); छन्दो० (जय०)=जयकीर्ति का छन्दोनुशासन; श्रु० बो०=श्रुत बोध।

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
७	४	बिम्ब	भ गु	वृ० र० में 'सुमुखी' और छन्दो० (हेम०) में 'ललिता' है। [दे० 'जयदामन']
८	४	तरणिजा	न गु	छन्दो० (हेम०) में 'मृगवधू' और छन्दो० में 'सती' है। [दे० 'जयदामन']
९	४	मदन	र ल	प्रा० पिं० में 'धारी' कहा गया है।
१०	५	पंक्ति	भ २ गु	वृ० र० ३/६
११	५	प्रगुना	स २ गु	छन्दो० (हेम०) में इसे 'सुदति' कहा गया है—२/३१।
१२	५	मंडल	भ ल गु	छन्दो० (हेम०) में इसे 'रति' कहा गया है—२/२६।
१३	५	माया	स ल गु	छन्दो० में इसे 'प्रिया' कहा गया है—२/५।
१४	६	तनुमध्या	त य	वृ० र० ३/७
१५	६	विद्युल्लेखा	२ म	,, ,, ३/९
१६	६	शशिवदना	न य	,, ,, ३/८
१७	६	वसुमती	त स	,, ,, ३/१०
१८	६	विचित्र	२ य	,, ,, (दे० जयदामन) में यह 'सोम-राजी' है।
१९	६	मालती	न र	छन्दो० (हेम०) में इसे 'शफरिका' कहा गया है—२/४३।
२०	६	संकर	स य	छन्दो० (हेम०) में इसे 'विमला' कहा गया है—२/४६।
२१	६	मंथाना	र ज	प्रा० पिं० सू० २/४६
२२	६	विजोहा	२ र	प्रा० पिं० सू० २/५१, प्रा० पै० २/५०
२३	६	मंथान	२ त	
२४	७	मधुमती	२ न गु	वृ० र० (ना० टी०)
२५	७	कुमारललिता	ज स गु	वृ० र० (ना० टी०)
२६	७	मदलेखा	म स गु	वृ० र० ३/११
२७	७	हंसमाला	स र गु	वृ० र० (ना० टी०)
२८	७	सुरुचिर	भ स गु	छन्दो० (हेम०) २/६०—'विद्युद्वक्त्रा', छन्दो० (जय०) 'मदलेखा' २/६१
२९	७	समानिका	र ज गु	प्रा० पिं० सू० २/५९, प्रा० पै० २/५८
३०	८	बोधक	त न २ गु	
३१	८	मदनमोहिनी	त य २ ल	
३२	८	किशोरललित	ज स गु ल	

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
३३	८	तुंग	२ न २ गु	प्रा० पैं० २/७२ में यह 'तुंग' कहा गया है।
३४	८	चित्रपदा	२ भ २ गु	वृ० र० ३/१२
३५	८	विद्युन्माला	२ म २ गु	,, ,, ३/१३
३६	८	माणवक	भ त ल गु	,, ,, ३/१४
३७	८	हंसरुत	म न २ गु	,, ,, ३/१५
३८	८	समानिका	र ज गु ल	,, ,, ३/१६। वृ० र० की कुछ प्रतियों में यह 'सामानी' कहा गया है ('जयदामन')।
३९	८	नगस्वरूपिणी	ज र ल गु	,, ,, ३/१७ में यह 'प्रमाणिका' है। प्रा० पिं० सू० में इसका नाम 'नगस्वरूपिणी' है। (२/७० वृत्ति)
४०	८	नाराचिका	त र ल गु	वृ० र० (ना० टी०)
४१	८	सिंहलेखा	र ज २ ल	,, ,, (दे० 'जयदमन')
४२	९	कुमुद्वती	ज र ज	
४३	९	तोमर	स ज ज	प्रा० पिं० सू० २/८७, प्रा० पैं० २/८६
४४	९	हलमुखी	र न स	वृ० र० ३/१९
४५	९	भद्रिका	र न र	,, ,, (ना० टी०)
४६	९	भुजगशिशुभृता	२ न म	,, ,, ३/२०
४७	१०	येणी	३ भ गु	प्रा० पिं० सू० २/९५—'सारवती' छन्दो० (हेम०) २/११३—'चित्रगति'।
४८	१०	अमृतगति	न ज न गु	प्रा० पिं० सू० २/९९, प्रा० पैं० २/९८
४९	१०	द्वितीय तोमर	न २ स ल	
५०	१०	संयुक्ता	स २ ज गु	प्रा० पिं० सू० २/९१, प्रा० पैं० २/९०
५१	१०	शुद्धविराट्	म स ज गु	वृ० र० ३/२१
५२	१०	पणव	म न य गु	,, ,, ३/२२ ('पणवनामकम्')
५३	१०	मयूरसारिणी	र ज र गु	,, ,, ३/२३
५४	१०	मत्ता	म भ स गु	,, ,, ३/२५
५५	१०	मनोरमा	न र ज गु	,, ,, ३/२६
५६	१०	चम्पकमाला	भ म स गु	प्रा० पिं० सू० २/९३, वृ० र० (ना० टी०) ३/२४
५७	१०	उपस्थिता	त २ ज गु	वृ० र० ३/२७
५८	११	इन्द्रवज्रा	२ त ज २ गु	,, ,, ३/२८
५९	११	उपेन्द्रवज्रा	ज त ज २ गु	,, ,, ३/२९

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
६०	११	उपजाति	इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के संयोग से	वृ० र० ३/३०
६१	११	अनुकूला	भ त न २ गु	छन्दो० (दे० 'जयदामन')
६२	११	सुवर्ण	३ त २ गु	,, (हेम८)—'लयग्राहि' २/१२९, वृ० र०—'विध्यंगमाला' (दे० 'जयदामन')
६३	११	दोधक	३ भ २ गु	वृ० र० ३/३३
६४	११	शालिनी	म २ त २ गु	,, ,, ३/३४
६५	११	स्वागता	र न भ २ गु	,, ,, ३/३९
६६	११	रथोद्धता	र न र ल गु	,, ,, ३/३८
६७	११	सुमुखी	न २ ज ल गु	,, ,,३/३२
६८	११	मौक्तिकमाला	भ त न २ गु	,, ,, ३/४३
६९	१२	इन्द्रवंशा	२ त ज र	,, ,, ३/४७
७०	१२	वंशस्थ	ज त ज र	,, ,, ३/४६
७१	१२	तोटक	४ स	,, ,, ३/४८
७२	१२	मोतियदान	४ ज	,, ,, ३/५४ ('मौक्तिकदाम')
७३	१२	भुजंगप्रयात	४ य	,, ,, ३/५५
७४	१२	स्रग्विनी	४ र	,, ,, ३/५६
७५	१२	द्रुतविलम्बित	न २ भ र	,, ,, ३/४९
७६	१२	प्रमिताक्षरा	स ज २ स	,, ,, ३/६०
७७	१२	जलधरमाला	म भ स म	,, ,, ३/६३
७८	१२	जलोद्धतगति	ज स ज स	,, ,, ३/५३
७९	१२	सुन्दरी	४ भ	प्रा० पिं० सू० २/१४१—'मोदक' 'मंदार मरंद चूंप'–'भामिनी' (दे० 'जयदामन')
८०	१२	तामरस	न २ स ज	वृ० र० ३/६८
८१	१२	कुसुमविचित्रा	न य न य	,, ,, ३/५२
८२	१२	चन्द्रवर्त्म	र न भ स	,, ,, ३/४५
८३	१२	मालती	न २ ज र	,, ,, ३/६६
८४	१३	मंजुभाषिणी	स ज स ज गु	,, ,, ३/७४
८५	१३	मत्तमयूर	म त य स गु	,, ,, ३/७२
८६	१३	पंकजवाटिका	भ न २ ज ल	प्रा० पिं० सू० २/१६५ में 'पंकावली' है।
८७	१३	तारक	४ स गु	प्रा० पिं० सू० २/१६१
८८	१३	कलहंस	स ज २ स गु	प्रा० पिं० सू० २/१७३, छन्दो० (दे० 'जयदामन')
८९	१४	वसंततिलका	त भ २ ज २ गु	वृ० र० ३/७९

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
९०	१४	प्रहरणकालिका	२ न भ न ल गु	वृ र० ३/७८
९१	१४	इन्द्रवदन	भ ज स न २ गु	,, ,, ३/८२
९२	१५	मणिनिकर	३ न स	प्रा० पिं० सू० २/११८ में यह 'मणिगुण' है। (दे० वृत्ति)
९३	१५	मालिनी	२ न म २ य	वृ० र० ३/८७
९४	१५	नृपनिर्मीता	लक्षण और उदाहरण पढ़े नहीं जाते।	
९५	१५	विशेषक	५ भ	
९६	१६	ब्रह्मरूपक	र ज र ज र ल (?)	
९७	१६	पंचचामर	ज र ज र ज गु	,, र० (ना० टी०)
९८	१७	शिखरिणी	य म न स भ ल गु	वृ० र० ३/९३
९९	१७	मन्दाक्रान्ता	म भ न २ त २ गु	,, ,, ३/९७
१००	१७	पृथ्वी	ज स ज स य ल गु	,, ,, ३/९४
१०१	१७	हरिणी	न स म र स ल गु	,, ,, ३/९६
१०२	१७	नर्कुटक	न ज भ २ ज ल गु (७, ८ पर यति)	,, ,, ३/९८
१०३	१७	वंशपत्रपतित	भ र न भ न ल (गु) (१०, ७ पर यति)	,, ,, ३/९५
१०४	१७	रूपमाला	र स २ ज भ गु ल	
१०५	१८	मत्तकोकिला	र स २ ज भ र	प्रा० पिं० सू० और वृ० र० (ना० टी०) में यह 'चर्चरी' कहा गया है।
१०६	१८	उत्साह	न भ २ स ज न (?)	
१०७	१८	विमला	३ न र ज र	
१०८	१८	अमृतध्वनि	लक्षण और उदाहरण दोनों ही अस्पष्ट।	
१०९	१८	महाकाली	लक्षण और उदाहरण दोनों ही अस्पष्ट।	
११०	१९	मूलमणि	स ज ज भ र स ल	
१११	१९	करुणा	६ भ गु	

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
११२	१९	शार्दूलविक्रीडित	म स ज स २त गु	वृ० र० ३/१०१
११३	२०	गीतिका	स २ज भ र स ल गु	प्रा० पिं० सू० २/२५३
११४	२०	राज	त न ज २भ न गु ल	
११५	२०	भावक्रीडित	स भ र न म य गु ल १३ पर यति	छन्दो० (हेम०) में अंत में लघु गुरु बताकर (१३, ७ पर यति) इसे 'मत्तेभ-विक्रीडित' कहा गया है। छन्दो०—२/३३६
११६	२०	उत्पलमाला	भ र न २भ र ल गु	छन्दो० (जय०) २/२३४
११७	२१	धर्म	भ स न ज न म स (?)	
११८	२१	स्रग्धरा	म र भ न ३य (७ पर यति)	वृ० र० ३/१०४
११९	२१	चम्पकमालिका	न ज भ ३ज र	छन्दो० (जय०) २/२३९
१२०	२१	कनकमाला	र न र न र न र	छन्दो० (हेम०)—'तरंग' २/३५२, छन्दो० (जय०) 'तरंगमालिका' २/२४२
१२१	२२	भुजंगद्वित	त भ य ज स र न गु	'मंदरमरंद चम्पू' में यह 'मेत्तम' कहा गया है। (दे० 'जयदामन')
१२२	२२	मानिनी	७भ गु	वृ० र० (ना० टी०) में यह 'मदिरा' कहा गया है।
१२३	२२	तुरंग	त भ य ज स र न गु (?)	
१२४	२२	कमल	७न गु	
१२५	२३	विजय	७भ २गु	
१२६	२३	वसुधा	७भ गु ल	
१२७	२३	सुधा	७ज ल गु	
१२८	२३	मयूर	७ज २ गु	
१२९	२३	चिरंजित	न६ज ल गु	
१३०	२४	कमल	८भ	प्रा० पिं० सू० (२/२७९) में यह 'किरीट' कहा गया है।
१३१	२४	माधव	८ज ('मौक्तिकदाम' का दुगुना)	
१३२	२४	चन्द्रकला	८स	
१३३	२४	संमरी (मंजरी)	७भ स	

क्रम सं०	वर्ण सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
१३४	२४	कुमुद	७स य	
१३५	२४	मकरंद	७ज य	
१३६	२४	क्रौंचपद	भ म स भ ३ न य	छन्दो० (जय०) २/२५५ में (५, ५, ८) की यति पर यह 'हंसपद' कहा गया है।
१३७	२४	गंगोदक	८र	
१३८	२४	भुजंगभूषण	८य	
१३९	२५	मदनमनोहर	८स गु	
१४०	२५	मदिरा	८स ल	
१४१	२५	विजया	८ज ल	
१४२	२५	मोहन	८ज गु	
१४३	२५	भास्करविलासिनी	भ न ज य भ न न स गु	
१४४	२६	मंगलमहाश्री	भ ज स न भ ज स न २गु	"
१४५	२६	हर (हार)	८स २ल	
१४६	२६	मधुमाधवी	८स ल गु	"
१४७	२६	लक्षण और उदाहरण दोनों ही अस्पष्ट हैं।		

इससे स्पष्ट ही है कि तीन दर्जन के लगभग ऐसे छन्द हैं, जिनका आयतन उपलब्ध छन्दःशास्त्र के संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत-ग्रन्थों में से किसी का भी उल्लेख नहीं हुआ। ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी में ही इनका आविष्कार हुआ। पर मतिराम ने ही किया यह तब तक निश्चय के साथ नहीं कह सकते जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि उनसे पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने इनकी उद्भावना नहीं की। फिर भी इनमें से यदि थोड़े से भी उनके द्वारा उद्भूत हुए हैं तो उसके लिए वे श्रेय के पात्र हैं।

मात्रिक छन्द—मात्रिक छन्दों की संख्या वर्णिक छन्दों की अपेक्षा कहीं कम है। कैप्टेन शूरवीरसिंह से प्राप्त प्रति के आधार पर सम, अर्धसम और विषम मात्रिक छन्दों की कुल संख्या ५५ ही है। इनमें भी लिपि की अशुद्धि के कारण कतिपय के नाम और कतिपय के लक्षण तक स्पष्ट नहीं हैं। मतिराम ने विवेचन के प्रसंग में कहा है कि वे एक से लेकर ३२ मात्राओं तक के सम मात्रिक छन्दों का वर्णन कर चुके हैं[1], किन्तु प्रति में १७ से २१ मात्राओं के छन्दों में से किसी का नाम तक

---

१. दे० इक ते बत्तिस मत्त लौं क्रम कै धरे बिचारि।
अब अनुपम कहत कछु प्रत्यादिक निराधारि॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

नहीं मिलता और शेष में १, २ और ६ मात्राओं के तीनों छन्दों के नाम स्पष्ट नहीं—अभीर, घत्तानन्द और मुखचपला के लक्षण अपूर्ण ही हैं। वर्णिक छन्दों के समान इन छन्दों का मूल आधार 'वृत्तरत्नाकर' और उसकी किसी टीका के अतिरिक्त 'प्राकृत पैंगलम' ही रहे हैं। साथ में बरवै आदि छन्द जो तत्कालीन कवियों में प्रसिद्ध थे, उनके लक्षणों की भी रचना की गई है। मतिराम के विवेच्य मात्रिक छन्दों के लक्षणों तथा आधार-ग्रन्थों की सारिणी नीचे देते हैं, देखिए—

सम-मात्रिक छन्द

क्रम सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
१	?	एक मात्रा	
२	?	दो मात्राएँ	
३	बिलोचन	तीन मात्राएँ	
४	द्विजराज	चार मात्राएँ	प्रा० पैं० १/१७ में यह 'विप्र' कहा गया है।
५	बाण	पाँच मात्राएँ	
६	रस	छः मात्राएँ	
७	सिंधु	सात मात्राएँ	
८	मधुभार	आठ मात्राएँ अंत में ल गु ल	प्रा० पैं० १/१७५
९	तमामिनी(?)	नौ मात्राएँ	
१०	दीपक	दस मात्राएँ ज, त, न में से कोई अन्त में	,, ,, १/१८१
११	अभीर	ग्यारह मात्राएं—प्रति में लक्षण अपूर्ण है।	,, ,, १/१७७
१२	पूषा	बारह मात्राएँ	
१३	गुंजरी	तेरह मात्राएँ	
१४	हाकलि	चौदह मात्राएँ, १२ के बाद गुरु १-२ चरणों में ११-११ और ३-४ में १०-१० वर्ण होते हैं।	प्रा० पैं० १/१७३
१५	चौपई	पन्द्रह मात्राएँ	
१६	पज्झटिका	सोलह मात्राएँ, ८ पर यति और अन्त में गु होता है।	प्रा० पैं० १/१२५
१७	अरिल्ल	सोलह मात्राएँ, अन्त में ज।	,, ,, १/१२७
१८	सिंहविलोकनि	सोलह मात्राएँ, २ल गु के क्रम से अक्षर चलते हैं।	,, ,, १/१८४
१९	पादाकुलक	सोलह मात्राएँ, अन्त में गुरु।	,, ,, १/१२९
२०	रवनी	२२ मात्राएँ, ११-११ पर यति अन्त में र।	
२१	अमृत	२३ मात्राएँ, ६, ६ ११ पर यति अन्त में र।	

क्रम सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
२२	रोला	२४ मात्राएँ, ११ पर यति।	प्रा० पैं० १/९१
२३	रमनव	२५ मात्राएँ, ११ पर यति।	
२४	रेवती	२६ मात्राएँ, १६-१० पर यति, अंत में गु।	
२५	राजनि	२७ मात्राएँ, १६ पर यति अंत में गु ल।	
२६	हरिगीता	२८ मात्राएँ, अमृत छन्द (२३ मात्राएँ) अंत में और आदि में २ ल रखने से बनता है। १४-१४ पर यति।	प्रा० पैं० १/१९१-१९२
२७	मरहठा	२९ मात्राएँ, १०,८,११ पर यति।	प्रा० पैं० १/२०८
२८	चवपैया	३० मात्राएँ, अंत में गु; तीन यतियाँ।	,, ,, १/९७
२९	निशत सवैया	३१ मात्राएँ अंत में र।	
३०	वीर	३१ मात्राएँ, १६, १५ पर यति।	
३१	समान सवैया	३२ मात्राएँ—गु ल के क्रम से।	
३२	शोभत सवैया	३२ मात्राएँ—अंत में य (?)।	
३३	शोभन सवैया	मधुभार के तीन चरण और अंत में ४ गु के क्रम से ३२ मात्राएँ।	
३४	जनहरण	३२ मात्राएँ—३० ल और अंत में गु ८,८,८,८ पर यति।	,, ,, १/२०२-२०३
३५	मनहरन	३२ मात्राएँ, १८,१४ पर यति। सर्व ल अंतिम गु।	

अर्द्धसम और विषम मात्रिक छन्द तथा दण्डक

३६	आर्या	१-३ चरणों में १२-१२, दूसरे में १८ और चौथे में १५ मात्राएँ होती हैं।	श्रु० बो० प्रा० पैं० १/७८
३७	दोहा	१-३ चरणों में १३-१३ मात्राएँ और २-४ चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं।	
३८	सोरठा	दोहे का उलटा—दोहे के सम चरण विषम चरण के स्थान पर और विषम सम के स्थान पर होते हैं।	प्रा० पैं० १/१७०
३९	चुलियाला	दोहे के दोनों दलों के अंत में ५-५ मात्राएँ रखने से बनता है।	प्रा० पैं १/१६७
४०	बरवै	विषम चरणों में १२-१२ मात्राएँ और सम चरणों में ७-७ होती हैं।	तत्कालीन कवियों में प्रचलित

क्रम सं०	छन्द का नाम	लक्षण	आधार-ग्रन्थ
४१	घत्ता	एक दल में ३१ मात्राएँ, १८, १३ पर यति ।	प्रा० पै० १/९९
४२	घत्तानन्द	प्रति में लक्षण अधूरा ही है ।	,, ,, १/१०२ ही इसका आधार रहा होगा ।
४३	उल्लाल	प्रथम चरण में १५ मात्राएँ और द्वितीय में १३ मात्राएँ	,, ,, १/११८
४४	श्लोक	पाँचवाँ वर्ण लघु, छठा गुरु ; सातवाँ लघु ।	
४५	विपुला	इसके प्रथम और दूसरे—दोनों चरणों में चतुर्मात्रा वाले तीन गणों से अधिक मात्राएँ हों ।	वृ० र० २/४
४६	चपला	इसके दोनों दलों के दूसरे और चौथे स्थानों पर अवस्थित जगण के दोनों ओर गुरु होते हैं ।	,, ,, २/५
४७	मुखचपला	प्रति में लक्षण अधूरा है ।	इसका आधार भी वृ० र० २/६ प्रतीत होता है
४८	जघनचपला	इसके उत्तरार्द्ध में चपला के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं—पूर्वार्द्ध में नहीं होते ।	वृ० र० २/७
४९	गीति	आर्या के पूर्वार्द्ध के समान इसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध होते हैं ।	,, ,, २/८
५०	उपगीति	आर्या के उत्तरार्द्ध के समान इसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध होते हैं ।	,, ,, २/९
५१	आर्यागीति	आर्या के पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त १ गु और जोड़कर इसके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की रचना होती है ।	,, ,, २/११
५२	झूलना	१०, १०, १० और ७ मात्राओं पर ३७ मात्राओं के विश्राम से ३७ मात्राएँ और अंत में य ।	प्रा० पै० १/१५६
५३	मैनहार (मदनगृह)	त्रिभंगी छन्द (३२ मात्राएँ—१० ८, ८, ६) के पश्चात् ६ मात्राएँ और १ गु ।	,, ,, १/२०५-२०६
५४	कुण्डलिया	आदि में दोहा फिर रोला के चार पद । आदि और अंत एक जैसा होता है ।	,, ,, १/१४६
५५	छप्पय	प्रथम चार चरणों में ११-११ पर यति के क्रम से २४-२४ मात्राएँ अंतिम दो में २८-२८ मात्राएँ होती हैं ।	,, ,, १/१०५

इससे स्पष्ट ही है कि उक्त ५५ मात्रिक छन्दों में से आधे से अधिक ऐसे हैं, जो संस्कृत और प्राकृत के छन्द-विवेचन-सम्बन्धी ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाते हैं। २ मात्रा से ६ मात्रा तक के छन्दों का विवेचन 'प्राकृत पैंगलम्' के रचयिता ने यद्यपि नहीं किया, तथापि प्रस्तार-रीति से उनके लक्षणों और नामों का उल्लेख अवश्य ही कर दिया है। मतिराम ने अपने मात्रिक छन्दों के विवेचन को पूर्ण बनाने के लिए प्रत्येक जाति से एक-एक छन्द को ग्रहण कर नवीन नाम सहित प्रस्तुत कर दिया है। उनका 'विप्र' नामक छन्द को 'द्विजराज' संज्ञा से अभिहित करना इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। शेष छन्दों में से कितने उनकी अपनी उद्भावना हैं, इस सम्बन्ध में तब तक किसी प्रकार का निर्णय नहीं दिया जा सकता, जब तक यह निश्चय न हो जाय कि उनके पूर्ववर्ती किसी छन्दःशास्त्रकार ने तो इसका विवेचन नहीं किया।

प्रत्यय—संस्कृत-छन्दःशास्त्र के अन्तर्गत 'प्रत्यय' के छः भेद कहे गये हैं—१. प्रस्तार, २. नष्ट, ३. उद्दिष्ट, ४. एकद्वयादिलगक्रिया, ५. संख्या और ६. अध्वयोग[1]। इनमें भी आगे 'अध्वयोग' के तीन अंग हो गये हैं—मेरु, पताका और मर्कटी। मतिराम ने वर्ण और मात्रा—दोनों ही की दृष्टि से इन सबका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है और इसका मूल आधार छन्द-विवेचन के समान ही 'वृत्तरत्नाकर' तथा उसकी कोई टीका प्रतीत होती है, कारण मात्रा-मेरु का उदाहरण तो नारायणी टीका की प्रतिलिपि मात्र है। इधर 'वाणीभूषण' के इस श्लोक—'अंकमुद्दिष्टवद्दत्त्वा शेषे पूर्वान्निपासयेत्। एकैरेकगुरु ज्ञेयं द्वयं द्वाध्यां त्रिभिस्त्रयम्।' (१।३९)—का प्रस्तुत प्रकरण में उद्धृत होना इस धारणा को भी बल देता है कि उन्होंने इस कृशकाय-पुस्तिका का भी उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त भी यदि और कोई ग्रन्थ उन्होंने इस प्रसंग के लिए आधार बनाया हो आश्चर्य नहीं।

दण्डक—संस्कृत-छन्दःशास्त्र में जिन दण्डक छन्दों का वर्णन किया गया है, मतिराम ने उनको संभवतः हिन्दी-भाषा में अप्रचलित देखकर ही ग्रहण नहीं किया। 'छन्दसार संग्रह' के अन्तिम प्रकाश में तत्कालीन ब्रजभाषा कवियों में लोकप्रिय 'अनंगशेखर', 'घनाक्षरी' और 'रूपघनाक्षरी'— इन तीन छन्दों के लक्षण और उदाहरण ही देकर उन्होंने इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है।

विवेचन

लक्षण—काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विवेचन की दृष्टि से छन्द का विषय जितना प्राविधिक होता है, उतना और कोई अंग नहीं। साधारणतः यति और गुरु-लघु के क्रम का सामान्य-सा अन्तर छन्द को दूसरी संज्ञा दे डालता है। यही कारण है कि इस विषय के लक्षणों में अपेक्षाकृत कसावट और स्वच्छता की आवश्यकता अधिक

---

१. दे० प्रस्तारो नष्टमुद्दिष्टमेकद्वयादिलगक्रिया।
संख्यानमध्वयोगश्च षडेते प्रत्ययाः स्मृताः॥
'वृत्तरत्नाकर', ६।१
(चौखम्बा संस्कृत सिरीज द्वारा प्रकाशित—द्वितीयावृत्ति)

रहती है। विवेचक अपनी ओर से इनमें कुछ नहीं जोड़ सकता। शृंगार रस, नायक-नायिका-भेद और अलंकारों के विवेचन में मतिराम ने अपने लक्षण दोहों में ही दिये थे, पर यहाँ इससे काम न चल सका। इसीलिए एक छन्द के लिए एक से अधिक दोहों की रचना कर लेने पर भी उन्हें कभी-कभी छप्पय और चौपाई का आश्रय लेना पड़ा—प्रथम प्रकाश में उन्होंने एक सवैया भी लक्षण-सम्बन्धी दिया है। किन्तु पूर्वोक्त विषयों के लक्षणों के समान इनमें भी प्रायः एक-दो चरण भरती के शब्दों के कारण विवेचन की दृष्टि से महत्त्वहीन हो गये हैं—शब्दावली में केवल इतना ही अन्तर है कि कवि के नाम के स्थान पर यहाँ आश्रयदाता के नाम का समावेश करने का प्रयास रहा है। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) सूर अनल रजनीस विषम सिव लोचन सज्जिय।
तित प्रगटत गुरु तीनि सकल मिलि मगन उपज्जिय॥
बहुरि यगन रसतगन जगन अरु भगन नगन पुनि।
क्रम यहि अष्ट बिचारि एक तहँ एक उवित गुनि॥
नृपसिंह सरूप सुजान सुनि बड़ी सरस सेसहस करिय॥
तुव किति विमल कविकुल बरनि सुछंद वृन्द भूतल भरिय॥
(छन्दसार संग्रह—प्रथम प्रकाश)

(२) एक रगन जा चरन में मृगी वृत्त सो जान।
नृप मनि सिंघ सरूप इमि लीजो पद पहिचान॥

(३) मगन जुगल जा चरन में विद्युल्लेखा सोइ।
नृपमनि सिंघ सरूप इमि कहैं सुमति कवि लोइ॥
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

यहाँ प्रथम उद्धरण के प्रथम, पंचम और षष्ठ चरणों से तथा द्वितीय और तृतीय उद्धरणों के अन्तिम दो चरणों से यह स्पष्ट ही है कि विवेचन की दृष्टि से इनका अपने आपमें कोई महत्त्व नहीं। किन्तु ऐसा प्रायः वहाँ पर ही हुआ है, जहाँ छन्द-विशेष का लक्षण अपेक्षाकृत संक्षिप्त है।

फिर भी, सामान्य रूप से प्रस्तुत विषय सम्बन्धी उनके लक्षण ऐसे हैं जिनमें स्वच्छता है, और इसका मूल-रहस्य है मतिराम का यथासंभव संस्कृत और प्राकृत लक्षणों का अनुवाद करने का प्रयत्न। उदाहरण के लिए देखिए—

(१) मगन मानि गुरु तीनि यगन लघु आदि बखानिय।
रगन मध्य लघ संचि सगन गुरु अंतहि जानिय॥
तगन छोर लघु जगन मध्य गुरु सहित प्र अन्तर।
भगन प्रथम गुरु दीप्ति नगन लघु सकल निरन्तर॥
गन अष्ट सरूप सुजान सुनि इमि छन्द बन्द ग्रन्थन भरिय।
तव किति विदित अवलम्ब सोइ प्रीति भीति सुरपुर बढ़िय॥
(छन्दसार संग्रह—प्रथम प्रकाश)

सर्वगुर्मो मुखान्तर्लो यरावन्तगलौ सतौ ।
ग्मध्य द्यो ज्भयौ त्रिलो नोऽष्टौ भवन्त्यत्र गणस्त्रिकाः ॥७॥
—वही 'वृत्तरत्नाकर'—प्रथम अध्याय

(२) मगन सगन के अन्त ज स त युग फिरि गुरु एक ।
सारदूल विक्रीड़ितै रवि हय विरति विवेक ॥
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगु रुः शार्दूलविक्रीडितम् ॥१०१॥
—वही 'वृत्तरत्नाकर'—तृतीय अध्याय

(३) आर्या पूरब अर्ध ज्यों अन्त एक गुरु आनि ।
त्यों ही उत्तर अर्ध सों आर्यागीति प्रमानि ॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय अध्याय)

आर्यापूर्वार्धं यदि गुरुणैकेनाधिकेन निधनेयुक्तम् ।
इतरत्तद्वन्निखिलं भवति यदीयमर्द्धमुदितार्यागीतिः ॥११॥
—वही 'वृत्तरत्नाकर'—द्वितीय अध्याय ।

(४) तेरह मत्ता प्रथम अरु दूजे ग्यारह ठान ।
यहि विधि द्वै दल कीजिये दोहा लक्षण जान ॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

तेरह मत्ता पढम पअ पुण ए आरह देह ।
पुण तेरह एआरहहि दोहा लक्खण एह ॥७८॥
—वही 'प्राकृत पैंगलम्'—प्रथम परिच्छेद ।

(५) द्वादस भयो कल अन्त गुरु इमि चौदह कल पार ।
दुहुँ दल ग्यारह दस बरन पग-पग हाकलि गार ॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

मत्त चउद्दह पअ पअह एग्गारह वण्णेहि ।
दह अक्खर उत्तरदलहि हाकलिछन्द कहेहि ॥१७२॥
—वही 'प्राकृत पैंगलम्'—प्रथम परिच्छेद ।

(६) सोलह कल पद दीजियै आठ कला विस्राम ।
नियत पयोधर अन्त धरि तेहि पज्झटिका नाम ॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

चउमत्त करह गण चारि ठाँइ ।
ठवि अन्त पओहर पाँइ पाँइ ।
चउसट्ठि मत्त पज्झलइ इम्बु ।
सम चारि पाअ पज्झटिअ छन्द ॥१२५॥
—वही 'प्राकृत पैंगलम्'—प्रथम परिच्छेद ।

(७) द्वै द्वै कोठे सम करि राखो।
कहइ इक अंक अंक तन भाखो ॥
इक द्वै इक तिय इक चौ पेखो।
आदि क्रमै इहि भाँति बिसेखो ॥
तिरछे बिषम सुधारि सम भरिये।
यहि विधि कला मेरु गति धरिये ॥
(छन्दसार संग्रह—चतुर्थ प्रकाश)

द्वयं द्वयं समं कोष्ठं कृत्वान्त्येष्वेकमर्पयेत्।
एक द्विकत्रिकचतुः क्रमेण प्रथमेष्वपि ॥३७॥
शीर्षांकाप्तपरांकाभ्यां शेषकोष्ठान्प्रपूरयेत।
—'वाणी भूषण'[1]—प्रथम परिच्छेद

इस प्रकार के लक्षणों में संस्कृत-प्राकृत शब्दावली का अनुवाद—या फिर इनके शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण करने का प्रयास किया गया है। किन्तु इनके साथ ऐसे भी लक्षण पर्याप्त संख्या में हैं, जिनमें लक्षणकार ने आधार-ग्रन्थों के लक्षणों का सार मात्र देने का प्रयत्न किया है। ऐसे लक्षण मूल लक्षणों की अपेक्षा अधिक सुबोध हैं, यही उनकी विशेषता है। उदाहरण के लिए देखिये—

(१) म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥१०४॥
—वही 'वृत्तरत्नाकर'—तृतीय अध्याय

मगन रगन भगन धरि एक नगन फिरि आनि।
यगन, तीनि जति सात पर स्रग्धरा छन्द सो जानि ॥
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

(इसमें 'त्रिमुनियति' के लिए 'तीन जति सात पर' का प्रयोग किया गया है।)

(२) एहु छन्द सुलक्खण भणइ बिअक्खण जंपइ पिंगलणाउ।
बिसमइ दह अक्खर पुणु अट्ठक्खर पुणुएगारह ठाउ ॥
गण आइहि छक्कलु पंच चउक्कलु अंत गुरु लहू बेहु।
सउ सोलह अग्गल मत्त समग्गल भण मरहट्ठा एहु ॥२०८॥
—वही 'प्राकृत पैंगलम्'—प्रथम परिच्छेद।

दस मत्ता जति आठ पुनि फिरि ग्यारह बलवंत।
उनतिस कल मरहठा पग पिंगल प्रगट कहंत ॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

(यहाँ केवल मात्राओं की संख्या और यति क्रम का ही उल्लेख किया गया है, 'प्राकृत पैंगलम्' के रचयिता ने जो मात्रिक गणों एवं गुरु-लघु सम्बन्धी बन्धनों का उल्लेख किया है, उसको लक्षणकार ने ग्रहण नहीं किया।)

---

१. 'काव्यमाला सिरीज' का सन् १९०३ ई० का संस्करण।

(२) पढम होइ चउबीस मत्त अन्तर गुरु जुत्ते
पिंगल होति सेस णाअ तरिण्ह रोला उत्ते ।
एग्गारहा हारा रोला छन्दो जुज्जइ
एक्के एक्के टुट्टइ अण्णो अण्णो बढ्ढई ॥९१॥

—वही 'प्राकृत पैंगलम्'—प्रथम परिच्छेद ।

चौबिस कल इक चरन मैं ग्यारह मैं जति जानु ।
सोई रोला मानिये सोइ सुबुद्धि बखानि ॥

(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

(यहाँ पर भी सामान्य बात कही गई है, 'प्राकृत पैंगलम्' के लक्षण की सभी बातों को ग्रहण नहीं किया गया ।)

परन्तु सुबोधता के प्रति उनका यह आग्रह सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होता । एक-दो लक्षण उन्होने ऐसे भी दिये हैं, जो संस्कृत-प्राकृत के मूल लक्षणों की अपेक्षा कम बोधगम्य हैं । इनमें उन्होंने प्राय: संख्याओं के सूचक शब्दों का प्रयोग किया है, जबकि मूल-लक्षणों में स्पष्टत: संख्याओं का ही उल्लेख हुआ है । उदाहरण के लिए—

बसु बसु बसु राखि जति मेरु चित्त तहँ अन्त ।
बत्तिस कल इमि चरन मैं है जनहरन सो सन्त ॥

(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

बत्तिस होइ मत्ता अन्ते सगणाइ ठावेहि ।
सब्ब लहू जइ गुरुआ एक्को वा बेबि पाएहि ॥२०३॥

—वही 'प्राकृत पैंगलम्'—प्रथम परिच्छेद ।

'प्राकृत पैंगलम्' के रचयिता ने १६, १६ पर यति कही है, जबकि मतिराम इससे आगे ८, ८ और ८ पर यति मानते हैं । इसके लिए उन्होंने 'वस्तु' (=आठ) का तीन बार प्रयोग किया है । 'गुरु' शब्द को ज्यों का त्यों ग्रहण न कर इसके लिए 'मेरु' शब्द का प्रयोग किया है । अब यदि तुलना करके देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि दोनों लक्षणों में मतिराम का लक्षण अपेक्षाकृत कम बोधगम्य है । इसी प्रकार—

द्वादस पहिले तीसरे दूजे दस बसुमन्त ।
पन्द्रह चौथे चरन मैं सुनो आरजा सन्त ॥

(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पंचदश सार्या ॥४॥

—श्रुतबोध[1]

१. 'चौखम्बा संस्कृत सिरीज' का छठा संस्करण ।

यहाँ पर 'दस वसु' की अपेक्षा 'अष्टदश' का प्रयोग अधिक बोधगम्य है। किन्तु इस अस्पष्टता के लिए उन्हें अधिक दोषी न ठहराना चाहिए, कारण ऐसा उन्होंने पाठक को चमत्कृत करने के लिए नहीं किया—चमत्कार ही यदि उनका उद्देश्य होता तो सब में उसका प्रदर्शन करते दो-चार लक्षणों में नहीं। वास्तव में इन शब्दों का प्रयोग उन्हें तभी करना पड़ा है, जबकि संख्यावाची शब्द उनके लक्षण सम्बन्धी दोहों में नहीं समा पाये। दूसरे संस्कृत के आचार्यों ने इनका निषेध भी नहीं किया।

संस्कृत-प्राकृत-लक्षणों से अनूदित तथा उनके आशयरूप में गृहीत लक्षणों के अतिरिक्त मतिराम ने कतिपय छन्दों के लक्षण गण अथवा मात्राओं की गणना के स्थान पर छन्दों की सहायता से दिये हैं, जैसे—

अमृत अन्त लघु आदि द्वै मधि करि संभरि पाउ।
अट्ठाइस कल चरन में हरिगीता गुन गाउ॥

(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

यहाँ 'हरिगीता' छन्द का लक्षण 'प्राकृत पैंगलम्' के अनुसार न देकर लक्षणकार ने आदि में दो लघु और अन्त में 'अमृत' छन्द रखकर २८ मात्राएँ बनाने तथा मध्य में यति लगाकर बनाया है। अमृत छन्द का लक्षण क्या है, यह वह पहले ही बता चुका है—

षष्ठ कला बीराम विधि तीजे ग्यारह जानु।
सब तेइस कल ही रगन अन्त अमृत तहँ आनु॥

(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

अर्थात् इस छन्द में कुल २३ मात्राएँ होती हैं और ६, ६, ११ पर यति तथा अन्त में रगण होता है। अतएव आरम्भ में दो लघु रखकर भी 'हरिगीता' की २८ मात्राएँ पूर्ण नहीं होती। इसके लिए मतिराम ने यद्यपि कोई संकेत नहीं दिया, तथापि उनके इस कथन से कि इस क्रम से २८ मात्राएँ हो जाती हैं, यह सहज ही अनुमान हो जाता है कि आदि के दो लघु और अन्त में अमृत छन्द के मध्य में किसी भी प्रकार की तीन मात्राएँ रखी जा सकती हैं। इसी प्रकार—

पंचचामरै दुगुन करि बढ़ै चरन जहँ होइ।
सो अनंग सेखर बरनि कहत सुमति सब कोइ॥

(छन्दसार संग्रह—पंचम प्रकाश)

यहाँ 'अनंगशेखर' नामक दण्डक को 'पंचचामर' का दुगुना कहा है। अर्थात् जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और एक गुरु[1] को पुनः इसी क्रम में रखने से ३२ अक्षरों का 'अनंगशेखर' छन्द बनता है। कहना न होगा कि इस प्रकार के लक्षण

---

१. दे० **जगन रगन धर आदि में जगन रगन फिरि आनु।**
जगन फेरि गुरु अन्त में पंचचामरै जानु॥

(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

सामान्य पाठक की बुद्धि को सहज ही ग्राह्य नहीं हो पाते, फिर भी इतना निश्चित है कि इनसे उसे यह बोध हो सकता है कि छन्द-विशेष में परिवर्तन करने से वह दूसरे छन्द में किस प्रकार परिणत हो जाता है। कुण्डलिया, छप्पय आदि विषम मात्रिक छन्दों के लक्षण इसी प्रकार दिये जाते ही रहे हैं, मतिराम ने सममात्रिक और दण्डक छन्दों में से कतिपय में यह बात दर्शाकर अपनी सूक्ष्मदृष्टि का परिचय दिया है।

ऊपर निवेदन किया जा चुका है और विवेचन से भी स्पष्ट है कि मतिराम मूल-संस्कृत और प्राकृत-लक्षणों के विषय में जागरूक रहे हैं और यही कारण है कि उनके लक्षणों में संक्षिप्तता होने पर भी प्रत्येक छन्द की सामान्य विशेषताएँ आ गई हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि उनका एक लक्षण प्राकृत-लक्षण से दूर जा पड़ा है, देखिए—

सोरह कला बनाइयो जगन जासु चरन अन्त।
सो अरिल्ल लक्षन कहैं सकल सुकवि मतिमन्त॥
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

सोरह मत्ता पाउअलिल्लह।
बेबि जमक्का भेउ अलिल्लह॥
होण पओहर किंपि अलिल्लह।
अन्त सुपिअ भण छन्द अलिल्लह॥१२७॥
—वही 'प्राकृत पैंगलम्' प्रथम परिच्छेद।

'प्राकृत पैंगलम्' के लेखक ने 'अरिल्ल' छन्द के अन्त में जगण का निषेध किया है, किन्तु मतिराम ने इसका विशेष रूप से उस स्थान पर इसके होने का उल्लेख किया है। यह उनकी मौलिक उद्भावना अथवा इस छन्द के सम्बन्ध में नवीन स्थापना तो नहीं हो सकती, सिवाय इसके कि वे 'होण पओहर किंपि' का अर्थ नहीं समझ पाये—'किंपि' का अर्थ 'निश्चय' समझ गये। प्राकृत को समझने में उन्होंने केवल यहीं पर त्रुटि की है, शेष स्थानों पर तो उनके लक्षण स्वच्छ ही उतरे हैं।

उदाहरण—छन्द विवेचन के अन्तर्गत लक्षणों की अपेक्षा उदाहरणों की रचना का कार्य अपने आपमें अधिक कठिन हुआ करता है, कारण एक ओर तो कवि को छन्द-विशेष-सम्बन्धी नियम का निर्वाह करना होता है और दूसरी ओर उसमें उसे अपने कवित्व की रक्षा करनी पड़ती है। चूँकि सत्काव्य में भाषा ही भावों के पीछे चलती है। भाव भाषा के पीछे नहीं, अतएव यदि वह अपनी भाषा को भावों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता है—और छन्द-विवेचन में उसे ऐसा करना भी पड़ता है—तो यह स्वाभाविक ही है कि रचनागत कवित्व का नाश हो जाय! परन्तु मतिराम ने काव्यशास्त्र के पूर्वोक्त अंगों के समान इस विषय के विवेचन में भी छन्द-सम्बन्धी कठिन से कठिन नियमों का पालन करते हुए प्रायः अपने कवित्व की रक्षा की है—उसका ह्रास नहीं होने दिया! उदाहरण के लिए कुछ छन्द देखिए—

मालती[1]—

नृपति सुरेस समान पेखिये ।
दिन-दिन दान सदा बिसेखिये ।।
अधिक महीप उदार लेखिये ।
जगत सरूप सुजान देखिये ।।
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

मोहन[2]—

बसै मुख पंकज मैं बरबानि सदा सुभ नैननि संग सुहाइ कै ।
रसै रस बीर बिलोकत नैननि सील समेत रह्यो छबि छाइकै ।।
लसै भुज दण्डनि मैं अति जोर रही थिर लै जय सस्त्र लुभाइकै ।
थलै दिन दान तऊ अबला करि लच्छि सरूप महीपहि पाइकै ।।
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

हार[3]—

लहि सिंह सरूप सदा तव मौज कितोखि तजो सिगरे सुख पावत ।
कवि लोग पढ़ै कवि चित्र नहीं निसिवासर सो महिमा सरसावत ।।
बनवास दियो अरि नारिन को अँसुवानि जिन्हैं निसि सींचि बढ़ावत ।
अलि पुंजन के रव के मिस सों सुनिये तिन बेलिन सों जस गावत ।।
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

पादाकुलक[4]—

नृप सरूप पंचम कुल बिलसै ।
देखत जाहि जगत मन हिलसै ।।

---

१. इसका लक्षण इस प्रकार है—

नगन आदि अरु जगन जुग रगनहिं अन्त बनाउ ।
छन्द मालती सोहिये कण्ठ धरत उर चाउ ।।

२. इसका लक्षण यों है—

जगन आठ के अन्त मैं जहँ दीजै गुरु आन ।
सोहत सिगरे जगत मैं मोहन छन्द प्रमान ।।

३. इसका लक्षण यों है—

सगन आठ दै आदि ही अन्त देहु लघु दोय ।
सो उर धरियै हार है उत्कृति मंगल सोय ।।

४. इसका लक्षण यों है—

सोरह कला चरन मैं अन्त बक्र तहँ देह ।
लक्षन पादाकुलक को कहत सुमति सुनि लेहु ।।

दिन-दिन दान मान सरसावै ।
गुन गन की रति औ गुन गावै ।।
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

अमृत[1]—

पंचम कुल, मण्डन सुभ, सोभित सुभ जाल है ।
संचित कल, कीरति अति, भूतल गुनपालु है ।।
क्षत्रिन मनि, आगर नृप, बैरिन उर सालु है ।
देखत जिहिं, जानत जग, भूपति भुवपालु है ।।
(छन्दसार संग्रह—तृतीय प्रकाश)

ये सभी उद्धरण जहाँ छन्दःशास्त्र के नियमों से परिपूर्ण हैं, वहाँ दूसरी ओर इनमें कवित्व का भी अभाव नहीं है । वस्तुतः सहृदय कवि होने के नाते मतिराम ने कवित्व की ओर प्रायः अधिक ध्यान दिया है और इसका परिणाम यहाँ तक भी हो गया है कि एकाध स्थान पर वे शास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लंघन कर गये हैं । छन्द-विवेचन के प्रसंग में भी 'मंगलमहाश्री' नामक समवर्णिक छन्द के उदाहरण के अन्तर्गत वे उस नियम का पालन नहीं करते जिसका उन्होंने इस छन्द के लक्षण में उल्लेख किया है, देखिये—

लक्षण—

भज सान भज सान धरि तातैं गुरु जुग ठानि ।
उत्कृति ते मंगलमहाश्री सो छन्द बखानि ।।

उदाहरण—

भंजि भट भीर जय जंग बर जोर करि बीर खगराज जिमि धीर गाजै ।
दुन्दुभि धुकार करि दान दिन कीर्ति हित पंचम नरेस नित मौज साजै ।।
नन्द मित्र साहि सुख कंद अवनीस मनि मौज अरु फौज लखि सक्र लाजै ।
भूपति सरूप अवनीस कुलचंद हुव भौनि अवतंस वर वंस राजै ।।
(छन्दसार संग्रह—द्वितीय प्रकाश)

'मंगलमहाश्री' छन्द कवि के अपने शब्दों में २६ अक्षर (उत्कृति जाति) का है, पर यहाँ प्रत्येक चरण में २८ अक्षर उपलब्ध होते हैं । रेखांकित शब्दों को यदि निकाल दिया जाय तभी इस छन्द का सही उदाहरण हो सकता है, किन्तु उस अवस्था में सम्पूर्ण छन्द का सौन्दर्य—यहाँ तक अर्थ भी नष्ट हो जायेगा । यह हमारे कवि का प्रमाद नहीं, अपितु उसका छन्दगत काव्य-तत्व की रक्षा करने का आग्रह मात्र है । जो हो, इस प्रकार का छन्द केवल यही है—'छन्दसार संग्रह' में हमें और कोई छन्द नहीं मिला ।

---

१. लक्षण पीछे देखिये

मूल्यांकन

संक्षेप में मतिराम का छन्द-विवेचन उनके इतर काव्यांगों के विवेचन के समान ही स्वच्छ है। इसमें उनकी मौलिक उद्भावना कितनी है, यह तो निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, पर इतना अवश्य है कि उन्होंने कतिपय नवीन छन्दों को प्रस्तुत किया है। चूँकि उनकी रुचि अधिक मात्राओं तथा वर्णों वाले—लम्बे—छन्दों में अधिक दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार के छन्दों में से अधिकांश का आधार भी नही मिल पाता, अतः यह संभव है कि इनमें से कतिपय का आविष्कार उन्होंने किया हो ! वैसे यदि उनकी उद्भावना न भी मानी जाय, तो भी वे प्रशंसा के पात्र इसलिए अधिक हैं, क्योंकि अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-छन्द-विवेचकों की अपेक्षा उन्होंने अधिक ग्रन्थों को अपने छन्द-विवेचन का आधार बनाया है। लक्षण-उदाहरणों में यद्यपि वे एकाध स्थान पर त्रुटि कर गए हैं, पर इसके लिए वे क्षम्य हैं, कारण इतने विशालकाय ग्रन्थ में त्रुटि के लिए स्थान रह ही जाता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार मतिराम के काव्यशास्त्र सम्बन्धी विवेच्य अंगों—शृंगार रस, नायक-नायिका-भेद, अलंकार और पिंगल की सम्यक् परीक्षा कर लेने के उपरान्त अब हम यह निष्कर्ष निकालने की स्थिति में हैं कि वे 'आचार्य' कहलाने के अधिकारी हैं या नहीं ? जैसा कि निवेदन किया जा चुका है कि काव्यशास्त्र के प्रसंग में 'आचार्य' शब्द का प्रयोग साधारणतः काव्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक, काव्यशास्त्र के भाष्यकार अथवा इस विषय के पंडित के लिए होता है। चूँकि मतिराम ने किसी प्रकार के काव्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन तो क्या सामान्य मौलिक उद्भावना तक नहीं की; उनके विवेचन से इतना भी स्पष्ट नहीं हो पाता कि संस्कृत के पाँच सम्प्रदायों में से वे किसी के समर्थक भी थे, अतएव प्रथम अर्थ में उन्हें आचार्य कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ तक उनके भाष्यकार होने का प्रश्न है, वह भी स्वीकार्य नहीं हो सकता, कारण उन्होंने अपने विवेचन में केवल लक्षण और उदाहरण ही दिये हैं—व्याख्या को उनके सभी ग्रन्थों में कोई स्थान नहीं मिल पाया। मिलता भी कैसे ? इसके लिए अपेक्षित गद्य का उनके पास सर्वथा अभाव ही था और पद्य से यह असम्भव ही था। पद्य से जब लक्षण ही कहीं-कहीं अस्पष्ट हो गये हैं तो व्याख्या कैसे हो सकती थी ? ऐसी दशा में तीसरे अर्थ में—अर्थात् पंडित अथवा कवि-शिक्षक के अर्थ में उनको किसी सीमा तक 'आचार्य' शब्द से अभिहित किया जा सकता है। बात यह है कि शिक्षक का मूल उद्देश्य अध्येता के सम्मुख विषय को इस प्रकार से प्रस्तुत करना होता है कि वह सरलता से उसे हृदयंगम कर सके। मतिराम का उद्देश्य भी प्रायः यही रहा है और इसकी पूर्ति में वे सफल भी रहे हैं। उनके सम्पूर्ण विवेचन में, पद्य की भाषा के कारण अस्पष्ट, गिने-चुने लक्षणों को छोड़कर सबके सब ऐसे हैं जो अत्यन्त सुबोध कहे जा सकते हैं। उदाहरण भी इतने सुबोध और सरस हैं कि उनसे केवल लक्षणों को समझने में ही सहायता नहीं मिलती है, प्रत्युत उन्हें कण्ठ करने की भी

प्रेरणा सहज ही मिल जाती है। दूसरी ओर उनके विषय-प्रतिपादन से भी स्पष्ट ही है कि वे अपने विषय को भलीभाँति समझते थे तथा आचार्य कर्म को—विशेषतः छन्द-विवेचन के प्रसंग में—उन्होंने अत्यन्त गाम्भीर्य के साथ ग्रहण किया है। यह ठीक है कि कतिपय लक्षणों में उन्होंने भ्रामक शब्दावली का प्रयोग किया है अथवा उनके विषय में उन्हें स्वयं भ्रम हो गया है, किन्तु दो-चार त्रुटियों के लिए वे क्षम्य हैं—इनके कारण उनको 'आचार्य' न कहना एक प्रकार का अन्याय होगा। वास्तव में काव्यशास्त्र के सीमित विवेचन करने वाले हिन्दी-कवियों में इनको प्रथम स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपनी सीमित परिधि में प्रत्येक अंग को अत्यन्त मनोयोग के साथ ग्रहण किया है।

एकादश अध्याय

मूल्यांकन

१–पूर्ववर्ती कवियों का मतिराम पर प्रभाव

आचार्य मम्मट ने काव्य-रचना के तीन हेतु कहे हैं—१. शक्ति (प्रतिभा), २. निपुणता (व्युत्पन्नता) और ३. अभ्यास[1]। इनमें 'शक्ति' से उनका अभिप्राय कवित्व के बीजरूप, कवि के उस संस्कार से रहा है जिसके बिना सत्काव्य की रचना हो ही नहीं सकती; तथा 'निपुणता' उनके विचार में उसके लोक और जीवन सम्बन्धी व्यक्तिगत अनुभवों, शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन, पूर्ववर्ती कवियों के साहित्य के अनुशीलन इत्यादि का (वह) परिणाम है (जिसमें वह गृहीत बाह्य सामग्री को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वह सर्वथा नवीन तथा उसकी अपनी वस्तु प्रतीत होती है)। काव्यविमर्शकों की शिक्षा का अनुसरण करते हुए काव्य-रचना में सतत प्रयत्नशील रहने को वे 'अभ्यास' कहते हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों ने यद्यपि अपने-अपने अनुसार इनमें से प्रत्येक हेतु के महत्त्व की स्थापना करने का प्रयास किया है, किन्तु मम्मट ने उनमें से किसी एक के पक्ष को दृढ़ करने की अपेक्षा सबका समन्वय करते हुए इन तीनों के महत्त्व को स्वीकार किया है जो अपने आपमें ठीक भी है। कारण, शक्ति अथवा प्रतिभा के महत्त्व की तो इसी तथ्य से स्थापना हो जाती है कि यदि इसके बिना कविता करना असम्भव न होता तो आज प्रत्येक व्यक्ति कवि ही दिखाई देता। इसी प्रकार शास्त्रों, सत्काव्यों आदि का अध्ययन न करने से जहाँ एक ओर कवि की अभिरुचि का संस्कार नहीं हो पाता, वहाँ दूसरी ओर उसकी दृष्टि के संकुचित हो जाने के परिणामस्वरूप वह प्रतिभाशाली होने पर भी अपनी अनुभूति को संवेदनीय नहीं बना सकता। साथ ही यदि वह काव्य-रचना के लिए प्रयत्नशील नहीं रहता तो न तो वह अध्ययनशील रहेगा और न उसकी 'प्रतिभा' पूर्णतः जागृत ही हो सकेगी। अस्तु मतिराम की काव्य-रचना-शक्ति अथवा 'प्रतिभा' का परिचय पूर्व के अध्यायों से मिल ही जाता है तथा उनका दीर्घ रचनाकाल इस बात का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करता है कि वे काव्य की रचना में प्रयत्नशील भी रहे। जहाँ तक उनकी 'निपुणता' का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में भी उनके अध्यात्म, नीति, लोक और जीवन सम्बन्धी अर्जित ज्ञान और अनुभवों पर भी पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है—

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥
—वही 'काव्यप्रकाश'—प्रथम उल्लास
तथा इस कारिका की वृत्ति।

शास्त्र के ग्रन्थों से उन्होंने कितना प्रभाव ग्रहण किया, यह 'आचार्यत्व' के प्रसंग में देखा जा सकता है। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा अभीष्ट केवल यह देखना है कि पूर्ववर्ती कवियों का उनके काव्य पर कितना प्रभाव पड़ा।

पीछे निवेदन किया जा चुका है कि मतिराम की कविता के मुख्य विषय दो ही हैं—शृंगार और राजप्रशस्ति, जिन्हें उन्होंने मुक्तक रूप से प्रस्तुत किया है। इनमें राजप्रशस्तियाँ तो सामान्यतः उनके आश्रयदाताओं की दान, पराक्रम आदि विशेषताओं का प्रत्यक्ष वर्णन होने के कारण किसी पूर्ववर्ती कवि से प्रभावित नहीं कही जा सकतीं। जहाँ तक शृंगारिक-मुक्तकों का प्रश्न है, उन पर अवश्य ही पूर्ववर्ती शृंगारिक मुक्तककारों का प्रभाव यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है। इन कवियों में मुख्य रूप से हाल, अमरुक और गोवर्द्धनाचार्य का नाम उल्लेखनीय है, जिनके क्रमशः 'गाथासप्तशती', 'अमरुशतक' और 'आर्यासप्तशती' नामक ग्रन्थ रीतिकालीन कवियों में प्रायः समादृत होते रहे—केशव, बिहारी, पद्माकर आदि कवियों ने तो इनसे भाव ही नहीं लिए इनके अनेक छन्दों का रूपान्तर तक प्रस्तुत किया है। किन्तु मतिराम ने साधारणतः ऐसा नहीं किया। उन्होंने 'गाथासप्तशती' की एक दर्जन से अधिक गाथाओं से भाव ग्रहण नहीं किया और वह भी अपने आपमें संकेत मात्र है। उदाहरण के लिए यहाँ चार गाथाएँ देते हैं, देखिये—

(१) **एक्केक्कमवइवेढण विवरन्तर दिण्णतरलणअणाए।**
तइ बोलन्ते बालअ पंजरसउणाइअंतीए ॥२२०॥[1]
(हाल : 'गाथासप्तशती')[2]

सजनी मेरो मन पर्‌यो मन मोहन के अंग।
चटपटात छूटत न ज्यों पंजर पर्‌यो पतंग॥२८८॥
(मतिराम : सतसई)

(२) **अहसो विलक्खहिअओ भए अहव्वाए अगहिआणुणओ।**
परवज्जणच्चिरीहिं तुम्हेहिं उवेक्खिओ णितो ॥४२०॥[3]
(हाल : वही 'गाथासप्तशती')

---

(१) संस्कृत-छाया—**एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया।**
त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पंजरशकुनायितंतया॥

(तेरे चले जाने पर एक-एक आवरण पर दृष्टि डालती हुई, वह पिंजड़े में बन्द पक्षी जैसी हो गई है।)

२. संपादक श्री सदाशिव आत्माराम जोगलेकर (पूना से सन् १९५६ ई० में मराठी टीका सहित प्रकाशित)।

(३) संस्कृत-छाया—**अथ स विलक्ष हृदयो मयाऽभव्ययाऽगृहीतानुनयः।**
परवाद्यनर्तन शीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो निर्यन्॥

(मुझ कठोर हृदया ने तो उस विलक्षण हृदय वाले का अनुनय तो स्वीकार नहीं किया, पर हे सखियो! तुमने भी उसे जाने से नहीं रोका, अपितु संगीतादि में मग्न रहीं।)

ठाढ़े भए कर जोरि कै आगे अधीन ह्वै पांयन सीस नवायो ।
केती करी बिनती 'मतिराम' पै मैं न कियो हठ तें मन भायो ॥
देखत हीं सिगरी सजनी तुम मेरो तो मान महामद छायो ।
रूठि गयो उठि प्रान पियारो कहा कहिए तुम हूँ न मनायो ॥१३८॥

(मतिराम : रसराज)

(३) हिअअं हिअए णिहिअं चित्तालिहिअ व्व तुह मुहे दिट्ठी ।
आलिंगणरहिआइं णवरं खिज्जंति अंगाइं ॥४८५॥[१]

(हाल वही : 'गाथासप्तशती')

लखी अपूरब बाल मैं वाकी दसा बनाइ ।
हियरे है सुधि रावरी हियरो गयो हिराइ ॥२४६॥

(मतिराम : ललितललाम)

(४) गज्जमहं च्चिअ उपरि सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर ! लंबाइअं मारे मारेहिसि वराइं ॥५६६॥

(हाल : वही 'गाथासप्तशती')[२]

मोही को किन मार तू बिरह बिपति में गाड़ि ।
जलजमुखी कों जलद जिन तड़ित चाबुकनि ताड़ि ॥४५३॥

(मतिराम : सतसई)

इन सभी की तुलना करने से स्पष्ट हो जायगा कि मतिराम ने हाल की गाथाओं का अर्थापहरण नहीं किया—प्रथम गाथा से केवल उपमालंकार का अप्रस्तुत ही ग्रहण किया गया है, जबकि शेष तीनों के भाव की छाया मात्र ही गृहीत है। कवि ने इस सामग्री को केवल संस्काररूप में ही ग्रहण करके उसका अपने अनुसार पल्लवन किया है। यही बात अन्य गाथाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जहाँ तक 'अमरुशतक' का प्रश्न है, उसका प्रभाव अपेक्षाकृत और भी कम है, केवल तीन छन्द ही ऐसे हैं, जिनका किसी प्रकार से मतिराम के छन्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, देखिए—

---

(१) संस्कृत-छाया—हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।
आलिंगन रहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥

(तेरे आलिंगन के बिना उसका हृदय हृदय में विलीन हो गया है, चित्र में बनाई हुई सी दृष्टि तेरे मुख पर टिकी हुई है तथा अंग क्षीण हो गये हैं ।)

(२) संस्कृत-छाया—गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।
जलधर लम्बालकिका मारे मारयिष्यसि वराकीम् ॥

(हे बादल ! मुझ लौह-से हृदय वाले के ऊपर ही गर्ज ले, पर उस बेचारी लम्बे बालों वाली को तो न मार ।)

(१) सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं बिना
नो जानाति सविभ्रमांगवलनावक्रोक्ति संसूचनम् ।।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ।।२६।।
('अमरुक : अमरु शतक')[१]

लाल तुम्हैं कहूँ और तिया की लख्यौ अँगिया में लगावत चोवै ।
ता छिन तें 'मतिराम' न खेलति बूझैं सखीनहु के दुख गोवै ।।
लिखै करके नख सौं पग के नख सीस नवाय कै नीचे ही जोवै ।
नारि नवेली न हसनो जानति भीतर भौन मसूसनि रोवै ।।१२३।।
(मतिराम : रसराज)

(२) अंगानामतितानवं कथमिदं कम्पश्च कस्मात्कुतो
मुग्धे ! पाण्डुकपोलमाननमिति प्राणेश्वरे पृच्छति ।।
तन्व्या सर्वमिदं स्वभावजमिति व्याहृत्य पक्ष्मान्तर-
व्यापी बाष्प भरस्तया चलितया निःश्वस्य मुक्तोऽन्यतः ।।४५।।
('अमरुक : वही अमरुशतक')

आजु कहा तजि बैठी हौ भूषन ऐसे ही अंग कछू अरसीले ।
बोलति बोल रुखाई लिए 'मतिराम' सनेह सने न रसीले ।।
क्यों न कहौ दुख प्रान प्रिया अँसुवान रहे भरि नैन लजीले ।
कौन तिन्हैं दुख है जिनके तुम से मनभावन छैल छबीले ।।४४।।
(मतिराम : रसराज)

(३) अनालोच्य प्रेम्णः परिणतिमनादृत्य सुहृदस्त्वया
मुग्धे ! मानः किमिति सरले प्रेयसि कृतः ।।
समाकृष्टा ह्येते प्रलयदहनोद्भासुर शिखाः
स्वहस्तेनांगारास्तदलमधुनारण्यरुदितैः ।।७६।।
('अमरुक : वही अमरु शतक')

मेरी सिख सीखे न सखि मो सौं रहत रिसाय ।
सोयो चाहति नींद भरि सेज अँगार बिछाय ।।३०१।।
(मतिराम : ललितललाम)

यहाँ मतिराम के सभी छन्दों को 'अमरुशतक' के छन्दों की छायामात्र ही कहा जा सकता है । प्रथम श्लोक से केवल 'प्रथमापराध' शब्द पर मतिराम ने 'अन्य-स्त्री की कंचुकी में अंगराग लगाने' की कल्पना स्वयं की है, शेष अंश नायिका के मुग्धत्व दर्शाने के लिए अमरुक ने उसकी जिन चेष्टाओं को प्रस्तुत किया है, उनमें से इन्होंने 'रोने' के अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण नहीं किया । कहना न होगा कि रसराजकार द्वारा अंकित नायिका की चेष्टाएँ अपेक्षाकृत अधिक मार्मिक हैं । इसी

---

१. संपादक—श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट (बम्बई से संवत् १९७१ वि० में प्रकाशित) ।

प्रकार द्वितीय श्लोक से केवल नायका-नायिका के प्रश्नोत्तर की शैली ही ग्रहण की गई है। अमरुक के नायक ने नायिका से जो प्रश्न किये उनमें से एक भी इन्होंने नहीं लिया—सभी अपने दिये हैं और वे अपने आपमें स्वाभाविक है। दूसरी ओर अमरुक की नायिका जो उत्तर देती है, मतिराम की नायिका का उत्तर उसकी अपेक्षा अधिक वक्रतापूर्ण तथा उसके हृदय की वेदना को सही प्रकार से व्यंजित करने वाला है। ऐसे ही तृतीय श्लोक के भाव को हमारे कवि ने यद्यपि ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है—अलंकार का प्रयोग भी वैसा ही है, तथापि प्रस्तुत करने का ढंग अवश्य ही भिन्न है, इसी कारण यह छन्द अमरुक के छन्द से सर्वथा भिन्न प्रतीत होता है।

अब रही बात 'आर्यासप्तशती' की, उसका प्रभाव तो अपेक्षाकृत और भी कम है। एकाध छन्द पर इस ग्रन्थ की किसी आर्या की छाया ही पड़ पाई है और वह भी सम्भव है किसी हिन्दी कवि से ग्रहण की गई हो। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने जो आर्या उद्धृत की है[1], उससे यही बात प्रतीत होती है, देखिये—

परमोहनाय मुक्तो निष्करुणे तरुणि तव कटाक्षोऽयम्।
विशिख इवकलितकर्णः प्रविशति हृदयं न निःसरति ॥३५५॥

('गोवर्द्धनाचार्य : आर्यासप्तशती')[2]

आलस बलित कोरें काजर कलित
'मतिराम' वे ललित बहु पानिप धरत हैं।
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरब
सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं।
बरुनी सघन बंक तीछन तरल बड़े
लोचन कटाच्छ उर पीर ही करत हैं।
गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत मैन-
बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं ॥४०७॥

(मतिराम : रसराज)

यहाँ स्पष्ट ही है कि उक्त आर्या का मतिराम के छन्द के अन्तिम चरण पर ही थोड़ा सा प्रभाव है—शेष चरण उनकी अपनी योजना है। इसी प्रकार मिश्रजी ने इतर कवियों में कालिदास के कतिपय शृंगारिक छन्दों को उद्धृत करके मतिराम के साथ भाव-साम्य बैठाने का प्रयत्न किया है[3], किन्तु ये अपने आपमें इतने पृथक् हैं कि मतिराम पर इनका प्रभाव स्वीकार करना दूरारूढ़ कल्पना होगी। यह सत्य है कि कालिदास का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर पर्याप्त रहा है, पर रीतिकालीन कवियों ने यह सीधा उन्हीं से ग्रहण किया है, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। संयोग-वश ही किसी कवि की अप्रस्तुत-योजना अथवा एक परिस्थिति में रति भाव की एक

---

१. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० १६१।
२. काव्यमाला सीरीज से प्रकाशित—सन् १८९५ ई० का संस्करण।
३. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० १५८-६१।

प्रक्रिया होने के फलस्वरूप ही किसी प्रकार का जाने अनजाने में साम्य हो गया है— 'गाथासप्तशती' अथवा 'अमरुशतक' के समान भाव-ग्रहण नहीं किया गया।

मतिराम और उनके पूर्ववर्ती हिन्दी-कवि

हिन्दी के शृंगारिक मुक्तककारों में विद्यापति का नाम सर्वप्रथम आता है। किन्तु ब्रजभाषा के किसी भी कवि को इनसे प्रभावित मानना अनुचित होगा, कारण ये अठारहवीं शताब्दी के पूर्व कभी भी ब्रजभाषा-भाषी क्षेत्र में प्रसिद्ध नहीं रहे। आज भी बंगाली इन्हें अपनी भाषा का ही कवि मानते हैं। यदि किसी हिन्दी-कवि का इनके साथ भाव-साम्य है तो वह केवल इसीलिए क्योंकि प्रायः सभी का आधार संस्कृत के ग्रन्थ रहे हैं। वस्तुतः हिन्दी के शृंगारिक मुक्तकों की इस परम्परा का आरम्भ सूर से ही मानना चाहिए। ब्रजभाषा के मध्यकालीन कवियों में साधारणतः सभी ने थोड़ा-बहुत प्रभाव इनसे ग्रहण किया है। मतिराम पर भी इनका प्रभाव लक्षित होता है, किन्तु वह बहुत कम है। इसका मुख्य कारण यह है कि सूर ने शृंगार रस के दोनों पक्षों को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, मतिराम का दृष्टिकोण उससे भिन्न था। सूर ने शृंगार का वर्णन अपने आराध्य की लीलाएँ दर्शाने के लिए साधन मानकर ही किया था, जबकि इन्होंने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए इसे साध्य मानकर ही ग्रहण किया था। फिर भी जहाँ इन दोनों की दृष्टि में साम्य रहा है, वहाँ सूर का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट होकर आया है। देखिये, खण्डिता का एक वर्णन—

आजु हरि रैन उनींदे आए।
अंजन अधर ललाट महाउर नैन तमोर खवाए।
मगन देह सिर पाग लटपटी भृकुटी चन्दन लाए।
हृदय सुमन नखरेख बिराजति कंकन पीठि बनाए॥
(सूर : 'सूर सागर'[1]—दशम स्कन्ध २५२०वाँ पद)

जावक लिलार ओठ अंजन की लीक सोहे
लैये न अलीक लोक लीक न बिसारिए।
कबि 'मतिराम' छाती नख छत जगमगै
डगमगै पग सूधे मग मैं न धारिए॥
कस कै उघारत हौ पलक पलक या तैं
पलका पै पौढ़ि स्रम राति को निवारिए।
अटपटे बैन मुख बात न कहत बनै
लटपटे पेंच सिर पाग के सुधारिए॥१०५॥
(मतिराम : रसराज)

यहाँ मतिराम की काव्य-सामग्री यद्यपि सूर से गृहीत है, किन्तु इसमें नायिका की उक्ति सूर के कथन की अपेक्षा इसलिए मार्मिक है क्योंकि खण्डिता की सही

१. 'सूरसागर'—दूसरा खण्ड (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित—प्रथम संस्करण)।

भावना इससे व्यक्त हो रही है। कला की दृष्टि से भी चित्रात्मक होने के कारण यह सूर की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। इसी प्रकार संयोग शृंगार का एक चित्र और है—

रुपे संग्राम रति खेत नीके।
एक तें एक रन बीर जोधा प्रबल मुरत नहिं नेंकु अति सबल जीके।
भौंह कोदण्ड सर नैन धानुषि काम छुटनि मानो कटाच्छनि निहारें।
....

(सूर : वही 'सूरसागर'—दशम स्कंध, २७४७वाँ पद)

भौंह कमान कटाच्छ सर समर-भूरि बिचलें न।
लाज तजे हू दुहुनि के सजल सूर से नैन ॥४५॥

(मतिराम : ललितललाम)

यहाँ पर भी अधिकांश काव्य-सामग्री यद्यपि सूर से ही ली गई है, तथापि 'समर' और 'सजल' शब्दों के प्रयोग द्वारा मतिराम ने विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मतिराम पर सूर का थोड़ा सा प्रभाव है तो सही पर उनकी निपुणता के परिणामस्वरूप कवि की अपनी सृष्टि ही प्रतीत होता है।

केशव और मतिराम—सूर के पश्चात् केशव का नाम आता है और इनका प्रभाव भी अपने परवर्ती रीतिनिरूपक कवियों पर अपेक्षाकृत अधिक रहा है—रीतिकाल का शायद ही ऐसा कोई कवि होगा जिसको इन्होंने प्रभावित न किया हो। मतिराम ने भी इनकी रचनाओं—विशेषतः 'रसिकप्रिया' को अवश्य पढ़ा होगा। किन्तु रीतिनिरूपण की अपेक्षा काव्य-सामग्री को ही ये ग्रहण कर पाये हैं—लक्षणों को नहीं! केशव के छन्दों के भाव मतिराम की रचनाओं पर कहीं-कहीं तो अत्यन्त स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिए—

(१) हँसत कहत बात फूल से झरत जात
गूढ़ भूरिहाव-भाव कोक जैसी कारिका। (४)

(केशव : वही 'रसिकप्रिया'—तृतीय प्रकाश)

हँसत बाल के बदन में यों छबि कछू अतूल।
फूली चंपक बेलि तें झरत चमेली फूल ॥२०३॥

(मतिराम : ललितललाम)

(२) लोचन विशाल चारु चिबुक कपोल चूमि
चंपे कैसी माला लाल लीन्हीं उर लाइ कै ॥३०॥

(केशव : वही 'रसिकप्रिया'—पंचम प्रकाश)

साँझ समै वा छैल की छलनि कही नहिं जाय।
बिन डर बन डरपाय कैं लई मोहि उर लाय ॥२७८॥

(मतिराम : रसराज)

यहाँ प्रसंग-योजना यद्यपि भिन्न है पर रेखांकित पंक्तियों में समान भाव ही है। मतिराम इनमें केशव से अधिक सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर पाये हैं, किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं हुआ! इस प्रकार की रचनाएँ मतिराम के ग्रन्थों में बहुत कम हैं। साधारणतः जहाँ पर किसी भी भाव को उन्होंने केशव से ग्रहण किया है, वहाँ उनकी अपेक्षा विशेष सौन्दर्य भर दिया है—

(१) देखत ही चित्र सूनी चित्रशाला बाला आजु
रूप की-सी माला राधा रूपक सुहाये री।
नूपुर के सुरन के अनुरूप तानें लेत
पग तल ताल देत अति मन भाये री॥
ऐसे में दिखाई दीन्हीं औचक कुँवर कान्ह
जैसे हैं ये गात तैसे जात न बताये री
'केशवदास' कहै परै अलज सलज से न
जलज से लोचन जलद से ह्वै आयेरी ॥२८॥

(केशव : वही 'रसिकप्रिया'—पंचमप्रकाश)

चित्र में बिलोकत ही लाल को बदन बाल
जीते जिहि कोटि चंद सरद पुनीन के।
मुसकानि अमल कपोलनि मैं रुचि वृन्द
चमकं तर्योननि की रुचिर चुनीन के।
प्रीतम निहार्यो बाँह गहत अचानक ही
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के।
गाढ़े गही लाज मैन कण्ठ ह्वै फिरत बैन
मूल छ्वै फिरत नैन-बारि बरुनीन के ॥३१॥

(मतिराम : रसराज)

यहाँ दोनों ही छन्दों में एक भाव और एक प्रसंग है, पर मतिराम की पंक्तियों में भावाभिव्यक्ति विशेष रूप से कलात्मक है। देखिये, दोनों के अन्तिम चरणों को। केशव केवल इतना ही कहते हैं कि नायक द्वारा बाँह पकड़ते ही नायिका के नेत्र आँसुओं के कारण पानी भरे बादल जैसे हो गए, परन्तु मतिराम ने इससे आगे नायिका की इस स्थिति को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से कई खण्ड चित्रों में प्रस्तुत किया है—एक ओर वह नारी-सुलभ लज्जा की प्रयत्नपूर्वक रक्षा कर रही है तो दूसरी ओर भावातिरेक के कारण उसके मुख 'मैं न' शब्द नहीं निकल पा रहे और तीसरी ओर आँसू उसके नेत्रों में आ तो रहे हैं पर नीचे की ओर नहीं गिरते, लौट जाते हैं। इसी प्रकार—

(१) एक समैं इक गोपी सों 'केशव' कैसहूँ हाँसी की बात कही।
या कहँ तात बई तजि जाहि कहा हमसों रस रीति नहीं॥

को प्रति उत्तर देइ सखी दृग आँसुन की अवली उमही।
उर लाय लई अकुलाय तऊ अधिरातिक लौं हिलकीन रही ॥४४॥

(केशव : वही 'रसिकप्रिया'—षष्ठ प्रकाश)

सपने में लालन चलत लखि रोई अकुलाइ।
जागत हूँ पिय हिय लगी हिलको तऊ न जाइ ॥१३६॥

(मतिराम : सतसई)

(२) दूरि हैं क्यों भूषण बसन दुति योवन की
देह ही की जोति द्योस होति द्योस ऐसी राति है।
नाह को सुवास लागे ह्वै है कैसी 'केशव'
सुवास ही की वास भौंर भीर फारे खाति है॥
देखि तेरी सूरति की मूरति विसूरति हौं
लालन के दृग देखिबे को ललचाति है।
चलि है क्यों चन्द मुखी कुचन के भार भये
कचन के भार ते लचकि लंक जाति है ॥१३॥

(केशव : वही 'रसिकप्रिया'—बारहव प्रकाश)

चरन धरैं न भूमि बिहरैं तहाँई जहाँ
फूले फूले फूलनि बिछायो परजंक है।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है॥
कवि 'मतिराम' देखि वातायन बीच आयो
आतप मलीन होत बदन मयंक है।
कैसें वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै
बिजन बयारि लागें लचकत लंक है ॥३०४॥

(मतिराम : रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण-युग्म में केशव के छन्द की रेखांकित पंक्तिगत भाव को मतिराम ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, किन्तु इसका सम्बन्ध नायिका के स्वप्न के साथ जोड़कर जहाँ उसके एकनिष्ठ और तीव्र प्रेम को व्यक्त किया है, वहाँ केशव इसमें असफल रहे हैं—नायक के परिहास की कठोरता ने नायिका के प्रेम को छिपा लिया है। ऐसे ही द्वितीय के अन्तर्गत केशव ने जहाँ नायिका की सुकुमारता के साथ उसके सौन्दर्य आदि को भी प्रस्तुत कर दिया है वहाँ मतिराम ने उनके छन्द के अन्तिम चरण को ग्रहण करके केवल उसकी पुष्टि के लिए अन्य चरणों में उसके सुकुमारता-सूचक उपकरण ही जुटाकर अपनी व्युत्पन्नता का अद्भुत परिचय दिया है।

रहीम और मतिराम—हिन्दी के परवर्ती कवियों पर रहीम का प्रभाव यद्यपि नगण्य-सा ही है, किन्तु मतिराम इनके सर्वाधिक ऋणी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'रसराज' के अनेक छन्दों पर रहीम के 'बरवै नायिका भेद' के छन्दों का

सीधा और स्पष्ट प्रभाव है। इनमें भी कतिपय छन्द तो ऐसे हैं जो अवधी का ब्रज-भाषा में रूपान्तर मात्र कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए—

(१) आइहु अबहिं गवनवा तुरतहि मान।
अब रस लागि गोरिअवा मन पछितान ॥५१॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

आई गौने कालि ही सीखी कहा सयान।
अब ही तें रूसन लगी अब ही तें पछितान ॥१३५॥
(मतिराम : रसराज)

(२) मिलेउ न कन्त सहेटवा लखि उडिराइ।
धनिया कमल बदनिया गौं कुँभिलाइ ॥५६॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

लख्यो न कन्त सहेट में लख्यो नखत को राय।
नवल बाल को कमल सो गयो बदन कुँभिलाय ॥१४६॥
(मतिराम : रसराज)

(३) करत नहीं अपरधवा सपने हुँ पीव।
मान करै की सधवा रहि गइ जीव ॥६६॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

सपने हुँ मनभावतो करत नहीं अपराध।
मेरे मन ही में रही सखी मान की साध ॥२४६॥
(मतिराम : रसराज)

(४) लटकी नील जुलुफिया बनसी भाइ।
मो मन बारबधुइआ मीन बझाइ ॥१०४॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

लोचन पानिप ढिग सखी लट बंसी परबीन।
मो मन बार बिलासिनी फाँसि लियो जनु मीन ॥२६१॥
(मतिराम : रसराज)

इन चारों उद्धरण-युग्मों के अन्तर्गत भाव और अलंकारों का प्रयोग ही समान नहीं, दोनों कवियों द्वारा व्यवहृत शब्दावली तक एक ही है—अन्तर केवल छन्दों के प्रयोग और व्याकरण-सम्बन्धी विभक्तियों का है।

इस प्रकार के छन्दों में कहीं-कहीं पर मतिराम ने थोड़ा-सा परिवर्तन भी कर दिया है, परिणामतः उनकी रचनाओं में रहीम की अपेक्षा वैशिष्ट्य आ गया है, देखिए—

(१) बाहर लै के दियवा बारन जाय।
सास ननद घर पहुँचत देत बुताय ॥२१॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

बार बार वा गेह सों बारि बारि लै जाति।
काहे तें बिन बात ही बाती आजु बुझाति ॥१२६॥
(मतिराम : सतसई)

(२) जनि मरु रोइ दुलहिया धरु मन ऊन।
सघन कुंज ससुररिआ और घर सून ॥३६॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

केलि करैं मधुमत्त जहँ घन मधुपन के पुंज।
सोच न कर तुव सासुरे सखी सघन बन कुंज ॥६०॥
(मतिराम : रसराज)

(३) मितवा करन पसुरिआ सुमन सुपात।
फिरि फिरि ताकि तरुनिआ मन पछितात ॥२६॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

छरी सपल्व लाल कर लखि तमाल की हाल।
कुम्हिलानी उर साल धरि फूल माल ज्यों बाल ॥६३॥
(मतिराम : रसराज)

यहाँ प्रत्येक उद्धरण-युग्म के रेखांकित अंश प्रसंग और भाव की दृष्टि से एक जैसे ही हैं। शेष में जो अन्तर है वह अपने आपमें अत्यन्त स्पष्ट है। प्रथम उद्धरण-युग्म में रहीम का यह कथन कि नायिका सास-ननद के सम्मुख दीपक बुझा देती है, मतिराम के इस कथन से कि ज्ञात नहीं किस कारण हवा के बिना ही यह बुझ जाता है, किंचित् भिन्न है। रहीम ने जहाँ उस पर सास और ननद के अंकुश को दर्शाने का प्रयत्न किया है वहाँ मतिराम उसको घर तक पहुँचने न देकर उसके हृदय में नायक को देखते रहने की अभिलाषा की तीव्रता को व्यक्त करते हैं। द्वितीय में मतिराम ने नायिका की ससुराल में किसी और सम्बन्धी के न होने का उल्लेख न करके केवल मादक वातावरण उत्पन्न करने वाले सघन वन और कुंजों का ही किया है, जो इस बात का परिचायक है कि वे नव-वधू की गार्हस्थिक परिस्थितियों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करके उसके प्रेम की तीव्रता को दर्शाना चाहते हैं, क्योंकि गुरुजनों से आँख बचाकर नव-वधू का सहेट स्थल तक पहुँचना अपने आपमें अत्यन्त कठिन है। तृतीय में रहीम का 'फिरि-फिरि मन पछितात' और मतिराम का 'हाल कुम्हिलानी उर साल धरि'—दोनों ही नायिका की मानसिक स्थिति की भिन्न व्यंजना करते हैं—रहीम की नायिका का पछतावा जहाँ तीव्र न बनकर स्थायी बन गया है (क्योंकि यह अपनी त्रुटि का बार-बार स्मरण कर रही है), वहाँ मतिराम की नायिका में पश्चात्ताप न होकर अपने आकस्मिक दुःख को वैवर्ण्य द्वारा प्रकट करती है। इसी प्रकार—

(१) सखि सिख सीख नवेलिया कीन्हेसि मान।
पिय लखि कोप भवनवा ठानेसि ठान ॥४३॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

बाल सखिन की सीख तें मान न जानति ठानि।
पिय बिन आगम भौन मैं बैठी भौंहैं तानि ॥१२४॥
(मतिराम : रसराज)

(२) **उठ उठ जात खिरकिया जोहत बाट।**
कत वह आइहि मितवा सूनी खाट ॥६४॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

कंत बाट लखि गेह कौं कुंज देहरी आय।
ऐहैं पीव बिचारि यों नारि फेरि फिरि जाय ॥१६४॥
(मतिराम : रसराज)

यहाँ प्रथम उद्धरण-युग्म में रहीम की नायिका का मुग्धत्व मतिराम की नायिका की तुलना में कम प्रकट होता है—रहीम की नायिका ने तो सखियों की शिक्षा समझ ली, तभी तो उसने पति को देखकर ही मान दर्शाने के लिए अपनी भौंहें कुंचित कीं, पर मतिराम की नायिका ने पति के आगमन से पूर्व ही ऐसा किया। क्या यह उसका भोलापन नहीं? ऐसे ही द्वितीय में भी दोनों कवियों ने अपनी-अपनी नायिका की मानसिक स्थिति में अत्यन्त सूक्ष्म परिवर्तन किया है—रहीम की नायिका तो खिड़की के समीप बार-बार जाकर थोड़ी देर तक प्रतीक्षा ही करती है, पर मतिराम की नायिका इससे आगे जब यह देखती है कि उसका प्रिय घर नहीं आया तो सम्भव है कुंजों में पहुँचा हो, वहाँ पहुँचती है और जब वह वहाँ (कुंजों में) भी नहीं मिलता तो यह समझकर कि कहीं घर ही न पहुँच गया हो लौट आती है। नायिक का इस प्रकार घर से कुंजों में और कुंजों से घर तक बार-बार चक्कर लगाना उसकी मानसिक व्याकुलता की अधिक व्यंजना करता है।

साधारणतः किसी कवि के भाव को ज्यों का त्यों ग्रहण करके प्रस्तुत करना अथवा उसमें थोड़ा-सा अन्तर कर देना, जब तक कि कवि उसमें ऐसी किसी विशेषता का समावेश न करे जिससे पूर्ववर्ती कवि की रचना की तुलना में उसकी रचना सर्वथा नवीन प्रतीत हो, साहित्य के क्षेत्र में श्लाघ्य नहीं हो पाता। मतिराम के उक्त छन्दों में या तो नवीनता नहीं है और है तो बहुत स्पष्ट नहीं। किन्तु इस प्रकार के छन्द उनके रसराज में एक दर्जन से अधिक नहीं हैं। शेष में उन्होंने अपनी प्रतिभा और निपुणता के बल पर ऐसी काव्य-विशेषताओं का समावेश किया है कि अनयास ही उन पर भावों की चोरी का आरोप नहीं लगाया जा सकता। उदाहरण के लिए—

गई आगि उर लाय, आगि लेन आई जो तिय।
लागी नाहिं बुझाय, भभकि भभकि बरि बरि उठै ॥
(रहीम : शृंगार सोरठा)[१]

नैन जोरि मुख मोरि हँसि नैसुक नेह जनाय।
आगि लेन आई हिये मेरे गई लगाय ॥२५८॥
(मतिराम : रसराज)

१. वही 'रहीम-रत्नावली'।

स्पष्ट ही है कि मतिराम ने रहीम से भाव ग्रहण किया है तथा रहीम का छन्द अपने आपमें कम चमत्कारक नहीं। परन्तु मतिराम ने इसको अपने दोहे में जिस प्रकार से प्रस्तुत किया है, उससे सहज ही उनके दृष्टिकोण की भिन्नता का परिचय मिल जाता है। 'भभकि-भभकि बरि-बरि उठै' के द्वारा जहाँ रहीम नायिका के दर्शन के पश्चात् नायक की काम-भावना और रसिकता की तीव्र अभिव्यक्ति करते हैं, वहाँ मतिराम ने नायिका के हावों का उल्लेख करके नायक के मन की उथल-पुथल की हलकी-सी व्यंजना की है—उसके हृदय में काम की आग नायिका के रूप के कारण नहीं अपनी ओर उसके मुस्कराकर प्रेम प्रदर्शित करने के कारण है। वस्तुतः रहीम ने अपने सोरठे में फ़ारसी-काव्य-शैली का पुट देकर नायिका के प्रेम का संकेत न करके केवल नायक की वेदना को प्रदर्शित किया है, जबकि मतिराम ने अपने छन्द की रचना भारतीय काव्य-शास्त्र को दृष्टि में रखकर की है—मनोविज्ञान की दृष्टि से भी यह खरा उतरता है। ऐसे ही एक और छन्द देते हैं, देखिए—

अति अनियारे मानो सान दे सुधारे
महा विषके बिसारे ये करत परघात हैं।
ऐसे अपराधी देखे अगम अगाधी यहै
साधना जो साधी हरि हिय में अन्हात हैं॥
बार बार बोरे याते लाल लाल डोरे भये
तोहू तौ 'रहीम' थोरे विधिना सकात हैं।
घाइक घनेरे दुख दाइक हैं मेरे नित
नैन बान तेरे उर बेधि बेधि जात हैं॥
(रहीम : स्फुट छन्द)[1]

आलस बलित कोरें काजर कलित
'मतिराम' वे ललित बहु पानिप धरत हैं।
सारस सरस सोहैं सलज सहास सगरब
सबिलास ह्वै मृगनि निदरत हैं॥
बरुनी सघन बंक तीछन तरल बड़े
लोचन कटाच्छ उर पीर ही करत हैं।
गाढ़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत मैन-
बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं॥४०७॥
(मतिराम : रसराज)

यहाँ दोनों ही कवियों ने नेत्रों के विशेषण एकत्र किये हैं। आपाततः मतिराम रहीम से प्रभावित लगते हैं, परन्तु परीक्षा करने पर दोनों ही कवियों की काव्य-सामग्री भिन्न मिलती है। मतिराम के छन्द में 'सान दे सुधारे' जैसी हलकी रसिकता-पूर्ण सम्भावनाएँ नहीं हैं, उसमें सर्वत्र गाम्भीर्य है और साथ में रहीम की अपेक्षा कहीं अधिक चमत्कार भी।

---

१. दे० वही 'रहीम रत्नावली', पृ० ७५।

अस्तु, रहीम से प्रभावित मतिराम के छन्दों में साधारणतः ऐसे ही हैं, जिनमें प्रसंग और भाव को उन्होंने ज्यों का त्यों ग्रहण करने की अपेक्षा उसे विस्तार दिया है अथवा उसका अपने अनुसार पल्लवन किया है। उदाहरण के लिए—

(१) मोहि वर जोग कन्हैया लागउँ पाय।
तुमको पुजउँ देवतवा होउ सहाय ॥१५॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

गोप सुता कहै गौरि गुसांइनि पायँ परौं विनती सुनि लीजै।
दीन दयानिधि दासी के ऊपर नेक सुचित्त दया-रस भीजै ॥
देहि जो ब्याहि उछाह सौं मोहनै मात पिताहू को सो मन कीजै।
सुन्दर साँवरो नन्दकुमार बसै उर जो वह सो वर दीजै ॥६३॥
(मतिराम : रसराज)

(२) जमुना तीर तरुनिअहिं लखि भो सूल।
झरि गो कुंज बेइलिया फूलत फूल ॥२३॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

आई ऋतु पावस प्रकास आठों दिसन में
सोहत स्वरूप जलधरन की भीर को।
'मतिराम' सुकबि कदंबन की बास जुत
सरस बढ़ावै रस परस समीर को ॥
भौन ते निकसि वृषभानु की कुमारि देख्यो
ता समै सहेट को निकुंज गिर्‌यो तीर को।
नागरिके नैननि तैं नीर को प्रवाह बढ़्यो
निरखि प्रवाह बढ़्यो जमुना के नीर को ॥८६॥
(मतिराम : रसराज)

(३) जस मद मातिल हथिआ हुमकत जाय।
चितवन छैल तरुनिआ मृदु मुसक्याय ॥३१॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

अंजन दै निकसै नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै।
रूप गुमान भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनोट सुधारै ॥
जोबन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिन लोग निहारै।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकें अँचरा न सँभारै ॥८०॥
(मतिराम : रसराज)

(४) जेहि लगि सजन सनेहिया छुट घरबार।
अपने होत पिअरवा सोच परार ॥४८॥
(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

रावरे नेह को लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए।
डारि दिए गुरु लोगन को डर गाम चवाई में नाम धराए॥
हेत कियो हम जो तो कहा तुम तो 'मतिराम' सबै बिसराए।
कोऊ कितेक उपाय करो कहुँ होत हैं आपने पीउ पराए॥१२६॥

(मतिराम : रसराज)

(५) करिकै सोरह सिंगरवा अतर लगाइ।
मिलेउ न कंत सहेटवा फिरि पछिताइ॥६०॥

(रहीम : वही 'बरवै नायिका भेद')

बार बिलासिनी कोटि हुलास बढ़ाय के अंग सिंगार बनायो।
पीतम गेह गई चलि कै 'मतिराम' तहाँ न मिल्यौ मन भायो॥
संग सहेली सों रोसु कियो नहीं आपुन को यह दोसु लगायो।
हाय मैं कीनो मतो यह कौन जु आपने भौन न बोलि पठायो॥१५४॥

(मतिराम : रसराज)

उपर्युक्त उद्धरण-युग्मों में केवल रेखांकित पंक्तियाँ ही रहीम के बरवै छन्दों के भाव को प्रकट करती हैं, शेष में मतिराम ने अपनी कला द्वारा विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की है। यही कारण है कि मतिराम के ये छन्द रहीम से प्रभावित होते हुए भी उनकी मौलिक रचनाएँ प्रतीत होते हैं।

संक्षेप में मतिराम पर रहीम का प्रभाव अन्य कवियों की अपेक्षा सर्वाधिक है, पर यह इतना अधिक नहीं कि इनके समस्त काव्य को ही अमौलिक कहकर उपेक्षित कर दिया जाय। यह सत्य है कि भाव-सामग्री की दृष्टि से ही नहीं, पदावली और कहीं-कहीं अलंकारों एवं कल्पना-चित्रों में भी ये उनके ऋणी रहे हैं, किन्तु जिस प्रकार से इन्होंने इस काव्य-सामग्री को अपने दृष्टिकोण में ढालकर प्रस्तुत किया है, उससे सहज ही इनकी प्रत्युपन्नता का परिचय मिल जाता है।

बिहारी और मतिराम[1]—रीतिकाल के इतर कवियों के समान मतिराम पर भी बिहारी का पर्याप्त प्रभाव है। किन्तु रहीम की तुलना में यह बहुत कम कहना चाहिए। रहीम के छन्दों का तो इन्होंने रूपान्तर तक किया है, पर इनके दोहों से भाव अथवा प्रसंग ग्रहण कर प्रायः उसको नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए, देखिए—

---

१. बिहारी मतिराम के समकालीन ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि ये दोनों महाराज जयसिंह के दरबार से सम्बन्धित थे। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि विद्वान् बिहारी-सतसई का रचना-काल संवत् १७२० वि० से पूर्व ही मानते हैं [दे० 'बिहारी की वाग्विभूति' (तृतीय संस्करण), पृ० ७] और मतिराम की सतसई का रचना-काल संवत् १७३८ वि० के आस-पास है (दे० इसी प्रबन्ध का तृतीय अध्याय)। अतएव स्वाभाविक ही है कि मतिराम इनसे प्रभावित रहे होंगे, क्योंकि बिहारी-सतसई का रचना-काल उनसे कम से कम १८ वर्ष पूर्व का है।

(१) मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परै स्याम हरित दुति होय ॥१॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

मो मन तम तोमहिं हरौ राधा को मुख इन्दु।
बढ़े जाहि लखि सिंधु लौं नंद नन्दन आनन्द ॥१॥
(मतिराम : सतसई)

(२) बहु धन लै अहिसान के पारौ देत सराहि।
बैद बधू हँसि भेद सौं रही नाह मुख चाहि ॥६१२॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

सुत को सुनो पुरान यौं लोगनि कह्यौ निहोरि॥
चाहि चाहि जुत-नाह मुख मुसिक्यानी मुख मोरि ॥७॥
(मतिराम : सतसई)

इन दोनों उद्धरण-युग्मों में क्रमशः राधा की स्तुति और नपुंसक पुरुष की स्थिति का वर्णन है। दोनों के भाव और काव्य-सामग्री में ही पर्याप्त अन्तर नहीं अपना-अपना वैशिष्ट्य होने पर भी स्पष्टतः मतिराम बिहारी से प्रभावित लगते हैं। देखिए, प्रथम उद्धरण-युग्म के अन्तर्गत बिहारी ने अपने सांसारिक कष्टों के निवारण के लिए और मतिराम ने अपने मन के तमस् के नाश के लिए राधा की आराधना ही फलदायक मानी है। कारण, संसार के कष्ट अथवा तमस् को नष्ट करने वाले अपने प्रिय कृष्ण को वे सहज ही प्रसन्न कर इन दो भक्तों को अपने-अपने उद्देश्यों में सफलता दिला सकती हैं—बिहारी की राधा अपने 'तन की झाँई' द्वारा तो मतिराम की अपने मुख के सौन्दर्य द्वारा उनको (कृष्ण को) प्रसन्न करेंगी। ऐसे ही द्वितीय में सन्तानोत्पत्ति के लिए अन्य व्यक्ति को तारीफ़ के पुल बाँधता हुआ अत्यन्त एहसान के साथ पारा देता देखकर नपुंसक वैद्य की पत्नी अपने पति की मुखमुद्रा पर यदि इसलिए मुस्कराती है कि पारे के सेवन से ही सन्तानोत्पत्ति सम्भव थी तो स्वयं सेवन क्यों नहीं कर लिया, तो मतिराम की नायिका अपने पति की ओर देख-देख कर इस लिए हँस रही है कि यह नपुंसक होता हुआ भी लोगों के इस आग्रह को सुन रहा है कि पुराणों के सुनने से पुत्रोत्पत्ति होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रसंग-योजना और कला की दृष्टि से इन छन्दों के आधार पर दोनों कवियों में से किसी को भी एक-दूसरे से हीनतर नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार—

(१) अंग अंग नग जगमगैं दीप सिखा सी देह।
दिया बढ़ाए हू रहै बढ़ौ उजेरो गेह ॥१४७॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

छिपै देह दीपति गयौ दीप बयारि बुझाइ।
अंचल ओट किए तऊ चली नबेली जाइ ॥८८॥
(मतिराम : सतसई)

(२) जुबति जोन्ह में मिलि गई नेकु न परति लखाय ।
सोंधे के डोरन लगी अली चली सँग जाय ॥३१५॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

सरद चाँदनी में प्रकट होत न तिय के अंग ।
सुनत मंजु मंजीर अब सखी न छोड़ति संग ॥३०॥
(मतिराम : सतसई)

इनमें नायिका के रूप और कान्ति का वर्णन किया गया है । किन्तु यहाँ भी मतिराम बिहारी से प्रभावित होते हुए भी वर्णन अपने ही ढंग से करते हैं । प्रथम उद्धरण में बिहारी अपनी नायिका की कान्ति का वैशिष्ट्य बताते हुए यह कहते हैं कि अंधकार में भी उसके शरीर के आभूषण उसकी कान्ति के कारण जगमगाते रहते हैं, तो दूसरी ओर मतिराम यह कह देते हैं कि दीपक के बुझ जाने पर भी अपने अंगों की चमक के फलस्वरूप उसका यह विश्वास बना ही रहता है कि दीपक जल रहा है । द्वितीय में ज्योत्स्ना के भीतर विलीन हो जाने पर बिहारी अपनी नायिका का पता यदि उसके शरीर की गन्ध से लगाते हैं तो मतिराम उसकी कर्धनी के रव द्वारा ।

उपर्युक्त छन्दों में मतिराम ने बिहारी से केवल प्रसंगों को ही छाया रूप में ग्रहण किया है, पर ऐसे भी कतिपय छन्द उनकी रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं, जिनमें बिहारी के भावों को भी ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है, उदाहरण के लिए—

(१) कहत सबै बेंदी दिए आंक दस गुनो होत ।
तिय लिलार बेंदी दिए अगिनत बढ़त उदोत ॥४१॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

होत दस गुनो अंकु है दिए एक ज्यों बिन्दु ।
दिए दिठौना यों बढ़ी आनन आभा इन्दु ॥६८॥
(मतिराम : रसराज)

(२) दोऊ चोर मिहीचनी खेल न खेलि अघाय ।
दुरत हिए लपटाय के छुवत हिए लपटाय ॥२७०॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

छुवत परस्पर हेरि कैं राधा नन्द किसोर ।
सब में बेई होत हैं चोर-मिहचनी चोर ॥२४६॥
(मतिराम : रसराज)

(३) छप्यो छबीलो मुख लसै नीले आंचर चीर ।
मनो कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर ॥११६॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

विहसत नील दुकूल में लसत बदन अरबिन्दु ।
झलकत जमुना रूप में मानो पूरन इन्दु ॥४७६॥
(मतिराम : सतसई)

यहाँ मतिराम के मूल भाव, अलंकरण-सामग्री और पदावली भी बिहारी से प्रत्यक्षतः प्रभावित हैं। इन तीनों ही उद्धरण-युग्मों में मतिराम ने यद्यपि अपनी निपुणता का परिचय देने का प्रयत्न किया है, पर अधिक सौन्दर्य नहीं ला पाये। किन्तु साधारणतः ऐसा नहीं हुआ, पहले तो ऐसे छन्द केवल इतने ही हैं, दूसरे यदि भाव को उन्होंने ज्यों का त्यों भी ग्रहण किया है तो उसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार से की है कि सहज ही बिहारी की अपेक्षा उसमें अधिक सौन्दर्य आ गया है, जैसे—

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल ।
यहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारी लाल ॥२॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

मुंज गुंज के हार उर मुकुट मोर पर पुंज ।
कुंज बिहारी बिहरिये मेरे ई मन कुंज ॥२॥
(मतिराम : सतसई)

यहाँ दोनों ही दोहों में एक भाव है, पर मतिराम का 'कुंज बिहारी' कृष्ण के बिहार के लिए अपने मन को 'कुंज' कहना बिहारी की अपेक्षा अधिक चमत्कारक है। इसी प्रकार—

नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन ।
रति पाली आली अनत आए बन माली न ॥४६२॥
(बिहारी : वही 'बिहारी बोधिनी')

बीति गई जुग जाम निसा 'मतिराम' मिटी तम की सरसाई।
जागति हौं कहुँ और तिया से रहे रस में रमि कै रसराई ॥
सोचति सेज परी यों नवेली सहेली सों जाति न बात सुनाई।
चन्द चढ़ो उदयाचल पै मुख चन्द पै आनि चढ़ी पियराई ॥१५७॥
(मतिराम : रसराज)

यहाँ रेखांकित अंश बिहारी की देन हैं, शेष दो चरण मतिराम की अपनी सृष्टि हैं। इनमें अन्तिम चरण अपने आपमें विशेष रूप से सुन्दर है। नायिका सारी रात्रि नायक की प्रतीक्षा करती रही—उसे तब तक आशा बँधी रही जब तक कि चन्द्रमा पूर्व दिशा में आकर प्रातःकाल होने की सूचना न देने लगा। उस समय घोर निराशा के परिणामस्वरूप उसके मुख का पीला पड़ जाना स्वाभाविक ही है। हमारे आलोच्य ने इस बात को केवल यह कहकर कि एक ओर चन्द्र उदयाचल पर चढ़ा तो दूसरी ओर नायिका के मुख पर पीलापन छा गया, नायिका के मन की स्थिति की कलात्मक ढंग से व्यंजना कर दी है।

निष्कर्ष

इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि मतिराम के ऊपर अपने पूर्ववर्ती संस्कृत तथा हिन्दी-कवियों का यद्यपि थोड़ा-सा प्रभाव रहा है, तथापि उनके ऊपर भाव अथवा काव्य-सामग्री की चोरी का आरोप नहीं लगाया जा सकता। यह तो सभी जानते हैं कि समाज में रहने के कारण कवि नवीन भावों—विषय-वस्तु की सृष्टि नहीं कर सकता—समाज की परिस्थिति के अनुसार ही चलता है, जो कुछ भी वह कर सकता है वह यही कि उनकी अभिव्यक्ति अपने ढंग से करे। स्वयं आनन्द-वर्द्धन ने इस प्रकार की रचना को जो पूर्ववर्ती कवियों से गृहीत होने पर भी कवि की अपनी अभिव्यक्ति के फलस्वरूप नवीन लगती है, रम्य कहते हुए स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि ऐसी रचना करने वाला कवि निंदनीयता को प्राप्त नहीं होता[1]। कहना न होगा कि मतिराम ने साधारणतः ऐसा ही किया है—शृंगार-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण तथा भाषा-मार्दव के द्वारा उनके वे सभी भाव और विषय-वस्तु जो अन्य कवियों से गृहीत हैं उनकी अपनी रचना प्रतीत होते हैं—नवीन लगते हैं। यही उनकी निपुणता का द्योतक है।

२—परवर्ती कवियों पर मतिराम का प्रभाव

कोई भी कवि काव्य-रचना के लिए अपेक्षित विशेषताओं से चाहे कितना ही सम्पन्न क्यों न हो, पर विशेष गौरव का अधिकारी वह तभी हुआ करता है जबकि उसके काव्य को पढ़ने से सत्कवियों तक को भी वैसी रचना करने का लोभ हो। केशव और बिहारी को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत इसीलिए अब तक सम्मान मिलता रहा है। अतः हम भी इसी बात को दृष्टि में रखते हुए यहाँ यह देखने का प्रयास करेंगे कि मतिराम ने अपने रीतिनिरूपण और काव्य द्वारा परवर्ती कवियों को कितना और किस प्रकार प्रभावित किया है।

रीतिनिरूपण पर प्रभाव

रीतिनिरूपण में तो मतिराम का प्रभाव नगण्य-सा ही है। केशव भूषण ने[2] अपने अलंकार-निरूपण में इनके 'ललितललाम' का उपयोग किया है; और यह

---

१. यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्,
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥
(ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत)

(आचार्य विश्वेश्वर की ध्वन्यालोक की 'आलोकदीपिका' हिन्दी व्याख्या—प्रथम संस्करण)

२. भूषण मतिराम से आयु में छोटे थे अथवा बड़े, यह अनिश्चित है। हमने इनको मतिराम के परवर्ती अवस्था के आधार पर न मानकर, ग्रन्थ-रचना-काल को ही दृष्टि में रखकर माना है। भूषण के 'शिवराज भूषण' का रचना-काल संवत् १७३० वि० (दे० 'शिवराज भूषण', ३८२ संख्या का छन्द) अर्थात मतिराम के 'ललितललाम' के रचना-काल से लगभग १०-११ वर्ष बाद है।

अपने आपमें इतना स्पष्ट है कि विद्वानों को सहज ही दोनों कवियों के बन्धुत्व का भ्रम हो गया है । तुलना के लिए दोनों के लक्षण-परक दोहे देते हैं, देखिए—

(१) जाको बर्नन कीजिए सो उपमेय प्रमान ।
जाकी समता दीजिए ताहि कहत उपमान ॥३९॥

(२) जहाँ एक उपमेय कौं होत बहुत उपमान ।
तहाँ कहत मालोपमा कवि 'मतिराम' सुजान ॥४८॥

(३) जहाँ होत है परसपर उपमेयो उपमान ।
तहँ उपमेयोपमा कहि बरनत सुकवि सुजान ॥५५॥

(४) जहाँ हेतु अरु काज मिलि होत एक ही संग ।
अक्रमातिशय उक्ति तहँ बरनत कबि रसरंग ॥१२३॥

(५) जहाँ बड़े आधार तें बरनत बढ़ि आधेय ।
कहत सुकबिजन अधिक तहँ जिनकी बुद्धि अमेय ॥२३६॥

(६) जहाँ आपनो रंग तजि लेत और को रंग ।
तदगुन तहँ बरनत करत जे कबि बुद्धि उतंग ॥३३१॥

(मतिराम : ललितललाम)

(१) जाको बरनन कीजिए सो उपमेय सुजान ।
जाकी सरवरि कीजिए ताहि कहत उपमान ॥३३॥

(२) जहाँ एक उपमेय के होत बहुत उपमान ।
ताहि कहत मालोपमा 'भूषन' सुकबि सुजान ॥५५॥

(३) जहाँ परस्पर होत है उपमेयो उपमान ।
'भूषन' उपमेयोपमा ताहि बखानत आन ॥५३॥

(४) जहाँ हेतु अरु काज मिलि होत एक ही साथ ।
अक्रमातिशय उक्ति सो कहि भूषन कविनाथ ॥११२॥

(५) जहाँ बड़े आधार तें बरनत बढ़ि आधेय ।
ताहि अधिक 'भूषन' कहत जान सुग्रन्थ प्रमेय ॥२२०॥

(६) जहाँ आपनो रंग तजि गहै और को रंग ।
ताको तदगुन कहत हैं 'भूषन' बुद्धि उतंग ॥२२८॥

(भूषण : 'शिवराज भूषण')[1]

इनसे स्पष्ट ही है कि भूषण ने मतिराम से शब्दावली ही नहीं, पूरे के पूरे लक्षणों तक को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया ।

कविता पर प्रभाव

मतिराम और भूषण—जहाँ तक मतिराम का अपने काव्य द्वारा परवर्ती कवियों

१. दे० 'भूषण-ग्रन्थावली'—सम्पादक श्री राजनारायण शर्मा—(सन् १९५० ई० का संस्करण) ।

को प्रभावित करने का प्रश्न है, उनमें सर्वप्रथम भूषण ही आते हैं। परन्तु इस दृष्टि से इनकी कविता पर मतिराम का प्रभाव उतना स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता जितना कि ऊपर रीति-निरूपण की चर्चा करते समय दर्शाया गया है। इसका मुख्य कारण इन दोनों कवियों के काव्य-क्षेत्र की भिन्नता है—मतिराम ने जहाँ शृंगार और दानवीर का ही प्रचुरता से वर्णन किया है, वहाँ भूषण ने महाराज शिवाजी के पराक्रम को ही प्रायः अपनी कविता का विषय बनाया है। फिर भी उन पर यत्र-तत्र मतिराम की छाया मिल ही जाती है। देखिये—

(१) चली अली नवलाहि लै पिय पै साजि सिंगार।
ज्यों मतंग अँड़दार को लिए जात गँड़दार ॥१६२॥
(मतिराम : रसराज)

दावदार निरखि रिसानों दीह दलराय
जैसे गड़दार अड़दार गजराज को ॥३४॥
(भूषण : वही 'शिवराज भूषण')

(२) साहनि सौं अकसिबो हाथिन को बकसिबो
राव भावसिंह जू को सहज सुभाव है ॥३७३॥
(मतिराम : ललितललाम)

जंग जुरि अरिन के अंग को अनंग कीबो
दीबो सिव सरजा को सहज सुभाव है ॥१६४॥
(भूषण : वही 'शिवराज भूषण')

यहाँ उद्धरणों के प्रथम युग्म से एक ही उपमा स्पष्ट है और दूसरे से भाव और स्वभावोक्ति अलंकार का ही साम्य नहीं, शब्दावली भी बहुत-कुछ एक जैसी ही है। इसी प्रकार—

(१) बिपिन सरन कै चरन तको राव ही के
चढ़ो गिरि पर कै तुरंग परवर मैं।
राखो परिवार कों कि आपनो ए हठ, राज
संपति दै मिलौ कै नगारे दै समर मैं॥
कहै 'मतिराम' रिपुरानी निज नाहनि सौं
बोलैं यौं डरानी भावसिंह जू के डर मैं।
बैर तो बढ़ायो कह्यौ काहू को न मान्यो अब
दाँतनि तिनूका कै कृपान गहो कर मैं॥२७६॥
(मतिराम : ललितललाम)

देसन-देसन नारि नरेसन 'भूषन' यौं सिख देहिं दया सौं।
मंगन ह्वै करि दन्त गहो तिन कंत तुम्हैं हैं अनन्त महा सौं॥
कोट गहो कि गहो बन ओट कि फौज की जोट सजो प्रभुता सौं।
और करो किन कोटिक राह सलाह बिना बचिहो न सिवा सौं॥२५१॥
(भूषण : वही 'शिवराज भूषण')

(२) पावस भीति वियोगिनी बालनि यौं समुझाय सखी सुख साजैं।
जोति जवाहिर की 'मतिराम' नहीं सुरचाप छिनौ छबि छाजैं॥
प्रत लसैं बग पाँति नहीं धुनि दुंदुभी की न घने घन गाजैं।
सौंहि कै भाऊ नरिंद दिए कबिराजनि के गजराज बिराजैं॥६७॥

(मतिराम : ललितललाम)

चमकती चपला न फेरत फिरंगें भट
इन्द्र को न चाप रूप बैरख समाज को।
धाए धुरवान छाए धूरि के पटल मेघ
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभि दराज को॥
भौंसिला के डरनि डरानी रिपुरानी कहैं
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न गज घटनि सनाह राज
'भूषन' भनत आयो सेन सिवराज को॥८१॥

(भूषण : वही 'शिवराज भूषण')

देखिये, यहाँ प्रथम उद्धरण-युग्म में जहाँ मतिराम से भाव ग्रहण किया गया है, वहाँ द्वितीय में उनके छन्दगत भाव को नवीन ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है।

मतिराम और देव—काल-क्रम की दृष्टि से भूषण के पश्चात् देव का नाम आता है। इनके ऊपर मतिराम का प्रभाव भूषण की अपेक्षा कहीं अधिक है। ऐसे अनेक छन्द इनकी रचनाओं में उपलब्ध हो जाते हैं जिनके ऊपर रसराजकार की स्पष्ट छाया है, देखिए—

(१) जा छिन तें 'मतिराम' कहूँ मुसकात कहूँ निरख्यो नँदलालहि।
ता छिन तें छिन ही छिन छीन बिथा बहु बाढ़ी बियोग की बालहि॥
पोंछति है कर सों किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि।
भोरी भई है मयंक मुखी भुज भेंटति है भरि अंक तमालहि॥४१६॥

(मतिराम : रसराज)

आजु भले गहि पाये गुपाल गुहौ गहि लाल तुमैं गुन जालहि।
होन न दैउ कहूँ बल बाल बसाऊँ हिये मैं मिलाइ कै मालहि॥
बोलत काहे न बोल रसाल ही जानति भाग भरे निज भालहि।
सींचत नैन बिसालनि के जल बाल सु भेंटति बाल तमालहि॥४३॥

(देव : 'भवानी विलास'[1]—पंचमविलास)

(२) साँझ समै वा छैल की छलनि कही नहिं जाय।
बिन डर बन डरपाय कै लई मोहि उर लाय॥२७१॥

(मतिराम : रसराज)

---

१. डॉ० नगेन्द्र जी से प्राप्त।

आपनोई अपमान कियो पहिरावै को मनिमाल मँगाई ।
लै मिलई मिस सों कुसली करि पाय परेऊ न प्रीति जगाई ।।
केतिक कौतिक बातें कहीं कवि 'देव' तऊ तिय तोरि सगाई ।
आशु अचानक आइ लला डरवाइ कें राधिका कंठ लगाई ।।
(देव : 'भावविलास'[1]—तृतीय विलास)

(३) भाल लाल बेंदी दिये उठे प्रात अलसात ।
लोनी लाजनि गड़ि गई लखे लोग मुसकात ।।४४।।
(मतिराम : सतसई)

सोहैं सलोनी सुहाग भरी सुकुमारि सखीन समाज मड़ी-सी ।
'देव' जु सौति ते आये लला मुख भौंह महा सुखमा घुमड़ी-सी ।।
प्यारी की पीक कपोलनि पोके बिलोकि सखीन हँसी उमड़ी-सी ।
सोचन सौंहैं न लोचन होत सकोचन सुन्दरि जाति गड़ी-सी ।।
(देव : 'शब्दरसायन'[2]—चतुर्थ प्रकाश)

(४) जाल-रन्ध्र मग ह्वै कढ़ै तिय तनु दीपति पुंज ।
झिंझिया के सो घट भयो दिन ही में बन कुंज ।।८।।
(मतिराम : रसराज)

कूदत कानन कोनन ह्वै दृग ज्यों मृग केहरि काम करा में ।
कंचन के कुच माणिक सीस अनूप धराधर रूप धरा में ।।
यौवन जोति जगै अँग-अंग गये मिलि सोन जुही के हरा में ।
बाहर भीतर 'देव' ज्यों दीप झक्यो झलके झँझरी के झरा में ।।३९६।।
(देव : 'सुखसागर तरंग')[3]

(५) चन्द के उदोत होत नैन कंज तपे कंत
छायो परदेश देह दाहनि दगतु है ।
उसिर गुलाब नीर करपूर परसत
बिरह अनल ज्वाल जालन जगतु है ।।
लाजनि ते कछू न जनावै काहू सखी हू सों
उर को उदार अनुराग उमँगतु है ।
कहा करौं मेरी बीर उठी है अधिक पीर
सुरभी समीर सीरो तीर सो लगतु है ।।११४।।
(मतिराम : रसराज)

आयो बसन्त लग्यो बरसाउन नैननि तें सरिता उमहै री ।
को लगि जीव छपावै छपा में छपाकर की छबि छाइ रहै री ।।

---

१. सम्पादक श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी—प्रयाग से संवत् १९९१ वि० में प्रकाशित ।
२. सम्पादक डॉ० जानकीनाथसिंह 'मनोज'—(द्वितीय संस्करण) ।
३. सम्पादक पं० बालदत्त मिश्र (सं० १९५४ वि० का संस्करण) ।

चन्दन सों छिरकें छतिया अति आग उठै दुख कों न सहै री ।
'देव' जू सीतल मन्द सुगन्ध-सुगन्ध बहो लगि देह दहै री ।।

(देव : वही 'भावविलास'—पंचमविलास)

तीर सो सीरो समीर लगै ते सरीर में पीर घनी यै घिरौगी ।।

(देव : वही 'शब्दरसायन'—षष्ठ प्रकाश)

(६) दूनी दुति छाई देह आई दुबराई पिय
राई लोनु वारिए तिया की पियराई पर ।।३०१।।

(मतिराम : रसराज)

राई नौन वारति गुराई देखि अंगनि में
दुरै न दुराई पै गुराई सों भरति है ।

(देव : 'रसविलास'[1]—प्रथम विलास)

यहाँ सभी छन्दों में प्रसंग-योजना लगभग भिन्न है। पर प्रथम तीन में जहाँ केवल मतिराम से भाव लेकर देव ने उनका अपने छन्दों में पल्लवन किया है, वहाँ अन्तिम तीन में इसके साथ उन्होंने मतिराम के अप्रस्तुतों और शब्दावली को भी यथासम्भव ग्रहण करने का प्रयास किया है।

भावों के अतिरिक्त मतिराम की भाषा-शैली का भी देव पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उनकी अनुप्रास-युक्त मधुर एवं भावाभिव्यंजक शब्द-योजना का अनुकरण करने का प्रयत्न इनकी कविता में प्रायः दृष्टिगत होता है। तुलना करके देखिए—

(१) सेत सारी सोहत उजारी मुखचन्द की सी
महलनि मन्द मुसक्यान की महमही ।
अँगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप
उर 'मतिराम' माल मालती डहडही ।।
माँजे मंजु मुकुर से मंजुल कपोल गोल
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही ।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय
बेला को फुलेल फूली बेलि सी लहलही ।।१७६।।

(मतिराम : रसराज)

जरिया जतन काँच कंचन रतन चुरी
मानिक नवीन पानि ककनी की डहडही ।
मेंहदी सुरख नख चित्रित हथेरी मनि
कुन्दन छलनि छबि छलकै चहचही ।।

---

1. डॉ० नगेन्द्रजी से प्राप्त।

'देव' तब बेली सी नबेली की बिमल बाँहैं
केली में गुपाल गल मेली है गहगही ।
लाल कर पल्लव मृदुल 'दस अँगुरीन
बोझ ही सों झूली फली फूली सी लहलही ।।२२८।।
(देव : वही 'सुखसागर तरंग')

(२) सोने की सी बेली अति सुन्दर नबेली बाल
ठाढ़ो ही अकेली अलबेली द्वार महियाँ ।
'मतिराम' आँखिन सुधा की बरखा सी भई
गई जब दीठि वाके मुखचन्द पहियाँ ।।
नकु नीरे जाय करि बातनि लगाय करि
कछु मन पाय हरि वाकी गही बहियाँ ।
बैनन बरजि लई सैनन थकित भई
नैनन में चाह करै बैनन में नहियाँ ।।३६९।।
(मतिराम : रसराज)

रूप अनूप है एक तुही तिय तो सी न और मही महियाँ ।
कहुँ होय हमारे कहा कहिये तब तो हम सो मघवा नहियाँ ।।
परजंक परे दोउ अंक भरे सुथरे सिर बोऊ कुहूँ बहियाँ ।
सुनि यों भई आवति के मुख की छिन मैं सुखबादर की छहियाँ ।।[illegible]।।
(देव : 'अष्टयाम'[1]—षष्ठजाम)

(३) साथ सखी के नई दुलही को भयो हरि को हियो हेरि हिमंचल ।
आय गए 'मतिराम' तहाँ घर जानि इकंत अनंद ते चंचल ।।
देखत ही नँदलाल को बाल के पूरि रहे अँसुवानि दृगंचल ।
बात कही न गई सु रही गहि हाथ सु हूँ सों सहेली को अंचल ।।२५।।
(मतिराम : रसराज)

चंद चढ़्यो नभचंद बढ़्यो जु अमंद कढ़्यो सुखकंद सो 'देव' दृगंचल ।
तप्यो अति अंग जप्यो रति भंग थप्यो पति संग चप्यो चित चंचल ।।
हियो कर मैन लियो सर मैन दियो मर मैन सम्हारि कै संचल ।
मदै उनमाद गदै गदनाद बढ़ै रसबाद ददै मुख अंचल ।।१९७।।
(देव : वही 'सुखसागर तरंग')

कहना न होगा कि मतिराम की शब्द-योजना से वे इतने प्रभावित हुए हैं कि एक छन्द में तो मतिराम के छन्द की पूरी की पूरी पंक्ति ही ग्रहण कर बैठे हैं, देखिए—

---

१. डॉक्टर नगेन्द्रजी से प्राप्त ।

सहज सुबासयुत देह की दुगुन दुति
दामिनी दमक दीप केसरि कनक तें ।
'मतिराम' सुकबि सरस सुकुमार अंग
सोहत सिंगार चारु जोबन बनक तें ।।
सोयबे को सेज चली प्रानपति प्यारे पास
जगत जुन्हाई जोति हँसन तनक तें ।
चढ़त अटारी गुरु लोगन की लाज प्यारी
रसना दसन दाबैं रसना झनक तें ।।१६५।।

(मतिराम : रसराज)

नेवर के बजत कलेवर कंपत 'देव'
देवर जगें न लगे सोवत तनक ते ।
ननद नछोछी त्योरी तोरति तिरीछि लखि
बीछी के सो विष बगराबेगी भनक ते ।।
देखिये कठिन साथ गहो जू न हठि हाथ
कैसे कहों जाहु नाथ आए हो बनक ते ।
बस ना हमारे रंग रसना बनत चौंकि
रसना दसन दाबै रसना झनक ते ।।[1]

यहाँ भाव सामग्री यद्यपि भिन्न है, पर दोनों कवियों के छन्दों की अंतिम पंक्तियाँ ज्यों की त्यों हैं ।

मतिराम और दास—देव के समान दास के ऊपर भी मतिराम का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । इन्होंने इनके भावों और काव्य-सामग्री को ही नहीं अपनाया, यथा-संभव अभिव्यंजना को भी ग्रहण करने का प्रयास किया है, देखिए—

भाव और काव्य-सामग्री—

(१) ढीली बाहुन सौं मिली बोली कछू न बोल ।
सुन्दरि मान जनाय यों लियो प्रानपति मोल ।।४८।।

(मतिराम : रसराज)

याही तें जिय जानि गो मान हिये को लाल ।
अरसीली ढीली मिलनि मिली रसीली बाल ।।५१।।

(भिखारीदास : 'रस सारांश'[2])

(२) स्याम बसन में स्याम निसि दुरी न तिय की देह ।
पहुँचाई चहुँ ओर घिरि भौंर भीर पिय गेह ।।१६८।।

(मतिराम : रसराज)

---

१. दे० वही 'देव और उनकी कविता', पृ० २७६ से उद्धृत ।

२. दे० 'दास ग्रन्थावली', प्रथम खण्ड—संपादक पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र—प्रथम संस्करण ।

जिहि तनु दियो जु नहिं दुरै निसि यह नीलहि चीर ।
तिहि बिधि तोहि अभिसारिके दियो भँवर की भीर ।।१३५।।
(भिखारीदास : वही 'रस सारांश')

(३) सेत सारी ही सौं सब सौतें रंगी स्याम रंग
सेत सारी ही सौं रंगे स्याम लाल रंग मैं ।।३५७।।
(मतिराम : रसराज)

लाल मन बूड़िबे कौं बेसरि सोती भई
सौतिन चुनौटी भई वाकी सेत सारी री ।।७०।।
(भिखारीदास : 'शृंगार निर्णय'[1])

(४) खेलन चोर मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नांई ।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाँई ।।
एकहि भौन दुरे इक संग ही अंग सौं अंग छुवायो कन्हाई ।
कंप छुट्यो घनस्वेद बढ़्यो तनुरोम उठ्यो अँखियाँ भरि आई ।।१६।।
(मतिराम : रसराज)

हार गई तहँ मेह मिल्यो हरि कामरी ओढ़े हुत्यो उत बैसो ।
आतुर आइकै अग छपाइ बचाइकै मोहिं गयो जस लैसो ।।
'दास' न ऐसो लख्यो कबहूँ मैं अचंभो भयो वहि औसर जैसो ।
स्वेद बढ़्यो त्यों लग्यो तन काँपन रोम उठ्यो यह कारन कैसो ।।१२६।।
(भिखारीदास : वही 'शृंगार निर्णय')

(५) साँझ ही सिंगार सजि प्रान प्यारे पास जाति
बनिता बनक बनी बेलि सी अनंद की ।
कबि 'मतिराम' कल किंकिनी की धुनि बाजै
मंद मंद चलनि बिराजत गयंद की ।।
केसरि रँग्यो दुकूल हाँसी में झरति फूल
केसनि मैं छाई छबि फूलन के बृंद का ।
पीछे पीछे आवत अँधेरी सी भँवर भीर
आगे आगे फैलत उजारी मुखचन्द की ।।२०३।।
(मतिराम : रसराज)

सिख नख फूलन के भूषन बिभूषित कै
बाँधि लीन्हीं बलया बिगत कीन्हीं बजनी ।
तापर सँवार्‌यो सेत अंबर को डंबर
सिधारी स्याम संनिधि निहारी काहू न सनी ।।

1. दे० वही 'दास ग्रन्थावली', प्रथम · ६८ ।

छीर के तरंग की प्रभा कों गहि लीन्हीं तिय
कीन्हीं छीरसिंधु छिति कातिक की रजनी ।
आनन प्रभा तें तन छाँह हूँ छपाए जाति
भौंरन की भीर संग लाए जाति सजनी ॥१६८॥
(भिखारीदास : वही 'शृंगार निर्णय')

(६) चरन धरें न भूमि बिहरें तहाँई जहाँ
फूले फूले फूलनि बिछायो परजंक है ।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि में
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है ॥
कवि 'मतिराम' देखि बातायन बीच आयो
आतप मलीन होत बदन मयंक है ।
कैसें वह बाल लाल बाहिर बिजन आवै
बिजन बयारि लगैं लचकत लंक है ॥३०४॥
(मतिराम : रसराज)

घाँघरो झीन सों सारी महीन सों पीन नितंबनि भार उठ्यो खचि ।
'दास' सुबास सिंगार सिंगारति बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि ॥
स्वेद चले मुखचन्दनि च्वै डक ह्वै क धरे महि फूलनि सों सचि ।
जात है पंकज बारि सों वा सुकुमारि की लंक लला लचि ॥२५३॥
(भिखारीदास : वही 'शृंगार निर्णय')

(७) कहा दवागनि के पिएँ कहा धरें गिरि धीर ।
बिरहानल में जरत ब्रज बूड़त लोचन नीर ॥६७॥
(मतिराम : ललितललाम)

जाहि दवानल पान किए ते बड़ी हिय में सरवी सरवे सों ।
'दास' अघासुर जोर हत्यो जु लह्यो बच्छासुर से बरवे सों ॥
बूड़ति राखि लियो गिरि लै ब्रजदेस पुरन्दर बेदरवे सों ।
ईस हमें पर वे परदेसों मिलें उड़ि ता हरि सों परदे सों ॥
(भिखारीदास : वही 'काव्यनिर्णय'—पंचमोल्लास)

यहाँ प्रथम दो उद्धरण-युग्मों में तो भाव ज्यों के त्यों ही हैं, शेष में प्रसंग भिन्न होते हुए भी रेखांकित अंश भाव और काव्य-सामग्री की दृष्टि से बहुत कुछ मिलते हैं ।

अभिव्यंजना—

(१) बेलनि सों लपटाय रही है तमालन की अवली अति कारी ।
कोकिल केकी कपोतन के कुल केलि करैं जहँ आनन्द भारी ॥
सोच करो जिन होहु सुखी 'मतिराम' प्रवीन सबै नर नारी ।
मंजुल वंजुल कुञ्जन में घन पुंज सखी ससुरारि तिहारी ॥८६॥
(मतिराम : रसराज)

मंजुल बंजुल कुंजन गुंजत कुंजत भृंग बिहंग अयानी ।
चंदन चंपक बृंदन संग सुरंग लवंग लता लपटानी ।।
कंस बिधंसन करि नंदनन्दन सुछंद तहीं करि है रजधानी ।
भाखत क्यों मथुरा ससुरारि सुने न सुने मृदु मंगल बानी ।।
(भिखारीदास : वही 'काव्यनिर्णय'—उन्नीसवाँ उल्लास)

यहाँ मधुर-शब्दावली ही मिलती-जुलती नहीं, मूल भाव भी एक ही है। इसी प्रकार दोनों कवियों का एक-एक छन्द और लीजिये—

(२) अंजन दै निकसै नित नैनन मंजन कै अति अंग सँवारै ।
रूप गुमान भरी मग मैं पग ही के अँगूठा अनोट सुधारै ।।
जोबन के मद सौं 'मतिराम' भई मतवारिनि लोग निहारै ।
जाति चली यहि भाँति गली बिथुरी अलकें अँचरा न सँभारै ।।८०।।
(मतिराम : रसराज)

बाहिर होति है जाहिर जोति यों गोप कुमारिन की अवली में ।
जैसे बिसाल मसाल की दीपति दीपति दीप समूह थली में ।।
मोहन रावरी केतिक बात में मोहि रही बृषभान लली में ।
भाँति भली बतलात अली संग जाति चली मुसुकात गली में ।।२५३।।
(भिखारीदास : वही 'रससारांश')

यहाँ यद्यपि दोनों छन्दों की प्रसंग योजना एक दूसरे से भिन्न है, पर अन्तिम चरण में शब्दों की गति एक जैसी ही है।

मतिराम और पद्माकर—दास के पश्चात् रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध कवि पद्माकर आते हैं। इनकी भाषा-शैली और छन्द-योजना सर्वथा मौलिक थी—किसी पूर्ववर्ती कवि का अनुकरण नहीं, अतएव भाषा-शैली अथवा अभिव्यंजना की दृष्टि से इनके ऊपर मतिराम का प्रभाव देखना समीचीन न होगा ! जहाँ तक भाव-सामग्री का प्रश्न है, उसकी दृष्टि से अवश्य ही कतिपय स्थलों पर हमारे आलोच्य कवि के ऋणी रहे हैं। तुलना के लिए देखिए—

(१) जोबन मदगज मंदगति चली बाल पिय गेह ।
पगनि लाज आँदू परी चढ़्यो महावत नेह ।।१६४।।
(मतिराम : रसराज)

हूल इते पर मैन महावत लाज के आँदू परे गथि पाइन ।
त्यों 'पदमाकर' कौन कहै गति माते मतंगन की दुखदाइन ।।
ये अँग-अंग की रोसनी में सुभ ओसनी चीर चुम्यो चित चाइन ।
जाति चली ब्रज ठाकुर पैं ठमका ठुमकी ठमकी ठकुराइन ।।२३०।।
(पद्माकर : 'जगद्विनोद'[1])

---

१. 'पद्माकर पंचामृत'—सम्पादक पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्रथम संस्करण ।

(२) गुच्छनि के अवतंस लसैं सिर पच्छन अच्छ किरीट बनायो ।
पल्लव लाल समेत छरी कर पल्लव सौं 'मतिराम' सुहायो ॥
गुंजनि के उर मंजुल हार सुकुंजनि तैं कढ़ि बाहिर आयो ।
आज कौ रूप लखैं नँदलाल को आजुहि नैननि को फल पायो ॥२३८॥

(मतिराम : रसराज)

आई भले हौं चली सखियान मैं पाई गोविन्द के रूप की झाँकी ।
त्यौं 'पद्माकर' हार दियो गृह काज कहा अरु लाज कहाँ की ॥
है मख ते सिख लौं मृदु माधुरी बाँकीयै भौंहैं बिलोकनि बाँकी ।
आज की या छबि देखि भटू अब देखिबे को न रह्यौ कछु बाकी ॥३३१॥

(पद्माकर : वही 'जगद्विनोद')

(३) मोतिन को मेरो तोर्यौ हरा गहि हाथन सौं रहे चूनरी पोढ़े ।
ऐसे ही डोलत छैल भए तुम्हें लाज न आवत कामरी ओढ़े ॥

(मतिराम : रसराज)

काम यो लाड़िली को तिहि में तुम्हें लाज न लागति गोप कहूँ के ।
छैल भए छतियाँ छिरको फिरौ कामरी ओढ़े गुलाल के ढूके ॥४५१॥

(पद्माकर : वही 'जगद्विनोद')

यहाँ छन्दों से स्पष्ट ही है कि पद्माकर ने मतिराम से भाव और प्रसंग— दोनों ही ग्रहण किये हैं । इसी प्रकार—

(१) साँझ समै ललना मिलि आईं खरो जहाँ नंद लला अलबेलो ।
खेलन कों निसि चाँदनी माँहि बनें न मतो 'मतिराम' सुहेलो ॥
आपनि-आपनि पौरि बताय कै बोलि कह्यौ सिगरीन नबेलो ।
त्यौं हँसिकै ब्रजराज कह्यौ सब आज हमारिहि पौरि मैं खेलो ॥२४८॥

(मतिराम : रसराज)

देखि 'पदमाकर' गोबिंद को आनंद भरी
आई सजि साँझ ही तैं हरषि हिलोरे में ।
ए हरि हमारे ई हमारे चलो झूलन कों
हेम के हिंडोरम झुलान के झकोरे में ॥
या बिधि बूधन के सुबैन सुनि बनमाली
मृदु मुसुक्याइ कह्यो नेह के निहोरे में ।
कालिह चलि झूलेंगे तिहारेई तिहारी सौंह
आज तुम झूलो ह्याँ हमारेई हिंडोरे में ॥२२६॥

(पद्माकर : वही 'जगद्विनोद')

(२) मो तें तो कछु न अपराध पर्‌यो प्रान प्यारी
मान करि रही यौं ही काहे को अरस तें ।
लोचन चकोर मेरे सीतल हैं होत तेरे
अरुन कपोल मुख चंद के दरस तें ॥

कहै 'मतिराम' उठि लागु उर मेरे किन
करत कठोर मन अँसुवा बरस तैं।
कोप तैं कटुक बोल बोलते तऊ मोकों
मीठे होत अधर सुधारस परस तैं ॥२५१॥
पियत रहैं अधरान को रस अति मधुर अमोल।
ताते मीठे कढ़त हैं बाल बदन तैं बोल ॥२५२॥
(मतिराम : रसराज)

करि कंद को मंद दुचंद भई फिरि दाखन के उर दागती हैं।
'पद्माकर' स्वादु सुधा तें सिरैं मधु तें महा माधुरी जागती हैं॥
गनती कहा एरी अनारत की ये अँगूरन तें अति पागती हैं।
तु बातें निसीठी कहौ रिस में मिसिरी तें मिठी हमें लागती हैं ॥२६५॥
(पद्माकर : वही 'जगद्विनोद')

यहाँ पर प्रसंग-योजना में थोड़ा-सा अन्तर है, पर भाव दोनों ही कवियों के एक जैसे हैं।

रीतिकाल के फुटकर कवि

रीतिकाल के उपर्युक्त प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त इस युग के इतर कवि भी मतिराम से प्रभावित रहे हैं। प्रस्तुत उपशीर्षक के अन्तर्गत हम उन कवियों पर ही मतिराम के प्रभाव की परीक्षा करेंगे, जिनके सभी ग्रन्थ उपलब्ध न होकर केवल प्रकीर्ण छन्द ही मिलते हैं अथवा जिन पर उनका कम प्रभाव रहा है या फिर जो प्रकाश में ही नहीं आ पाये।

मतिराम और आलम—फुटकर कवियों में काल-क्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम आलम आते हैं। इनके जो छन्द उपलब्ध हैं, उनमें से कतिपय पर तो मतिराम का स्पष्ट प्रभाव रहा है। देखिए—

कानन लौं लागे मुसकान प्रेम पागे लौने
लाज भरे लागे लोल लोचन अनंग ते।
भार धरि भुजनि डुलावति चलति मंद
औरै ओप उलहत उरज उतंग ते॥
'मतिराम' जोबन पवन की झकोर आय
बढ़ि कै सरस रस तरल तरंग ते।
पानिप अमल की झलक झलकन लागी
काई-सी गई है लरिकाई कढ़ि अंग ते ॥२२॥
(मतिराम : रसराज)

छुटि आईं भौंहैं मुरि चढ़ी हैं उचौंहैं
नैना मैन मदमाते पलकन चपलई है।
कटि छोंटि पै सिमिटि आई छाती ठौर
ठौर तें सँवारी देह और कछु भई है॥

'आलम' उमँगि रूप सोना सरवर भर्‌यो
पानिप तें काई लरिकाई मिटि गई है।
झलक सी भई पियरस पियरई किधौं
कछु तरुनई अब नई अरुनई है॥
(आलम)[1]

मतिराम के छन्द का अन्तिम चरण और आलम के छन्द का तीसरा, दोनों लगभग एक ही जैसे हैं—अप्रस्तुत मतिराम से ही लिया गया है। कुल मिलाकर भी आलम का उक्त छन्द मतिराम के छन्द की छाया ही कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार—

बारबधू पिय पंथ लखि अँगरानी अँग मोरि।
पौढ़ि रही परजंक जनु डारी मदन मरोरि॥१६६॥
(मतिराम : रसराज)

मारि मारि मौंजिके मरूरन मरोरि डारी
मेरे नैना मेरी माई मोही सौं अरत हैं॥
(आलम)[2]

यहाँ पर भी स्पष्ट ही है कि मतिराम के दोहे का अन्तिम चरण आलम की उक्त पंक्तियों में से प्रथम में गृहीत है। किन्तु इससे भी बड़ी बात जो देखने को मिलती है, वह यह कि आलम हमारे कवि की भाषा-शैली से भी प्रभावित रहे हैं—उसकी अक्षर-मैत्री का आदर्श इनके सम्मुख रहा है। यही कारण है कि उनका कोई-कोई छन्द तो मतिराम की ही रचना प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए देखिए—

किंकिन नेवर की झनकारनि चारु पसार महारस जालहि।
काम कलोलनि में 'मतिराम' कलानि निहाल कियो नँदलालहि॥
स्वेद के बूँद लसैं तन मैं रति अंतर ही लपटाय गुपालहि।
मानो फली मुकता फल पुंजन हेमलता लपटानी तमालहि॥३१६॥
(मतिराम : रसराज)

किंकिन कंकन क्वान मिलै बर दादुर झींगुर की झनकारहि।
भूषन की मनि एक भई जुगुनू बर की मनि जोति अपारहि॥
'आलम' कामिनि को तन कुंदन जाइ मिल्यो जग बीच उजारहि।
काम के आसनि स्याम निसा बर बैरी सहाइ भये अभिसारहि॥
(आलम)[3]

---

१. दे० 'रीति-शृंगार'—सम्पादक डा० नगेन्द्र (सन् १९५४ ई० का संस्करण) के अन्तर्गत आलम संगृहीत छन्द, पृ० ८२।

२. दे० वही, 'रीति-शृंगार' पृ० ८४।

३. दे० वही, 'रीति-शृंगार' पृ० ८५।

मतिराम और तोष—तोष के ऊपर भी मतिराम का प्रभाव रहा है। इसकी पुष्टि के लिए पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'मतिराम' ग्रन्थावली की भूमिका के अन्तर्गत इनके जो छन्द उद्धृत किये हैं[1], उन्हें हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं, देखिए—

(१) यों 'मतिराम' भयो हिय में सुख बाल के बालम सों दृग जोरें।
ज्यों पट में अति ही चटकीलो चढ़ै रँग तीसरी बार के बोरें ॥२२१॥
(मतिराम : रसराज)

करि जाय बड़ाई तितो करियो तब आय सुअंग में रंग मढ़ै।
बिन ढंग भट्ट पट हू में जथा बिनु तीसरे रंग ना चढ़ै ॥
(तोष)

(२) जा दिन तें चलिबे की चरचा चलाई तुम
ता दिन तें वाके पियराई तन छाई है।
कहै 'मतिराम' छोड़े भूषन बसन पान
सखिन सों खेलनि हँसनि बिसराई है ॥
आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीति वाके चित्त
ऐसे में चलौ तो लाल रावरी बड़ाई है।
सोवत न रैन-दिन रोवत रहति बाल
बूझै तें कहति मायके की सुधि आई है ॥२०६॥
(मतिराम : रसराज)

पीतम औधि गये बदि कै जिय में तिय ता पर धीर न ल्याई।
रोज हि रोज सरोजमुखी कहि 'तोष' रहै करुना रस छाई ॥
सोच भरी क्यों रहै सब बूझति सासु परोसिनि सौंह दिवाई।
बोलि मरू करि कै मुख मोरि कै मोहि तो माइके की सुधि आई ॥
(तोष)

यहाँ दोनों ही स्थलों पर प्रसंग-योजना यद्यपि भिन्न प्रकार की है, पर रेखांकित अंशों की प्रेरणा का स्रोत मतिराम ही प्रतीत होते हैं।

मतिराम और बेनी प्रवीन—काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से बेनी प्रवीन यद्यपि मतिराम की परम्परा के कवि हैं, किन्तु इनके ऊपर उनकी भाव-सामग्री का प्रभाव अपेक्षाकृत कम दृष्टिगोचर होता है। इनके एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'नवरसतरंग' में दो-चार छन्द ही ऐसे हैं, जिन पर रसराजकार की स्पष्ट छाप कही जा सकती है, जैसे—

कुंदन को रँगु फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौन में मंजु बिलासन की सरसाई ॥

---

१. दे० वही 'मतिराम ग्रन्थावली', भूमिका, पृ० १६३-६४।

को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई ।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै, नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ॥६॥
(मतिराम : रसराज)

चंपक सो तनु नैन सरोज से इन्दु सो आनन जोति सवाई ।
बिम्ब से ओठ लसै तिल फूल सी नासिका स्वास सुवास सुहाई ॥
बाहैं मृनाल सी 'बेनी प्रबीन' उरोज उतंग नई छबि छाईं ।
ज्यों-ज्यों बिलोकिए जू प्रति अंगन त्यों-त्यों लगै अति सुन्दरताई ॥३॥
(बेनी प्रवीन : 'नवरसतरंग')[1]

यहाँ यद्यपि दोनों कवियों ने नायिका के रूप का वर्णन किया है पर काव्य-सामग्री दोनों की सर्वथा भिन्न है—केवल अन्तिम पंक्तियों में ही भाव-साम्य है। इसी प्रकार—

बैठी तिया गुरु लोगन में रति तें अति सुन्दर रूप बिसेखी ।
आयो तहाँ 'मतिराम' सुजान मनोभव सों बढ़ि कान्ति उरेखी ॥
लोचन रूप पियो ही चहैं अरु लाजनि जाति नहीं छबि देखी ।
नैन नमाय रही हिय माल में लाल की मूरति लाल में देखी ॥७४॥
(मतिराम : रसराज)

बैठी तिया गुरु नारिन में रति ते रमनीय स्वरूप सोहाई ।
आयो तहाँ मनमोहन त्यों सबकी अँखियान वही छबि छाई ॥
कैसे लखै पिय 'बेनी प्रबीन' नवीन सनेह सकोच सवाई ।
पीठि दै भामते को सजनी सजनीन की डीठि में डीठि लगाई ॥७६॥
(बेनी प्रवीन : वही 'नवरसतरंग')

यहाँ एक ही प्रकार की प्रसंग-योजना है—दोनों ही कवि क्रिया-विदग्धा-नायिका का चित्रण कर रहे हैं। दोनों के छन्दों की प्रथम तीन-तीन पंक्तियाँ एक ही जैसी हैं, अन्तर अन्तिम चरण में ही है। मतिराम की नायिका नायक का दर्शन अपने आभूषण में जड़े लाल में पड़ी परछाईं द्वारा करती है, तो बेनी कवि उसे अपनी सखियों के नेत्रों में अंकित उसके (नायक के) चित्र द्वारा कराते हैं। कहना न होगा यह भी विदग्धता की दृष्टि से एक ही प्रकार की बात है।

मतिराम और टीकाराम—अन्त में हम टीकाराम को लेते हैं। कैप्टेन शूरवीर सिंह के कथनानुसार ये रीतिकाल के अन्तिम चरण के कवि हैं[2]। इनका एक ग्रन्थ—'रसरंग'—ही अभी तक उपलब्ध है, जिसकी प्रतिलिपि मुझे उक्त कैप्टेन

---

१. सम्पादक पं० कृष्णबिहारी मिश्र—सन् १९२५ ई० का संस्करण।

२. टीकाराम ने 'रसरंग' की रचना कब और कहाँ की तथा ये कौन थे, इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की सामग्री उपलब्ध नहीं। भाषा-शैली की शिथिलता तथा वर्ण्य-विषय में मौलिकता के अभाव को देखकर ही हम भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये रीतिकाल के अंतिम चरण के ही कवि हो सकते हैं।

साहब के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि 'रसराज' के लगभग सभी छन्द रूपान्तरित करके ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए गये हैं। टीकाराम भाव, काव्य-सामग्री और भाषा-शैली—इन तीनों की दृष्टि से मतिराम के अत्यधिक ऋणी हैं। यहाँ कुछ छन्द उद्धृत करते हैं, जिनकी तुलना से बात स्पष्ट हो जायगी, देखिए—

(१) कुन्दन को रंगु फीको लगै झलकै अति अंगन चारु गुराई।
अाँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥६॥

(२) संचि बिरंचि निकाई मनोहर लाजति मूरतिवंत बनाई।
ता पर तो परभाग बड़े 'मतिराम' लसै पति प्रीति सवाई॥
तेरे सुसील सुभाव भट्ट कुलनारिन को कुलकानि सिखाई।
तैं ही जनो पतिदेवत के गुन गौरि सबै गुनगौरि पढ़ाई॥११॥

(३) जानति सौति अनीति हैं जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज हैं पीतम जानत प्रीति॥१२॥

(४) खेलन चोर मिहीचनि आजु गई हुती पाछिले द्यौस की नाईं।
आली कहा कहौं एक भई 'मतिराम' नई यह बात तहाँई॥
एकहि भौन दुरे इकसंग ही अंग सों अंग छुवायो कन्हाई।
कंप छुट्यो घन स्वेद बढ़्यो तनु रोम उठ्यो अँखियाँ भरि आई॥१६॥

(५) चित्त में बिलोकत ही लाल को बदन बाल
जीते जिहि कोटि चंद सरद पुनीन के।
मुसकानि अमल कपोलनि मैं रुचि बूंद
चमकै तर्योननि की रुचिर चुनीन के॥
प्रीतम निहार्यो बाँह गहत अचानक ही
जामैं 'मतिराम' मन सकल मुनीन के।
गाढ़ी गही लाज मैन कंठ ह्वै फिरत बैन
मूल छ्वै फिरत नैन बारि बरुनीन के॥३१॥

(६) प्रान प्रिया मनभावन संग अनंग तरंगनि रंग पसारे।
सारी निसा 'मतिराम' मनोहर केलि के पुंज हजार उघारे॥
होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम सुन्दरि के हिय मैं दुख भारे।
चंद सो आनन दीप सी दीपति स्याम सरोज से नैन निहारे॥३४॥

(७) बैठी एक सेज पै सलोनी मृगनैनी दोऊ
आय तहाँ प्रीतम सुधा समूह बरसै।
कवि 'मतिराम' ढिग बैठे मनभावन जू
दुहुँन के हीय-अरबिंद मोद सरसै॥

आरसी दै एक सौं कह्यो यों निज मुख देखौ
जामे बिधु-बारिज-बिलास बर दरसै।
दरप सौं भरी वह दरपन देख्यो जौ लौं
तौ लौं प्रान प्यारी के उरोज हरि परसै ॥५६॥

(८) याही कौं पठाई भलो काम करि आई बड़ी
तेरी ये बड़ाई लखै लोचन लजीले सौं।
साँची क्यों न कहै कछु मोकों किधौं आपहि को
पाइ बकसीस लाई बसन छबीले सौं॥
'मतिराम' सुकबि संदेसा अनुमानियत
तेरे नख सिख अंग हरष कटीले सौं।
तू तो है रसीली रस बातन बनाय जानै
मेरे जान आई रस राखि कै रसीले सौं ॥६६॥

(९) ह्वाँ मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलिकरी अति आनँदवारी।
तेई लता द्रुम देखत दुःख चले अँसुवा अँखियान ते भारी॥
आवति हौं जमुना तट को नहि जानि परै बिछुरैं गिरधारी।
जानति हौं सखी आवन चाहत कुंजनि तें कढ़ि कुंजबिहारी ॥११८॥

(१०) सेत सारी सोहत उजारी मुखचन्द की-सी
महलनि मन्द मुसक्यान की महमही।
अँगिया के ऊपर ह्वै उलही उरोज ओप
उर 'मतिराम' माल मालती डहडही॥
माँजे मंजु मुकुर-से मंजुल कपोल गोल
गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।
फूलनि की सेज बैठी दीपति फैलाय लाय
बेला को फुलेल फूली बेली-सी लहलही ॥१७६॥
(मतिराम : रसराज)

(१) दामिनि कंचन चंप कहूँ कि दुरी दुरि देखत देह गुराई।
आलस सील सँकोच भरे दृग मोहन-मोहन के मन भाई॥
जाइ बिकाइ न को बिन मोलहि मंद हँसी लखि मंजु मिठाई।
ज्यों मिलि कै अति दरहु ते लखि पूरति लोचन भूरि निकाई ॥६॥

(२) सोधि कै बिरंचि सकल रचना कै तन तोहि
जाइकै इकंत जन माँहि बिरचि काढ़ी है।
सहज सुभाय सुसीलादिक मंजु रच्यौ मन—
दधि सुभाय इनकी करम कीर्ति बाढ़ी है॥
'टीकाराम' बाम तेरो नेम निरविकल बपू
छोड़े छल छन्द मंद पति प्रीति बाढ़ी है।

भाग तेरे पति के सभाय सुकुमारि प्यारी
पतिव्रत कियो जिमि महेस उमा गाढ़ी है ॥१२॥

(३) गहति सुनीतिहि सखि सौति लति अनीतिहि छानि ।
लाज भार गुरुजन गनैं प्रीति प्रीतमहिं मानि ॥१३॥

(४) खेलति हीं सिगरी सजनी बहु बीति गई रजनी तुहुँ आई ।
मैं बुरिबे को गई जहँ को तहँ आय गये नँदलाल कन्हाई ॥
मोहि गह्यो भरि अंक अबै तब कंप छुटो तन में अधिकाई ।
रोम उठे सबरे तनके छन स्वेद चलो अँखियाँ भरि आई ॥२०॥

(५) संग सखीन बिराजति है वृषभान लली जनु चंपकली ।
सीस फूल मय तूल गुच्छ जनु गुंजत (हैं) मनु लाल अली ॥
आनि अचानक बानक सों हरि बाँहैं गही अँग-अंग हली ।
लाज गही मुख बात न आवत नैन बही जलधार चली ॥३४॥

(६) नन्दलला वृषभान लली रचि सेज भली रति केलि करी है ।
हास बिलास (न) के परिरंभनि हावनि भाव सुभूरि भरी है ॥
देखि सकारे सुनंदकुमार चल्यो वह सुन्दरि सोच भरी है ।
आनन श्री ससि सी दुति दीप सी लोचन कोक कली उघरी है ॥३६॥

—प्रथम प्रभाव

(७) एकै परजंक पै मयंक मुखी हुती दुओ
आयो नन्दलाल बेस माल हिए झलकी ।
कबि 'टीकाराम' आइ आतुर समीप प्यारी
दुहुन के (हिए में) बिलास मोद कलकी ॥
लैके प्रतिबिम्ब लखि पेखै निज आनन को
जाकी दुति चपला पति चपला अचलकी ।
मान भरी जौलौं प्रतिबिम्ब देखै प्रान प्यारी
गह्यो प्रान प्यारे तो लौं उरोज छन्द छलकी ॥२१॥

—द्वितीय प्रभाव

(८) देखिए तिहारे अँग-अंग की निकाई आजु
आली बनमाली जू के संग केलि-कीन्यो है ।
कसुर्कारि तुम को पठाई पास साँवरे के
पाई बकसीस कै हमको उन दीन्हों है ।
कबि 'टीकाराम' तू तौं आपहि रसीली बड़ी
आँखें उफनाइ और लाज बल कीन्हो है ।
मेरे जान स्याम सों सलोनी यों बिहार कियो
जानि परै ऐसो जलजात पात चीन्ह्यो है ॥३॥

—चतुर्थ प्रभाव

(९) यों ब्रज में ब्रजराज के संग अनंद अनंगनि केलि करी।
कवि 'टीकाराम' सुस्याम समेत इहाँ जमुना जल आनि भरी॥
अब देखत बारि उठै तन वारि सुवारिज लोचन वारि झरी।
मन मेरे सखी यह आवत है जनु गावत कुंजन बीच हरी॥११॥

(१०) सीस फूल माँग मोती करन फूल बेनी त्यों
फूलमाल बाल मालती सी लहलहाति।
अमल कपोल गोल नैन छवि मीन भाँति
हँसी मृदु मंद मंद सुगन्ध सी महमहात॥
कंठ उर कर पग चुनीन ब्रज मोती (?)
प्रफुलित भई ज्यों बेलि सी डहडहात।
सुभग सुहाइ सेज परी पिय प्यारी सखी
'टीकाराम' देखौ कामलता गहगहात॥६६॥

(टीकाराम : 'रसरंग'—पंचम प्रभाव)

मतिराम और टीकाराम—इन दोनों कवियों के उपर्युक्त छन्दों की एक-दूसरे के साथ तुलना करने से यह स्पष्ट ही है कि 'रसरंग' के रचयिता ने भाव और काव्य-सामग्री की दृष्टि से तो रसराजकार को अपने सम्मुख रखा ही है, भाषा-शैली और अभिव्यंजना की दृष्टि से भी यथासंभव अनुकरण करने का प्रयास किया है। कहना न होगा कि यह बात केवल उक्त दस छन्दों में ही नहीं, 'रसरंग' के शेष छन्दों के सम्बन्ध में भी सत्य है। वस्तुतः टीकाराम मतिराम से उसी प्रकार प्रभावित रहे हैं, जिस प्रकार से मतिराम ने रहीम से प्रभाव-ग्रहण किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि मतिराम ने केवल भाव अथवा प्रसंग ही रहीम से लेकर शेष सब कुछ अपना जुटाया है, जबकि टीकाराम का इन छन्दों में अपना कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता।

निष्कर्ष

संक्षेप में परवर्ती-साहित्य पर मतिराम का विशेष प्रभाव नहीं रहा। रीति-निरूपण में तो भूषण के सिवाय और किसी ने इनका आश्रय लिया ही नहीं। जहाँ तक इनके काव्य का प्रश्न है उसका प्रभाव अपने आप में पर्याप्त है, पर वैसा नहीं जैसा कि बिहारी का परवर्ती कवियों पर और रहीम का इन पर रहा। बात वास्तव में यह है कि बिहारी चमत्कारवादी कवि थे और चूँकि उक्ति-चमत्कार से ही कवि को काव्य-रसिक-समुदाय में वाह-वाही मिलती है तथा इसका अनुकरण भी सरलता से हो जाता है, यही कारण है कि ये लोग बिहारी को अपना आदर्श मानते रहे। दूसरी ओर इसके विपरीत गम्भीर-प्रकृति मतिराम की कविता में चमत्कार के स्थान पर गम्भीर रस-सिद्धता थी, जिसका अनुकरण करना इनके लिए सहज नहीं था, इसीलिए इनका (मतिराम का) प्रभाव अधिक व्यापक न हो पाया। फिर भी इतना

निश्चित है कि ये लोग चाहे इनसे प्रभाव ग्रहण न कर पाये हों पर इनका सम्मान तो करते ही थे। दास, सूदन आदि कवियों के इनके प्रति श्रद्धा-वाक्य इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं।

३—हिन्दी-साहित्य में मतिराम का स्थान

साधारणतः किसी भी साहित्य के अन्तर्गत उसके किसी विशिष्ट कवि का स्थान निर्धारित करना अपने आपमें सहज कार्य नहीं हुआ करता है और न यह किसी प्रकार से उचित ही कहा जा सकता है। कारण, साहित्य किसी एक व्यक्ति की सृष्टि नहीं—अगणित स्रष्टा इसके भाण्डार को अपनी अमूल्य ज्ञान-राशि द्वारा समृद्ध करते हैं तथा प्रत्येक की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। दूसरे, यह एक समय की उपज भी नहीं हुआ करता; प्रत्येक युग में भाषा, संस्कृति, जीवन के मूल्यों आदि का परिवर्तन इसके स्वरूप को अपने अनुरूप ढालता रहता है। हिन्दी-साहित्य के चारों कालों और उनमें भी विभिन्न प्रवृत्तियों तथा भाषाओं की विविधता इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। फिर भी किसी कवि के साहित्य का मूल्यांकन करने तथा उसके महत्त्व को समझने के लिये उसे अन्य साहित्य-स्रष्टाओं के साथ रख कर देखना अनिवार्य होगा। किन्तु यह तभी सम्भव एवं समीचीन कहा जा सकता है, जबकि केवल उन्हीं कवियों को दृष्टि में रखा जाय, जिन्होंने जीवन के प्रति एक ही प्रकार का दृष्टिकोण तथा एक ही प्रकार की विषय-वस्तु को अपनाया है, क्योंकि यही दो बातें ऐसी हैं, जिनके आधार पर किसी भी युग—यहाँ तक कि इतर साहित्यों के कवियों की तुलना भी की जा सकती है।

जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण के आधार पर हिन्दी-साहित्य के कवियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वे हैं, जिन्होंने जीवन के हर क्षेत्र में अत्यन्त गहराई के साथ पैठ की है—उसे समग्र रूप में ग्रहण किया है। इनमें 'मानस' के रचयिता तुलसी, कामायनीकार 'प्रसाद' आदि को रखा जा सकता है। दूसरे वर्ग के कवि वे हैं जो जीवन को खण्ड रूप में ही ग्रहण कर पाये हैं। इनमें विद्यापति, केशव, रहीम, बिहारी, भूषण, देव, दास, पद्माकर आदि मुक्तककार आते हैं। मतिराम को भी इन्हीं द्वितीय वर्ग के कवियों में स्थान देना होगा। उन्होंने अपने युग की प्रवृत्ति के अनुसार एक ओर रीति-निरूपण और दूसरी ओर शृंगारिक-काव्य की रचना तो की ही, साथ में वीरगाथाकाल से चली आ रही राज-प्रशस्ति की प्रवृत्ति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनके अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में अध्यात्म, नीति और प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं, किन्तु इनको उन्होंने अपने काव्य का साध्य नहीं बनाया—उनके अध्यात्म और नीति-सम्बन्धी विचार जहाँ उनके पारिवारिक संस्कारों तथा उस युग की घोर अनैतिकता की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हैं, वहाँ प्रकृति-वर्णन प्रायः उनकी अभिव्यक्ति का अंग बनकर आया है। संक्षेप में, एक ओर हिन्दी के रीति-आचार्यों तथा दूसरी ओर शृंगार और राज-प्रशस्ति-परक मुक्तक-रचयिताओं की परम्परा में ही मतिराम का स्थान निर्धारित किया जा सकता है।

रीति-निरूपण की दृष्टि से भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा में मतिराम

का कोई योगदान नहीं रहा। संस्कृत में साधारणतः दो प्रकार के आचार्य हुए हैं—(१) मौलिक उद्भावक, और (२) व्याख्याता। मौलिक उद्भावकों में भरत, भामह, दण्डी आदि वे आचार्य आते हैं जिन्होंने काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों के सम्बन्ध में अपनी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं जबकि व्याख्याता आचार्यों की कोटि में मम्मट, विश्वनाथ आदि को रखा जा सकता है, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों की व्याख्या मात्र की है। मतिराम को इन दोनों ही कोटियों में से किसी में भी नहीं रखा जा सकता। उन्होंने तो क्या रीतिकाल के किसी भी आचार्य ने इस प्रकार की कोई मौलिक उद्भावना नहीं की। काव्य-शास्त्र के अंगों की व्याख्या भी उनके ग्रन्थों में नहीं, केवल लक्षण दिये गये हैं और वे भी संस्कृत के तत्सम्बन्धी लक्षणों के अनुवाद ही हैं। इस प्रसंग में यद्यपि यह प्रश्न किया जा सकता है कि अपने छन्द-निरूपण में उन्होंने जिन छन्दों की उद्भावना की उनके आधार पर तो इन्हें महत्त्व मिलना ही चाहिए। किन्तु इस सम्बन्ध में यह निवेदन करना असंगत न होगा कि एक तो यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किसी छन्द की उद्भावना की है और यदि की भी हो तो भी उसका मौलिकता की दृष्टि से महत्त्व नहीं, कारण संस्कृत के छन्दःशास्त्रकारों ने प्रत्यय का जो प्रकरण प्रस्तुत कर दिया है, उसके आगे किसी प्रकार की उद्भावना की गुंजायश ही नहीं रह जाती।

जहाँ तक हिन्दी के रीतिकालीन रीति-निरूपक कवियों में इनके स्थान का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में कुछ कहने से पूर्व यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि इस युग में रीति-निरूपण-सम्बन्धी ग्रन्थ मुख्यतः तीन वर्गों में रखे जा सकते हैं—(१) मम्मट और विश्वनाथ की शैली पर लिखे गये ग्रन्थ जिनमें काव्य-शास्त्र के सभी अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है, (२) रुद्रट के 'शृंगार तिलक' और भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' तथा 'रसमंजरी' की शैली पर लिखे गये नायक-नायिका-भेद और शृंगार रस-वर्णन-सम्बन्धी ग्रन्थ, तथा (३) 'चन्द्रालोक' की शैली पर रचे गए ग्रन्थ जिनमें अलंकारों के संक्षिप्त लक्षण दिये गए हैं। इनके अतिरिक्त रीति-निरूपण की दो स्वतन्त्र शैलियाँ और मिलती हैं। इनमें प्रथम अलंकार-निरूपण की है, जिसमें साधारणतः उदाहरणों की रचना पर अधिक बल दिया गया है। दूसरी शैली छन्द-निरूपण की है। इसमें लक्षण और उदाहरण संस्कृत के इस विषय से सम्बद्ध ग्रन्थों के अनुकरण पर नहीं लिखे गये—लक्षण प्रायः दोहों में ही दिये गये हैं, सूत्रों में नहीं। मतिराम के रीति-निरूपण-सम्बन्धी चार ग्रन्थों—'रसराज', 'ललितललाम', 'अलंकार पंचाशिका' और 'छन्दसार संग्रह' में से 'रसराज' तो रुद्रट और भानुदत्त के अनुकरण पर रचित ग्रन्थों के वर्ग में आ जाता है, शेष अन्त की दोनों स्वतन्त्र शैलियों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। इस प्रकार शृंगार रस तथा नायक-नायिका-भेद-निरूपण में मतिराम के प्रतिद्वन्दी केशव, रहीम, देव, दास, पद्माकर आदि, अलंकार-निरूपण में भूषण, रघुनाथ, दूलह, प्रतापसाहि आदि, तथा छन्द-निरूपण में चिन्तामणि, सुखदेव मिश्र, दास, दशरथ, रामसहाय, मक्खन आदि को माना जा सकता है। शृंगार रस तथा नायक-नायिका-भेद-निरूपण के प्रसंग में यद्यपि वे सभी के समान शृंगार रस को रसराज कहते हैं, किन्तु उनका विवेचन मूलतः भानुदत्त के आधार

पर ही है—केशव और देव के समान उन्होंने अन्य रसों का इसमें अन्तर्भाव कर मौलिकता दर्शाने का भ्रामक प्रयत्न नहीं किया। नायक-नायिका-भेद भी उक्त संस्कृत-ग्रन्थ के आधार पर ही है और उसमें भी इन्होंने उक्त आचार्यों के समान उन नायिकाओं को भरने का प्रयास नहीं किया, जिनका वर्णन संस्कृत-काव्य-शास्त्रकारों ने नहीं किया। उनके एतद्विषयक निरूपण की प्रमुख विशेषता विषय-व्यवस्था, लक्षणों की स्वच्छता तथा उदाहरणों का स्वारस्य है। उदाहरणों के स्वारस्य में तो केवल देव ही उनके आगे ठहरते हैं। अलंकार-निरूपण में मतिराम के निकट प्रतिद्वन्दी यद्यपि भूषण कहे जा सकते हैं, किन्तु उनके शिवराज-भूषण-गत लक्षण और उदाहरण अपने आपमें अस्पष्ट या फिर भ्रामक हो जाने के कारण मतिराम के विवेचन की स्वच्छता की समता नहीं कर पाते। शेष अलंकार-निरूपकों में दूलह और पद्माकर का विवेचन अपने आपमें प्रौढ़ होते हुए भी जहाँ मतिराम की अपेक्षा संक्षिप्त है—अर्थात् उसमें संक्षिप्त उदाहरण देकर विषय को चलता कर दिया गया है, वहाँ रघुनाथ और प्रतापसाहि इनकी तुलना में कुछ भारी पड़ते हैं—दोनों ने अपने आचार्य-कर्म को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया है। रही बात छन्द-निरूपण की, तो उसमें मतिराम का स्थान अन्यतम है। मौलिकता की दृष्टि से तो नहीं पर निरूपण-स्वच्छता, विषय-व्यवस्था, कलेवर तथा आधार ग्रन्थों की अधिक संख्या की दृष्टि से वे सहज ही चिन्तामणि और सुखदेव से बढ़ जाते हैं, जबकि परवर्ती छन्द निरूपकों की अपेक्षा वे यथास्थान संस्कृत-ग्रन्थों का हवाला देकर अपनी सूक्ष्म आलोचक दृष्टि का परिचय देते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कवि-शिक्षक हिन्दी-आचार्यों में मतिराम का विशेष स्थान है—विषय-निरूपण की स्वच्छता के परिणामस्वरूप आज भी उनके ग्रन्थ समादृत हैं।

हिन्दी में श्रृंगारिक मुक्तककारों की परम्परा विद्यापति से आरम्भ होती है। उनके पश्चात् केशव, बिहारी, देव और पद्माकर का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। सूर ने भी पर्याप्त मात्रा में श्रृंगारिक मुक्तकों की रचना की है, पर चूँकि उनका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण इनकी अपेक्षा भिन्न है, अतएव उन्हें इस वर्ग में रखना उचित न होगा, तथा विद्यापति का नारी-सौन्दर्य-वर्णन अपने आपमें इतना निखरा हुआ है कि उसकी समता मतिराम तो क्या हिन्दी का कोई भी कवि नहीं कर सकता। उनकी रस-चेतना के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इस प्रकार मतिराम के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी केशव, बिहारी, देव और पद्माकर ही रह जाते हैं, जो उनकी अपेक्षा प्रसिद्ध भी हैं। किन्तु यहाँ यह निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि केशव अपने पाण्डित्य की प्रौढ़ता के कारण चाहे मतिराम से ऊँचे ठहरते हों पर सरसता की दृष्टि से नहीं। यह सत्य है कि 'रसिकप्रिया' का रचयिता रसिक व्यक्ति है, पर उसमें रसराजकार की रचनाओं की वे उर्मिल भावनाएँ नहीं जो काम के हलके झकोरे देकर सहृदय को तरंगायित कर सकती हैं। भाषा के मार्दव और सौष्ठव—दोनों की दृष्टि से भी मतिराम केशव की तुलना में इक्कीस ही बैठते हैं।

केशव के समान ही बिहारी को भी सबसे अधिक प्रसिद्धि मिली है। कहना न होगा कि इस दृष्टि से मतिराम बिहारी के पासंग भी नहीं। किन्तु लोक-विश्रुति

के आधार पर एक को दूसरे से उत्कृष्ट कहना आलोचना का भ्रामक मानदण्ड होगा। उनका सही मूल्यांकन काव्यगत विशेषताओं के आधार पर ही होना चाहिए। बिहारी के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता उक्ति-चमत्कार है जिसको मतिराम ने कभी आदर नहीं दिया। पर इनकी कविता में जो रसार्द्रता तथा निश्छल अभिव्यक्ति देखने को मिलेगी, वह बिहारी की वक्रताओं और ऊहाओं की तुलना में अधिक स्थायी एवं गम्भीर है। बिहारी अपनी कलागत सूक्ष्म अभिव्यक्ति—अपने चित्रों की सूक्ष्म रेखाओं की योजना द्वारा चमत्कृत भले ही कर सकते हों पर मतिराम के समान उनमें स्पष्ट और स्वच्छ रेखाओं की सहायता से तन्मय करने की क्षमता नहीं। हाँ, इस दृष्टि से देव अवश्य ही उनके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनकी रचना में जो आवेग और गाम्भीर्य है, वह रसराजकार की रचनाओं में प्रायः देखने को नहीं मिलता। किन्तु दूसरी ओर मतिराम में भावों की जो हलकी तरंगें हैं—वर्षा की फुहारों जैसी आनन्दित करने की शक्ति है, वह देव तो क्या हिन्दी-साहित्य के किसी भी कवि में नहीं। इसी प्रकार ब्रजभाषा का स्वच्छ एवं कलात्मक प्रयोग जितना मतिराम ने किया है, देव वैसा सामान्यतः नहीं कर पाये—उनकी कविता में अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे जहाँ भाषा भाव का साथ देती हुई नहीं मिलती।

ब्रजभाषा के कलात्मक प्रयोग की दृष्टि से घनानन्द और पद्माकर को लिया जा सकता है। घनानन्द के काव्य में भाषा की लाक्षणिक-वक्रता और मुहावरे प्रायः उनके प्रेमी हृदय की सही अभिव्यक्ति करते हैं, इसीलिए उनके काव्य में तन्मयता की मात्रा भी कहीं अधिक है। मतिराम की भाषा में यह विशेषता तो नहीं आ पाई पर स्वच्छता इसमें इतनी अधिक है कि सहज ही वे घनानन्द से ऊँचे उठ जाते हैं। परन्तु भाषागत यह भिन्नता वर्णन-शैली की भिन्नता के कारण न होकर दोनों के काव्य-क्षेत्र की भिन्नता के कारण है—घनानन्द ने केवल 'प्रेम की पीर' की अभिव्यक्ति की है, जबकि मतिराम ने श्रृंगार को अपनी कविता का मुख्य विषय बनाया है। ऐसी दशा में इन दोनों कवियों की भाषा की तुलना करना उचित नहीं जान पड़ता। हाँ, पद्माकर के साथ अवश्य ही इस दृष्टि से तुलना की जा सकती है, कारण दोनों का वर्ण्य-विषय श्रृंगार ही है। किन्तु यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि पद्माकर की कविता में कल्पना की उड़ान तथा भावना का आवेग मतिराम की अपेक्षा अधिक है, और यही कारण है कि इन दोनों कवियों के भाषा-प्रयोग में पर्याप्त अन्तर हो गया है। मतिराम जहाँ अपनी रचनाओं में मधुर संगीत की सृष्टि करते हैं, वहाँ पद्माकर की भाषा में नाद-सौन्दर्य मिलता है। दूसरे शब्दों में मतिराम के काव्य में 'स्वर-संगति' अधिक है, तो पद्माकर ने व्यंजनों के संघात द्वारा 'मृदंग-घोष' उत्पन्न किया है। वस्तुतः यदि एक में वीचि-विलास है तो दूसरे गम्भीर घोष करने वाला नद-प्रवाह।

राज-प्रशस्ति-परक रचनाओं में मतिराम के केवल दो ही प्रतिद्वन्द्वी हैं—भूषण और पद्माकर। कहना न होगा कि परिमाण की दृष्टि से ही नहीं, विषय-वस्तु की व्यापकता तथा काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी उनका काव्य इन दोनों कवियों की रचनाओं से कहीं बढ़ा-चढ़ा है। भूषण और पद्माकर—दोनों ने ही प्रायः अपने

आश्रयदाताओं के पराक्रम मात्र का वर्णन किया है, जबकि मतिराम ने पराक्रम के अतिरिक्त उनके दान, धर्मपालन तथा वैभव का अत्यन्त विशद वर्णन किया है। गज-वर्णन तो मतिराम के सिवाय किसी ने किया ही नहीं—पद्माकर ने यद्यपि कतिपय छन्द लिखे हैं, किन्तु उनमें वह सौन्दर्य नहीं आया जो मतिराम की रचनाओं में है। दूसरे भाषा-प्रयोग की दृष्टि से पद्माकर तो इनके निकट आ जाते हैं पर भूषण बहुत पीछे रह गये हैं। गढ़े हुए शब्द उनकी कविता में चाहे मतिराम से अधिक घोष उत्पन्न कर सकते हों पर उनमें स्वच्छता और सौष्ठव का सर्वथा अभाव है—भाषा भाव के अनुसार चल ही नहीं पाई। इसके अतिरिक्त मतिराम का काव्य राजविषयक-रति के निकट इतना नहीं जितना कि भूषण का है—उनके काव्य में विशुद्ध 'उत्साह' उपलब्ध होता है, तो इन्होंने उसे अत्युक्तियों के बवंडर द्वारा उभरने ही नहीं दिया। इस दृष्टि से पद्माकर अपेक्षाकृत अधिक सफल हैं, पर मतिराम के बराबर उनको नहीं कहा जा सकता। वैसे इतना अवश्य है कि भूषण की राजविषयक-रति महाराज शिवाजी के हिन्दू-धर्म-रक्षा जैसे महान् कर्म के प्रति होने के कारण मतिराम की अपेक्षा अधिक प्रभविष्णु है।

संक्षेप में हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत मतिराम कवि-शिक्षक और कवि—दोनों ही रूपों में अपना विशेष स्थान रखते हैं। कवि-शिक्षक के रूप में जहाँ वे काव्यशास्त्र के सामान्य-विद्यार्थी के लिए सुबोध आचार्य हैं, वहाँ काव्य के क्षेत्र में उन्हें ब्रजभाषा के प्रयोग की दृष्टि से आदर्श तथा भावों की मधुर-व्यंजना का अपने जैसा एक ही कवि कहा जा सकता है। अपने युग के सरस कवियों में भी इनका स्थान अन्यतम है। भावावेग और कल्पना-वैभव में यद्यपि ये देव, घनानन्द और बिहारी जैसे कवियों से कुछ घटकर हैं किन्तु परिष्कृत रुचि और उस पर आश्रित भाव और कल्पना के सामंजस्य का धनी होने के नाते यह व्यक्ति अपने क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ है। इधर यह भी सत्य है कि जीवन को समग्ररूप में ग्रहण न कर सकने के कारण उनकी गणना तुलसी जैसे प्रथम श्रेणी के कवियों में नहीं की जा सकती, पर अपने काव्य में भोग (श्रृंगार) और कर्म-सौन्दर्य (वीर) का समान अनुपात में समावेश कर उन्होंने जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया है, जिसका हिन्दी के मुक्तककारों में साधारणतः अभाव ही रहा है।

परिशिष्ट

अ—रसराज और ललितललाम के समान कवित्त और सवैये

रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललितललाम
२०१	४२	९९	१८४	४१	२२५	६०	३२३
४०७	४४	२९०	१८८	३५७	२३३	१९९	३४२
१८१	१०४	२०६	१९२	२८२	२५२	२०१	३४४
१७२	१०७	१९१	१९७	१२९	२९०	२२९	३५७
					३१८		
३०४	१२१	३२२	२०४	३१	३०७	६८	३५९
३७८	१४१	४१०	२०६	२७८	३११	७२	३६३
२७०	१८१	३७२	२२३	२३८	३१३	४४	३७१

रसराज और ललितललाम के समान दोहे—

रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललित-ललाम	रसराज	ललित ललाम
२९७	८३	७३	१२७	१६	१३२	२११	१९३	३७३	२३१

आ—रसराज और सतसई के समान दोहे—

रसराज	सतसई	रसराज	सतसई	रसराज	सतसई	रसराज	सतसई
८	६१	१००	३८८	१७०	१७१	२४८	६९
१३	२९३	१०२	२३	१७९	१२४	२५०	८७
२१	३५	१०३	२७१	१८३	२९७	२५२	९३
२४	३७३	१०५	१३०	१८८	१६	२५३	९६
२६	२६	१०७	१८४	१९१	२१३	२५४	१००
५१	३६७	११७	३४६	१९३	२२५	२५५	२९
५२	११७	१२०	३२०	२०३	२८३	२५६	१०६
५५	२०	१२१	२२०	२०४	२११	२५७	१०३
५९	३५२	१२२	४०२	२१५	२९८	२५८	२१३
६६	७८	१२८	२५८	२४०	३२	२५९	१२१
८१	११९	१४०	२१८	२४२	४५	२६०	१२६
८४	२३३	१४९	३९७	२४३	४८	२६१	१३२
८५	४२६	१६३	८४	२४४	५४	२६२	१३५
९१	२२२	१६८	२३०	२४५	५७	२६३	१४१

रसराज	सतसई	रसराज	सतसई	रसराज	सतसई	रसराज	सतसई
२६४	१४६	२८१	२०२	२९९	२९१	५५०	८
२६५	१४८	२८२	२०४	३०३	३२६	५५१	३२९
२६६	१५०	२८३	२०७	३०५	३३२	५५४	१०९
२६७	१५३	२८५	२२७	३०८	३४१	५८८	२८६
२६८	१५८	२८६	२३९	३१५	३६१	५८९	४२३
२६९	१६२	२८७	११५	३१६	३६४	५९४	४१४
२७०	१६४	२८९	२४२	३१७	३७०	६०१	३३६
२७२	१६९	२९०	२४६	३१८	३७६	६०२	१२
२७३	१७३	२९१	२४९	३१९	४२५	६४३	७५
२७४	१७५	२९२	२५५	३२१	४११		
२७५	१७७	२९३	२५२	३२३	४१७		
२७६	१९२	२९४	२६१	३२७	७३		
२७७	१९४	२९५	२६५	५०७	४२		
२७८	१९६	२९६	२७९	५२६	७		
२७९	१९८	२९७	२८१	५२९	३९१		
२८०	२००	—	—	५३९	४२६		

इ—ललितललाम और सतसई के समान दोहे

सतसई	ललित-ललाम	सतसई	ललित-ललाम	सतसई	ललित-ललाम	सतसई	ललितललाम
१३	३१५	२१९	२१६	३४५	१७९	४०६	१३९
१८	१६७	२२३	५०	३५८	१३६	४०७	१४६
२४	३३१	२३१	११३	३६१	८१	४०८	१५३
४३	२९१	२३८	१६६	३६३	३२६	४१०	१६०
६५	६७	२४६	३०४	३७३	२०१	४११	१६१
६६	१२७	२७९	३०३	३८०	३९३	४१२	१६९
७४	१७६	३००	३४६	३८९	३१९	४१३	१७०
१७१	८२	३१८	३४०	३९१	१	४१४	१८६
१८३	८३	३२५	१४४	३९२	३	४१५	२०३
१८८	१३२	३२९	४५	४०१	९२	४१६	२०८
१९२	२११	३३४	२६९	४०२	९६	४१७	२१०
२०४	१९३	३४३	८५	४०३	११५	४१८	२१८
२१३	११०	३४४	९०	४०४	११७	४१९	२२०
				४०५	१३४		
४२०	२२७	४२७	२८६	४३४	३१६	४४१	३४९
४२१	२३७	४२८	२९३	४३५	३१४	४४२	३५१
४२२	२४१	४२९	२९५	४३६	३२८	४४५	३६१
४२३	२५४	४३०	२९९	४३७	३३४	४६९	३८०
४२४	२६३	४३१	३०१	४३८	३३६	४७०	३७६
४२५	२७१	४३२	३०९	४३९	३३८	४७१	३९५
३२६	२८२	४३३	३१४	४४०	३४७		

उ—रसराज, ललितललाम और सतसई के समान दोहे—

रसराज	ललितललाम	सतसई
२६३	३२५	१३
३७३	३३१	२४
७८	१२७	६६
२६७	८३	१८३
१६	१३२	१८८
२११	१६३	२०४
३३२	११०	२१३
१६८	३०३	२७६
३७६	३४०	३१८

सूचना—छन्दों की उक्त संख्याएँ पूर्वोक्त 'मतिराम—ग्रंथावली' के आधार पर ही दी गई हैं।

सहायक ग्रन्थ-सूची

१—संस्कृत-ग्रन्थ

१. शब्दार्थ चिन्तामणि।

२. सर्वतन्त्र सिद्धान्त पदार्थ-लक्षण-संग्रह—सम्पादक भिक्षु गौरीशंकर—षष्ठ संस्करण।

३. श्रीमद्भगवद्गीता—गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित।

४. अणुभाष्य (वल्लभाचार्य)—डिपार्टमेंट ऑव पब्लिक इंस्ट्रक्शन्स, बम्बई द्वारा प्रकाशित—सन् १९२१ ई० का संस्करण।

५. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड (वल्लभाचार्य)—'चौखम्बा संस्कृत सिरीज़' का सन् १९०६ ई० का संस्करण।

६. सांख्यकारिका—'काशी संस्कृत सिरीज़' का सन् १९३७ ई० का संस्करण

७. बृहत् पराशरस्मृति—गुरुमण्डल, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित—प्रथम संस्करण।

८. कान्यकुब्ज-वंशावली—सम्पादक श्री मन्नीलाल मिश्र—सन् १९५३ ई० का संस्करण।

९. गाथा सप्तशती (हाल)—सम्पादक श्री आत्माराम सदाशिव जोगलेकर—पूना से सन् १९५६ ई० में प्रकाशित।

१०. अमरुशतक (अमरुक) सम्पादक श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट—संवत् १९७१ वि० का संस्करण।

११. आर्या सप्तशती (गोवर्धनाचार्य)—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १८९५ ई० का संस्करण।

१२. रघुवंश (कालिदास)—कालिदास ग्रन्थावली—विक्रमपरिषद्, काशी द्वारा संवत् २००१ वि० में प्रकाशित।

१३. नाट्यशास्त्र (भरतमुनि)—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १९४३ ई० का संस्करण।

१४. काव्यालंकार सूत्र (वामन)—सम्पादक डा० नगेन्द्र—प्रथम संस्करण।

१५. काव्यालंकार (रुद्रट)—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १९०९ ई० का संस्करण।

१६. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन)—सम्पादक डा० नगेन्द्र—प्रथम संस्करण।

१७. दशरूपक (धनंजय)—सम्पादक डा० भोलाशंकर व्यास—प्रथम संस्करण।

१८. वक्रोक्तिजीवित (कुंतक)—सम्पादक डा० नगेन्द्र—प्रथम संस्करण।

१९. सरस्वती कंठाभरण (भोजराज)—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १९३४ ई० का संस्करण।
२०. काव्यप्रकाश (मम्मट)—सम्पादक डा० सत्यव्रतसिंह—सन् १९५५ ई० का संस्करण।
२१. साहित्यदर्पण (विश्वनाथ)—विमला टीका (शालग्रामशास्त्री)—द्वितीय संस्करण।
२२. रसतरंगिणी (भानुदत्त मिश्र)—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से संवत् १९७१ वि० में प्रकाशित।
२३. रसमंजरी (भानुदत्त मिश्र)—सम्पादक श्री बदरीनाथ शर्मा—द्वितीय संस्करण।
२४. कुवलयानन्द (अप्पयदीक्षित)—सम्पादक डा० भोलाशंकर व्यास—सन् १९५६ ई० का संस्करण।
२५. रसगंगाधर (पण्डितराज जगन्नाथ)—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १९१६ ई० का संस्करण।
२६. श्रुतबोध (कालिदास ?)—'चौखम्बा सिरीज़' का षष्ठ संस्करण।
२७. वृत्तरत्नाकर (भट्टकेदार)—'चौखम्बा संस्कृत सिरीज़' का सन् १९४८ ई० का संस्करण।
२८. प्राकृत पिंगल सूत्राणि—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १८९४ ई० का संस्करण।
२९. प्राकृत पैंगलम्—सम्पादक श्री चन्द्रमोहन घोष—सन् १९०२ ई० का संस्करण।
३०. वाणीभूषण (दामोदर मिश्र)—'काव्यमाला सिरीज़' का सन् १९०३ ई० का संस्करण।
३१. जयदामन—सम्पादक प्रो० एच० डी० वेलंकर—सन् १९४९ ई० का संस्करण।

२—हिन्दी-ग्रन्थ

१. कबीर-ग्रन्थावली (कबीर)—सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास।
२. पद्मावत (जायसी)—सम्पादक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल—प्रथम संस्करण।
३. सूरसागर—दूसरा खण्ड (सूरदास)—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित—प्रथम संस्करण।
४. विनय-पत्रिका (तुलसी)—सम्पादक श्री वियोगी हरि।
५. दोहावली (तुलसी)—गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित।
६. नन्ददास-ग्रन्थावली (नन्ददास)—सम्पादक श्री ब्रजरत्नदास—पहला संस्करण।
७. रसिकप्रिया (केशव)—सम्पादक श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी—सन् १९५४ ई० का संस्करण।

८. कविप्रिया (केशव)—सम्पादक लाला भगवानदीन—सं० १६८२ वि० का संस्करण।
९. रहीम-रत्नावली (रहीम)—सम्पादक श्री मायाशंकर याज्ञिक—तृतीयावृत्ति।
१०. बिहारी बोधिनी (बिहारी)—सम्पादक लाला भगवानदीन—सप्तमावृत्ति।
११. बिहारी-रत्नाकर (बिहारी)—सम्पादक 'रत्नाकर'—सन् १६५५ ई० का संस्करण।
१२. भाषा भूषण (जसवंतसिंह)—सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—तृतीय संस्करण।
१३. मतिराम-ग्रन्थावली (मतिराम)—सम्पादक श्री कृष्णबिहारी मिश्र—तृतीय संस्करण।
१४. भूषण-ग्रन्थावली (भूषण)—सम्पादक श्री राजनारायण शर्मा—सन् १६५० ई० का संस्करण।
१५. नवरस तरंग (बेनी प्रवीन)—सम्पादक श्री कृष्णबिहारी मिश्र—सन् १६२५ ई० का संस्करण।
१६. सुखसागर तरंग (देव)—सम्पादक श्री बालदत्त मिश्र—संवत् १६६४ वि० का संस्करण।
१७. रस-विलास (देव)—डा० नगेन्द्रजी से प्राप्त।
१८. अष्टयाम (देव)—डा० नगेन्द्रजी से प्राप्त।
१९. भवानीविलास (देव)—डा० नगेन्द्रजी से प्राप्त।
२०. शब्दरसायन (देव)—सम्पादक श्री जानकीनाथसिंह 'मनोज'—द्वितीय संस्करण।
२१. भावविलास (देव)—सम्पादक श्री लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी—संवत् १६६१ वि० का संस्करण।
२२. काव्यनिर्णय (भिखारीदास)—सम्पादक श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी—प्रथमावृत्ति।
२३. दास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड (भिखारीदास)—सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्रथम संस्करण।
२४. सुजान-चरित (सूदन)—सम्पादक श्री राधाकृष्णदास—द्वितीय संस्करण।
२५. पद्माकर-पंचामृत (पद्माकर)—सम्पादक श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—प्रथम संस्करण।
२६. रीति-शृंगार—सम्पादक डा० नगेन्द्र—सन् १६४४ ई० का संस्करण।
२७. साहित्य-सागर—बिहारीलाल भट्ट—संवत् १६६४ वि० का संस्करण।
२८. प्रिय-प्रवास—'हरिऔध'—संवत् २०१० वि० का संस्करण।
२९. कामायनी—'प्रसाद'—संवत् १६६२ वि० का संस्करण।

३०. ऐंदुई साहित्य का इतिहास—अनु० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—सन् १९५३ ई० का संस्करण।
३१. शिवसिंह सरोज—ठा० शिवसिंह सेंगर—संवत् १९३४ वि० का संस्करण।
३२. हिन्दी-नवरत्न—मिश्रबन्धु—तृतीय संस्करण।
३३. मिश्रबन्धु-विनोद—मिश्रबन्धु—द्वितीय संस्करण।
३४. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—संवत् २००९ वि० का संस्करण।
३५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'—प्रथम संस्करण।
३६. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—'हरिऔध'—द्वितीय संस्करण।
३७. हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास—बा० गुलाबराय—बीसवाँ संस्करण।
३८. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा—सन् १९४८ ई० का संस्करण।
३९. हिन्दी-साहित्य—आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी—प्रथम संस्करण।
४०. रीतिकाव्य की भूमिका—डा० नगेन्द्र—द्वितीय संस्करण।
४१. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र—प्रथमावृत्ति।
४२. मतिराम मकरंद—ठा० हरदयालुसिंह—प्रथमावृत्ति।
४३. भूषण-विमर्श—पं० भागीरथ प्रसाद दीक्षित—द्वितीयावृत्ति।
४४. हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण—डा० किरणकुमारी गुप्ता—प्रथम संस्करण।
४५. भूषण—श्री विश्व प्रसाद मिश्र—प्रथम संस्करण।
४६. ब्रज-साहित्य का नायिका-भेद—श्री प्रभुदयाल मीतल—प्रथम संस्करण।
४७. रीतिकालीन कविता एवं शृंगार-रस-विवेचन—डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी—प्रथम संस्करण।
४८. हिन्दी-अलंकार-साहित्य—डा० ओमप्रकाश—सन् १९५६ ई० का संस्करण।
४९. बिहारी की वाग्विभूति—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—तृतीय संस्करण।
५०. देव और उनकी कविता—डा० नगेन्द्र—सन् १९४९ ई० का संस्करण।
५१. हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों का सन् १९०६ ई० का विवरण—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित।
५२. हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण (भाग १)—सम्पादक डा० श्यामसुन्दर दास—संवत् १९८० वि० में प्रकाशित।
५३. अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त—प्रथम संस्करण।
५४. भागवत-सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय—प्रथम संस्करण।

५५. छन्द-प्रभाकर—'भानु'—द्वितीय संस्करण।
५६. अलंकार-मंजरी—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार—पाँचवाँ संस्करण।
५७. चिन्तामणि (भाग १)—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—सन् १९५१ ई० का संस्करण।
५८. रस मीमांसा—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—संवत् २००६ वि० का संस्करण।
५९. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध—'प्रसाद'—द्वितीय संस्करण।
६०. पल्लव—पन्त—पाँचवाँ संस्करण।
६१. हिन्दी रसगंगाधर (प्रथम भाग)—अनु० श्री पुरुषोत्तम शर्मा—चतुर्वेदी संवत् १९८९ वि० का संस्करण।
६२. वीर रस का शास्त्रीय विवेचन—श्री बटेकृष्ण—संवत् २०१२ वि० का संस्करण।
६३. बुद्ध-चरित—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—संवत् १९९५ वि० का संस्करण।
६४. कविवर बिहारी—'रत्नाकर'—सन् १९५३ ई० का संस्करण।
६५. ब्रजभाषा-व्याकरण—डा० धीरेन्द्र वर्मा—सन् १९५४ ई० का संस्करण।
६६. हिन्दी भाषा—डा० श्यामसुन्दरदास—सन् १९५१ ई० का संस्करण।
६७. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा—श्री परशुराम चतुर्वेदी—प्रथम संस्करण।
६८. मआसिरुल उमरा—अनु० श्री ब्रजरत्नदास—प्रथम संस्करण।

पत्र-पत्रिकाएँ

	वर्ष	खंड	संख्या
१. माधुरी	२	२	४
	२	२	६
	३	१	—
	४	२	३
२. प्रभा	५	१	६
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका	—	४	४

४. अमृत पत्रिका—२७ नवम्बर, सन् १९५५ ई० का अंक।

अप्रकाशित हिन्दी-ग्रन्थ

१. फूलमंजरी
२. अलंकार पंचाशिका
३. छन्दसार संग्रह
(१–३) मतिराम
४. रसरंग—टीकाराम।

३—अंग्रेजी-ग्रन्थ

१. मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान—सर ग्रियर्सन—सन् १८८९ ई० का संस्करण।

२. ए हिस्ट्री ऑव हिन्दी लिटरेचर—एफ० ई० कीए—सन् १९२० ई० का संस्करण।
३. हिन्दी सेलेक्शन्स—ला० सीताराम—सन् १९२४ ई० का संस्करण।
४. मैमॉयर्स ऑव जहाँगीर—एलेक्जेंडर रोजर्स—प्रथम और द्वितीय भाग क्रमशः सन् १९०९ ई० और सन् १९१४ ई० के संस्करण।
५. राजस्थान—जनरल टॉड—सन् १९५० ई० का संस्करण।
६. हिस्ट्री ऑव औरंगजेब भाग ४, ५—द्वितीय संस्करण।
७. इम्पीरियल गज़ेटियर ऑव इण्डिया—भाग ११, १३।
८. एस्थेटिक (क्रोचे)—अनु० डलस ऐंज़ली—सन् १९२२ ई० का संस्करण।
९. दी मीनिंग ऑव आर्ट—हर्बर्ट रीड—पैंग्विन बुक्स—सन् १९४९ ई० का संस्करण।
१०. ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोइट्री—ब्रेडले—सन् १९५५ ई० का संस्करण।
११. ए हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर—कीथ—सन् १९५३ ई० का संस्करण।
१२. दी कन्ट्रीब्यूशन ऑफ हिन्दी पोइट्स टू प्रोसोडी—डा० जानकीनाथ-सिंह 'मनोज'—अप्रकाशित।